लोक प्रशासन

(Public Administration)

एम. ए. राजनीति शास्त्र (पूर्वार्द्ध)
M.A. Political Science (Previous)
Paper-IV

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय
रोहतक–124 001

Copyright © 2003, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

Developed & Produced by EXCEL BOOKS PVT. LTD., A-45 Naraina, Phase 1, New Delhi-110028

विषय सूची

अध्याय 1	एक विषय के रूप में लोक प्रशासन का विकास	5
अध्याय 2	लोक प्रशासन का अर्थ, प्रक ति एवं क्षेत्र	11
अध्याय 3	लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन	22
अध्याय 4	नवीन लोक प्रशासन	28
अध्याय 5	विकास प्रशासन	38
अध्याय 6	निर्णय-निर्माण पद्धतिः हरबर्ट साईमन	45
अध्याय 7	व्यवस्थावादी उपागम	54
अध्याय 8	परिस्थितिकीय द ष्टिकोण	61
अध्याय 9	संगठन की सिद्धान्त	72
अध्याय 10	संगठन के सिद्धान्त	78
अध्याय 11	नियंत्रण का क्षेत्र	86
अध्याय 12	केन्द्रीकरण बनाम विकेन्द्रीकरण	92
अध्याय 13	प्रत्यायोजन	99
अध्याय 14	समन्वय	106
अध्याय 15	सूत्र एवं स्टाफ अभिकरण	110
अध्याय 16	संगठन : औपचारिक और अनौपचारिक	124
अध्याय 17	विभाग	134
अध्याय 18	सार्वजनिक निगम	141
अध्याय 19	प्रमुख कार्यपालिका	153
अध्याय 20	भर्ती	161
अध्याय 21	प्रशिक्षण	176
अध्याय 22	प्रोन्नति/पदोन्नति	190
अध्याय 23	नियोक्ता-कर्मचारी सम्बन्ध	201
अध्याय 24	नौकरशाहीः सिद्धान्त, प्रकार, मैकस वेबर के विचार और उनके आलोचक	212
अध्याय 25	मन्त्री-लोक सेवक सम्बन्ध	227
अध्याय 26	वित्तीय प्रशासन	234
अध्याय 27	निष्पादक बजट और कार्यक्रम बजट	247
अध्याय 28	वित्त पर संसदीय नियन्त्रण	254
अध्याय 29	प्रशासनिक संस्कृति	262
अध्याय 30	प्रशासनिक भ्रष्टाचार	265
अध्याय 31	प्रशासनिक सुधार	282
अध्याय 32	शिकायत निर्वारण संस्थाएँ	308
अध्याय 33	पंचायती राज और विकास चुनौतियां	323
अध्याय 34	उदारीकरण का लोक प्रशासन पर प्रभाव	333

M.A. (Previous)
Public Administration

Paper-IV

Max. Marks : 100
Time : 3 Hours

Note : *10 questions will be set 2 from each Unit. The candidate is required to attempt 5 questions, selecting one from each unit.*

Unit-I — Development of Public Administration as a discipline; Public and Private Administration; New Public Administration; Development Administration; Approaches to the study of Public Administration: Decision-making, Ecological and Systems.

Unit-II — Theories of organisation, Principles of organisation; Hierarchy, span of control, centralisation and decentralisation, delegation, coordination, Line and Staff Agencies; Types of organisation; formal & informal; Forms of orgnisation; department, Public corporation and board; Chief Executive; Types, functions and role.

Unit-III — Personnel Administration : Recruitment, Training Promotion, Employee-Employer Relations.

Bureaucracy: Theories, Types and Rule; Max Weber and his critics: Civil Servant-Minister relationship.

Unit -IV — Financial Administration: Budget and Budgetary process; performance and Programme Budgeting; Legislative and Administrative Control over finance with special reference to India and U.K.

Unit-V — Administrative Culture, Administrative corruption, Administrative Reforms, Grievance-Redressal Institutions: Ombudsman, Lokpal and Lokayukt; Panchayati Raj and Challenges of Development Impact of Liberalization on Public Administration.

अध्याय-1
एक विषय के रूप में लोक प्रशासन का विकास
(Development of Public Administration as a Discipline)

एक व्यवस्थित अध्ययन के रूप में लोक-प्रशासन का विकास अभी आधुनिक ही है। लोक-प्रशासन के शैक्षिक अध्ययन का प्रारम्भ करने का श्रेय वुडरो विल्सन (Woodrow Wilson) को जाता है जिसने अपने लेख 'द स्टडी ऑफ ऐडमिनिस्ट्रेशन (The Study of Administration) जो 1887 में प्रकाशित हुआ, में इस शास्त्र की वैज्ञानिक बुनियादों को विकसित करने की आवश्यकता पर जोर दिया। इस लेख में राजनीति तथा प्रशासन के बीच स्पष्ट भिन्नता दिखाई गई और घोषित किया गया कि प्रशासन की राजनीति से दूर रहना चाहिए। इसी को तथाकथित 'राजनीति-प्रशासन-द्विभाजन' (dichotomy) कहते हैं।

गुडनो (Goodnow) ने विल्सन का अनुकरण किया। उसने सरकार के दो प थक् कार्यों की धारणा की और उनको 'राजनीति' तथा 'प्रशासन' नाम दिए। 'राजनीति' का सम्बन्ध नीतियों से अथवा राज्य की इच्छा को प्रकट करने से है, प्रशासन का सम्बन्ध इन नीतियों को लागू करने से है। प्रशासन में विधि को लागू करने के साथ-साथ अर्ध-वैज्ञानिक अर्ध-वैज्ञानिक, अर्ध-न्यायिक तथा अर्ध-व्यापारिक या वाणिज्यिक कार्य भी सम्मिलित होते हैं।

लोक प्रशासन का इतिहास निम्नलिखित 5 चरणों में विभाज्य है-

प्रथम चरण (1887 - 1926) - एक विषय के रूप में लोक-प्रशासन का जन्म 1887 में हुआ। अमेरिका के प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी में राजनीतिशास्त्र के तत्कालीन प्राध्यापक वुडरो विल्सन को इस शास्त्र का जनक माना जाता है। उन्होंने 1887 में प्रकाशित अपने लेख 'प्रशासन का अध्ययन' (The Study of Administration) में राजनीति और प्रशासन को अलग-अलग बताते हुए कहा-"एक संविधान का निर्माण सरल है पर इसे चलाना बड़ा कठिन है।" उन्होंने इस 'चलाने' के क्षेत्र के अध्ययन पर बल दिया जो स्पष्टतः 'प्रशासन' ही है। उन्होंने राजनीति और प्रशासन में भेद किया। सन् 1887 में विल्सन के लेख के प्रकाशन के साथ वास्तव में एक ऐसे नए युग का जन्म हुआ जिसमें धीरे-धीरे लोक-प्रशासन अध्ययन के एक नए क्षेत्र के रूप में विकसित हुआ। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अन्य देशों की तुलना में संयुक्त राज्य अमेरिका में लोक-प्रशासन के अध्ययन पर विशेष बल दिया जाने लगा। वहाँ प्रशासन एक विज्ञान के रूप में विकसित हुआ है जिसके अध्ययन के लिए लोग प्रबन्ध विद्यालयों (Management Schools) में प्रवेश लेते हैं।

इस विषय के अन्य महत्त्वपूर्ण प्रणेता फ्रैंके गुडनाउ (Frank J. Goodnow) हैं जिन्होंने 1900 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'राजनीति और प्रशासन' (Politics and Administration) में यह तर्क प्रस्तुत किया कि राजनीति और प्रशासन अलग-अलग हैं क्योंकि जहाँ राजनीति राज्य-इच्छा को प्रतिपादित करती है वहां प्रशासन का संबंध इस इच्छा या राज्य-नीतियों के क्रियान्वयन से है। वास्तव में यह वह समय था जब अमेरिका में सरकारी क्षेत्र में शिथिलता और भ्रष्टाचार का बोलबाला था और फलस्वरूप सरकार-सुधार के आन्दोलन चल रहे थे। इस सुधार-आकांक्षी वातावरण में अनेक विद्यालयों में लोक-प्रशासन का अध्ययन-अध्यापन शुरू हो गया। 1914 में अमेरिकी राजनीति विज्ञान संघ ने अपनी एक रिपोर्ट में कहा कि सरकार में काम करने के लिए कुशल व्यक्तियों की पूर्ति करना राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का एक लक्ष्य है। फलस्वरूप लोक-प्रशासन राजनीति विज्ञान का एक प्रमुख अंग बन गया और इसके अध्ययन-अध्यापक को भारी प्रोत्साहन मिला। सन् 1926 में एल.डी. ह्वाइट (L.D. White) की पुस्तक 'लोक-प्रशासन के अध्ययन की भूमिका' (Introduction to the Study of Public Administration) प्रकाशित

हुई। वह लोक-प्रशासन की प्रथम पाठ्यपुस्तक थी जिसमें राजनीति-प्रशासन के अलगाव में विश्वास व्यक्त किया गया और लेखक ने अपनी यह मान्यता प्रकट की कि लोक-प्रशासन का मुख्य लक्ष्य दक्षता और मितव्ययता है। ह्वाइट की पुस्तक के अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं और वह आज भी प्रचलन में ही नहीं है, बल्कि इसे लोक प्रशासन की महत्त्वपूर्ण क ति माना जाता है।

लोक-प्रशासन के विकास के इस प्रथम चरण की दो प्रमुख विशेषताएं रहीं - लोक-प्रशासन का उदय और राजनीतिक एवं प्रशासन के अलगाव में विश्वास।

द्वितीय चरण (1927-1937) - लोक-प्रशासन के इतिहास में द्वितीय चरण का प्रारंभ हम डब्ल्यू.एफ. विलोबी (W.F. Willoughby) की पुस्तक 'लोक-प्रशासन के सिद्धांत' (Principles of Public Administration) से मान सकते हैं। विलोबी ने यह प्रतिपादित कि लोक-प्रशासन में अनेक सिद्धान्त हैं जिनको क्रियान्वित करने में लोक-प्रशासन को सुधारा जा सकता है। वास्तव में यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि ह्वाइट और विलोबी के दोनों प्रवर्तक ग्रन्थों ने लोक-प्रशासन संबंधी पाठ्य पुस्तकों के प्रणयन और उसे अध्ययन की पद्धति का निर्धारण किया। इन दोनों ही पुस्तकों का रूप तकनीकी है जिनमें उन सभी प्रकार की सामान्य समस्याओं का अध्ययन किया गया है, जिन्हें 'पोस्डकार्ब' शब्द में समाहित किया जा सकता है। इन पुस्तकों में प्रशासकीय अध्ययन के विशिष्ट क्षेत्र में उठने वाली विषय-वस्तु संबंधी समस्याओं का वर्णन नहीं मिलता है। ये दोनों ही प्रवर्त्तक ग्रन्थ इस मान्यता पर आधारित हैं। लोक-प्रशासन को राजनीति से प थक् और स्वतंत्र होना चाहिए तथा इसके सिद्धान्तों को मोटे तौर पर सहज ही पहचाना और परिभाषित किया जा सकता है।

विलोबी की उपरोक्त पुस्तक के बाद अनेक विद्वानों ने लोक-प्रशासन पर पुस्तकें लिखनी शुरू कीं, जिनमें कुछ उल्लेखनीय नाम हैं-मेरी पार्कर फोलेट (Marry Parket Follet), हेनरी फेयोल (Henry Fayol), मूने (Mooney), रायली (Reiley) आदि। 1937 में लूथर गुलिक (Luther Gullick) तथा उर्विक (Urwick) ने मिलकर लोक-प्रशासन पर एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक का सम्पादन किया जिसका नाम है 'प्रशासन विज्ञान पर निबन्ध' (Papers on the Science of the Administration) । द्वितीय चरण के इन सभी विद्वानों की यह मान्यता रही कि प्रशासन में सिद्धान्त होने के कारण यह एक विज्ञान है और इसीलिए इसके आगे 'लोक' शब्द लगाना उचित नहीं है। सिद्धान्त तो सभी जगह लागू होते हैं, चाहे वह 'लोक-क्षेत्र' हो या 'निजी-क्षेत्र' हो।

इस द्वितीय चरण की प्रमुखता विशेषता यही रही कि अब इस बात पर बल दिया गया कि प्रशासन के कुछ सिद्धान्त है। इससे इस विषय का सैद्धान्तिक स्वरूप उभरा। यह स्थिति किसी भी विषय को सम द्ध करने के लिए आवश्यक मानी जाती है।

त तीय चरण (1938-1947) - अब प्रशासन में सिद्धान्तों को चुनौती देने का युग प्रारम्भ हुआ। सन् 1938 से 1947 तक का चरण लोक-प्रशासन के क्षेत्र में ध्वंसकारी अधिक रहा। सन् 1938 में चेस्टर बर्नार्ड (Chaster Bernard) की 'कार्यपालिका के कार्य' (The Functions of the Executive) नामक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमें प्रशासन के किसी भी सिद्धान्त का वर्णन नहीं किया गया। सन् 1946 में हरबर्ट (Herbert A. Simon) ने अपने एक लेख में लोक-प्रशासन के तथाकथित सिद्धान्तों को नकारते हुए इन्हें 'किवदंतियों' की संज्ञा दी। सन् 1947 में राबर्ट डहाल (Robert Dahl) ने अपने एक लेख में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि लोक-प्रशासन विज्ञान नहीं है और इसको सिद्धान्त की खोज में मुख्यतः तीन बाधाओं का सामना करना पड़ता है-प्रथम, विज्ञान 'मूल्य-शून्य' होता है जबकि प्रशासन 'मूल्य-बहुल' है; द्वितीय, मनुष्यों के व्यक्तित्व समान नहीं होते और फलस्वरूप प्रशासन के कार्यो में विभिन्नता आ जाती है; एवं त तीय, वह सामाजिक ढांचा भी एक बाधा है जिसके अन्तर्गत लोक-प्रशासन पनपता है।

इस त तीय चरण की प्रधानता यही रही कि लोक-प्रशासन का अध्ययन चुनौतियों और आलोचनाओं का शिकार बना, जिससे इस विषय की नई संभावनायें उजागर हुई।

चतुर्थ चरण (1948-1970) - यह चरण इस रूप में क्रांतिकारी अथवा 'संकट का काल' रहा कि लोक-प्रशासन जिन-जिन उपलब्धियों का गीत गा रहा था उन सभी को बेकार ठहरा दिया गया। हर्बर्ट साइमन ने जो युक्तिसंगत आलोचना की उसके फलस्वरूप 'सिद्धान्तवादी' विचारधारा अविश्वसनीय प्रतीत होने लगी। लोक-प्रशासन के स्वरूप के संबंध में अनेक संदेह उठ खड़े हुए, यह विवाद का विषय बन गया। इसलिए 1948 से 1970 के चरण को लोक-प्रशासन के 'स्वरूप की संकटावस्था' (Crisis of Identity) कहा गया है। इस युग में लोक-प्रशासन ने मोटे तौर पर दो रास्ते अपनाए - प्रथम, कुछ विद्वान

राजनीतिशास्त्र के अन्तर्गत आ गए; द्वितीय, लोक-प्रशासन के विकल्प की खोज हुई। जो विद्वान राजनीतिशास्त्र के अन्तर्गत आए उनका तर्क था कि लोक-प्रशासन राजनीति से निकला है और उसका अंग है। इस समय राजनीतिशास्त्र भी कुछ परिवर्तनों के दौर से गुजर रहा था और उसमें लोक-प्रशासन को पहले वाला महत्त्व नहीं दिया जा रहा था। स्वाभाविक था कि इस स्थिति में लोक-प्रशासन सौतेलेपन और अकेलेपन का अनुभव करने लगा। लोक-प्रशासन के जिस विकल्प की खोज हुई, वह था-'प्रशासनिक विज्ञान' (Administrative Science) । लोक-प्रशासन, व्यापार प्रबंध (Business Administration) आदि ने मिलकर प्रशासनिक विज्ञान की नींव डाली। यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि प्रशासन तो प्रशासन ही है, चाहे वह निजी क्षेत्र में हो या सार्वजनिक क्षेत्र में। 1956 में 'एडमिस्ट्रेटिव साइन्स क्वार्टरली' (Administrative Science Quarterly) नामक पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। वास्तव में यह बहुत अखरने वाली बात थी कि लोक-प्रशासन के अपने 'निजी स्वरूप' को आघात पहुंचे।

पंचम चरण (1971 से अब तक चल रहा है)-चतुर्थ चरण की आलोचनाएँ, प्रत्यालोचनाओं और चुनौतियों ने कुल मिलाकर लोक-प्रशासन का भला किया। लोक-प्रशासन का अध्ययन बहुचर्चित हो गया, नए-नए द ष्टिकोण विकसित हुए और फलस्वरूप लोक-प्रकाशन चहुंमुखी प्रगति के मार्ग पर आगे बढ़ा। अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, मनोविज्ञान आदि विभिन्न शास्त्रों के विद्वान और अध्येता लोक-प्रशासन में रूचि लेने लगे। राजनीतिशास्त्र के अध्येता तो प्रारंभ से ही लोक-प्रशासन के अध्ययन में रूचि ले रहे थे। इन विभिन्न अध्ययनों और प्रयत्नों के फलस्वरूप लोक-प्रशासन 'अन्तर्विषयी' (Interdisciplinary) बन गया और आज यह तथ्य है कि समाजशास्त्रों में यदि कोई विषय सबसे अधिक 'अन्तर्विषयी' है तो वह लोक-प्रशासन ही है। इससे लोक-प्रशासन के वैज्ञानिक स्वरूप का विकास हुआ। इतना ही नहीं इससे लोक-प्रशासन के क्षेत्र का विस्तार होता गया और तुलनात्मक लोक-प्रशासन (Comparative Public Administration) तथा विकास प्रशासन (Development Adminstration) का प्रादुर्भाव हुआ। परम्परागत द ष्टिकोण की अपर्याप्तता, अनुसंधान के नए उपकरणों और नवीन सामाजिक संदर्भ, अन्तर्राष्ट्रीय निर्भरता आदि ने तुलनात्मक लोक-प्रशासन को जन्म दिया और उसे आगे बढ़ाया। लोक-प्रशासन के तुलनात्मक अध्ययन के परिणामों और प्रविधियों का समग्र लोक-प्रशासन के स्वरूप पर गंभीर प्रभाव पड़ा। यह तथ्य उत्साहवर्द्धक और हर्षवर्द्धक है कि लोक-प्रशासन में आज पश्चिमी देशों का ही अध्ययन नहीं होता है, वरन् साम्यवादी तथा अफ्रीका और एशिया के देश भी इसकी परिधि में आ गए हैं। लोक-प्रकाशन एक संस्क ति विशेष के घेरे से निकल कर अन्य संस्क तियों की ओर भी उन्मुख हुआ है जिसने इसे अधिक लाभ पहुंचाया है और लोक-प्रशासन के क्षितिज का विस्तार किया है। नवीन लोक-प्रशासन ने इस महत्त्वपूर्ण बात पर बल दिया है कि लोक-प्रशासन के क्षितिज का विस्तार किया है। नवीन लोक-प्रशासन ने इस महत्त्वपूर्ण बात पर बल दिया है कि लोक-प्रशासन को सीधे समाज से जुड़ा होना चाहिए। नवीन लोक-प्रशासन विशुद्ध रूप से एक अमेरिकी धारणा है। भारत जैसे देश में नवीन लोक-प्रकाशन की धारणा या विचारों का प्रसार व्यापक रूप से नहीं हुआ है।

श्री राम महेश्वरी ने लोक प्रशासन विषय के विकास को छह चरणों में बांटा है जो इस प्रकार हैं-

प्रथम चरण	1887 – 1926
द्वितीय चरण	1927 – 1937
त तीय चरण	1938 – 1947
चतुर्थ चरण	1948 – 1970
पंचम् चरण	1971 – 1990
षष्टम् चरण	1990 – चल रहा है

प्रथम चरण : 1887 - 1926

एक विषय के रूप में लोक प्रशासन का जन्म संयुक्त राज्य अमरीका में हुआ, तथा इसकी जन्म-तिथि 1887 है। **वुडरो विल्सन** (Woodrow Wilson), जो उस समय प्रिसन्टस यूनीवर्सिटी में राजनीतिशास्त्र के प्राध्यापक थे, इस शास्त्र के जनक माने जाते

थे। उन्होंने 1887 में एक लेख प्रकाशित किया जिसका शीर्षक था प्रशासन का अध्ययन (The Study of Administration)। इस लेख में उन्होंने राजनीति और प्रशासन को अलग-अलग बताया, तथा कहाः "एक संविधान की रचना सरल है पर इसको चलाना बड़ा कठिन है।" उन्होंने इस 'चलाने' के क्षेत्र के अध्ययन पर बल दिया। आज विल्सन की ख्याति दो कारणों से है। एक तो वे लोक प्रशासन शास्त्र के जनक माने जाते हैं; दूसरे, व राजनीति और प्रशासन के प थक्करण में विश्वास रखते हैं।

राजनीति और प्रशासन के प थक्करण के साथ एक दूसरा नाम जुड़ा हुआ है। वह नाम है **फ्रैंक गुडनाउ** (Franh J. Goodnow) का। गुडनाउ ने 1900 में अपनी पुस्तक राजनीति तथा प्रशासन (Politics and Administration) लिखी, जिसमें उन्होंने तर्क दिया कि राजनीति राज्य-इच्छा को प्रतिपादित करती है, जबकि प्रशासन इस इच्छा या नीतियों के क्रियान्वयन से सम्बन्धित है। इस समय अमरीका में सरकार में सुधार के आंदोलन चल रहे थे। वहाँ की सरकार में काफी भ्रष्टाचार था, और ढीलापन भी कम न था। इस तरह के वातावरण में सुधार की लहर उठना स्वाभाविक था। अनेक विद्यालयों में लोक प्रशासन का विषय खुलने लगा, और विद्वान इस क्षेत्र में लिखने-पढ़ने लगे। 1914 में अमरीकी राजनीति विज्ञान संघ ने अपनी एक रिपोर्ट प्रकाशित की, जिसमें कहा गया कि सरकार में काम करने के लिए दक्ष व्यक्तियों की पूर्ति करना राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का एक लक्ष्य है। फलस्वरूप लोक प्रशासन राजनीति विज्ञान का एक प्रमुख अंग बन गया, और इसके अध्ययन का प्रसारण दिन दुगना और रात चौगुना बढ़ने लगा। इस चरण की प्रमुख विशेषताएँ दो रही हैं : लोक प्रशासन का जन्म तथा राजनीति और प्रशासन में प थक्करण।

1926 में लोक-प्रशासन की प्रथम पाठ्य-पुस्तक प्रकाशित हुई। यह थी **एल.डी. ह्वाइट** (L.D. White) की लोक प्रशासन के अध्ययन की भूमिका (Introduction to the Study of Public Administration)। यह पुस्तक राजनीति और प्रशासन के प थक्करण में आस्था रखती है, तथा इसके लेखक की मान्यता है कि लोक प्रशासन का मुख्य लक्ष्य दक्षता एवं मितव्ययता है।

द्वितीय चरण : 1927 - 1937

लोक प्रशासन के इतिहास में द्वितीय चरण अत्यधिक महत्त्व का है। इस चरण की प्रधान आस्था यह है कि प्रशासन के कुछ 'सिद्धान्त' हैं तथा लोक प्रशासन के विद्यार्थियों का काम इन सिद्धान्तों का पता लगाना और इनके क्रियान्वयन को प्रोत्साहन देना है। इस चरण की प्रथम थी **डब्ल्यू.एफ. विलोबी** (W.F. Willoughby) की लोक प्रशासन के सिद्धान्त (Principles of Public Administration)। विलोबी की पुस्तक का शीर्षक ध्यान देने योग्य है। वे इस बात में पूर्ण विश्वास रखते थे कि लोक प्रशासन में अनेक सिद्धान्त हैं और इनको कार्यान्वित करने से लोक प्रशासन में सुधार हो सकता है। विलोबी के बाद अनेक विद्वानों ने पुस्तकें लिखना शुरू किया। इनमें प्रमुख नाम हैं : मेरी पार्कर फॉलेट (Mary parker Follet), हेनरी फेयोल (Henry Fayol), मूनी (Mooney), रैले (Reiley) आदि। 1937 में लूथर गुलिक (Luther Gulick) तथा उर्विक (Urwick) ने मिलकर एक ग्रन्थ सम्पादित किया जिसका नाम है प्रशासन विज्ञान पर लेख (Papers on the Science of Administration)।

इन विद्वानों का दावा था कि प्रशासन में सिद्धान्त होने के कारण यह एक विज्ञान है। क्योंकि प्रशासन एक विज्ञान है, इसके आगे 'लोक' शब्द लगाना व्यर्थ है। सिद्धान्त तो सभी जगह कार्यान्वित होते हैं, चाहे वह क्षेत्र 'लोक' हो या 'निजी' हो। गुलिक और उर्विक ने इन सिद्धान्तों को पोस्डकोर्ब (Posdcorb) में लपेटा। यह युग लोक प्रशासन में सिद्धान्तों का स्वर्ण-युग रहा है।

त तीय चरण : 1938 - 1947

प्रशासन में सिद्धान्तों को शीघ्र ही चुनौती मिलने लगी, और 1938 से 1947 का चरण लोक प्रशासन के क्षेत्र में ध्वंसकारी रहा। 1938 में **नेस्टर बर्नार्ड** (Chester Barnard) की कार्यपालिका के कार्य (The Functions of the Executive) प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में प्रशासन के व्यापक मुद्दों पर विचार किया गया है जैसे औपचारिक एवं अनौपचारिक प्रकार्य, प्रकार्यत्मक फैलाव, संगठनात्मक इकाइयों के मध्य साम्यक एवं प्रलोभन योगदान। चेस्टर बर्नार्ड ने, जो स्वयं एक अत्यन्त अनुभवी प्रशासक थे, अपनी पुस्तक में ऐसे किसी भी सिद्धान्त का वर्णन नहीं किया। 1946 में **हर्बर्ट साइमन** (Herbert A. Simon) ने अपना एक लेख प्रकाशित किया जिसमें उन्होंने तथाकथित सिद्धान्तों का उपहास किया और उनको किंवदन्तियों की संज्ञा दी। एक साल बाद ही उन्होंने अपनी पुस्तक प्रशासकीय व्यवहार (Administrative Behaviour) लिखी जिसमें उन्होंने यह भलीभांति सिद्ध किया कि प्रशासन में सिद्धान्त नाम की कोई चीज नहीं है। उन्होंने प्रतिबन्धित विवेकशीलता के साथ-साथ प्रशासन के विवेकपूर्ण

सिद्धान्त का विकास किया। इस पुस्तक पर उन्हें 1978 में नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया। 1947 में **रॉबर्ट डैल** (Robert Dahl) ने अपने लेख में यह सिद्ध किया कि लोक प्रशासन विज्ञान नहीं है। उन्होंने यह भी बताया कि लोक प्रशासन को सिद्धान्त की खोज में तीन बाधाओं का सामना करना पड़ता है।

सर्वप्रथम, विज्ञान मूल्य शून्य होता है जबकि प्रशासन में मूल्यों का बाहुल्य है। दूसरी बाधा यह है कि मनुष्यों के व्यक्तित्व, अलग-अलग होते हैं, जिससे प्रशासन के कार्यों में विभिन्नता आ जाती है। लोक प्रशासन के विज्ञान होने के मार्ग में तीसरी बाधा है कि सामाजिक ढाँचा, जिसके अन्तर्गत लोक प्रशासन अपने को पाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोक प्रशासन का तीसरा चरण चुनौतियों तथा आलोचनाओं से भरा हुआ रहा।

चतुर्थ चरण : 1948 - 1970

चतुर्थ चरण लोक प्रशासन के इतिहास में संकट का काल रहा है। लोक प्रशासन जिन-जिन उपलब्धियों की बात कर रहा था वे सारी नाकाम सिद्ध कर दी गयी। 'सिद्धान्तवादी' विचारधारा हर्बर्ट साइमन की आलोचना के फलस्वरूप अविश्वसनीय प्रतीत होने लगी। इस शास्त्र के विज्ञान होने का दावा भी चुनौतियों व आलोचनाओं का सामना कर रहा था। लोक प्रशासन का क्या स्वरूप है, यही अब सन्देह का विषय बन गया, और इसी पर वाद-विवाद होने लगा। इसे 'स्वरूप की संकटावस्था' (Crisis of Identity) कहा गया है।

चतुर्थ चरण में लोक प्रशासन ने मोटे तौर पर दो रास्ते अपनाया। कुछ विद्वान राजनीतिशास्त्र के अन्तर्गत आ गये। आखिर, लोक प्रशासन राजनीति से निकला है और उसका अंग भी है। राजनीतिशास्त्र में इस समय कुछ परिवर्तन आ रहे थे। लोक प्रशासन का राजनीतिशास्त्र में जितना महत्त्व पहले था उसमें गिरावट आ गयी। लोक प्रशासन ऐसी अवस्था में सौतेलापन व अकेलापन अनुभव करने लगा।

लोक प्रशासन को एक विकल्प की खोज करनी पड़ी। यह विकल्प था 'प्रशासनिक विज्ञान' (Administrative Science)। लोक प्रशासन, व्यापार प्रबन्ध (Business Administration) आदि शास्त्र मिलकर प्रशासनिक विज्ञान की नींव डाल रहे थे। इसका विचार था कि प्रशासन तो प्रशासन ही है, चाहे मिलों में हो या सरकारी दफ्तरों में। 1956 में एडमिनिस्ट्रेटिव साइन्स क्वार्टरली (Administrative Science Quarterly) नामक पत्रिका का प्रकाशन हुआ। इस विकल्प में भी लोक प्रशासन को अपने निजी स्वरूप को त्यागना पड़ा। बहुतों को यह अखरता था।

पंचम् चरण : 1971 - 1990

चतुर्थ चरण ने लोक प्रशासन को हिला दिया था। यह एक वरदान भी सिद्ध हुआ। चुनौतियों से मनुष्य महान् होता है; शास्त्र भी ऊँचे उठते हैं। यही लोक प्रशासन में हुआ। इसकी सर्वांगीण उन्नति हुई। अनेक शास्त्रों के विज्ञान लोक प्रशासन के क्षेत्र में आये तथा इसकी सेवा करने लगे। अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, ऐन्थ्रोपोलॉजी आदि शास्त्रों के विज्ञान इस विषय में रूचि लेने लगे। राजनीतिशास्त्र के विद्यार्थी तो सदैव से ही लोक प्रशासन में रूचि लेते रहे हैं। इन सबके प्रयत्नों के फलस्वरूप लोक प्रशासन 'अन्तर्विषयी' अर्थात् 'Interdisciplinary' बन गया। समाजशास्त्रों में यदि कोई सबसे अधिक अन्तर्विषयी है तो वह लोक प्रशासन ही है।

तुलनात्मक लोक प्रशासन (Comparative Public Administration) तथा विकास प्रशासन (Development Administration) का प्रार्दुभाव भी न भुलायी जाने वाली धटनाएँ हैं। अभी तक लोक प्रशासन में पश्चिमी देशों का ही अध्ययन होता रहा है। लोक प्रशासन संस्क तिबद्ध (culture-bound) तो है ही। अतः यह आवश्यक था कि लोक प्रशासन एक संस्क ति के घेरे से निकलकर अन्य संस्क तियों की ओर चला भी आया है। अतः यह विषय और भी अलंक त हो उठा है।

षष्टम् चरण : 1990 से चल रहा है

भारत ने 1990 में पुनः करवट ली और नेहरू जी द्वारा वर्णित समाजवाद के मोह को छोड़ उदारीकरण व विश्वीकरण की नति अपना ली। अभी तक राज्य का बोलबाला था। अब राज्य के साथ बाजार या मार्केट भी आ गया है। प्रतियोगिता में नागरिक को लाभ होता है, चीजें अच्छी व कम कीमत पर मिलती है। बाजार के आगमन के साथ अन्य परिवर्तन भी समाज में आय हैं।

कई कार्य सहकारी समितियाँ अपने हाथ में ले रही हैं। केरल में मछली उद्योग को मछुआरों की सहकारी समितियाँ सँभाल रही हैं। खेती के लिए पानी की व्यवस्था कुछ राज्यों में किसानों ने अपने हाथ में ले ली हैं। ऐसे सामान्य कार्य जिनमें गाँव के जंगल, चरने के लिए छोड़ी गयी जमीन (grazing ground), मछली पकड़ना आदि आ जाता है, CPR के नाम से जाने जाते हैं। CPR का अर्थ Common Property Resources। ऐसे प्रसाधनों का प्रबन्ध कम्युनिटी के हाथ में है। यह बढ़ता हुआ क्षेत्र एक समय था जब हम राज्य की ओर ही देखते थे। 1990 के पश्चात् बाजार आया और साथ ही एक तीसरा क्षेत्र भी CPR संस्थाओं के रूप में उभरा।

हमने इस पुस्तक में यह बताया है कि लोक प्रशासन के विकास में छठा चरण 1990 में प्रारंभ हुआ। हाँ, भारत में यह इसी समय प्रारंभ हुआ। आर. वेंकटरमन की सरकार के समय 1990 में उदारीकरण व विश्वीकरण की नीति उद्घाषित की गयी। लेकिन विश्व भर में उदारीकरण की लहर 1970 से ही प्रस्फुटित होती जा रही थी। संसार के सभी देशों में सरकार व अधिकारी तन्त्र (bureaucracy) के विरूद्ध विचार प्रबल होते जा रहे थे। साथ ही, निजी प्रशासन या दूसरे शब्दों में बाजार (market) की ओर आकर्षण बढ़ता जा रहा था। इसी समय पाश्चात्य देशों में नवीन लोक प्रबन्धन (New Public Management) का विचार उत्पन्न हुआ। लोक प्रशासन को लोक प्रबन्धन (Public Management) में बदल जाना चाहिए, यह विचार प्रतिपादित किया गया। नवीन प्रबन्धन लोक प्रशासन में प्रबन्धनवाद (Managerialism) का अन्धाधुन्ध बढ़ावा देता है। यह इसलिए कि पारम्परिक लोक प्रशासन में लोक निर्णय शीघ्र हो, और मितव्ययता के साथ हो। छठे चरण में नवीन लोक प्रबन्धन एक प्रबल आन्दोलन के रूप में उभरा है।

अध्याय-2
लोक प्रशासन का अर्थ, प्रक ति एवं क्षेत्र
(Meaning, Nature and Scope of Public Administration)

लोक प्रशासन आधुनिक समाज का एक आवश्यक अंग और जीवन का एक प्रमुख तत्व है। लोक प्रशासन का जिन कार्यो को सम्पादित करना पड़ता है, उनमें व द्धि हुई है और निरन्तर हो भी रही है। इसी कारण आज के राज्य को 'प्रशासी राज्य' या Administrative State कहा जाता है। प्रशासी राज्य उस राज्य को कहा जाता है जिसमें कार्यपालिका शाखा का प्रभुत्व होता है यद्यपि इसमें व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका भी स्थापित रहते हैं। वर्तमान में लोक प्रशासन मानव जीवन की असंख्य आवश्यकताओं, जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन, स्वच्छता, सामाजिक सुरक्षा आदि को पूरा करता है। अतः इसकी विषय-वस्तु सकारात्मक है, सुखी जीवन के लिए आवश्यक है। यह स जनात्मक भी है क्योंकि इसका उद्देश्य 'मानव कल्याण' है। राज्य के ये कार्य समाज में शान्ति और सुव्यवस्था बनाये रखने के उसके मूलभूत कार्यो के अतिरिक्त हैं। इसकी प्रक ति, विषय-वस्तु तथा क्षेत्र सभी मिलकर इसे **एल.डी. ह्वाइट** के शब्दों में 'आधुनिक शासन-व्यवस्था का केन्द्र-बिन्दु' बना देते हैं।

प्रशासन के मूल महत्त्व को **ब्रूक्स एडम्स** ने तो 1913 में ही सुस्पष्ट कर दिया था। उन्होंने लिखा था: "सामाजिक समेकीकरण अथवा द ढ़ीकरण कोई सरल समस्या नहीं है, क्योंकि सामाजिक समेकीकरण अथवा द ढ़ीकरण का अर्थ होता है प्रशासन के लिए समतुल्य क्षमता। प्रशासन में पूर्णतः प्रशासित जनसमूह के परिमाण और संवेग के अनुपात में होनी चाहिए, अन्यथा केन्द्रापसारी बल केन्द्राभिसारी बल पर हावी हो जायेगा और जनसमूह विघटित हो जायेगा अर्थात् सभ्यता विलीन हो जायेगी।

लोक प्रशासन का अर्थ
(Meaning of Public Administration)

सरल भाषा में लोक प्रशासन का अर्थ सरकार की उन सभी प्रकार की गतिविधियों से हैं जिनके द्वारा वह लोगों की देखभाल करती है। शास्त्रीय द ष्टि से इसके सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने विचार प्रकट किए हैं। परन्तु इन सभी विचारों का अध्ययन करने से पहले हमें 'लोक' तथा 'प्रशासन' दोनों शब्दों, जिन के सुमेल से 'लोक प्रशासन' बनता है, का अर्थ जानना आवश्यक है।

लोक (Public): लोक शब्द से अभिप्राय किसी विशेष भू-भाग पर रहने वाले लोगों के जन-समूह से है। क्योंकि एक राज्य के लोगों का प्रतिनिधित्व वहां की सरकार करती है इसलिए लोक प्रशासन में लोक शब्द का प्रयोग सरकार के लिए किया जाता है। जब सरकार द्वारा शासन संचालन का कार्य किया जाता है तो इसे लोक प्रशासन कहते हैं तथा जो प्रशासकीय कार्य किसी व्यक्ति या व्यक्ति समूह द्वारा व्यक्तिगत स्थिति में किया जाता है तो उसे निजी प्रशासन (Private Administrtion) कहते हैं। इस से पूर्व कि हम लोक प्रशासन की परिभाषा की व्याख्या करें हमें प्रशासन का अर्थ जानना जरूरी है।

प्रशासन (Administration): 'Administer' शब्द लैटिन भाषा के 'ad+ministiare' शब्दों से मिलकर बना है, जिन के अर्थ हैं सेवा करना या व्यक्तियों की देखभाल करना अथवा कार्यो की व्यवस्था करना। इसलिए लोगों के सामूहिक कार्यों के प्रबन्ध को प्रशासन कहा जाता है।

"सरलतम शब्दों में, प्रशासन एक निश्चित कार्य है, जो किसी निर्धारित प्रयोजन की प्राप्ति के लिए किया जाता है। यह लोक कार्यों की क्रमबद्ध व्यवस्था तथा साधनों का समुचित प्रयोग है, जिसका लक्ष्य हमारे वंछित कार्यों को सम्पन्न करना और साथ ही ऐसे कार्यों को रोकना है, जो हमारे अभिप्रायों से मेल नहीं खाते। उपलब्ध श्रम तथा साधनों का यह एक ऐसा मेल है, ताकि कम से कम शक्ति, समय तथा धन के व्यय से वांछित लक्ष्य की प्राप्ति हो सके।"-मार्स्टर्न एफ. मार्क्स (In simplest terms, administration is the determined action taken in pursuit of conscious purpose. It is the systematic ordering of affairs and the calculated use of resources, aimed at making those things happen which we want to happen and simultaneously preventing developments that fail to square without intentions. It is the marshalling of available labour and materials in order gain that which is desired at the lowest cost in energy, time and money.)

व्यापक अर्थ में प्रशासन की परिभाषा इस प्रकार से की जा सकती है कि यह सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सामूहिक प्रयत्न है। -साइमन (In its broadest sense, adminstration can be defined as the activities of groups co-operating to accomplish common goals.)

"प्रशासन किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए मनुष्यों और पदार्थो का संगठन है। -नीग्रो (Administration is the organisation and use of men and materials to accomplish a purpose.)

वांछित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मानवीय और भौतिक साधनों का संघटन तथा निर्देशन ही प्रशासन है। 'फिफनर (Administration may be defined as the organisation and direction of human and material resources to achieve desired ends.)

प्रशासनों विभिन्न प्रकार की सामाजिक शक्तियों को एक सूत्र में समन्वय करने की वह क्षमता है कि वे एक इकाई के रूप में काम करती है। -ब्रुक एडम्स (Administration is the capacity of co-ordinating many and often conflicting social energies in a single organism, so adroitly that they shall operate as unity.)

इस प्रकार प्रशासन मनुष्य तथा सामग्री का ऐसा प्रयोग एवं संगठन है जिससे लक्ष्य की प्राप्ति हो सके। इसमें कार्य करना और दूसरों से कार्य करवाना है। जब कभी भी और हाँ कहीं भी मनुष्य मिलकर रहते हैं, प्रशासन की समस्या उत्पन्न होती है। जैसा कि हम मानते हैं, मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, अतः मानव की सामाजिक गतिविधियों का सुचारू रूप से संगठन व प्रबन्ध होना आवश्यक है। सुनिश्चित संगठन व प्रबन्ध के अभाव में मनुष्य का इकट्ठे रहना कठिन होगा। अतः प्रशासन प्रत्येक मानव समूह की एक अत्यावश्यक प्रक्रिया है। इसे 'सामाजिक सम्बन्धों की तकनीक' भी कहा जा सकता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रशासन, निजी भी हो सकता है और सरकारी भी। जब इसका सम्बन्ध घर-ग हस्थी, क्लब, निगम या कम्पनी (जो निजी संगठन है) के क्रिया-कलापों से होता है, तो इसे निजी प्रशासन कहते हैं। लेकिन जब इसका सम्बन्ध राज्य की गतिविधियों (चाहे वे केन्द्र सरकार की हों, राज्य सरकार की या स्थानीय सरकार की) से हो तब यह लोक प्रशासन कहलाएगा। इस पुस्तक का अध्ययन क्षेत्र बाद वाला अर्थ अर्थात् लोक प्रशासन है।

लोक प्रशासन की परिभाषाएँ (Definitions of Public Administration)

लोक-प्रशासन 'उन सभी कार्यो को कहते हैं जिनका उद्देश्य उपयुक्त सत्ता के द्वारा घोषित की गई नीति को लागू करना या पूरा करना होता है।' -**एल.डी० वाइट** (L.D. White)।

लोक प्रशासन विधि की विस्त त तथा व्यवस्थित प्रयुक्ति है। विधि की प्रत्येक विशेष प्रयुक्ति प्रशासन का कार्य है।' -**वुडरो विल्सन** (Woodrow Wilson)।

"केन्द्रीय अथवा स्थानीय सरकार के कार्यो से सम्बन्धित प्रशासन ही लोक-प्रशासन है।" -**पर्सी मैकक्वीन** (Percy McQueen)।

"प्रशासक कार्य करवाता है और जिस प्रकार राजनीति विज्ञान सर्वोत्तम साधनों की जिज्ञासा है, ताकि नीति-निर्माण के लिए जनता की इच्छा का संगठित किया जा सके, उसी प्रकार लोक-प्रशासन का विज्ञान जिज्ञासा है कि किस प्रकार नीतियों को सर्वोत्तम कार्यान्वित किया जा सके।" -**मर्सन** (Merson)।

"प्रशासन कार्य करवाने से सम्बन्धित है..... लोक-प्रशासन विज्ञान का वह भाग है जिसका सरकार से सम्बन्ध है, अतः मुख्यतया यह कार्यकारिणी शाखा, जहाँ सरकार का कार्य होता है, से ही सम्बन्धित है, यद्यपि ऐसी समस्याएँ भी होती है जिनका सम्बन्ध विधानमण्डलीय तथा न्यायिक शाखाओं से होता है।" -**लूथर गुलिक** (Luther Gullick)।

"प्रशासन का सम्बन्ध सरकार के 'क्या' और 'कैसे' से है। 'क्या' विषय वस्तु है, किसी क्षेत्र का तकनीकी ज्ञान है जिसके द्वारा एक प्रशासक अपने कार्यो को पूरा कर पाता है। 'कैसे' प्रबन्ध की तकनीक या पद्धति है, यह वह सिद्धान्त है जिनके अनुकूल संचालित कार्यक्रम को सफलता तक पहुँचाया जाता है। दोनों ही अनिवार्य है, दोनों का समन्वय ही प्रशासन कहलाता है।" -**मार्शल ई० डिमॉक** (Marshall E. Dimock)।

"साधारण प्रयोग से लोक-प्रशासन का अर्थ राष्ट्रीय, राज्य तथा स्थानीय सरकारों की कार्यकारिणी शाखाओं की क्रियाएँ हैं। -**साइमन** (Simon)।

"व्यक्तियों के यत्नों में ताल-मेल उत्पन्न करके सरकार का कार्य करवाना ही लोक-प्रशासन है, ताकि पूर्व निर्धारित कार्यो को पूरा करने के लिए वे मिलकर काम कर सकें। प्रशासन में वे क्रियाएँ आती हैं जो अत्यधिक तकनीकी अथवा विशिष्ट हो सकती है, जैसे-लोक-स्वास्थ्य और पुल-निर्माण। इसमें हजारों ही नहीं, अपितु लाखों श्रमिकों की क्रियाओं की निगरानी, निर्देशन तथा प्रबन्ध भी सम्मिलित होता है, ताकि उनके प्रयत्नों से कुछ व्यवस्था और कुशलता उत्पन्न हो।" -**फिफनर** (Pfiffner)।

अपनी प्रसिद्ध रचना 'मॉडर्न पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन' में निग्रो ने लिखा है कि लोक प्रशासन का सम्बन्ध सरकार की तीनों शाखाएँ-विधायी, न्याय सम्बन्धी और कार्यकारी तथा इनकी परस्पर सम्बद्धता के साथ है। यह परिभाषा अधिक व्यापक मानी जाती है।

इन परिभाषाओं का विश्लेषण (Analysis of these Definitions)

इन परिभाषाओं का विश्लेषण करने से पता चलता है कि विद्वानों के मतभेद दो महत्त्वपूर्ण बातों पर केन्द्रित हैं:

1. क्या प्रशासन किसी ध्येय से सम्बन्धित समूची क्रियाओं के समूह को कहते हैं, या प्रबन्ध की विशेष क्रिया को जो ध्येय से स्वतंत्र सहयोगी प्रयास के सभी क्षेत्रों में द ष्टिगोचर होती है।
2. क्या लोक-प्रशासन सरकारी की एकीक त कार्यविधियों का समानार्थक है, या यह केवल कार्यकारिणी शाखा अथवा कार्यकारी कार्य तक ही सीमित है। मोटे तौर पर लोक-प्रशासन की परिभाषाएँ चार श्रेणियों में आती हैं:
    i. कुछ वे परिभाषाएँ हैं जो प्रशासन की प्रक ति का व्यापक अर्थ लेती हैं, किन्तु लोक-प्रशासन के क्षेत्र का संकीर्ण द ष्टिकोण। जैसे **एल.डी. वाइट** की परिभाषा, जिसके अनुसार लोक-प्रशासन में "वे सभी कार्य सम्मिलित हैं जिनका उद्देश्य सार्वजनिक नीति को पूरा करना या लागू करना होता है।" यहाँ प्रशासन केवल प्रबन्धकीय क्रिया नहीं, क्योंकि इसमें 'सभी कार्य' सम्मिलित हैं, किन्तु इसका उद्देश्य केवल नीति को लागू करने तक ही सीमित है।
    ii. दूसरी वे परिभाषाएँ हैं जो प्रशासन की प्रक ति तथा लोक-प्रशासन के क्षेत्र दोनों को ही संकीर्ण द ष्टिकोण से देखती है, जैसे **मर्सन** की परिभाषा, जिसके अनुसार प्रशासन 'कार्य करवाने' में है और जिसका सम्बन्ध यह देखना है कि किस प्रकार नीतियों के सर्वोत्तम ढंग से कार्यान्वित किया जाए।
    iii. तीसरी वे परिभाषाएँ हैं जो प्रशासन की प्रक ति का संकीर्ण, किन्तु लोक-प्रशासन के क्षेत्र का व्यापक अर्थ लेती है। इस प्रकार का उदाहरण **लूथर गुलिक** की परिभाषा है जिसके अनुसार प्रशासन का अभिप्राय 'कार्य को करवाना' है। यह स्वीकार करती है कि प्रशासन की समस्याएँ कार्यकारिणी शाखा के बाहर भी होती है।
    iv. अन्त में वे परिभाषाएँ हैं जो प्रशासन की प्रक ति तथा लोक-प्रशासन के क्षेत्र दोनों का ही व्यापक अर्थ लेती है, जैसे **मार्शल ई० डिमॉक** व **फिफनर** की परिभाषाएँ यद्यपि ये व्यापक और संकीर्ण दोनों द ष्टिकोणों के बीच घूमती है।

'लोक प्रशासन' के अर्थ को भली-भांति समझने के लिए 'प्रशासन' और 'लोक प्रशासन' में विभेद समझना आवश्यक है:

	प्रशासन (Administration)	लोक प्रशासन (Public Administration)
1.	प्रशासन एक सामान्य शब्दावली है जिसका परिप्रेक्ष्य **व्यापक** है।	लोक प्रशासन का परिप्रेक्ष्य संकुचित है, क्योंकि यह सार्वजनिक नीतियों से ही सम्बन्धित है।
2.	प्रशासन का सम्बन्ध कार्यो को सम्पन्न कराने से है जिससे कि निर्धारित लक्ष्य पूरे हो सकें।	लोक प्रशासन दोहरे स्वरूप वाला है। यह अध्ययन, अध्यापन एवं अनुसंधान का शैक्षणिक विषय होने के साथ-साथ क्रियाशील विज्ञान भी है।
3.	आमतौर से प्रशासन एक क्रिया (activity) भी है और प्रक्रिया (process) भी है।	लोक प्रशासन का सम्बन्ध सार्वजनिक नीति के निर्माण, क्रियान्वयन से है। यह नीति विज्ञान और प्रक्रिया होती है।
4.	प्रशासन एक सार्वलौकित क्रिया है जिसे समस्त प्रकार के समूह प्रयत्नों में देखा जा सकता है, चाहे वह समूह परिवार, राज्य या अन्य सामाजिक संघ हो।	लोक प्रशासन का सम्बन्ध विशिष्ट रूप से सरकारी क्रियाकलापों से है। इसके अन्तर्गत वे सभी प्रशासन आ सकते हैं जिनका जनता पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।
5.	प्रशासन उन समस्त सामूहिक क्रियाओं का नाम है जो सामान्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सहयोगात्मक रूप में प्रस्तुत की जाती है।	लोक प्रशासन सरकार के कार्य का वह भाग है जिसके द्वारा सरकार के उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की प्राप्ति होती है।
6.	प्रशासन एक से अधिक व्यक्तियों द्वारा विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए सहयोगी ढंग से किया जाने वाला कार्य है।	लोक प्रशासन ऐसे उद्देश्यों का क्रियान्वयन है, जिन्हें जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों ने निर्धारित किया है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति लोक सेवाओं द्वारा सहयोगी ढंग से की जाती है।
7.	प्रशासन के अन्तर्गत लोक प्रशासन और निजी प्रशासन दोनों समाविष्ट हैं।	लोक प्रशासन का सम्बन्ध 'सार्वजनिक' (जनता से सम्बन्धित) प्रशासन से है।

लोक प्रशासन की प्रकृति
(Nature of Public Administration)

लोक प्रशासन की परिभाषा की भान्ति इस की प्रक ति के विषय में भी दो तरह के द ष्टिकोण हैं। व्यापक द ष्टिकोण जिसे पूर्ण अथवा एकीक त विचार कहा जाता है और संकुचित द ष्टिकोण जिसे प्रबन्धकीय विचार कहा जाता है।

एकीक त विचार (Integral View)

इस विचार के समर्थकों के मतानुसार, लोक प्रशासन लोक नीति को लागू करने और उस की पूर्ति के लिए प्रयोग की गई गतिविधियों का योग है। इस प्रकार निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सम्पादित की जाने वाली क्रियाओं का योग ही प्रशासन है, चाहे वे क्रियाएं, प्रबन्धकीय अथवा तकनीकी ही क्यों न हो। विस्त त रूप से सरकार की सभी गतिविधियाँ चाहे वे कार्यपालिका हो तथा चाहे विधायक अथवा न्यायिक, लोक प्रशासन में शामिल हैं। एल.डी. ह्वाइट, विलसन, डीमाक और फिफनर आदि लेखकों ने इस विचार का समर्थन किया है। एल.डी. ह्वाइट (L.D. White) ने स्पष्ट शब्दों में कहा है, "लोक प्रशासन का सम्बन्ध उन सभी कार्यों से है जिन का प्रयोजन सार्वजनिक नीति को पूरा करना या उसे क्रियान्वित करना होता है।" इस परिभाषा में शासन सम्बन्धी सभी क्षेत्रों की विशेष क्रियाएं आ जाती है, जैसे पत्र-वितरण, सार्वजनिक भूमि का विक्रय, किसी सन्धि की वार्ता, घायल कर्मचारी को क्षतिपूर्ति देना, संक्रामक रोग स बीमार बच्चे को अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क से रोकना, सार्वजनिक पार्क में से कूड़ा-कर्कट हटाना, प्लूटोनियम का निर्माण तथा अणु शक्ति के प्रयोग का अनुपालन।"

इस द ष्टिकोण को अपनाते हुए फिफनर (Pfiffner) ने कहा है, "लोक प्रशासन का अर्थ है सरकार का काम करना चाहे वह कार्य स्वास्थ्य प्रयोगशाला में एक्सरे मशीन का संचालन हो अथवा टकसाल में सिक्के बनाना हो। लोक प्रशासन से तात्पर्य है लोगों के प्रयासों में समन्वय स्थापित करके कार्य को सम्पन्न करना ताकि वे मिलकर कार्य कर सकें अथवा अपने निश्चित कार्यो को पूरा कर सके।"

प्रबन्धकीय विचार (Managerial View)

इस विचार के समर्थक केवल उन्हीं लोगों के कार्यो को प्रशासन मानते हैं जो किसी उद्यम सम्बन्धी कार्यो को पूरा करते हैं। प्रबन्धकीय कार्य का लक्ष्य उद्यम की सभी क्रियाओं का एकीकरण, नियन्त्रण तथा समन्वय करना होता है जिससे सभी क्रियाकलाप एक समन्वित प्रयत्न (Co-ordinated Effort) जैसे दिखाई देते हैं। साइमन, स्मिथबर्ग तथा थॉमसन इस द ष्टिकोण के समर्थक हैं। उनके मतानुसार, "प्रशासन शब्द अपने संकुचित अर्थो में आचरण के उन आदर्शो को प्रकट करने के लिए प्रयोग किया जाता है, जो अनेक प्रकार के सहयोगी समूहों में समान रूप से पाए जाते हैं, और न तो उस लक्ष्य विशेष पर ही आधारित होते हैं जिस की प्राप्ति के लिए वे सहयोग कर रहे हैं, और न उन विशेष तकनीकी रीतियों पर ही अवलम्बित हैं जो उन लक्ष्यों के हेतु प्रयोग की जाती हैं।" इस विचार का पक्ष लेते हुए लूथर गुलिक ने भी लिखा है, "प्रशासन का सम्बन्ध कार्य पूरा किये जाने और निर्धारित उद्देश्यों की परिपूर्ति से है।" दूसरे शब्दों में इस विचार के समर्थक लोक प्रशासन को केवल कार्यपालिका शाखा की गतिविधियों तक ही सीमित कर देते हैं।

इन दोनों विचारों में कई पहलुओं से भिन्नता पाई जाती है। एकीक त विचार में प्रशासन से सम्बन्धित सभी व्यक्तियों के कार्य शामिल हैं, जबकि प्रबन्धकीय विचार प्रशासन को केवल कुछ एक ऊपर के व्यक्तियों के कार्यो तक ही सीमित करता है। दूसरे शब्दों में एकीक त द ष्टिकोण में प्रबन्धकीय, तकनीकी तथा गैर-तकनीकी सब प्रकार की गतिविधियां शामिल हैं जब कि प्रबन्धकीय द ष्टिकोण अपने आप को एक संगठन के प्रबन्धकीय कार्यो तक ही सीमित रखता है।

एकीक त द ष्टिकोण के अनुसार लोक प्रशासन सरकार की तीनों शाखाओं-कार्यपालिका, विधानपालिका तथा न्यायपालिका से सम्बन्धित है। परन्तु प्रबन्धकीय द ष्टिकोण के अनुसार लोक प्रशासन का संबंध केवल कार्यपालिका कार्यो से है।

इन दोनों विचारों में से किसी की भी पूर्णतः उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रशासन का ठीक अर्थ तो उस प्रसंग पर निर्भर करता है जिस संदर्भ में शब्द का प्रयोग किया जाता है। डिमॉक तथा कोईनिंग (Koening) ने सभी पक्षों को ध्यान में रखते हुए लोक प्रशासन की प्रक ति का सारांश निकालने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार, "अध्ययन-विषय के रूप में प्रशासन की प्रक ति का सारांश निकालने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार, "अध्ययन-विषय के रूप में प्रशासन उन सरकारी प्रयत्नों के प्रत्येक पहलू की परीक्षा करता है तो कानून तथा लोकनीति को क्रियान्वित करने हेतु किए जाते हैं। एक प्रक्रिया के रूप में इसमें वे सभी प्रयत्न आ जाते हैं जो किसी संस्थान में अधिकार-क्षेत्र प्राप्त करने से लेकर अन्तिम ईट रखते तक उठाए जाते हैं (और कार्यक्रमों का निर्माण करने वाले अभिकरण का प्रमुख भाग भी इसमें सम्मिलित होता है) तथा व्यवसाय के रूप में प्रशासन किसी भी सार्वजनिक संस्थान के क्रिया-कलापों का संगठन तथा संचालन करता है।"

Scope of Public Administration

लोक प्रशासन के क्षेत्र संबंधी विचार को दो भागों में बांटा जा सकता है-

1. एक वर्ग के विचार लोक प्रशासन की व्याख्या इतने व्यापक अर्थ में करते हैं कि लोक प्रशासन की सीमा के अन्दर सरकार के सभी विभाग तथा कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका के क्षेत्र आ जाते हैं। इस परिभाषा को स्वीकार करने पर प्रशासन के क्षेत्र में वे सभी कार्य शामिल होंगे जो सरकार की सम्पूर्ण सार्वजनिक नीतियों को निर्धारित करने तथा उन नीतियों को कार्यान्वित करने के लिए किए जाते हैं परन्तु इस परिभाषा में लोक प्रशासन की अपनी विशिष्टता नहीं रह जाएगी।
2. लोक प्रशासन के संबंध में दूसरा विशिष्ट विचार ही अधिक ग्राह्य है। इनके अन्तर्गत लोक प्रशासन का अध्ययन कार्यपालिका के उस पक्ष से संबंधित है जो व्यवस्थापिका के द्वारा निश्चित की गई नीतियों का व्यवहार में लाने का उत्तरदायित्व ग्रहण करता है। इसलिए लोक प्रशासन कार्यपालिका से ही संबंधित है और उसी के नेत त्व में काम करता है। एफ मार्क्स के अनुसार लोक प्रशासन के अन्तर्गत वे समस्त विषय आते हैं जिनका संबंध सार्वजनिक नीति से है, स्थायी परम्पराओं के अनुसार, लोक प्रशासन के कार्य असैनिक संगठन, कर्मचारियों एवं प्रक्रियाओं से लगाये जाते हैं, जो प्रशासन को प्रभावशाली बनाने के लिए कार्यपालिका को दिए जाते हैं।

विलोबी के अनुसार, लोक प्रशासन के क्षेत्र का संबंध इन बातों से है-

1. सामान्य प्रशासन,

2. संगठन,
3. कर्मचारी वर्ग,
4. सामग्री, तथा
5. वित्त।

व्यावहारिक द ष्टिकोण से भी लोक प्रशासन में सरकार के असैनिक स्त्रोत, राजनीतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रयोग में लाए जा सकते हैं। लोक प्रशासन के क्षेत्र को हम निम्न रूप में वर्णित कर सकते हैं-

1. **इसका संबंध सरकार के 'क्यों' और 'कैसे' से है** (It deals with 'how' and 'what' of the government): लोक प्रशासन का संबंध सरकार के 'क्या' से है जिनका अर्थ उन समस्त लक्ष्यों की उपस्थिति है जिनको हम सामग्री कहते हैं, और जिनको पूर्ण करने के लिए वह प्रयत्नशील रहती है। 'कैसे' का संबंध उन साधनों से है जिनका प्रयोग सरकार उन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए करती है। वित्त, कर्मचारियों की नियुक्ति, निर्देशन, नेत त्व इत्यादि इसके उदाहरण हैं। इसके अन्तर्गत प्रशासन के दोनों पहलू आ जाते हैं-सिद्धान्त तथा व्यवहार।
2. **कार्यपालिका की क्रियाशीलता का अध्ययन** (It is study of executive in action): लोक प्रशासन प्रशासन का वह अंग है जो कार्यपालिका के क्रियाशील तत्वों का अध्ययन करता है। लोक प्रशासन का संबंध कार्यपालिका की उन समस्त असैनिक क्रियाओं से है जिनके द्वारा वह राज्य के निश्चित लक्ष्यों को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। लोक प्रशासन का यह संकीर्ण रूप है। प्रशासन का वास्तविक उत्तरदायित्व कार्यपालिका के ऊपर है, चाहे वह राष्ट्रीय, राजकीय अथवा स्थानीय स्तर की क्यों न हो।
3. **लोक प्रशासन का संबंध संगठन समस्याओं से है** (It deals with the problems of organization): लोक प्रशासन में हम प्रशासनिक संगठन का अध्ययन करते हैं। सरकार के विभागीय संगठन का अध्ययन इसके अन्तर्गत किया जाता है। लोक प्रशासन के क्षेत्र में नागरिक सेवाओं (असैनिक) के विभिन्न सूत्रों उसके संगठनों तथा क्षेत्रीय संगठनों का व्यापक अध्ययन करते हैं।
4. **पदाधिकारियों की समस्याओं का अध्ययन** (It deals with the problems of personnel): लोक प्रशासन के क्षेत्र में पदाधिकारियों की भर्ती, प्रशिक्षण, सेवाओं की दशा, अनुशासन तथा कर्मचारी संघ आदि समस्याओं का व्यापक रूप से गहन अध्ययन किया जाता है।
5. **इसका संबंध सामान्य प्रशासन से है** (It deals with problems of general administration): लक्ष्य निर्धारण, व्यवस्थापिका एवं प्रशासन संबंधी नीतियां, सामान्य कार्यो का निर्देशन, स्थान एवं नियंत्रण आदि लोक प्रशासन के क्षेत्र में सम्मिलित हैं।
6. **सामग्री प्रदाय संबंधी समस्यायें** (It deals with problems of material supply): लोक प्रशासन के अन्तर्गत क्रय, स्टोर करना, वस्तु प्राप्त करने के साधन तथा कार्य करने के यंत्र आदि का भी विस्त त अध्ययन किया जाता है।
7. **वित्त संबंधी समस्याओं का अध्ययन** (Study of the Problems of Finance): लोक प्रशासन में बजट वित्तीय आवश्यकताओं की व्यवस्था तथा करारोपण आदि का अध्ययन किया जाता है।
8. **प्रशासकीय उत्तरदायित्व** (Administrative Accountability): लोक प्रशासन की परिधि में हम सरकार के विभिन्न उत्तरदायित्व का विवेचन करते हैं। न्यायालयों के प्रति उत्तरदायित्व, जनता तथा विधान-मंडल आदि के प्रति प्रशासन के उत्तरदायित्व का अध्ययन किया जाता है।
9. **मानव-तत्व का अध्ययन** (Study of human-element): लोक प्रशासन एक मानव शास्त्र है। मानवीय तत्त्व के अभाव में वह अपूर्ण है। अमेरिकी लेखक साइमन तथा मार्क्स ने लोक प्रशासन के अध्ययन में मानवीय तत्त्व के अध्ययन को विशेष महत्त्व दिया है। व्यक्ति ही समस्त प्रशासकीय व्यवस्था का संचालक, स्त्रोत, आधार तथा मार्ग निर्देशक होता है। मानव-मनोविज्ञान के अध्ययन के बिना लोक प्रशासन की विविध समस्याओं को नहीं समझाया जा सकता। प्रशासन पर परम्पराओं, सभ्यता, संस्क ति एवं बाह्य वातावरण का प्रभाव पड़ता है। लोक प्रशासन की विविध समस्याओं को हमें मानवीय व्यवहार की प ष्ठभूमि में देखना चाहिए। लोक प्रशासन एक सामूहिक मानवीय क्रिया है।

सामूहिक संबंधों का आधार क्या है तथा व्यक्ति उन आवश्यकताओं की पूर्ति किस प्रकार कर पाता है, यह विचारणीय विषय लोक प्रशासन का है। प्रशासकीय निर्णयों पर किन-किन तत्वों का व्यापक रूप से प्रभाव होता है, इसका अध्ययन हम लोक प्रशासन में करते हैं।

लोक प्रशासन के अध्ययन-क्षेत्र के बारे में विचारकों में बड़ा भेद है। मूलतः मतभेद इन प्रश्नों को लेकर है कि क्या लोक प्रशासन शासकीय कामकाज का केवल प्रबन्धकीय अंश है अथवा सरकार के समस्त अंगों का समग्र अध्ययन? क्या लोक प्रशासन सरकारी नीतियों का क्रियान्वयन है अथव यह नीति-निर्धारण में भी प्रभावी भूमिका अदा करता है?

लोक प्रशासन के क्षेत्र में मोटे रूप से चार द ष्टिकोण प्रचलित हैं:

व्यापक द ष्टिकोण (Broader View)

कतिपय विद्वानों जैसे, निग्रो, एल.डी. व्हाइट, मार्क्स, विलोबी, साइमन आदि ने लोक प्रशासन के क्षेत्र के संबंध में व्यापक द ष्टिकोण अपनाया है। इस द ष्टिकोण के अनुसार लोक प्रशासन सरकार के तीनों अंगों-व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका से संबंधित है। इस द ष्टिकोण के अनुसार लोक प्रशासन के क्षेत्र में वे सभी क्रियाकलाप सम्मिलित हैं जिनका प्रयोजन लोक नीति को पूरा करना या क्रियान्वित करना होता है। प्रो. व्हाइट ने लोक प्रशासन के क्षेत्र में वे सभी क्रियाकलाप सम्मिलित हैं जिनका प्रयोजन लोक नीति को पूरा करना या क्रियान्वित करना होता है। प्रो. व्हाइट ने लोक प्रशासन की व्यापक द ष्टिकोण से परिभाषा करते हुए लिखा है, "लोक प्रशासन में वे सभी कार्य आते हैं जिनका उद्देश्य सार्वजनिक नीति को पूरा करना अथवा लागू करना होता है।" विलोबी ने लिखा है, "अपने व्यापकतम अर्थ में लोक प्रशासन उस कार्य का प्रतीक है जो कि सरकारी कार्यो के वास्तविक सम्पादन से सम्बद्ध होता है, चाहे वे कार्य सरकार की किसी भी शाखा से संबंधित क्यों न हो.....।"

लोक प्रशासन के विषय-क्षेत्र के बारे में नीग्रो की व्याख्या अधिक व्यापक है। क्योंकि इसमें अन्य सभी पक्षों के अलावा लोक प्रशासन तथा राजनीतिक व सामाजिक प्रणाली के आपसी संबंध को भी सम्मिलित किया गया है। नीग्रो ने लोक प्रशासन की व्याख्या इस प्रकार की है:

1. लोक प्रशासन लोक समाज में सहयोगी एवं सामूहिक प्रयास है;
2. लोक प्रशासन में कार्यपालिका, विधायिका तथा न्यायपालिका और इन तीनों के परस्पर संबंध शामिल हैं;
3. लोक प्रशासन की लोक नीति की रचना में प्रमुख भूमिका है और इस प्रकार यह राजनीतिक प्रक्रिया का अंग है;
4. लोक प्रशासन समाज की सेवा करने के क्रम में निजी समूहों और व्यक्तियों से घनिष्ठ रूप से जुड़ा है।

निजी निर्धारण आज के लोक प्रशासन का अभिन्न अंग है। प्रशासकों का सबसे मुख्य दायित्व यह है कि वे नीति संबंधी मामलों में मंत्रियों को सलाह दें और चूंकि वे अपने विषय में विशेषज्ञ होते हैं अतः उनकी सलाह आमतौर पर मान ली जाती है। दूसरे, नीति संबंधी निर्णयों को कार्यान्वित करने में लगे होने के बावजूद प्रशासकों को अनिवार्यतः विभिन्न महत्त्वपूर्ण विषयों और स्तरों पर सहायक नीतियों का भी निर्धारण करना होता है। अंतिम, सभी प्रकार की राजनीतिक प्रणालियों में आज अधीनस्थ कानून प्रशासकों की महत्त्वपूर्ण गतिविधि है; अतः आज के युग में नीति और प्रशासन अलग-अलग नहीं है। अर्थात् लोक प्रशासन का क्षेत्र इतना व्यापक हो जाता है कि सिविल अधिकारी नीति निर्माण में ही लगे रहते हैं।

परन्तु अनेक अन्य विद्वानों के अनुसार व्यापक अर्थ में लोक प्रशासन का अध्ययन अव्यावहारिक है क्योंकि ऐसा करने से लोक प्रशासन का स्पष्ट हो जाता है।

संकुचित द ष्टिकोण (Narrow View)

कतिपय विद्वानों जैसे, लूथर गुलिक, साइमन आदि ने लोक प्रशासन के क्षेत्र के संबंध में संकुचित द ष्टिकोण अपनाया है। उनके अनुसार लोक प्रशासन का संबंध शासन की केवल कार्यपालिका शाखा से है। साइमन लिखते हैं, "लोक प्रशासन से अभिप्राय उन क्रियाओं से है जो केन्द्र, राज्य तथा स्थानीय सरकारों की कार्यपालिका शाखाओं द्वारा संपादित की जाती है।" लूथर गुलिक के अनुसार, "इसका विशेष संबंध कार्यपालिका से है।" सिमोन आदि लेखक लोक प्रशासन के कार्यक्षेत्र की व्याख्या इस प्रकार

करते हैं कि वह निष्पादक या प्रशासकीय शाखा के क्रियाकलापों के ही अनुरूप हो। संक्षेप में, लोक प्रशासन में कार्यपालिका के संगठन, उसकी कार्य-प्रणाली एवं कार्य-पद्धति का अध्ययन किया जाना चाहिए।

इस द ष्टि से लोक प्रशासन के क्षेत्र में निम्नलिखित बातें आती हैं:

1. **सामान्य प्रशासन का अध्ययन** (Study of the General Administration): लोक प्रशासन सामान्य प्रशासन के समस्याओं से संबंधित रहता है। इसके क्षेत्र में प्रशासनिक नीतियां, लक्ष्य निर्धारण, प्रशासन के ऊपर निर्देशन, निरीक्षण तथा नियंत्रण आदि शामिल हैं।
2. **कार्यरत कार्यपालिका का अध्ययन** (Study of the Executive in Action): लोक प्रशासन प्रशासन की वह शाखा है जो कार्यपालिका का अध्ययन करती है। कार्यपालिका से यहाँ तात्पर्य केवल असैनिक कार्यपालिका से है। लोक प्रशासन कार्यपालिका की उन समस्त असैनिक क्रियाओं से संबंधित रहता है जो निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए की जाती है। यथार्थ में राष्ट्रीय, राज्यीय एवं स्थानीय - प्रत्येक प्रकार के प्रशासन के लिए कार्यपालिका ही उत्तरदायी रहती है।
3. **सेविवर्ग की समस्याओं का अध्ययन** (Study of the Problems of Personnel): लोक प्रशासन के क्षेत्र में पदाधिकारियों की भर्ती, प्रशिक्षण, सेवाओं की दशा, अनुशासन तथा कर्मचारी संघ, आदि समस्याओं का विस्त त अध्ययन किया जाता है।
4. **संघटन संबंधी समस्याओं का अध्ययन** (Study of the Problems of Organisation): लोक प्रशासन इसका भी अध्ययन करता है कि विभिन्न प्रशासनिक क्रियाओं को सुचारू रूप से करने के लिए सेवाएं किस प्रकार संगठित की जायें? लोक प्रशासन के क्षेत्र में असैनिक सेवाओं के विभिन्न सूत्र, उनके संगठनों तथा क्षेत्रीय संगठनों का अध्ययन करते हैं।
5. **सामग्री प्रदान संबंधी समस्याओं का अध्ययन** (Study of the Problems of Supply of Material): लोक प्रशासन की परिधि में विविध सामग्री की खरीददारी, उसे स्टोर करना और कार्य करने के यंत्र तथा साज-सज्जा, आदि समस्याएं सम्मिलित हैं।
6. **प्रशासकीय उत्तरदायित्व का अध्ययन** (Study of Administrative Responsibility): लोक प्रशासन के अन्तर्गत प्रशासकों के विभिन्न प्रकार के उत्तरदायित्वों का पर्याप्त अध्ययन किया जाता है। प्रशासक स्वच्छन्द आचरण नहीं कर सकते हैं। वे जनता, विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के प्रति किस प्रकार उत्तरदायी रहते हैं, इसका अध्ययन भी लोक प्रशासन का महत्त्वपूर्ण पहलू है।
7. **वित्त संबंधी समस्याओं का अध्ययन** (Study of the Problems of Finance): लोक प्रशासन के अन्तर्गत बजट, करारोपण और वित्त से संबंधित अन्य प्रश्नों का भी समुचित अध्ययन किया जाता है।

पोस्डकोर्ब द ष्टिकोण (PSODCORB View)

क्या लोक प्रशासन का संबंध मात्र सरकार की 'कैसे' से ही है? 'कैसे' का अर्थ प्रक्रिया या प्रक्रियाएं है। लोक प्रशासन 'प्रशासन' की 'प्रक्रियाओं' का अध्ययन है। लोक प्रशासन के कार्य-क्षेत्र के संबंध लूथर गुलिक ने जिस मत को प्रतिपादित किया है उसे 'पोस्डकोर्ब' कहा जाता है। लूथर गुलिक से पहले उर्विक तथा हेनरी फेयोल इत्यादि विद्वानों ने भी 'पोस्डकोर्ब' द ष्टिकोण अपनाया था, परन्तु इन विचारों की सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने का श्रेय गुलिक को ही जाता है। 'पोस्डकोर्ब' शब्द अंग्रेजी के सात शब्दों के प्रथम अक्षरों को मिलाकर बनाया गया है। वे शब्द इस प्रकार हैं:

P–Planning	=	योजना बनाना
O–Organisation	=	संगठन बनाना
S–Staffing	=	कर्मचारियों की व्यवस्था करना
D–Direction	=	निर्देशन करना
Co–Co-ordination	=	समन्वय करना
R–Reporting	=	रपट देना
B–Budgeting	=	बजट तैयार करना

इन शब्दों से निम्नलिखित क्रियाओं का बोध होता है:

पी-योजना बनाना: प्लानिंग अर्थात् नियोजना कार्यो की रूपरेखा तैयार करना और निश्चित ध्येय की प्राप्ति के लिए रीतियों का निर्धारण करना।

ओ-संगठन बनाना: आरगेनाइजेशन अर्थात् संगठन। इसका उद्देश्य प्रशासकीय ढांचे की इस प्रकार संगठित करना है ताकि प्रशासकीय कार्यो का विभाजन उचित ढंग से किया जा सके और विभाग में समन्वय किया जा सके।

एम-कर्मचारियों की व्यवस्था करना: स्टाफ अर्थात् सम्पूर्ण कर्मचारी वर्ग की नियुक्ति, प्रशिक्षण और उनके लिए कार्य करने की अनुकूल दशाओं का निर्माण करना।

डी-निदेशन करना: इसके अन्तर्गत वे निर्णय आते हैं जो निर्णायकों द्वारा कर्मचारियों के कार्यो के संबंध में लिए जाते हैं। ये निर्णय सामान्य आदेशों के रूप में सन्निहित करके प्रशासकीय कर्मचारियों तक पहुंचाये जाते हैं।

को-समन्वय करना: कार्य के विभिन्न भागों को परस्पर संबंधित करना अथवा उनमें समन्वय स्थापित करना।

आर-रपट देना: रिपोर्टिंग अर्थात् रपट देना। इसका उद्देश्य वरिष्ठ तथा निम्न कर्मचारियों के कार्यो के संबंध में निरीक्षण अधिकारियों को सूचित रखना है। इसका उद्देश्य निरीक्षण के लिए अभिलेख तैयार करना भी है।

बी-बजट तैयार करना: इसके अन्तर्गत हम वित्त व्यवस्था का संक्षिप्त अध्ययन करते हैं। विशेष रूप से इसका अध्ययन बजट तैयार करने से है।

उपर्युक्त 'पोस्डकार्ब' क्रियाएं सभी संगठनों में सम्पन्न की जाती हैं। प्रशासन का चाहे कोई भी क्षेत्र हो तथा कोई भी उद्देश्य हो ये प्रबन्ध संबंध सामान्य समस्याएं सबमें एक जैसी एवं अनिवार्य होती है। लोक प्रशासन के कार्य-क्षेत्र के संबंध में 'पोस्डकोर्ब' विचार को सामान्यतया स्वीकार किया जाता है।

इस द ष्टिकोण तथा विचारधारा की आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की जाती है-

1. **मानवीय संबंधों की उपेक्षा:** मानवीय संबंधों के द ष्टिकोण के लेखक का कहना है कि पोस्डकोर्ब को लोक प्रशासन कहना प्रशासन का एक अत्यन्त, निर्जीव, शुष्क-सा, म त-चित्र प्रस्तुत करना है। होथार्न प्रयोग के बाद लोक प्रशासन के क्षेत्र में यह स्वीक त होता जा रहा है कि प्रशासन एक मानवीय कला है, एक सामाजिक विज्ञान है, जिसे केवल 'नट' (Nut) और 'बोल्ट' (Bolt) की तरह नहीं पढ़ा जा सकता। श्रमिक भी प्रशासक की भांति एक मनुष्य है। प्रशासन में इस तथ्य की उपेक्षा करना अनुचित है। पोस्डकोर्ब विचारधारा इस तत्व के प्रति उदासीन है। इस प्रकार मानवीय संबंधों का द ष्टिकोण अपनाने वाले 'पोस्डकोर्ब' विचार को स्वीकार नहीं करते।
2. **पाठ्य विषय के ज्ञान की उपेक्षा:** पोस्डकार्ब सिद्धान्त के आलोचकों की यह मान्यता है कि वह अत्यन्त स्वेच्छाचारी तथा काल्पनिक सिद्धान्त है और जिसके अन्दर प्रशासन के वास्तविक तत्त्व का त्याग करके काल्पनिक चिंतन किया जाता है। इसके विरूद्ध यह भी तर्क दिया जाता है कि प्रबंध से परे कार्यो को प्रशासन के क्षेत्र से निष्कासित करना ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार नीचे की ईटों की दीवार का एक भाग इंकार करना। पोस्डकार्ब को यदि प्रशासन का सामान्य तत्व स्वीकार कर लिया जाये तो उसके अर्थ होंगे प्रशासन के ह्रदय को बाहर निकाल फेंकना, क्योंकि उसका संबंध प्रबंध तक ही सीमित नहीं है वरन् शिक्षा, चिकित्सा तथा सुरक्षा आदि से भी है जिनके लिए प्राविधिक योग्यता की आवश्यकता होती है। पोस्डकार्ब की इन्हीं कमियों के कारण तथा उसे अभावों को दूर करने की द ष्टि से मैरियम आदि लेखकों ने इस बात पर बल दिया है कि प्रभावशाली प्रशासन प्रति-स्थापित करने के लिए उस विषय वस्तु का अच्छा ज्ञान अर्जित करना आवश्यक है जिससे की अभिकरण का गहरा संबंध है। प्रशासन का मूल संबंध श्रेणी क्रियाओं से होता है। जो विविध प्रकार की जन सेवाओं को संगठित करते हैं। ये सेवायें अपने में विशेष तकनीकी ज्ञान रखती हैं जिसका समावेा पोस्डकार्ब में नहीं है। मैरियम ने प्रशासन को एक कैंची के समान दो फलकों वाला यंत्र का भाग कहा है। इस यंत्र का भाग पोस्डकार्ब के अन्तर्गत आता है दूसरे भाग में विषय-वस्तु का ज्ञानल समाविष्ट होता है। कुशल प्रशासक के लिए यह आवश्यक है कि दोनों ही भाग ठीक प्रकार से करते रहें। अतः पोस्डकार्ब का संबंध प्रशासन के व्यावहारिक ज्ञान से है तथा वस्तु-विषय के सिद्धांत का संबंध उसके सैद्धान्तिक पक्ष से है।

4. **लोक कल्याणकारी द ष्टिकोण** (Idealistic or Welfare View): लोक प्रशासन के क्षेत्र से संबंधित एक अन्य द ष्टिकोंण है। इसे आदर्शवादी द ष्टिकोण भी कहा जाता है। इसे आदर्शवादी द ष्टिकोंण भी कहा जाता है। इस द ष्टिकोण के समर्थक राज्य और लोक प्रशासन में अधिक अन्तर नहीं मानते। उनके मातानुसार वर्तमान समय में राज्य लोक कल्याणकारी है।, अतः लोक प्रशासन भी लोक कल्याणकारी है। दोनों का लक्ष्य एक ही है-जनहित अथवा जनता को हर प्रकार से सुखी बनाना। इस द ष्टिकोण के समर्थ कहते हैं कि "आज लोक प्रशासन सभ्यस जीवन का रक्षक मात्र ही नहीं, वह सामाजिक न्याय तथा सामाजिक परिवर्तन का भी महान साधन है।" इससे स्पष्ट होता है कि लोक प्रशासन का क्षेत्र जनता के हित में किए जाने वाले सभी कार्यों तक फैला हुआ है। एल० डी० व्हाइट लोक प्रशासन को 'अच्छी जिंदगी' के लक्ष्य की प्राप्ति का साधन मानते हैं।

   'संयुक्त विश्वविद्यालय अध्ययन और लोक प्रशासन परिषद् की लोक प्रशासन समिति' ने लोक प्रशासन के अध्ययन-क्षेत्र का वर्णन इस प्रकार किया है:

   (क) इसमें प्रशासन के ऊपर विविध प्रकार के नियंत्रणों का अध्ययन होता हैं।

   (ख) लोक प्रशासन में लोकतंत्रात्मक शासन-व्यवस्था के भीतर प्रशासकीय प्रक्रिया का अध्ययन होता है।

   (ग) लोक सेवा, स्थानीय शासन सेवा तथा ऐसी ही अन्य कर्मचारियों से संबंधित कार्मिक समस्याओं का अध्ययन होता है।

संयुक्त विश्वविद्यालय अध्ययन और लोक प्रशासन परिषद् का विवरण: 'संयुक्त विश्वविद्यालय अध्ययन ओर लोक प्रशासन परिषद् की लोक प्रशासन समिति' ने लोक प्रशासन के अध्ययन-क्षेत्र का वर्णन इस प्रकार किया है:

1. लोक प्रशासन में लोकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था के भीतर प्रशासकीय प्रक्रिया का अध्ययन होता हैं
2. इसमें प्रशासन के ऊपर विविध प्रकार के नियन्त्रणों का अध्ययन होता हैं।
3. लोक सेवा, स्थानीय शासन सेवा तथा ऐसी ही अन्य कर्मचारियों से सम्बन्धित कार्मिक समस्याओं का अध्ययन होता है।
4. नियोजन, अनुसन्धान, सूचना तथा सार्वजनिक सम्पर्क एवं प्रशासकीय स्वविवेक के प्रयोग से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन होता है।

   आज आमतौर पर यह स्वीकार किया जाता है कि लोक प्रशासन अन्य सामाजिक विज्ञानों की ही भांति एक पूर्ण विषय है, इसके अन्तर्गत अध्ययन के पांच प्रमुख विशेष क्षेत्र हैं।

   (i) प्रशासनिक अथवा संगठनात्मक सिद्धान्तों का अध्ययन (Study of Administrative or Organization Theory)

   (ii) सार्वजनिक कार्मिक प्रशासन का अध्ययन (Study of Public Personnel Administration)

   (iii) सार्वजनिक वित्तीय प्रशासन का अध्ययन (Study of Public Financial Administration)

   (iv) तुलनात्मक लोक प्रशासन का अध्ययन (Study of Comparative Public Administration)

   (v) सार्वजनिक नीति का अध्ययन (Study of Public Policy)

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वर्तमान युग में लोक प्रशासन की क्रियाओं का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो गया है और समाजवादी व जनकल्याणकारी विचारधारा की प्रगति के साथ-साथ वह निरन्तर बढ़ता ही जा रहा हैं। लोक प्रशासन के अन्तर्गत केन्द्र, राज्य तथा स्थानीय सभी स्तरों की सरकारों के संगठन एवं कार्यप्रणाली का अध्ययन किया जाता है, पोस्डकोर्ब द्वारा दर्शायी गयी तकनीकों का भी अध्ययन किया जाता हैं और मानवीय सम्बन्धों का भी। "लोक प्रशासन के अन्तर्गत केवल प्रशासन के अन्तर्गत केवल प्रशासन की तकनीकों एवं विधियों का ही अध्ययन नहीं किया जाना चाहिए बल्कि इसको अपना ध्यान उन मनुष्यों पर भी केन्द्रित करना चाहिए जो कि उन तकनीकों एवं विधियों का प्रयोग करते हैं और जो प्रशासनिक संगठनों में काम करते हैं।"

'लोक प्रशासन' के विकास पर वर्षों को बदलती हुई सामाजिक परिस्थितियों एवं अन्य सम्बन्धित सामाजिक विज्ञानों का गहन प्रभाव परिलक्षित होता है। लोक प्रशासन में अब मुख्य रूप से प्रशासनिक एवं प्रबन्धकीय साधनों और सिद्धान्तों जैसे, बजट

बनाने, प्रबन्ध तकनीकों तथा सक्रियात्मक अनुसन्धान विधियों का लागू करने और कम्यूटर विज्ञान, आदि के उपयोग पर बल दिया जा रहा है। प्रबन्धकीय प्रकृति की ओर इतना अधिक झुकने के कारण यह अपने सामाजिक विज्ञान वाले स्वरूप से दूर होता जा रहा हैं। अब यह लगभग प्रबन्ध शिक्षा में विलीन होता जा रहा है। इसने धीरे-धीरे व्यावसायिक रूप ग्रहण कर लिया है। इसका प्रमुख ध्येय लोक प्रबन्धकों को तैयार करना है, जिस प्रकार से प्रबन्ध संस्थान व्यापारिक जगत के लिए प्रबन्धक तैयार करता है।

1960 के दशक से 'नवीन लोक प्रशासन' आन्दोलन ने इसे पुनः अपने 'सामाजिक विज्ञान' वाले स्वरूप की ओर धकेलना प्रारम्भ किया। ऐसा महसूस किया जाने लगा कि लोक प्रशासन विषय का व्यवसाय की ओर झुकाव इसे कंटीले रास्ते पर ले जा रहा है जो इसकी 'यथापूर्व' स्थिति का समर्थक है गहन संकट और चुनौतियों की समय जबकि सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए नूतन संवेदनशील सामाजिक विध्लेषण की आवश्यकता हो, तब एक रूढ़िवादी प्रबन्ध की ओर झुका हुआ लोक प्रशासन, दमनकारी और सामाजिक पतन की ताकतों का अनजाने ही और अधिक मजबूत कर सकता है।

अध्याय-3
लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन
(Public Administration and Private Administration)

प्रशासन को सामान्य रूप से दो भागों में बांटा जाता है- लोक प्रशासन (Public Administration) तथा निजी प्रशासन (Private Administration) किसी देश की सरकार द्वारा किए जाने वाले और समूची जनता से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों को 'लोक प्रशासन' के अन्तर्गत समझा जाता है। इसके प्रतिकूल -निजी प्रशासन' से तात्पर्य है वे कार्य जो व्यक्तिगत या गैर-सरकारी संस्था द्वारा निजी लाभ के लिए किए जाते हों। इनमें लोकहित की भावना नहीं होती।

प्रश्न यह है कि क्या ऐसा भेद करना उचित है? देखा जाता है कि प्रशासन तो एक ऐसी सार्वलौकिक क्रिया है जो मनुष्यों के प्रत्येक सहकारी प्रयास में पायी जाती है। स्कूल, अस्पताल, राजनीतिक दल, गिरजाघर, तैराकी क्लब और परिवार सभी को अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिए प्रशासन की आवश्यकता होती है। फिर सरकारी कार्यों के प्रशासन से उनका प्रशासन किस बात में भिन्न है?

लोक प्रशासन और निजी प्रशासन के आपसी सम्बन्धों के बारे में दो विभिन्न प्रकार के द ष्टिकोण पाए जाते हैं। पहला द ष्टिकोण इन दोनों में किसी प्रकार का भेद नहीं मानता है, दोनों को एक ही समझता है किन्तु दूसरे द ष्टिकोण को अनुसार दोनों में प्रर्याप्त भेद हैं।

लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासनः समानता का द ष्टिकोण
(Public Administration and Private Administration: Similiarities)

लोक प्रशासन एवं निजी प्रशासन के बीच काफी समानताएं हैं। निःसन्देह अनेक ऐसे विचारक हैं जो लोक प्रशासन में निजी प्रशासन की तकनीक व इसके तौर-तरीकों के अधिकाधिक इस्तेमाल करने के हिमायती हैं। यही कारण है कि पश्चिम के अनेक विश्वविद्यालयों में लोक प्रशासन एवं व्यावसायिक प्रशासन के एक सामान्य विभाग की स्थापना की दिशा में मार्ग प्रशस्त हुआ। हिसाब-किताब, फाइलें, इत्यादि रखने जैसे काम में दोनों प्रकार के प्रशासनों में समानता है। इसी प्रकार निजी प्रशासन क्षेत्र की कार्य-पद्धति लोक प्रशासन को प्रभावित करती रही है और लोक प्रशासन ने इन पद्धतियों को अपना भी है। भारत के हैदराबाद नगर में 'ऐडमिनिस्ट्रटिव स्टाफ कॉलेज' की स्थापना से भी इस समानता की पुष्टि हो जाती है जो इन दोनों ही प्रकार के प्रशासकों में अनेक समान लक्षण मौजूद हैं और यह कि आधुनिक समाज में जन-कल्याण में अभिव द्धि करने के लिए लोक एवं निजी प्रशासनों के बीच परस्पर समझ व सहयोग जरूरी है।

फ्रेंच विचारक **हेनरी फेयोल, मेरी पार्कर फालेट** और **उर्विक** के अनुसार प्रशासन के मूल तत्व प्रायः एक से ही रहते हैं, चाहे वह निजी क्षेत्र में हों या सार्वजनिक क्षेत्र में। **हेनरी फेयोल** ने लिखा है, "मैंने प्रशासन शब्द को जो अर्थ प्रदान किया है और जिसे सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है, उससे प्रशासन द्वारा की जाने वाली सेवाओं का क्षेत्र काफी विस्तीर्ण हो जाता है। इसमें न केवल सार्वजनिक सेवाएं, अपितु प्रत्येक आकार-प्रकार और प्रायोजन को पूरा करने वाले सभी प्रकार के उद्योग सम्मिलित हैं। इन सभी में योजना बनाने , संगठन, आदेश, समन्वय, नियंत्रण के कार्यों की आवश्यकता होती है। समुचित रूप से कार्य करने के लिए सभी में एक जैसे सामान्य नियमों के अनुसार कार्य के आकार-प्रकार और प्रयोजन को पूरा करने वाले सभी प्रकार के उद्योग सम्मिलित हैं। इन सभी में योजना बनाने, संगठन, आदेश, समन्वय, नियंत्रण के कार्यों की आवश्यकता होती है। समुचित रूप से कार्य करने के लिए सभी में एक जैसे सामान्य नियमों के अनुसार कार्य करना पड़ता है। अब हमारे

सामने अनेक प्रकार के प्रशासन विज्ञान नहीं है, अपितु केवल एक ही ऐसा प्रशासन है जिसे सार्वजनिक और निजी मामलों में समान रूप से अच्छी तरह उपयोग में लाया जा सकता है।" **उर्विक** ने भी इसी पक्ष का प्रबल समर्थन करते हुए कहा है, "यह बात गम्भरीतापूर्वक सोचना कठिन है कि बैंक में काम करने वाले व्यक्तियों का एक अलग जीव रसायनविज्ञान होता है, प्राध्यापाकों का एक प थक् शरीर-क्रिया ज्ञान तथा राजनीतिज्ञों का एक अलग रोग मनोविज्ञान होता है। वस्तुतः ये सब व्यक्तियों के लिए समान रूप से एक जैसी ही होते हैं।"

निश्चय की लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन के बीच बहुत सी बातें समान हैं। उर्विक सार्वजनिक और निजी प्रशासन में किसी भी प्रकार के भेद करना उचित नहीं समझते हैं और इन दोनों की निम्नलिखित समानताओं पर बल देते हैंः

1. **संगठन की आवश्यकताः** प्रशासन चाहे शासकीय तौर पर किया गया जाए या निजी तौर पर, संगठन की आवश्यकता दोनों में पड़ती है। संगठन प्रशासन की शरीर है। यदि मानवीय एवं भौतिक साधनों का उचित संगठन न किया जाए, तो प्रशासन के लक्ष्यों की प्राप्ति नहीं की जा सकती।

2. **कार्य-प्रणाली में समानताः** बड़े पैमाने के एक व्यावसायिक उद्यम का प्रशासन तथा एक बड़ी सरकारी सेवा का प्रशासन न्यूनाधिक रूप में एक ही रीति से सम्पन्न किया जाता है। एक बड़े उद्यम, चाहे वह सरकारी हो या गैर सरकार, के सचुचित प्रशासन के लिए नियोजन, संगठन, आदेश, समन्वय तथा नियंत्रण की आवश्यकता होती है। प्रशासन चाहे सरकारी कार्यों का हो अथवा निजी व्यवसाय का, उसके लक्ष्यों को पूरा करने के लिए कुछ सामान्य सिद्धान्तों तथा कार्य-विधियों का पालन करना होता है। प्रबन्ध एवं संगठन सम्बन्धी अनेक तकनीकें सरकारी तथा गैर-सरकारी, दोनों ही प्रकार के प्रशासन में समान रूप से अपनायी जाती हैं। आंकड़े उपलब्ध करना, हिसाब-किताब रखना, फाइलें रखना, रिपोर्ट तैयार करने आदि से सम्बन्धित अनेक निपुणताएं दोनों ही प्रकार के प्रशासन में पायी जाती हैं इन दिनों व्यापारिक संगठन की कई विधियों ने लोक प्रशासन को अत्यधिक प्रभावित किया है।

. **अधिकारियों के समान उत्तरदायित्वः** दोनों के प्रशासन के उत्तरदायित्व समान होते हें। इसका कारण यह है कि पदाधिकारियों के ध्येय एक जैसे रहते हैं- अपने नियत कार्य-क्षेत्र में काम करते हुए उपलब्ध मानवीय एवं भौतिक सामग्री को इस प्रकार प्रयुक्त करना ताकि यथासम्भव अच्छे परिणाम प्राप्त कए जा सकें। दोनों प्रकार के प्रशासनों में जिस कौशल की आवश्यकता है वह बहुत कुछ एक जैसी होती है। यही कारण है कि कई बार अनेक सरकारी अधिकारियों को व्यापारिक एवं औद्योगिक उद्यमों में स्थान प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार ब्रिटेन में गैस, कोयला, विद्युत, यातायात उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया गया तो उस समय कार्य कर रहे अधिकांश पदाधिकारियों को ज्यों-का-त्यों रखा गया। लोक प्रशासन और निजी प्रशासन में समान तत्व पाए जाने का एक श्रेष्ठ उदाहरण है, हैदराबाद का 'एडमिनिस्ट्रेटिव स्टाफ कॉलेज' जिसमें प्रशिक्षण पा रहे प्रशिक्षणार्थियों को एक समान शिक्षा दी जाती है, चाहे वे सरकारी संस्थाओं से और हों अथवा गैर-सरकारी व्यावसायिक संस्थाओं से। यहां शिक्षा का आधार यह धारणा है कि विभिन्न क्षेत्रों में अनेक तत्व समान होते हैं एवं आधुनिक समाजों में लोक सम द्धि की उन्नति के लिए सरकारी प्रशासन तथा निजी प्रशासन के बीच पारस्परिक समझौता तथा सहयोग अति आवश्यक है।

4. **जन-सम्पर्कः** जन-सम्पर्क के अभाव में प्रशासन सफल नहीं हो सकता। दोनों ही प्रकार के प्रशासन में जन-सम्पर्क करने की आवश्यकता रहती है। प्रारम्भ में निजी प्रशासन में जन-सम्पर्क करने की आवश्यकता महसूस की गयी। परन्तु अब सरकारी प्रशासन जन-सम्पर्क को अपरिहार्य मानने लग गया है।

5. **अन्वेषणः** प्रशासनिक चुनौतियों एवं समस्याओं के निवारण के लिए दोनों में ही अन्वेषण की आवश्यकता रहती है। नयी खोजों द्वारा नीवन सिद्धान्त, प्रक्रिया, उपकरण, आदि निकाले जाते हैं। जिनके फलस्वरूप प्रशासन को अधिक क्षमताशील एवं उन्नतिशील बनाया जाता है। दोनों ही प्रकार के प्रशासनों में निपुण कर्मचारियों को शोध कार्य में लगाया जाता है।

वस्तुतः अभिनव काल में व्यावसायिक प्रणालियां तथा मानदण्ड लोक प्रशासन की रीतियों को अधिकाधिक प्रभावित करते रहें हैं। यह प्रभाव विशेषतया कार्यालय प्रबन्ध तथा आर्थिक और औद्योगिक संस्थानों के क्षेत्र में अधिक रहा हैं सार्वजनिक निगम की कल्पना के पीछे यही भावना रही है कि व्यावसायिक प्रबन्ध के संगठन और प्रणालियों को लोक प्रशासन के क्षेत्र में लागू किया जाए। दूसरी ओर ब हत् व्यावसायिक प्रशासन पर लोक प्रशासन की प्रणालियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, विशेषतः कार्मिक

प्रशासन (Personnel Administration), वार्धकय निव ति (Super-annuation), कार्मिक कल्याण (Self Welfare), आदि क्षेत्रों में अन्ततः कुमारी फौले, आदि लेखकों ने कहा है कि व्यावसायिक और औद्योगिक प्रशासन में सबसे बड़ा गुण यह रहा है कि वह हमारे युग की परिवर्तनशील गति के साथ अनुकूलन करने की दिशा में बहुत जागरूक रहा है तथा लोक प्रशासन के लिए यह सम्भव नहीं है कि यह प्रशासकीय कौशल का उच्च स्तर बनाए रखने की द ष्टि से प्रबन्ध की नयी प्रविधियों की खोज में इन क्षेत्रों में होने वाले प्रयोगों की उपेक्षा कर सके।

इस प्रकार दोनों प्रकार के प्रशासनों में संगठन एवं प्रबन्ध सम्बन्धी अनेक तकनीकें एवं पद्धलियां एकसमान ही होती हैं। प्रशासन के इन दोनों रूपों के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा खींचनी आदि असम्भव नहीं तो सरकारी तथा गैर-सरकारी कार्यों के संचालन के लिए एकसा ही प्रशासनिक प्रारूप क्यों न तैयार किया जाए?

लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन : असमानता का द ष्टिकोण

(Points of Difference between Public Administration and Private Administration)

लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन के बीच अनेक समानताएं होते हुए भी कई बातों में भिन्नताएं एवं व्यतिरेक (Contrasts) पाए जाते हैं। प्रो० हर्बर्ट साइमन ने लिखा है कि "सामान्य व्यक्तियों की द ष्टि में सार्वजनिक प्रशासन राजनीति से परिपूर्ण नौकरशाही और लालफीताशाही वाला होता है जबकि निजी प्रशासन राजनीति शून्य और चुस्ती से काम करने वाला होता है।" सर जोशिया स्टैम्प ने लिखा है कि निम्नलिखित चार सिद्धान्तों का अनुसरण करने के कारण लोक प्रशासन, निजी प्रशासन से भिन्न है: (1) एकरूपता का सिद्धान्त, (2) बाह्य वित्तीय नियन्त्रण का सिद्धान्त, (3) मन्त्रियों के उत्तरदायित्व का सिद्धान्त, तथा (4) सीमान्त लाभ का सिद्धान्त। इसी प्रकार पॉल एच० एपिलबी ने लोक प्रशासन की यह विशेषता बतायी है कि इसमें निजी प्रशासन की अपेक्षा सार्वजनिक आलोचना और जांच की अधिक सम्भावना होती है। उन्हीं के शब्दों में, "शासन का प्रशासन अन्य सभी प्रशासन के कार्यों से एक सीमा तक भिन्न होता है। और बाहर से उसका आभास तक नहीं होता, क्योंकि सार्वजनिक लोक प्रशासन का लक्षण है-जनता निरीक्षण या समीक्षा तथा उसकी मांग कर सकती है। शासन की सेवा में आने पर तुरन्त और उसके बाद भी प्रशासक के जीवन की प्रत्येक गतिविधि, व्यक्तित्व तथा आचरण पर समाचार-पत्रों और सार्वजनिक हितों का प्रभाव पड़ता रहता है। यही सार्वजनिक हित प्रायः प्रशासकीय कार्यों का आधार होता है जबकि निजी व्यापार में केवल संगठन के आन्तरिक हितों को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है।" "राजनीतिक परिवेश जिसमें सरकार को अपना कामकाज करना पड़ता है तथा सरकारी कामकाज का विस्त त क्षेत्र और मौजूद जटिलताएं-ये दोनों-ये दोनों बातें लोक प्रशासन को निजी प्रशासन से भिन्नता प्रदान करती हैं।" निजी तथा लोक प्रशासन के भेद को हम निम्नलिखित रूप में स्पष्ट कर सकते हैं:

1. **लाभ का तत्व**: लाभ प्राप्त करने का लक्ष्य जो निजी प्रशासन का मूल आधार है लोक प्रशासन में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। एक व्यापारी का मुख्य प्रश्न है कि इससे उसे क्या मिलेगा? इस प्रश्न पर पूरी तरह विचार करने के बाद ही वह किसी उद्यम को प्रारम्भ करता है; परन्तु लोक प्रशासन के सम्मुख कार्य प्रारम्भ करने या न करने के लिए इस प्रकार का कोई सरल मापदण्ड नहीं रहता। वह लोककल्याण के संश्लिष्ट लक्ष्य के सन्दर्भ में इन नीतियों का परीक्षण करके देखता है। वह तुच्छ कोटि के लाभ प्राप्ति के पीछे न दौड़कर लोककल्याण की द ष्टि से कार्य करता हैं।

   निजी प्रशासन के मामले में कार्यकुशलता की कसौटी है-लाभ (Profit)। दूसरी ओर लोक प्रशासन के क्षेत्र में कार्यरत सरकारी संगठन में कार्यकुशलता का मूल्यांकन कर पाना कठिन है। आमतौर से सरकारी संगठन लाभ कमाने के लिए कार्य नहीं करते। ये उन कार्यों में लगे रहते जिनसे लाभ नहीं होता। ये संगठन सेवा सम्बन्धी गतिविधियां सम्पन्न करते हैं। ये शिक्षा के प्रसार, लोगों के स्वास्थ्य के लिए अस्पताल चलाने, ग्रामीण विकास, आदि क्षेत्रों में कार्य करते हैं। इन क्षेत्रों में कार्यकुशलता का मूल्यांकन कर पाना कठिन है। फिर, लोक प्रशासन की कार्यकुशलता निजी प्रशासन की तुलना में कम है। लाभ का तत्व निजी क्षेत्र में प्रेरणा के रूप में काम करता है, लेकिन लोक प्रशासन में लाभ का कोई क्रियात्मक महत्त्व नहीं है। सरकारी संगठनों में 'बैलेंस-शीट की अनुपस्थिति' सरकारी कार्मिकों को कार्यकुशलता व मितव्ययिता के तर्क के प्रति उदासीन बना देती है।

2. **सेवा की भावना**: निग्रो के मातानुसार, "जनता के लिए की जाने वाली सेवाएं लोक प्रशासन का वास्तविक हृदय है।" लोक प्रशासन द्वारा जिन सेवाओं का संचालन किया जाता हैं वे सेवाएं प्रायः जनता की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति करती

हैं और साथ ही उनकी प्रकृति इतनी महत्त्वपूर्ण होती है कि उनके बिना समाज का जीवन, सभ्यता और संस्कृति का विकास असम्भव हो जाता है। लोक प्रशासन के सम्मुख प्रश्न यह रहता है कि 'क्या इस कृत्य से समाजसेवा होगी? इस प्रकार का प्रतिबद्ध द ष्टिकोण निजी प्रशासन में नहीं अपनाया जाता। लोक प्रशासन का लक्ष्य उन सेवाओं का प्रबन्ध है जो कि जनता की सुरक्षा, स्वास्थ्य एवं सुविधा के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। लोक प्रशासन की कभी-कभी ऐसे कार्य तथा सेवाएं अपने हाथ में लेनी पड़ती हैं जिनसे राजकोष को घाटा होता हैं।

3. **सार्वजनिक उत्तरदायित्व**: निजी प्रशासन जनता के प्रति उस रूप में जवाबदेह नहीं होता जिस प्रकार कि सरकारी विभाग होते हैं। लोक प्रशासन को समाचार-पत्रों तथा राजनीतिक दलों की आलोचनाओं का सामना करना पड़ता है। कोई भी विशिष्ट पग उठाने से पूर्व प्रशासकों को इस बात पर सावधानी के साथ विचार करना पड़ता है कि उस पर जनता की सम्भावित प्रतिक्रिया क्या होगी। प्रत्येक सरकारी कर्मचारी को जनता की आलोचना रूपी बारूद के बीच रहना तथा कार्य करना पड़ता है। लोक प्रशासन को जनता के सामने अपने कार्यों की न्यायोचितता सिद्ध करनी पड़ती है। उस पर व्यवस्थापिका और न्यायपालिका का नियन्त्रण रहता है। इस तरह जनता के प्रति उत्तरदायित्व लोक प्रशासन का एक ऐसा लक्षण है जो निजी प्रशासन में नहीं पाया जाता।

4. **व्यवहार की एकरूपता**: लोक प्रशासन के अन्तर्गत व्यवहार में कुछ एकरूपता अथवा समानता पायी जाती है। लोक प्रशासन द्वारा बिना किसी प्रकार का पक्षपातपूर्ण अथवा विशिष्ट व्यवहार किए समाज के सभी सदस्यों को वस्तुएं तथा सेवाएं प्रदान की जाती हैं। निजी प्रशासन में पक्षपातपूर्ण अथवा विशिष्ट व्यवहार किया जा सकता है। एक दुकानदार उस व्यक्ति को उधार देने में संकोच नहीं करता जो उससे रोज सौदा लेता है परन्तु एक डाक क्लर्क रोजाना पोस्टकार्ड खरीदने वाले को उधार नहीं दे सकता। निजी प्रशासन में उन व्यक्तियों के प्रति अगाध रूचि प्रकट की जाती है जिनसे व्यवसाय को अधिक-से-अधिक लाभ हो सकता हो।

5. **एकाधिकार की द ष्टि से**: लोक प्रशासन में प्रायः शासन का अधिकार होता है तथा उन कार्यों को कोई भी व्यक्ति घरेलू तौर पर नहीं करता। जैसे, डाक, रेलवे, आदि कार्यों का सम्पादन सरकारी तौर पर ही किया जाता हैं कोई भी निजी डाकखाने व रेलवे की व्यवस्था नहीं कर सकता। परतु निजी प्रशासन में इस प्रकार का एकाधिकार नहीं पाया जाता। एक ही वस्तु का उत्पादन अनेक व्यापारियों द्वारा किया जाता हैं

6. **कानूनों व नियमों का प्रभाव**: लोक प्रशासन अपेक्षाकृत कानूनों एवं नियमों से अधिक नियमित होता है, इतना निजी प्रशासन नहीं होता, इसमें खरीदारी, ठेके, टेण्डर, आदि सभी कार्य कुछ निश्चित नियमों के अनुसार किए जाते हैं। निजी उद्योगों में सुविधानुसार व्यवहार न केवल आपत्तिविहीन है अपितु प्रशासनीय है। लोक प्रशासन के कार्यों का औचित्य केवल उसके परिणाम से नहीं वरन् उसकी ठीक प्रक्रिया से भी जाना जाता है। निजी प्रशासन में व्यवहार की अधिक स्वतंत्रता रहती हैं यदि लोक प्रशासन कोई भी ऐसा कार्य करता है जिसे करने के लिए कानून द्वारा अनुमति न दी गयी होतो उसे न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है तथा अवैध ठहराया जा सकता है।

7. **जीवनावश्यक एवं अपरिहार्य सेवाएं**: लोक प्रशासन की क्रियाओं में एक प्रकार की अनिवार्यता होती है जिसकी निजी प्रशासन के क्षेत्र में अभाव होता है। शान्ति और सुव्यवस्था, शिक्षा, आदि ऐसे कार्य हैं जिसकी एक भी दिन अवहेलना नहीं की जा सकती। लोक प्रशासन का सम्बन्ध समाज की उन आवश्यकताओं से रहता है जिनकी पूर्ति के बिना सामाजिक जीवन संचालित ही नहीं किया जा सकता।

8. **भिन्न आचार संहिताएं**: लोक प्रशासन और निजी प्रशासन के क्षेत्रों में आचरण के सूत्र भिन्न प्रकार के होते हैं। उदाहरण, लोक प्रशासन अपनी सेवाओं का विज्ञापन उस प्रकार नहीं कर सकता जिस प्रकार कि व्यावसायिक संस्थान अपनी वस्तुओं का विज्ञापन कर सकते हैं। सरकारी प्रचार और विज्ञापन को जनता शंका और विरोध की द ष्टि से देखती है। लोक प्रशासन में नैतिकता का एक न्यूनतम स्तर बनाए रखना अनिवाय्र रहता है, निजी प्रशासन इस प्रकार के नैतिक बन्धनों से मुक्त रहता है।

9. **लालफीताशाही के द ष्टिकोण से**: लोक प्रशासन का संगठन नौकरशाही आधार पर होता है जबकि निजी प्रशासन का संगठन व्यापारिक आधार पर। लोक प्रशासन में प्रशासकीय कार्य की गति धीमी रहती है तथा प्रशासकीय प्रक्रिया के

परिणामस्वरूप लालफीताशाही, भ्रष्टाचार, अदक्षता जैसी प्रशासनिक बुराइयों का बोलबाला होने लगता हैं लोक प्रशासन में पत्रों के उत्तर विलम्ब से दिए जाते हैं तथा प्रशासकीय मशीन में शिथिलता आ जाती है। इसके प्रतिकूल निजी प्रशासन के क्षेत्र में प्रशासकीय कार्य तेज गति से सम्पन्न किए जाते हैं और निर्णय लेने में विलम्ब नहीं होता।

10. **वित्तीय नियंत्रण की द ष्टि से अन्तर**: लोक प्रशासन में वित्त तथा प्रशासन प थक् प थक कार्य करते हैं। लोक प्रशासन में वित्तीय क्षेत्र में बाह्य नियंत्रण रहता है, जबकि निजी प्रशासन में ऐसा नहीं होता। निजी व्यवसाय में धन निवेशकर्ता के पास रहता है और वह धन को किस प्रकार व्यय करता है, इसके बारे में यह किसी के भी प्रति उत्तरदायी नहीं होता। लोक प्रशासन में जब सरकारी अधिकारी सार्वजनिक धन को खर्च करते हैं तो जनता के प्रतिनिधि के रूप में व्यवस्थापिका उन पर प्रभावशाली नियंत्रण रखती है।

11. **सेवा-सुरक्षा की द ष्टि से**: लोक प्रशासन में निजी प्रशासन के प्रतिकूल सेविवर्ग की सेवाएं अधिक रक्षित रहती हैं। सरकारी सेवाओं में कर्मचारियों को सुरक्षा का भरोसा होता है। निजी सेवाओं में मनोवैज्ञानिक रूप से कर्मचारी अपने को असुरक्षित समझते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है। निजी सेवाओं में मनोवैज्ञानिक रूप से कर्मचारी अपने को असुरक्षित समझते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि निजी क्षेत्र का उद्यम बन्द कर दिया जाता है क्योंकि आर्थिक रूप से वह असफल साबित होता है। इस प्रकार निजी प्रशासन के क्षेत्र में कार्यरत कर्मचारियों को अपनी सेवा के स्थायित्व का कोई आश्वासन नहीं होता है। लोक सेवा में एक बार प्रवेश पा लेने पर आसानी से किसी कर्मचारी को नौकरी से नहीं निकाला जा सकता। लोक प्रशासन में कर्मचारी की सेवाएं प्रायः स्थायी रहती हैं क्योंकि लोक प्रशासन के आयाम भी स्थायी होते हैं।

12. **क्षेत्रों में असमानता**: लोक प्रशासन का विशाल क्षेत्र होता है जबकि निजी प्रशासन का क्षेत्र अत्यन्त सीमित होता है। लोक प्रशासन जीवन के सभी क्षेत्रों में हैं जबकि निजी प्रशासन कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में ही कार्यरत है। विशाल क्षेत्र या ध्येय होने के कारण लोक प्रशासन के विभिन्न विभागों में प्रतिस्पर्द्धा की भावना नहीं रहती। इसके विपरीत, निजी व्यावसायिक संस्थाओं में सदैव होड़ की भावना रहती है।

    कोई भी निजी संगठन भले ही वह विशाल एवं विविधतापूर्ण क्यों न हो, कामकाज के क्षेत्र में, इसकी विविधता व इसके आयाम की द ष्टि से लोक प्रशासन का मुकाबला नहीं कर सकता। यहां तक कि बहुराष्ट्रीय निगमों की, जिनकी गतिविधियों का क्षेत्र विविधतापूर्ण होता है, कामकाज के फैलाव की द ष्टि से आधुनिक सरकार के साथ तुलना नहीं की जा सकती है। 1986 में प्रकाशित कार्य के बंटवारे से सम्बन्धित नियमों के अनुसार भारत सरकार कम-से-कम 2,000 तरह के कार्य करती है। निजी क्षेत्र का कोई भी संगठन इतने सारे कार्य करने का दावा नहीं कर सकता।

13. **परिवेश में भिन्नता**: लोक प्रशासन और निजी प्रशासन में काफी भिन्नता पायी जाती है। लोक प्रशासन को अपरिहार्य रूप से राजनीतिक परिवेश में काम करना पड़ता है। सरकारी क्षेत्र में कार्यकलाप और कार्यक्रमों का मूल्यांकन आर्थिक एवं तकनीकी कारकों के आधार पर किया जाता है, लेकिन अन्ततः इसमें महत्व राजनीति का ही रहता है। राजनीतिक परिवेश में काम करने के कारण सरकार जनता के निकट बनी रहती है और नागरिकों की अधिकाधिक सन्तुष्टि होती है। इसके विपरीत, निजी प्रशासन लागत और मुनाफे के विश्लेषण के आधार पर काम हाथ में लेता है।

साइमन ने लोक तथा निजी प्रशासन में भेद प्रमुखतया तीन बातों से सम्बन्धित माना है:

1. लोक प्रशासन राजनीतिक होता है और निजी प्रशासन व्यावसायिक;
2. लोक प्रशासन राजनीतिक होता है और निजी प्रशासन अराजनीतिक; और
3. लोक प्रशासन लालफीताशाही से पीड़िता रहता है तथा निजी प्रशासन उससे सर्वथा मुक्त **एपिलबी का विचार है कि लोक प्रशासन निजी प्रशासन से तीन प्रकार से भिन्न है।**
    (i) इसका क्षेत्र, प्रभाव एवं विचार व्यापक होता है;
    (ii) यह जनता के प्रति उत्तरदायी रहता है और
    (iii) इसका चरित्र राजनीतिक होता हैं

पॉल एपिलबी का तर्क है कि प्रशासन ही राजनीति है, क्योंकि लोकहित की ओर प्रशासन को ध्यान देना आवश्यक है। यह तथ्य स्पष्ट है कि लोकप्रिय राजनीतिक प्रक्रियाएं, जो लोकतंत्र का सार हैं, केवल शासकीय संगठनों द्वारा ही कार्य कर सकती

हैं और सभी शासकीय संगठन केवल प्रशासकीय इकाइयां ही नहीं वरन् राजनीतिक जीवाणु हैं और उनका ऐसा होना आवश्यक भी है।

संक्षेप में, लोक प्रशासन तथा निजी प्रशासन में गहरा अन्तर है। लोक प्रशासन तो उस कांच के घर के समान है जिसमें काम करने वाले सदैव जनता की निगाह में रहते हैं। लोक कर्मचारियों के सारे क्रियाकलाप जनता बड़ी उत्सुकता से देखती रहती है और उनकी आलोचना भी होती रहती है। यह बात निजी प्रशासन में काम करने वाले कर्मचारियों के बारे में नहीं कही जा सकती।

वैसे बदलते परिप्रेक्ष्य में निजी प्रशासन का स्वरूप भी ऐसा नहीं है कि इसके लोक प्रशासन से पूरी तरह भिन्न ठहराया जा सके। निजी प्रशासन का 'निजी' तत्व कम होता जा रहा है और इस प्रकार इसके एवं लोक प्रशासन के बीच की दूरी कम होती जा रही हैं यहां यह उल्लेखीनय है कि निजी प्रशासन उतना 'निजी' नहीं है जितना प्रायः इसे समझा जाता है। सूक्ष्म द ष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि लोक प्रशासन निजी प्रशासन के क्षेत्र में प्रवेश कर रहा है। निजी क्षेत्र के पास इस समय उपलब्ध धनराशि का विशाल भाग सार्वजनिक संस्थाओं से प्राप्त होता है जिनसे लोक प्रशासन व निजी प्रशासन के बीच की सीमा रेखा क्षीण पड़ती जा रही है। सन् 1985 में निजी क्षेत्र की दो सुविख्यात कम्पनियों डी. सी. एम. और एस्कोर्ट्स के सम्बन्ध में हुए विवाद के दौरान यह पता चला कि प्रबन्ध पर नियंत्रण रखने वाले परिवारों की पूंजी प्रत्येक कम्पनी में लगाई गयी कुल पूंजी के दस प्रतिशत से भी कम थी। अधिकांश धन जीवन बीमा निगम, सामान्य बीमा नीगम, यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया सरीखे सार्वजनिक संगठनों तथा निश्चित अवधि के लिए धन उपलब्ध कराने वाली आई. डी. बी. आई. सी. आई., इत्यादि संस्थाओं से प्राप्त हुआ था। भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा किए गए सर्वेक्षण के अनुसार, जिसे 1983 में प्रकाशित किया गया, 122 कम्पनियों की सकल प्रदत्त पूँजी का 25 से 50 प्रतिशत तथा अन्य 26 कम्पनियों की सकल प्रदत्त पूंजी का 50 से 75 प्रतिशत सार्वजनिक वित्तीय संस्थाओं द्वारा लगाया गया था।[1]

फिर भी यह सत्य है कि लोक प्रशासन की रीतियां व उसका परिवेश मौलिक रूप से उसका अपना ही है तथा वह निजी प्रशासन से निश्चित रूप से अपनी भिन्नता रखता है। संक्षेप में, यह कहना समीचीन है कि ये दोनों एक ही सिक्के के पहलुओं के समान हैं किन्तु दोनों की विशेष तकनीकें तथा प थक् मूल्य हैं जिनके कारण इनकी प्रकृति परस्पर भिन्न हो जाती है।

अध्याय-4
नवीन लोक प्रशासन
(The New Public Administration)

समय और अनुभव के प्रभावाधीन मानवीय विचारों एवं धारणाओं में परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक अनुशासन अथवा विषय में समय के साथ-साथ नए विचारों की उत्पत्ति होती रहती है। कभी-कभी ये विचार प्रचलित विचारों की तुलना में इतने अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एवं क्रांतिकारी होते हैं कि उन्हें नवीन विचार या धारणा का नाम दिया जाता है। 1960-1970 के दशकों में समाजशास्त्र, मनोविज्ञान तथा राजनीतिशास्त्र की भांति लोक प्रशासन के क्षेत्र में भी नए विचार उदय हुए। इसका कारण यह था कि उस समय लोक प्रशासन के क्षेत्र में भी नए विचार उदय हुए। इसका कारण यह था कि उस समय लोक प्रशासन अस्थिरता तथा अस्त-व्यस्तता (Confusion) के वातावरण में से गुजर रहा था। इस का अध्ययन तथा व्यवहार उस समय की अस्तव्यस्तता तथा बढ़ती हुई नाजुक समस्याओं का उचित ढंग से समाधान करने के योग्य नहीं थे। उस समय पुरातन सिद्धान्तों पर आधारित लोक प्रशासन के मुख्य उद्देश्यों कुशलता एवं मितव्ययता (Efficiency and Economy) को अनुचित एवं अपर्याप्त समझा जाने लगा। इसके स्थान पर मूल्यों पर बल दिया जाने लगा। लोक प्रशासन के सम्बन्ध में यह कहा जाने लगा कि क्योंकि सभी गतिविधियों का केन्द्र मनुष्य है, इसलिए सकारात्मक उद्देश्यों को समक्ष रखते हुए लोक प्रशासन को मूल्योन्मुख (Value Oriented) होना चाहिए। ये विचार इतने क्रान्तिकारी थे कि इन्होंने लोक प्रशासन के स्वरूप को ही बदल दिया। इस नवीन विचारधारा को नवीन लोक प्रशासन का नाम दिया गया।

इस नवीन विचारधारा की उत्पत्ति 1968 में आयोजित मिन्नोब्रुक सम्मेलन (Minnowbrook Conference) के निष्कर्षों के आधार पर हुई। यह एक युवा सम्मेलन था जिसमें इस सम्मेलन के संस्थापकों में से एक संस्थापक डवाइट वाल्डो (Dwight Waldo) के निमन्त्रण पर पचास नवयुवक विशेषज्ञों (प्रशासनिक कार्यकर्त्ता तथा अध्यापकों) ने भाग लिया। वे लोक प्रशासन की उस समय की स्थिति के प्रति उदासीन थे तथा इसे यथार्थ रूप में अधिक उपयोगी बनाने के पक्ष में थे ताकि यह समकालीन चुनौतियों का सामना तथा समस्याओं का समाधान कर सके। क्योंकि वे समस्त व्यवस्था को बदलना चाहते थे इसलिए उन्हें क्रांतिकारी कहा जा सकता है। उन द्वारा प्रस्तुत किए गए विचारों ने नवीन लोक प्रशासन को जन्म दिया। यद्यपि नवीन लोक प्रशासन की उत्पत्ति 1968 में मिन्नोब्रुक सम्मेलन के परिणामस्वरूप हुई तथापि इसे मान्यता 1971 में फ्रैंक मेरीनी (Frank Marini) द्वारा सम्पादित पुस्तक "नवीन लोक प्रशासन की दशा में: मिन्नोब्रुक परिपेक्ष्य में" (Towards a New Public Administration: The Minnowbrook Perspective) के प्रकाशन में प्राप्त हुई। इस वर्ष डवाइट वाल्डो (Dwight Waldo) द्वारा सम्पादित पुस्तक पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन इन ए टाइम आफ टरबुलेन्स (Public Administration in a Time of Turbulence) प्रकाशित हुई जिससे नवीन लोक प्रशासन की धारणा को और भी बल दिया। इस पुस्तक में वाल्डो ने 1969 में अमेरिकन राजनीतिशास्त्र समुदाय (American Political Science Association) के वार्षिक सम्मेलन में प्रस्तुत किए गए लेखों को सम्पादित किया। इन दोनों पुस्तकों द्वारा मिन्नोब्रुक सम्मेलन में प्रस्तुत किए गए लेखों को सम्पादित किया। इन दोनों पुस्तकों द्वारा मिन्नोब्रुक सम्मेलन के विचारों तथा निष्कर्षों का व्यापक प्रसार हुआ तथा नवीन लोक प्रशासन की धारणा को मान्यता प्राप्त हुई।

अर्थ (Meaning)

वियतनाम युद्ध के बाद के वर्ष पश्चिमी देशों में, विशेषकर संयुक्त राज्य अमरीका (U.S.A.) में, बड़ी उथल-पुथल के रहे हैं। एशिया के इस छोटे-से देश में अमरीका ने जो नरसंहार किया उसकी खबरें धीरे-धीरे लोगों तक पहुँचने लगी, तथा 1960

के आसपास के वर्षों में एक नवीन नैतिक चेतना ने जन्म लिया। सारे सामाजिक विज्ञान इसकी लपेट में आये तथा लोक प्रशासन में भी यह लहर तेजी से आयी। इस लहर को 'नवीन लोक प्रशासन' की संज्ञा दी गयी है।

नवीन लोक प्रशासन के लक्ष्य
(Objectives of New Public Administration)

नवीन लोक प्रशासन यद्यपि लक्ष्योन्मुखी (Object Oriented) तथा परिवर्तनामुखी (Change Oriented) है परन्तु इस का कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं जिस पर इस के सभी समर्थक सहमत हों। इसके मुख्य मुद्दों तथा विशेषताओं के सम्बन्ध में भी असहमति विद्यमान है। इस असहमति के होते हुए भी राबर्ट टी. गोलमब्यूसकी (Robert T. Golembiewski) ने नवीन लोक प्रशासन के तीन प्रतिलक्ष्य (Antigoals) जिनको वे रद्द करते हैं, तथा पांच लक्ष्य (Goals) (जिनका वे समर्थन करते हैं) की चर्चा की है।

नवीन लोक प्रशासन के तीन प्रतिलक्ष्य हैं-

1. नवीन लोक प्रशासन का साहित्य प्रत्यक्षवाद का विरोधी है जिसका अभिप्राय है-
   i. वे लोक प्रशासन की इस परिभाषा को, कि यह मूल्यरहित है, रद्द करते हैं।
   ii. वे मानव-जाति के बुद्धिवादी तथा सम्भवतः निश्चयवादी द ष्टिकोण को रद्द करते हैं।
   iii. वे लोक प्रशासन की कोई भी ऐसी परिभाषा जो ठीक प्रकार से नीति में लिपटी न हो (जैसा कि राजनीति-लोक प्रशासन विभाजन में था) रद्द करते हैं। नवीन लोक प्रशासन तकनीक विरोधी है। इसका अभिप्राय यह है कि इसके समर्थक इस बात को बुरा समझते मनुष्य को मशीन के तर्क तथा व्यवस्था के लिए बलिदान कर देना चाहिए। नवीन लोक प्रशासन नौकरशाही तथा पदानुक्रम का भी थोड़ा बहुत विरोध करता है।

गोलमब्यूस्की (Golembiewski) के अनुसार सकारात्मक द ष्टि से नवीन लोक प्रशासन की पांच विशेषताएं अथवा लक्ष्य हैं-

1. नवीन लोक प्रशासन यह मानता है कि मानव जाति में सम्पूर्ण बनने की सामर्थ्य है। यह उस द ष्टिकोण के विपरीत है जो मनुष्य को उत्पादन का कमावेश गतिहीन या स्थिर तत्त्व मानती है।
2. नवीन लोक प्रशासन व्यक्तिगत तथा संगठनात्मक मूल्यों अथवा नैतिक नियमों (Ethics) पर बल देता है। इसके अनुसार संरचना तथा प्रशासकीय प्रयासों की प्रक्रिया तथा उनके उद्देश्य एवं लक्ष्यों में आवश्यक सम्बन्ध है।
3. नवीन लोक प्रशासन के समर्थक सामाजिक न्याय (Social Equity) को मानवीय विकास का पथ प्रदर्शन हेतु सर्वोत्तम तत्त्व मानते हैं। अतः सामाजिक न्याय की प्राप्ति ही लोक प्रशासन का लक्ष्य होना सामाजिक न्याय का अर्थ है कि लोक प्रशासकों को चाहिए कि वे समाज के अल्पसुविधा वाले वर्गों के उत्थान के समर्थक बनें। उन्हें सामाजिक व आर्थिक परिवर्तन के सक्रिय अभिकर्ता (Agents) होना चाहिए। नीग्रो (Nigro) के अनुसार, "भूतकाल में लोक प्रशासन समाज के सामाजिक उद्देश्यों के सन्दर्भ में उदासीन था तथा अधिकारी सामाजिक न्याय की तुलना में कुशलता एवं मितव्ययिता पर अधिक बल देते थे..... अब लोक प्रशासकों का यह नैतिक कर्त्तव्य है कि वे इस प्रव त्ति का विरोध करें। सरकारी कर्मचारियों को तटस्थता की झूठी धारणा छोड़ देनी चाहिए। उन्हें अपने अधिकारों का प्रयोग पिछड़े वर्गों के लोगों के उत्थान के लिए सामाजिक एवं अन्य प्रकार के कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने में लगाना चाहिए।"
4. नवीन लोक प्रशासन निश्चित रूप से विवेकशील है। यह ग्राहक केन्द्रित द ष्टिकोण पर बल देता है। यह न केवल ग्राहकों की आवश्यकताओं को वस्तुओं और सेवाओं से पूरा करने पर बल देता है बल्कि वह इस बात पर बल देता है कि उन्हें यह बताने का अधिकार होना चाहिए कि उनको क्या, किस प्रकार और कब होना चाहिए। नीग्रो एवं नीग्रो (Nigro and Nigro) के अनुसार, "लोक सेवाओं को अधिक प्रभावशाली तथा मानवीय वितरण के हित में वे इस बात की सिफारिश करते हैं कि ग्राहक केन्द्रित प्रशासन के लिए नौकरशाही की प्रव त्ति को दूर करने के साथ-साथ लोकतन्त्रीय निर्णय-निर्माण तथा प्रशासकीय प्रक्रिया में विकेन्द्रीकरण करना चाहिए।"
5. नवीन लोक प्रशासन निश्चित रूप में नवीनता तथा परिवर्तन (Innovation and Change) पर बल देता है।

   परन्तु नवीन लोक प्रशासन के सिद्धान्त के अधीन कार्यपालिका तथा विधानपालिका की स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उनके परम्परागत कार्यों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

नवीन लोक प्रशासन की विकास यात्रा

नवीन लोक प्रशासन को समझने के सन्दर्भ में परंपरागत लोक प्रशासन का फौरी तौर पर अवलोकन करना उचित ही होगा, 1887 में जब लोक प्रशासन का उदय हुआ तो तत्कालीन लेखकों-विचारकों के सम्मुख यह चुनौती थी कि किस तरह लोक प्रशासन को अन्य विषयों की छाया से मुक्त रखा जाए, चूँकि लोक प्रशासन व राजनीतिशास्त्र में अच्छा सामंजस्य रहा है।

इसलिए यह प्रयास किया कि राजनीति व लोक प्रशासन का घोलमेल न होने पाये। इस हेतु तत्कालीन विचारकों तथा वुडरो विल्सन, फ्रेंक जे गुडनो, एल.डी. व्हाइट आदि ने राजनीति प्रशासन द्विभावन (Dichotomy) पर बल दिया। ऐसे प्रयास 1927 तक होते रहे, इस समय डब्ल्यू. एफ. विलाबी की पुस्तक 'Principles of Public Administration' प्रकाशित हुई। एक विषय के रूप में लोक प्रशासन को स्थापित करने की सफलता के पश्चात् लोक प्रशासन को विज्ञान विषय का दर्जा दिलाने का प्रयास किया गया यह कोशिश की गई कि लोक प्रशासन में कुछ निश्चित सिद्धांतों का अन्वेषण किया जाए परिणामतः पोस्डकॉर्ब, आदेश की एकता, पद सोपान, संचार केंद्रीकरण, कार्य विभाजन, मितव्ययता, कार्यकुशलता जैसे सिद्धांतों की खोज हुई, सिद्धांतों के प्रतिपादन में फेयाल, उर्तिक, एम.पी. फॉलेट, पिपनर, प्रेस्थस, मूनी, रैले, लूथर, गूलिक, साइमन आदि ने अपना योगदान किया।

किंतु मात्र एक दशक के अल्पकाल में ही लोक प्रशासन के उक्त सिद्धांत हास्यास्पद स्थिति के शिकार हो गए। 1938 में चेस्टर बनार्ड की पुस्तक 'The Function of Executives' में बताया गया कि लोक प्रशासन के सिद्धांत मुहावरों में कम नहीं है। इस पुस्तक में कहा गया कि प्रशासन में किसी सिद्धांत को कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि निश्चित सिद्धांतों की उपस्थिति किसी विषय को 'विज्ञान' की श्रेणी में ला देती है, जबकि लोक प्रशासन विज्ञान तो हो ही नहीं सकता सिद्धांतों की निश्चितता को मान्यता नहीं मिल सकी, क्योंकि सभी में कोई भी स्पष्ट रूप से लागू नहीं हो सकता था। 1948 में इन तथाकथित सिद्धांतवादियों की जमकर धज्जियाँ उड़ाई गई, किंतु 1948 के पश्चात् लोक प्रशासन विषय को गम्भीर चुनौती का सामना करना पड़ा, क्योंकि विचारकों ने लोक प्रशासन में सिद्धांतों का अभाव तो घोषित कर दिया था, किंतु नया स्वरूप क्या हो, यह घोषित नहीं किया। असमंजस का यह काल जिसे लोक प्रशासन विषय के सन्दर्भ में पहचान का संकट का काल कहा जाता है जो 1968 तक चलता रहा। 1968 के पश्चात् लोक प्रशासन के क्षेत्र में नवीन विचारों का सूत्रपात हुआ। सातवें दशक के अंतराल में उभरे विचारों को ही नवीन लोक प्रशासन की संज्ञा दी गई। वस्तुतः नव लोक प्रशासन का आरंभ 196 7 के प्रतिवेदन से समझा जा सकता है। प्रदर्शन पर जबर्दस्त पर वाद-विवाद हुआ, कुछ चिन्तकों ने लोक प्रशासन को महज बौद्धिक चिन्तन का केंद्र माना तो दूसरों ने उसे प्रक्रिया माना। कुछ चिंतकों ने इसे प्रशासन को तो कुछ ने समाज का अंग माना, वस्तुस्थिति यह रही कि इस सम्मेलन में लोक प्रशासन का नवीन स्वरूप निर्धारित नहीं किया जा सका। 1968 में आयोजित मिन्नोब्रुक कॉन्फ्रेंस ने लोक प्रशासन की प्रक ति में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया। यह सम्मेलन नवीन लोक प्रशासन को स्थापित करने में मील का पत्थर सिद्ध हुआ है सम्मेलन विभिन्न द ष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण रहा। प्रथम तो यह कि इस सम्मेलन में वे समस्त बिंदु वाद-विवाद की परिधि में गए जो बीते दो सम्मेलनों में शामिल नहीं किए गए थे। द्वितीय है कि बीते दो सम्मेलनों में युवा विचारकों का प्रतिनिधित्व रहा। मिन्नोब्रुक सम्मेलन का निहितार्थ यह हुआ कि परंपरागत लोक प्रशासन के स्थान पर नवीन लोक प्रशासन के नाम से प्रकाश में आया। सम्मेलन के सार तत्त्वों को समेटे हुए 1971 में फ्रेंक रीनीक त 'Towards a New Public Perspective' के काशन के साथ ही नवीन लोक प्रशासन को मान्यता प्राप्त हुई। इसी समय ड्वाइट वाल्डो की क ति 'Public Administration in a time of Turbulence' ने नवीन लोक प्रशासन को और अभिशक्त बना दिया। उक्त दोनों पुस्तकों में नवीन लोक प्रशासन को सामाजिक समस्याओं के प्रति संवेदनशील माना गया है।

नवीन लोक प्रशासन के विकास को निम्नलिखित चरणों में बाँटा जा सकता है-

1. सार्वजनिक सेवाओं पर उच्च शिक्षा सम्बन्धी हनी प्रतिवेदन, 1967
2. लोक प्रशासन : सिद्धांत एवं व्यवहार सम्बन्धी सम्मेलन, 1967
3. प्रथम मिन्नोब्रुक सम्मेलन, 1968
4. फ्रेक मेरिनी की सम्पादित पुस्तक; नवीन लोक प्रशासन की दिशाएँ, मिनोब्रुक परिपेक्ष्य, 1971
5. ड्वाइट वाल्डो की पुस्तक उथल-पुथल के काल में लोक प्रशासन, 1971

6. एच जार्ज फ्रेडरिक्सन की पुस्तक-लोक प्रशासन, 1980
7. द्वितीय मिनोब्रुक सम्मेलन, 1988

सार्वजनिक सेवाओं के लिए उच्च शिक्षा सम्बन्धी हनी प्रतिवेदन-1967 (The Honey Report on Higher Education for Public Service, 1967)

1966 में लोक प्रशासन की अमेरिकन संस्था (American Society for Public Administration) ने सिराकूज विश्वविद्यालय (Syracuse University) के श्री जॉन सी० हन (John C. Honey) को अमेरिकी विश्वविद्यालयों में लोक प्रशासन के स्वतंत्र विषय के रूप में अध्ययन मूल्यांकन के लिए कहा। श्री जॉन ने अपना प्रतिवेदन 1967 में पेश किया। इस में उन्होंने लोक प्रशासन की वास्तविक स्थिति का वर्णन करते हुए इसके क्षेत्र को और विस्त त एवं व्यापक बनाने पर बल दिया। उसने लोक प्रशासन के क्षेत्र में विस्तार करने के लिए इसे समस्त प्रशासकीय प्रक्रिया अथवा समस्त सरकार के अनुरूप बताया। उसके अनुसार लोक प्रशासन के क्षेत्र में कार्यपालिका, विधानपालिका तथा न्यायपालिका सम्मिलित हैं।

हनी के अनुसार लोक प्रशासन के क्षेत्र को व्यापक बनाने के मार्ग में चार समस्याएं बाधा डालती है-

1. अनुशासन से सम्बन्धित साधनों (विद्यार्थी, अध्यापक तथा अनुसंधान राशि) की कमी
2. अनुशासन के स्तर के बारे में मतभेद, कि क्या लोक प्रशासन एक विज्ञान है या एक व्यवसाय
3. संस्थागत दुर्बलता। लोक प्रशासन के विभागों का कम होना, तथा
4. लोक प्रशासन के विद्वानों तथा व्यावहारिक प्रशासकों में मेल-मिलाप का अभाव।

हनी ने अपने प्रतिवेदन में लोक प्रशासन की इन समस्याओं को दूर करने के लिए कई सुझाव दिए, जिन में से मुख्य सुझाव निम्न प्रकार हैं-

1. लोक सेवा शिक्षा से सम्बन्धित राष्ट्रीय आयोग की स्थापना की जाए तो शासन के लिए आवश्यक शिक्षित व्यक्तियों को उपलब्ध करवाने के लिए उत्तरदायी हो।
2. लोक सेवा में प्रवेश करने तथा व्यवसायिक डिग्रियों के लिए मास्ट्र (Master) तथा डाक्टरीय (Doctorate) स्तर पर तैयारी करने वाले स्नातकोत्तर को छात्रव त्तियां देने का महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम बनाना चाहिए।
3. लोक सेवाओं में प्रवेश करने के लिए तैयारी करने वाले स्नातकोत्तर तथा उग्रवर्ती पूर्वस्नातक (Advanced Undergraduates) छात्रों के लिए संघीय, राज्य तथा स्थानीय स्तर पर प्रशिक्षण की सुविधा का प्रबन्ध किया जाए।
4. जो व्यक्ति स्कूलों में लोक प्रशासन एवं सार्वजनिक मामलों में अध्यापक बनने की योजना बना रहे हों कि शिक्षाव त्तियां (Fellowship) देने का विशेष कार्यक्रम बनाना चाहिए।
5. विश्वविद्यालय के अध्यापकों को जो सार्वजनिक मामलों तथा अनुसंधान में लगे हुए हों को सरकारी कार्यो का अनुभव प्राप्त करने के लिए अवसर प्रदान के लिए एक कार्यक्रम बनाना चाहिए।
6. सार्वजनिक मामलों में प्रशिक्षण एवं अनुसंधान के लिए विश्वविद्यालयों को अनुदान दिया जाए।
7. सार्वजनिक मामलों एवं प्रशासन से सम्बन्धित शोध कार्यो में लगे हुए व्यक्तियों को आर्थिक तथा अन्य प्रकार की सहायता दी जाए।
8. संघीय, राज्य, स्थानीय सरकारों तथा निजी उद्योगों (Private Industry) द्वारा शिक्षा केन्द्रों को लोक प्रशासन तथा सार्वजनिक मामलों में शिक्षा देने के लिए सहायता दी जाए।
9. नवीन लोक प्रशासन तथा सार्वजनिक मामलों के कार्यक्रमों के लिए एक परामर्शदात्री सेवा की स्थापना की जाए ताकि लोक प्रशासन तथा सार्वजनिक मामलों के छात्रों को नवीन सूचनाएं सरलता से मिल सकें।
10. लोक सेवा से सम्बन्धित प्रशिक्षण तथा शिक्षा की द ष्टि से समय-समय पर विश्वविद्यालयों की समीक्षा की जाए ताकि यह जानकारी प्राप्त हो सके कि विभिन्न संस्थाएं किस प्रकार सेवा, शिक्षा तथा अन्य दायित्वों की व्यवस्था करती हैं। इन के द्वारा किस प्रकार से नवीन विकास को प्रोत्साहन दिया जाता है तथा इनकी क्या-क्या समस्याएं हैं।

11. व्यवसायों, व्यवसायिक, शिक्षा तथा सार्वजनिक सेवाओं का अध्ययन किया जाए।

हनी द्वारा प्रस्तुत की गई रिपोर्ट अमेरिका में चर्चा का विषय बन गई। कुछ क्षेत्रों में इसका स्वागत किया गया जबकि अन्य क्षेत्रों में यह विवाद का विषय बन गई। इसके सम्बन्ध में कई प्रकार के प्रश्न उठाए गए। आलोचकों ने यह टिप्पणी की कि इस प्रतिवेदन द्वारा अत्यधिक महत्त्व की कई बातों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। जैसे इस प्रतिवेदन में उस समय के अमेरिकी विभाजित तथा उथल-पुथल हुए समाज के प्रति लोक प्रशासन के दायित्व एवं भूमिका के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया और न ही इस बात की ओर ध्यान दिया गया कि लोक प्रशासन का समकालीन सामाजिक समस्याओं से कोई सम्बन्ध है कि नहीं। परन्तु इन कमियों के होते हुए भी हनी के प्रतिवेदन का विशेष महत्त्व है। इसने लोक प्रशासन के कई विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया तथा उन्हें इस बात पर गम्भीरता से विचार करने के लिए प्रेरित किया कि समकालीन समाज में लोक प्रशासन की क्या भूमिका है तथा यह सामाजिक समस्याओं का कैसे समाधान कर सकता है। अतः हनी प्रतिवेदन को नवीन लोक प्रशासन की प ष्ठभूमि कहा जा सकता है।

लोक प्रशासन के सिद्धान्त एवं व्यवहार सम्बन्धी सम्मेलन (1967)

लोक प्रशासन में शीघ्रातिशीघ्र विकास और संश्लेषण की आवश्यकता को अनुभव करने पर अमरीकी राजनीतिशास्त्र परिषद् ने दिसम्बर 1967 में एक सम्मेलन आयोजित किया। इसमें विचारणीय विषय था-'लोक प्रशासन का सिद्धांत एवं व्यवहार-उसका क्षेत्र, उद्देश्य एवं अध्ययन पद्धति'। जेम्स सी. चार्ल्सवर्थ ने सम्मेलन की अध्यक्षता की थी। सम्मेलन में भाग लेने वाले विद्वानों की भावनाओं को व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा था कि "इस सभा में भाग लेने वालों द्वारा इस भावना की अभिव्यक्ति हुई है कि लोक प्रशासन के सम्बन्ध में द ढ़ एवं संक्षिप्त उपागम को अपनाना चाहिए और उन्होंने व्यापक दार्शनिक संदर्भ में लोक प्रशासन के महत्त्व का आकलन करने पर बल दिया। इस पर भी विचार किया कि क्या लोक प्रशासन केवल मानसिक सिद्धि है या शासन का व्यावहारिक यन्त्र है?

इस सम्मेलन में विद्वानों ने उपरोक्त मुद्दों के संदर्भ में विभिन्न मत व्यक्त किये थे। कुछ ने उसे विशुद्ध बौद्धिक चिन्तन का विषय माना, तो दूसरों ने उसे केवल एक कार्य या व्यवसाय माना। कुछ ने लोक प्रशासन की सार्वजनिक हित में परिभाषा या व्याख्या की। दूसरों ने उसका सम्बन्ध केवल प्रशासन से माना। स्पष्ट है कि लोक प्रशासन की कोई सर्वस्वीक त परिभाषा नहीं दी जा सकी, लेकिन इस सम्मेलन में भाग लेने वाले सभी विद्वान निम्नलिखित बातों पर एकमत थेः

1. लोक प्रशासन के क्षेत्र को स्पष्ट करना उसकी परिभाषा करने के समान ही कठिन है।
2. लोक प्रशासन के विभिन्न अभिकरण नीतियों का निर्माण करते हैं अतः नीति-निर्माण एवं लोक प्रशासन का विभाजन गलत है।
3. एक विषय या अनुशासन के रूप में अमरीकी लोक प्रशासन का सम्बन्ध केवल अमरीका में ही लोक प्रशासन से होना चाहिए।
4. नौकरशाही सम्बन्धी अध्ययन प्रकार्यात्मक एवं संरचनात्मक दोनों ही तरह से किया जाना चाहिए।
5. लोक प्रशासन एवं वाणिज्य प्रशासन का प्रशिक्षण एकसा नहीं होना चाहिए क्योंकि दोनों में केवल महत्त्वहीन बातों की ही समानता पायी जाती है।
6. लोक प्रशासन को व्यवसाय के रूप में राजनीति विज्ञान के अनुशासन एवं व्यवसाय से प थक होना चाहिए।
7. लोक प्रशासन में आदर्शात्मक प्रशासन सिद्धान्त एवं वर्णनात्मक/विश्लेषणात्मक सिद्धान्त दोनों ही अव्यवस्था की स्थिति में है।
8. संगठनात्मक सत्ता सम्बन्धी पिरामिड के आकार या पदसोपानीय धारणा अब उचित नहीं है। प्रशासकों को काम करने वाले व्यक्तियों को सहयोगी मानना चाहिए, न कि केवल अपना अधीनस्थ। स्मरणीय है कि प्रशासक कार्यपालिका एंव अधीनस्थों के मध्य में होता है। प्रशासकीय अधिकारी अपने अधीनस्थों से अधिक प्रभावित होता है।
9. लोक प्रशासन में प्रबन्ध-पटुता का स्थान एवं राजनीति सम्बन्धी बातें लेती जा रही हैं। स्मरणीय है कि कम्प्यूटर से उपलब्ध सूचना केवल इसलिए ठीक या श्रेष्ठ नहीं मानी जानी चाहिए कि वह कम्प्यूटर से प्राप्त हुई है। पी.पी.बी.एस.

(P.P.B.S.) ही राजनीतिक प्रश्नों के विश्वस्त उत्तर देता है। किसी विषय पर निर्णय लेते समय मात्रात्मक एवं मूल्य-विश्लेषण का निर्णय के सन्दर्भ में प्रभावित करने वाले तत्त्वों में प्रमुख स्थान नहीं होता है।

10. भावी प्रशासकों को व्यावसायिक विद्यालयों में प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। लोक प्रशासन के पाठ्यक्रम में केवल प्रशासकीय संगठन एवं पद्धति पर ही बल नहीं दिया जाना चाहिए अपितु मनोवैज्ञानिक, वित्तीय, समाजशास्त्रीय एवं मानव शरीर रचना से सम्बन्धित पहलुओं को भी लोक प्रशासन के पाठ्यक्रम में शामिल किया जाना चाहिए।

11. समाज से सम्बन्धित का लोक प्रशासन कोई उत्तर नहीं दे सका है। अनेक नवीन समस्याओं, यथा व हद् सैनिक औद्योगिक प्रतिष्ठानों, दंगों, श्रम संघों एवं हड़तालों, सार्वजनिक विद्यालयों सम्बन्धी विवादों, झुग्गी-झोपड़ियों, विज्ञान एवं विकासशील देशों सम्बन्धी प्रश्नों के बारे में लोक प्रशासन मौन है।

12. लोक प्रशासन एक अनुशासन/विषय तो है परन्तु उसके अध्ययन के लिए समकालीन समाजशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित सभी अध्ययन पद्धतियों का उपयोग नहीं किया जा सकता। लोक प्रशासन का कुछ भाग तो ऐसा है जिसके सम्बन्ध में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग सम्भव है लेकिन अन्य भाग के संदर्भ में वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति का उपयोग संभव नहीं है। स्मरणीय है कि लोक प्रशासन का यह भाग काफी महत्त्वपूर्ण है। चार्ल्सवर्थ के शब्दों में, "हम लोक प्रशासन का क्षेत्र काफी सीमित कर दें तो हम वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग कर सकते हैं। लेकिन प्रश्न यह है कि विषय के अति महत्त्वपूर्ण भाग के सम्बन्ध में क्या उसे लागू किया जा सकता है? हम कुछ अंशों के सम्बन्ध में ही वैज्ञानिक हो सकते हैं। स्मरणीय है कि लोक प्रशासन का तो मूल्यों एवं प्रस्तावों से सम्बन्ध है जिन्हें कभी वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता।

उपर्युक्त विचारों में से कुछ का मिन्नोब्रुक सम्मेलन में पूरा समर्थन किया गया। इसलिए यह फिलाडेलफिया सम्मेलन मिन्नाब्रुक सम्मेलन का पूर्वगामी एवं पथ-प्रदर्शक सम्मेलन माना जाता है।

मिन्नोब्रुक सम्मेलन (1968)

मिन्नोब्रुक सम्मेलन (The Minnowbrook Conference) के जन्म के लिए दो तत्व प्रधानतः उत्तरदायी हैं-

1. 1960 का दशक उथल-पुथल का काल था। अनगिनत सामाजिक समस्याएँ थीं लेकिन लोक प्रशासन द्वारा इन समस्याओं को सुलझाना तो दूर की बात थी, उसे उनका ज्ञान तक नहीं था। 1968 में प्रकाशित वाल्डो (Waldo) के एक लेख 'क्रान्तिकाल में लोक प्रशासन' में, जो लोक प्रशासन रिव्यू नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था, इस समस्या पर प्रकाश डाला गया था।

2. लोक प्रशासन के युवा पीढ़ी के विद्वानों की बात सुनना भी आवश्यक हो गया था क्योंकि पुराने एवं युवा विद्वानों में पीढ़ी का अन्तराल तीव्रता से दिखायी दे रहा था। फिलाडेलफिया सम्मेलन में भाग लेने वाले विद्वान औसतन 35 वर्ष से अधिक आयु के थे। उनमें अधिकांश तो 51 से 69 वर्ष के थे। लेकिन मिन्नोब्रुक सम्मेलन में भाग लेने वाले अपेक्षाक त कम आयु के अर्थात् युवा थे। यह लोक प्रशासन की युवा पीढ़ी का सम्मेलन था। इस सम्मेलन के परिणामों ने नवीन लोक प्रशासन को जन्म दिया।

मैथ्यम क्रेनसन (Mathew Cranson) ने निम्नलिखित शब्दों में इस सम्मेलन के निर्णयों को संक्षेप में व्यक्त किया है:

सम्मेलन के निर्णयों को दो शीर्षकों में संक्षिप्त और सार रूप में व्यक्त कर सकते हैं:

1. इस सम्पूर्ण वाद-विवाद की प ष्ठभूमि में क्या कोई सामान्य विचार हैं, तथा
2. क्या विचार नवीन हैं?

प्रथम, मैं यह अनुभव करता हूँ कि कुछ सामान्य बातें हैं। प्रायः सभी गोष्ठियों का यह निष्कर्ष है कि लोक प्रशासन के आदेशात्मक पहलू पर बल दिया जाना चाहिए। दूसरी से सम्बन्धित एक प्रश्न यह है कि समाज में प्रशासन की क्या भूमिका होनी चाहिए? क्या उसे पूरी तरह मूल्य-निरपेक्ष होना चाहिए या किसी नीति या विचारधारा के प्रति प्रतिबद्ध होनी चाहिए? इसी से सम्बन्धित एक प्रश्न ओर है। यदि प्रशासक किसी विचार या मूल्यों से प्रतिबद्ध है तो वह क्या करता है या करेगा? इसका उत्तर कुछ व्यक्ति यह देते हैं कि लोक प्रशासन को सामाजिक परिवर्तन के अभिकर्ता के रूप में कार्य करना चाहिए। एक अन्य प्रश्न इसके प्रत्युत्तर में उठता है कि परिवर्तन की अवस्था में संगठन को किन बातों या तत्वों के प्रति संवेदनशील होना चाहिए;

उदाहरणार्थ-वातावरण। क्या वातावरण के प्रति संवेदनशील होना चाहिए? कुछ का मत है कि वातावरण के प्रति अधिक संवेदनशीलता के साथ प्रशासन में वातावरण के परिणामों को अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए। प्रश्न यह है कि इन सब बातों के सम्बन्ध में मतैक्य है अथवा नहीं? यदि मतैक्य है तो सहज रूप से यह प्रश्न उठता है कि क्या वे सर्वथा नवीन हैं?

नवीन लोक प्रशासन की प्रधान विशेषता यह है कि यह सामाजिक समस्याओं के प्रति अत्यधिक संवेदनशील है। इसके मुख्य तत्त्व हैं: सन्दर्भ (relevance), सदाचरण (morals), नीतिशास्त्र एवं मूल्य (ethics and values), नवीनता या मौलिकता (innovation), सम्बन्धित व्यक्तियों की चिन्ता, सामाजिक समानता (social equality) आदि। नवीन लोक प्रशासन के पक्षधर लोक प्रशासन की वर्तमान अवस्था से सन्तुष्ट नहीं हैं। वे उथल-पुथल के काल में लोक प्रशासन से यह अपेक्षा करते है कि वह सामाजिक समस्याओं के प्रति जागरूक हो। यही नहीं, नवीन लोक प्रशासन के पक्षधर मूल्यहीन या मूल्य-निरोध (value free and value neutral) शोध-प्रयासों के त्यागने पर जोर देते हैं तथा सामाजिक न्याय के अनुरूप उपागम को अपनाने के समर्थक हैं। सामाजिक न्याय से तात्पर्य यह है कि लोक प्रशासकों को समाज के निर्धन एवं पददलित वर्ग का समर्थन करना चाहिए। इसका अर्थ है कि लोक प्रशासकों को परिवर्तन के सक्रिय अभिकर्ता के रूप में कार्य करना चाहिए। उन्हं यथास्थिति बनाये रखने में योग नहीं देना चाहिए। शीघ्र परिवर्तित वातावरण के अनुरूप संगठन के नवीन रूपों का विकास किया जाना चाहिए। नवीन लोक प्रशासन में जनता के कल्याण एवं कार्यक्रम के प्रति निष्ठा पर विशेष बल दिया गया है।

नवीन लोक प्रशासन के चार मूलभूत प्रकरण ये हैं: प्रासंगिकता, मान्यताएँ, सामाजिक समद ष्टि और परिवर्तन।

मिन्नाब्रुक सम्मेलन को यह गौरव प्राप्त है कि उसके द्वारा लोक प्रशासन का व्यवस्थित व्याकरण प्रस्तुत किया गया है तथा लोक प्रशासन की वर्तमान में शोचनीय अवस्था पर सरल एवं स्पष्ट शब्दों में प्रकाश डाला गया है। इस सम्मेलन द्वारा ही लोक प्रशासन को नवीन छवि प्रदान की गयी है और समाज की समस्याओं के प्रति उसे जागरूक बनाया गया है। लोक प्रशासन ने इस सम्मेलन के बाद ही सुधारवादी प्रव त्ति को अंगीकार किया है।

मिन्नोब्रुक सन्दर्भ एवं उथल-पुथल के काल में लोक प्रशासन

मेरीनी एवं वाल्डो द्वारा सम्पादित प्रमुख रचनाओं द्वारा मिन्नोब्रुक सम्मेलन के विचारों का व्यापक प्रसार हुआ है। नवीन लोक प्रशासन पर मेरीनी की पुस्तक का नाम है नवीन लोक प्रशासन की दिशाएँ : मिन्नोब्रुक परिप्रेक्ष्य (Toward a New Public Administration : Minnowbrook Perspective)। नवीन लोक प्रशासन पर लिखी गयी यह पुस्तक है। **वाल्डो** ने उथल-पुथल के काल में लोक प्रशासन (Public Administration in a Time of Turbulence) नामक पुस्तक की रचना की। इसने मिन्नोब्रुक सम्मेलन की धारणा को आगे बढ़ाया। 1968 के 'अमेरिकन राजनीति विज्ञान परिषद' के वार्षिक सम्मेलन के अवसर पर विभिन्न गोष्ठियों में इस विषय पर वाद-विवाद हुआ। वाल्डो की रचना में वे सब लेख थे जो सम्मेलन में प्रस्तुत किये गये थे। वाल्डो का यह प्रयास रहा कि युवा समूह को अपने विचारों की तरफ आकर्षित किया जाय।

1971 के बाद नवीन लोक प्रशासन पर कोई गंभीर रचना प्रकाशित नहीं हुई है लेकिन समय-समय पर लेख प्रकाशित होते रहे हैं। इन लेखों में कुछ ने नवीन लोक प्रशासन की धारणा का समर्थन किया है तो दूसरों ने उसका खण्डन।

लोक प्रशासन के शास्त्रीय मूल्य दक्षता, मितव्ययता, उत्पादकता एवं केन्द्रीकरण रहे हैं। नवीन लोक प्रशासन मूल्यों के एक नये सैट को प्रश्रय देता है। वह मानववाद, विकेन्द्रीकरण, प्रत्यायोजन, बहुवाद, व्यक्तिगत व द्धि, वैयक्तिक गरिमा आदि का पक्षपोषण करता है। वह इस मत का अस्वीकार करता है कि प्रशासन मूल्यों के प्रति तटस्थ होता है। वह नागरिक सहभागिता और सड़कछाप अधिकारी तंत्र पर प्रतिवेश नियन्त्रण का पक्षपोषण करता है। वह नौकरशाही के प्रति उत्तरदायित्व का समर्थन करता है।

अन्त में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लोक प्रशासन के शास्त्रीय मूल्य-दक्षता, मितव्ययता आदि-नितान्त असंगत नहीं है। यह मत व्यक्त किया जाता है कि केवल दक्षता एवं मितव्ययता से प्रतिबद्ध प्रशासन अब भी अन्याय, असमानता और निर्धनता को चिरस्थायी बना सकता है। नवीन लोक प्रशासन का महत्त्व इसी में है। नवीन लोक प्रशासन के प्रमुख आराध्य चार हैं : मूल्य या आदर्श (values), सामाजिक न्याय (social equity), प्रासंगिकता या अनुरूपता (relevance), तथा परिवर्तन (change)। प्राचीन शास्त्रीय मूल्यों एवं नवीन प्रेरणाओं के मध्य विनिमय होना ही चाहिए। **एच. जॉर्ज फ्रेडरिकसन** ने ठीक कहा

है कि उत्पादकता, दक्षता एवं मितव्ययता के महत्व को नकारा नहीं जा सकता। किन्तु वह निश्चयपूर्वक कहता है कि "सर्वाधिक उत्पादक शासन अब भी निर्धनता, अवसर की समानता एवं अन्याय को कायम रख सकता है। शास्त्रीय अधिकारी तंत्र का प्रारूत और नवीन अधिकारी तन्त्र का प्रारूप (हर्बर्ट साइमन का, जो निर्णय करने पर केन्द्रित) दोनों में इन प्रव त्तियों की क्षतिपूर्ति के उपाय नहीं है। अतएव आधुनिक लोक प्रशासन को ऐसे सिद्धान्तों तथा प्रतिमानों की खोज करनी चाहिए जो विन्सेण्ट ऑस्ट्रम द्वारा बताये गये 'लोकतान्त्रिक प्रशासन' के अनुरूप हों।" इसलिए जे. राल्स द्वारा कहा गया 'मतपेटिका से परे लोकतन्त्र' लोक प्रशासन के विशेषतः उसके मूल्यों के निर्धारण में भारी पुनगर्ठन को आवश्यक बनाता है।

द्वितीय मिन्नोब्रुक सम्मेलन-1988

Second Minnowbrook Conference, 1988

प्रथम मिन्नोब्रुक सम्मेलन, 1988 के बीस वर्ष पश्चात् 1988 में उसी स्थान पर दूसरा मिन्नोब्रुक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य 1960 के दशक में किए गए निर्णयों पर पुनः विचार करना, पिछले बीस वर्षो में लोक प्रशासन के क्षेत्र में हुई प्रगति का विश्लेषण करना तथा आगे लोक प्रशासन का विधिक्रम क्या है के बारे में विचार करना था। एच. फैड्रिकसन (H. Frederickson) के अनुसार द्वितीय मिन्नोब्रुक सम्मेलन की व्यवस्था करने का मुख्य उद्देश्य लोक प्रशासन के क्षेत्र में विभिन्न कालों में हुए विकास में तुलना करना था। इस सम्मेलन द्वारा पिछले प्रजननों द्वारा सिद्धान्तिक तथा अनुसंधान के क्षेत्र में किए गए प्रयासों को 1980 के दशक में किए गए प्रयासों से तुलना करना तथा अन्य सार्वजनिक मामलों पर क्या प्रभाव पड़ता है का तुलनात्मक विचार करने का अद्वितीय अवसर प्रदान किया गया। इस सम्मेलन में 1968 के सम्मेलन के कई विषय नैतिकता (Ethics), मानव सम्बन्ध (Human Relations), लोक प्रशासन तथा लोकतन्त्र में सामंजस्य (Reconciling Public Administration and Democracy) तथा राज्य के प्रति रूचि आदि को सम्मिलित किया गया।

नवीन लोक प्रशासन विभिन्न प्रकार की सामाजिक समस्याओं के प्रति जागरूक हैं। फैड्रिकसन के अनुसार विकेन्द्रीयकरण (Decentralisation), अधिकारान्तरण (Devolution), परियोजनाएँ (Projects), सविदा (Contract), सचेतना (Sensitivity), प्रशिक्षण (Training), संगठन (Organisation), विकास (Development), उत्तरदायित्व का विस्तार (Responsibility Extention), सम्मुखीकरण (Confrontation) तथा सेवित लोक की सहभागिता (Client Involvement), नवीन लोक प्रशासन की विशेषताएं हैं। ये धारणाएं अवश्य ही नौकरशाही के विरूद्ध हैं। इन धारणाओं का निर्माण नौकरशाही तथा नीति निर्माण की प्रक्रिया में परिवर्तन अथवा संशोधन को बढ़ाने के लिए किया गया है ताकि इसस सामाजिक न्याय की संभावना में व द्धि हो सके।

नवीन लोक प्रशासन की प्रक ति

विगत तीन दशकों में नवीन लोक प्रशासन ने प्रबंध विचारकों को सामाजिक-आर्थिक-राजनीति परिवर्तनों का प्रमुख एजेन्ट बना दिया है। यह माना जाने लगा है कि हमारा पारंपरिक लोक प्रशासन इस समय वैध नहीं है। इसके नेपथ्य में सर्वप्रथम कारण यह माना जाता है कि पुरातन लोक शासन के सिद्धांत उन तत्त्वों को पहचानने में विफल रहा है जो सार्वजनिक क्षेत्र में प्रभावित व दक्षता के प्रेरक हैं, पुरातन लोक प्रशासन के सिद्धांत थे-मूल्यशून्यता, दक्षता, निष्पक्षता, कार्यकुशलता, जबकि नवीन लोक प्रशासन, नैतिकता, कार्यकुशलता, सामाजिक सापेक्षता, नमनीय तटस्थता व प्रतिबद्ध प्रशासनिक प्रणाली पर बल देता है। यह माना जाने लगा है कि नवीन लोक प्रशासन सामाजिक परिवर्तन का सर्वश्रेष्ठ संवाहक है तथा यह लक्ष्योन्मुखी है। जैसा कि फ्रेडरिक्सन का विचार है। 'नवीन लोक प्रशासन कम व्यापक अथवा लोकप्रिय और अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक सार्वजनिक, कम वर्णनात्मक और अधिक परंपरागत एवं आदेशात्मक, कम संस्थानोमुख और अधिक मुवक्कि पर प्रभावोन्मुख, कम तटस्थ एवं अधिक मानकीय आदर्श है।"

नवीन लोक प्रशासन की विशेषताएं
(Characteristics of New Public Administration)

नवीन लोक प्रशासन की मुख्य विशेषताएं निम्न प्रकार हैं-

1. **प्रासंगिकता** (Relevance): परम्परागत लोक प्रशासन कार्यकुशलता एवं मितव्ययिता के सिद्धांत पर आधारित था जबकि नवीन लोक प्रशासन प्रासंगिकता के सिद्धान्त पर आधारित है। दूसरे शब्दों में परम्परागत लोक प्रशासन सामाजिक

समस्याओं के प्रति उदासीन था। परन्तु नवीन लोक प्रशासन सम्बन्धित सामाजिक समस्याओं के प्रति गहरी चिन्ता रखता है। नवीन लोक प्रशासन का यह लक्ष्य है कि इसे समाज की आवश्यकताओं के प्रति जागरूक होना चाहिए तथा इसका ज्ञान सामाजिक समस्याओं के प्रासंगिक होना चाहिए। वर्तमान लोक प्रशासन केवल पोस्डकोर्ब की क्रियाओं तक ही सीमित नहीं बल्कि इसका सम्बन्ध समाज की सभी समस्याओं से है तथा लोक प्रशासन के अध्ययनकर्ताओं की समाज की मूलभूत चिन्ताओं में प्रत्यक्ष भागीदार होना चाहिए। इसीलिए ड्वाइट वाल्डो (Dwight Waldo) ने निरन्तर इस बात पर बल दिया है कि लोक प्रशासन उन मामलों के प्रति उदासीन नहीं रह सकता जिनका सम्बन्ध समाज से है अथवा जिन समस्याओं का सामना समाज को करना है।

2. **मूल्योन्मुख** (Value Oriented): नवीन लोक प्रशासन आदर्शक (Normative) है। यह परम्परावादी लोक प्रशासन के मूल्यों के प्रति उदासीन तथा प्रक्रियात्मक परस्थता को स्वीकार नहीं करता। मिन्नोब्रुक सम्मेलन में इस बात पर विशेष रूप से बल दिया गया कि लोक प्रशासन को मूल्योन्मुख होना चाहिए और मूल्यों के प्रति उदासीन लोक प्रशासन असम्भव है। इस उद्देश्य से लोक प्रशासन के कई आधुनिक विशेषज्ञ, लोक प्रशासन में नैतिकता के महत्त्व पर बल देते हैं। उनके अनुसार प्रशासन में नैतिकता के प्रति चेतना उत्पन्न की जानी चाहिए। नैतिक मूल्यों पर बल देने के कारण कई सकारात्मक परिणाम निकले हैं जिनका लोक प्रकासन के अध्ययन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। उदाहरणतः लोक प्रशासन में उत्तरदायित्व तथा नियन्त्रण को विशेष महत्त्व दिया जाने लगा है।

3. **सामाजिक समद ष्टि अथवा न्याय** (Social Equity): नवीन लोक प्रशासन का मुख्य उद्देश्य सामाजिक न्याय की प्राप्ति है। परम्परागत लोक प्रशासन सामाजिक न्याय की अवहेलना करके कुशलता एवं मितव्ययिता पर प्रायः बल देता था तभी कुछ लोग परम्परागत लोक प्रशासन को अमानवीय तथा मूल्य विहीन कहते हैं। परन्तु नवीन लोक प्रशासन मानवीय तथ्यों को स्वीकार करते हुए समाज के दलित वर्गो, महिलाओं तथा बच्चों का उत्थान करके उन्हें सामाजिक न्याय प्रदान करने के लिए यत्नशील रहता है। इसका उद्देश्य विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग के विशेषाधिकारों को समाप्त करके सभी को समान अधिकार प्रदान करते हुए सामाजिक समता की स्थापना करना है। अतः नवीन लोक प्रशासन सामाजिक न्याय की स्थापना करके मानवीय विकास के पक्ष में है।

4. **परिवर्तन** (Change): परम्परावादी लोक प्रशासन विशेषाधिकार का अन्त करने तथा सामाजिक समता के प्रति जागरूक नहीं था। नवीन लोक प्रशासन सामाजिक समता की स्थापना के लिए परिवर्तन पर बल देता है। यह समाज में यथास्थितिवाद, सामाजिक एवं आर्थिक विषमता, सामाजिक शोषण, दलित वर्गो से अमानवीय व्यवहार आदि का अन्त करके सामाजिक न्याय पर आधारित समाज की स्थापना करने के पक्ष में है। इस उद्देश्य से यह प्रशासनिक यंत्र में परिवर्तन करने के पक्ष में भी है।

5. **सेवित लोग-अभिमुख प्रशासन** (Client Oriented Administration): परम्परागत लोक प्रशासन के बारे में यह कहा जाता है कि यह अमानवीय है तथा यह मानवयी आवश्यकताओं के प्रति उदासीन है। इसके विपरित नवीन लोक प्रशासन के समर्थक सेवित लोग अभिमुख लोक प्रशासन का समर्थन करते हैं। इसी उद्देश्य से वे विकेन्द्रीकरण अथवा लोगों के शासन में भागीदार होने, आश्रित लोगों से परामर्श करके नीति निर्माण करने तथा उन द्वारा नीति-निर्माण तथा शासन संचालन का मूल्यांकन करने की बात करते हैं। वे उत्तरदायी प्रशासन तथा स्पष्टीकरण का समर्थन करते हैं और नौकरशाही की कार्य पद्धति में सुधार करने पर बल देते हैं। दूसरे शब्दों में वे विकेन्द्रीकरण तथा नीति निर्माण के साथ-साथ सार्वजनिक सेवाओं को मानवीय बनाने के पक्ष में है। इसी उद्देश्य से वे अधिकारी तन्त्र के विरूद्ध हैं।

मूल्यांकन

नवीन लोक प्रशासन की धारणा ने नये क्षेत्रों एवं विचारों को जन्म दिया है और लोक प्रशासन की विषय-वस्तु को व्यापक बना दिया है। इसी संदर्भ में नवीन एजेण्डा (agenda) तैयार किया गया और उसे क्रियान्वित करने का निश्चय किया गया। यह कार्यक्रम लोक-हित प्रधान है। यह भी कहा जाता है कि नवीन लोक प्रशासन के समर्थकों ने राजनीतिक संस्थाओं, प्रक्रिया एवं नेत त्व से सम्बन्धित विषय-वस्तु पर अधिकार कर लिया है, जो एक प्रकार से अतिक्रमण है। नवीन लोक प्रशासन में कुछ क्रान्तिकारी तत्व हैं जो केवल विधानमण्डल एवं लोकमत के समर्थन से ही क्रियान्वित किये जा सकते हैं। एक बात स्पष्ट है कि नवीन लोक प्रशासन की अपनी सीमाएँ एवं दोष हैं। फिर भी नवीन लोक प्रशासन के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक

कौशल एवं प्रविधि का अभाव है। नवीन लोक प्रशासन की धारणा से लोक प्रशासन सम्बन्धी परम्परागत धारणा एवं विचारों को गहरा धक्का लगा है और लोक प्रशासन का क्षेत्र बढ़ा है। लोक प्रशासन की नवीन धारणा के अनुसार उसका समाज से सीधा सम्बन्ध जुड़ गया है। यह कोई कम उपलब्धि नहीं है। स्मरणीय है कि नवीन लोक प्रशासन की अत्यधिक प्रशंसा करना ही अव्यावहारिक है।

भारत में अभी नवीन लोक प्रशासन सम्बन्धी धारणाओं का प्रसार नहीं हुआ है। यह विशुद्ध रूप से एक अमरीकी धारणा है और भारत में वे परिस्थितियाँ नहीं पायी जाती हैं जिनके फलस्वरूप नवीन लोक प्रशासन की धारणा का अमरीका में विकास हुआ। इसके अतिरिक्त लोक प्रशासन विषय की भारत में अभी जड़ें गहरी नहीं हैं। धन का भी पर्याप्त अभाव है। न संकाय की स्थापना हुई है। थोड़े से लेखक ही उसकी ओर आकर्षित हुए हैं। लोक प्रशासन की भारत में प्रक ति संचयी (derivative) है। यहाँ की राजनीतिक संस्क ति में नवीन लोक प्रशासन अपना स्थान नहीं बना पाया है। भारत में लोक प्रशासन के समक्ष मुख्य चुनौती यह है कि उसे देश की ऐतिहासिक, संस्थागत एवं सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप होना चाहिए। देश के वातावरण से लोक प्रशासन को जीवन एवं शक्ति अर्जित करने सम्बन्धी और उपयुक्त प्रतिदान प्रणाली का विकास करना चाहिए।

नवीन लोक प्रशासन की संभावनाएं
(Possibilities of New Public Administration)

लोक प्रशासन को नवीन व्यक्तित्व दिये जाने की आवश्यकता है। जिन नवीन समस्याओं का उसे सामना करना पड़ता है, उनमें से कुछ बढ़ती हुई सैनिक शक्ति, दौड़ती हुई प्रविधि, शहरीकरण, नागरिक अधिकार एवं सहभाग तथा विकास से संबंध रखती है। उसे नवीन कार्यात्मक क्षेत्रों में प्रवेश करने के लिए आमंत्रित किया जा रहा है, यथा, जनसंख्या विस्फोट तथा उसका नियंत्रण, मद्यनिषेध तथा अन्य अस्वास्थ्यकर उत्पादकों की रोकथाम, पुलिस और अपराध, जनसंख्या एवं प्रदूषण से संबंधित व्यवस्था, विदेशी मामले तथा सांस्क तिक आदान-प्रदान, सार्वजनिक नैतिकता आदि। इसके लिए लोक प्रशासन सिद्धान्त में नवीन संगठन, संरचनाएं, कार्यविधियां आदि विकसित करने की क्षमता होनी चाहिए। आई. शरकान्स्की ने ऐसे सिद्धांतों की रूपरेखा ईस्टन और आमण्ड के प्रारूपों के आधार पर दी है। उत्तर-औद्योगिक समाज की कतिपय सर्वथा नवीन समस्याओं का सामना करने के लिए ऐसा सिद्धान्त एक तात्कालिक आवश्यकता बन गया है। काइडन ने नवीन लोक प्रशासन को उत्साही सुधारक, सजग नीति निर्माता, सामाजिक परिवर्तन का अभिकर्ता, रचनात्मक, संकट प्रबन्धक, मानवीय नियोक्ता, मध्यस्थ, राजनीतिक आन्दोलनकर्ता, आशावादी नेता, आदि भूमिकाएं प्रदान की है। निस्सन्देह इन भूमिकाओं के निवर्हन के लिए उसमें नवीन गुणों एवं क्षमताओं की आवश्यकता होगी। एक सामान्य लोक प्रशासन सिद्धान्त इस दिशा में निरन्तर मार्गदर्शन करता रहेगा। स्पष्टतः ऐसा लोक प्रशासन सिद्धान्त लोचशील, गतिमान, आनुभाविक एवं लक्ष्योन्मुख व स जनात्मक होगा। लोक प्रशासन के वर्तमान विकास को देखते हुए उसके "निर्माण" और "विकास" की काफी संभावना है।

अतः हम कह सकते हैं कि नवीन लोक प्रशासन की धारणा ने लोक प्रशासन की विषय-वस्तु को व्यापक बना दिया है। लोक प्रशासन की नवीन धारणा के अनुसार उसका समाज से सीधा संबंध जुड़ गया है। नवीन लोक प्रशासन की धारणा से लोक प्रशासन संबंधी परम्परागत धारणा एवं विचारों को गहरा धक्का लगा है और लोक प्रशासन का क्षेत्र बढ़ा है। यह और अधिक रूप में आदर्शात्मक होता जा रहा है, क्योंकि यह अब सामाजिक समता के प्रति उन्मुखता, गैर-नौकरशाही, विकेन्द्रीकरण, लोकतांत्रिक निर्णय प्रक्रिया, आचार संबंधी व्यवहार एवं निरन्तर फैलती हुई प्रशासनिक व्यवस्थाओं व नागरिकों की भागीदारी के प्रश्नों से सम्बन्धित है। नवीन लोक प्रशासन ने, संक्षेप में मानवीय चिन्ताओं पर जोर दिया है और विकेन्द्रीकरण प्रतिनिधित्व, सामाजिक समता और ऐसे भी अन्य सामाजिक गुणों पर जोर दिया है।

कतिपय विद्वानों के अनुसार भारत में अभी नवीन लोक प्रशासन संबंधी धारणाओं का प्रसार नहीं हुआ है। वस्तुतः भारत जैसे विकासशील देश में लोक प्रशासन की जड़ें अभी गहरी नहीं है। भारत में लोक प्रशासन के सामने मुख्य चुनौती यह है कि वह देश की ऐतिहासिक, संस्थागत एवं सामाजिक व्यवस्था के अन्तरंग में अपना स्थान कैसे बनाये? धन का भी पर्याप्त अभाव है और अभी तक बहुत थोड़ी संख्या में विद्वान, विचारक एवं लेखक उसकी तरफ आकर्षित हुए हैं।

अध्याय-5
विकास प्रशासन
(Development Administration)

विकास प्रशासन की अवधारणा विकासशील देशों में जो आर्थिक व द्धि के लिए प्रयत्नशील हैं, में लोकप्रशासन के तुलनात्मक अध्ययन की सह-उपज है। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 1995 में यू० एल० गोस्वामी (U.L. Goswami) ने किया था परन्तु इसे औपचारिक मान्यता उस समय प्राप्त हुई जब अमेरिकन लोक प्रशासन समिति के तुलनात्मक प्रशासन समूह एवं सामाजिक विज्ञान शोध परिषद् की तुलनात्मक राजनीति समिति ने इसको बौद्धिक आधार प्रदान किया। इस अवधारणा को लोकप्रिय बनाने में फ्रेड डब्ल्यू० रिग्स (Fred W. Riggs), एडवर्ड डब्ल्यू० वीडनर (Edward W. Weidner), जोसेफ लॉ० पोलोमबार (Joseph La Polombara), अल्बर्ट वाटरसन (Albert Waterson) आदि के नाम प्रमुख हैं।

विकास प्रशासन की अवधारण एशिया, अफ्रीका, एवं लेटिन अमेरिका के दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात् हुए स्वतंत्र देशों के लिए अर्थपूर्ण है। अपने औपनिवेशिक शासकों से स्वतन्त्रता प्राप्त करने के उपरांत इन देशों में अविकसित अर्थव्यवस्था से विकसित की ओर प्रयास आरम्भ किये गए। विकास के क्रम से गुजरते हुए इन देशों को विकासशील देश कहा गया जिनके सम्मुख विकास सम्बन्धी अनेक समस्याएँ थी। उनका प्रमुख कार्य नियोजित परिवर्तन द्वारा सामाजिक-आर्थिक बदलाव लाना था। परम्परीय लोक प्रशासन प्रशासन प्रणाली के सुधार से संबंधित था अतएव लोक प्रशासन के एक नये स्वरूप को विकसित करने की आवश्यकता अनुभव की गई जो विकासशील देशों की सामाजिक-आर्थिक एवं प्रशासनीय समस्याओं के अध्ययन पर ध्यान केन्द्रित करेगा। इस प्रकार, विकास प्रशासन के विचार को संकल्पना की गई।

उदय के कारण

1. सन् 1950 और 1960 के दशकों के दौरान लोक प्रशासन के विद्वानों ने लोक प्रशासन के पारंपरिक द ष्टिकोणों जिनमे पाश्चात्य मूल्य उन्मुख था, प्रकृति के प्रति काफी अंसतोष व्यक्त किया। विद्वानों को सूचना के एक मात्र आधार के रूप में अमरीकी अनुभव पर लोक प्रशासन संबंधी अध्ययनों की अत्यधिक निर्भरता से भी असंतोष था। अतः मिल-जुलकर इसका यह अर्थ था कि सारी बात को अमरीकी मूल्य तंत्र से आँका जाता है जिस तंत्र में तीसरे विश्व और साम्यवादी देशों के बारे में मूल्य भारित विचार रहता है।
2. द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अनेक अफ्रीकी और एशियाई देश स्वतंत्र हो गए और वे सामाजिक-आर्थिक, राजनीतिक एवं प्रशासनिक विकास के विभिन्न चरणों में थे। चूंकि इन देशों का प्रशासन अनिवार्यतः विकास उन्मुख था। अतः विद्वानों में इन देशों के प्रशासन का अध्ययन करने की उत्सुकता पनपी। उनका अध्ययन वस्तुतः विकास प्रशासन का अध्ययन बन गया।
3. द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के युग में संयुक्त राष्ट्र संघ की कई एजेंसियाँ एवं संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ की सरकारें इन नए उभरते राष्ट्र राज्यों को भरपूर तकनीकी सहायता देने मे जुट गई। अमरीका और सोवियत संघ द्वारा इन देशों को ऐसी सहायता देने का प्रयोजन संयुक्त राष्ट्र संघ में अपनी-अपनी ओर उनका सामर्थन प्राप्त करना था। इन प्रोद्यौगिक कार्यक्रमों में जुटे विशेषज्ञों ने शीघ्र ही महसूस कर लिया कि पश्चिमी देशों की प्रशासनिक संरचनाएँ एवं सिद्धांत इन देशों के लिए भी उपयुक्त हों, कोई आवश्यक नहीं है। इन देशों को दी जानेवाली सहायता का उचित उपयोग करने में उन्हें समर्थ बनाने की विधियों की खोज करने के उद्देश्य से उनके प्रशासन तंत्रों का अध्ययन करने की आवश्यकता थी।

4. विकास प्रशासन की उत्पत्ति अमरीकी व्यवहारपूरक विज्ञानों से हुई है। राजनीतिकशास्त्र में व्यवहारपरक क्रांति से प्रोत्साहित होकर लोक प्रशासन ने भी तुलनात्मक लोक प्रशासन के क्षेत्र में व्यवहारपरक अध्ययनों पर बल दिया जिसका अर्थ विकास प्रशासन में प्रशासन की भूमिका का अध्ययन भी था। यद्यपि उनका उद्देश्य परिस्थिति पर बल देते हुए केवल लोक प्रशासन का अध्ययन करना था किंतु इसके कारण स्वाभाविक तौर पर विकास प्रशासन के भी अध्ययन हुए।
5. तीसरे विश्व के देशों मे समय और प्राकृतिक संसाधनों की काफी कमी थी जबकि उनकी आवश्यकता तुरंत और तीव्र सामाजिक आर्थिक विकास की थी। ये लक्ष्य निष्क्रिय प्रशासन की सहायता से नहीं प्राप्त किए जा सकते थे जो बंद और यथास्थितिवादी था। अतः एक ऐसे प्रशासन तंत्र की आवश्यकता महसूस की गई जो विकसित देशों के प्रशासनिक ढाँचे से भिन्न हो और इस प्रकार विकास प्रशासन की संकल्पना का आविर्भाव हुआ।

अर्थ और परिभाषाएं
(Meaning and Defintions)

विकास प्रशासन शब्द दो शब्दों के योग से बना है-विकास तथा प्रशासन। 'विकास' शब्द का अर्थ होता है निरन्तर आगे बढ़ना और 'प्रशासन' का अर्थ है सेवा करना। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विकास प्रशासन मे जनता की सेवा के लिए विकास कार्यो को करना निहित है। लोक प्रशासन में विकास का तात्पर्य किसी सामाजिक संरचना का प्रगति की ओर बढ़ना है। इस प्रकार समाज में प्रगति की दिशा में जो भी परिवर्तन होते हैं उन्हें विकास की संज्ञा दी जाती हैं। विकास एक निरन्तर गतिशील प्रक्रिया है।

विकास प्रशासन की विद्वानों द्वारा दी गयी कुछ परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं।

1. प्रो० वीडनर के अनुसार, "विकास प्रशासन राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रगति के लिए संगठन का मार्गदर्शन करता है। यह मुख्य रूप से एक कार्योन्मुख एंव लक्ष्योन्मुख प्रशासनिक प्रणाली पर जोर देता हैं।
2. प्रो० रिग्स ने इसके सम्बन्ध में कहा है कि "विकास प्रशासन का सम्बन्ध कार्यक्रमों के प्रशासन, बड़े संगठनों विशेषकर सरकार की प्रणालियों, विकास लक्ष्यों की उपलब्धि के लिए नीतियों ओर योजनाओं को क्रियान्वित करने से हैं।
3. डोनाल्ड सी० स्टोन का कहना है कि "विकास प्रशासन निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संयुक्त प्रयास के रूप में सभी तत्त्वों और साधनों (मानवीय और भौतिक) का सम्मिश्रण है। इसका लक्ष्य निर्धारित समयक्रम के अन्तर्गत विकास के पूर्व-निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति है।

उपरोक्त परिभाषाओं में भिन्नता के बावजूद भी यह देखते को मिलता है कि विकास प्रशासन लक्ष्योन्मुखी और कार्योन्मुखी है। परिभाषाओं के विश्लेषण के बाद विकास प्रशासन के सम्बन्ध में निम्नलिखित तत्त्व सामने आते हैं।

1. विकास प्रशासन निरन्तर आगे बढ़ने की एक गतिशील प्रक्रिया है।
2. निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए यह एक संयुक्त प्रयास है।
3. यह तीसरी दुनिया की विभिन्न समस्याओं का समाधान करने का महत्त्वपूर्ण साधन है।
4. यह पिछड़े समाज के परिवर्तन, आधुनिकीकरण और विकास के लिए शासन-तन्त्र है।

तदपि परम्परीय एवं विकास प्रशासन के मध्य मुख्य विभेदक निम्न हैं।

परम्परीय (Traditional)	**विकास** (Developmental)
नियामक एवं प्रशासकीय	अंगीकरणीय एवं गतिशील
दक्षता/मितव्ययिता अभिमुखी	व द्धि अभिमुखी
कार्य अभिमुखी	संबंध अभिमुखी
पदसोपानात्मक संरचना	नमनीय एवं परिवर्तनशील
केन्द्रीयक त निर्णय निर्माण	सहभागीय निर्णय निर्माण
प्रस्थिति अभिमुखी	भविष्य अभिमुखी

विकास प्रशासन एवं प्रशासनिक विकास

दोनों अवधारणाऐं एक-दूसरे से पूरी तरह सम्बन्धित किन्तु भिन्न हैं। विकास प्रशासन का अर्थ विकास कार्यक्रमों की व्यवस्था है जबकि प्रशासनिक विकास का अर्थ है कि प्रशासकीय तन्त्र को कुशल, सक्षम तथा प्रभावी बनाना। समाज कल्याण या साक्षरता के लिये जो तन्त्र कार्य कर रहा है वह विकास प्रशासन है। और समाज कल्याण प्रशासन को सुगठित करना व उद्देश्य के अनुकूल बनाना प्रशासनिक विकास है। प्रशासनिक विकास केवल विकास प्रशासन तक सीमित नहीं है। सामान्य प्रशासन के विकास को भी प्रशासकीय विकास कहेंगे। उदाहरण के तौर पर ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत पुलिस की कार्य पद्धति जो थी वह लोकतन्त्र के अनुकूल नहीं है। उसे अनुकूल बनाना प्रशासकीय विकास होगा।

प्रो० रिग्स के अनुसार विकास प्रशासन का विकसित किया जाना बहुत जरूरी है क्योंकि इसके बिना विकास का लक्ष्य प्रापत नहीं किया जा सकता। क्षमताहीन प्रशासन विकास कार्य नहीं कर सकता। साथ ही प्रशासकीय विकास के लिए आवश्यक है कि पर्यावरण (सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक) का विकास किया जाये क्योंकि विकास प्रशासन को पर्यावरण की सर्वाधिक प्रभावित करता है। विकास प्रशासन तथा प्रशासनिक विकास के बीच परस्पर निर्भरता का सम्बन्ध है।

विकास प्रशासन का महत्त्व
(Significance)

विकास प्रशासन में प्रशासन के पारंपरिक उपागमों की तुलना में कई लाभदायक गुण हैं जैसे-

1. विकास प्रशासन विकास की समस्याओं एवं इनके निदान के आवश्यक उपायों का व्यापक विश्लेषण करने के एक साधन की तरह कार्य करता है। इसके पूर्व विकास एवं कल्याण सरकारी कार्य-क्षेत्र में नहीं आते थे।
2. विकास प्रशासन लोक प्रशासन के विकास में एक बहुत महत्त्वपूर्ण तथ्य है। इसने लोक प्रशासन के क्षेत्र में लोकनीति, इसका कार्यान्वयन एवं मूल्योन्मुख लाकर लोक प्रशासन की सीमाओं को विस्त त किया है।
3. कार्यरत प्रशासकों और शिक्षाविदों के लिए इसका प्रत्यक्ष महत्त्व है। क्योंकि वे लोक ही विकास की समस्याओं एवं विकास प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न समस्याओं में प्रत्यक्ष रूप से उलझे हैं।
4. विकास प्रशासन ने पश्चिमी मॉडल की अपर्याप्तताओं की ओर विद्वानों ने पश्चिमी मॉडल की अपर्याप्तताओं की ओर विद्वानों का ध्यान सफलतापूर्वक आकृष्ट किया है और विकास कार्यों के संदर्भ में उनकी अपर्यान्तता साबित की है। अतः इसने तुलनात्मक लोक प्रशासन के तुलनात्मक अध्ययनों के साथ-साथ लोक प्रशासन के सिद्धांत और व्यवहार की सर्विकता पर विचार खंडित किया है।
5. विकास प्रशासन प्रशासनिक तंत्र पर संस्कृति के प्रभाव को भी मानता हैं और इसलिए विकास के राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक-सांस्कृतिक पक्षों के तुल्यकालन एवं समक्रमण पर बल देता है।
6. पश्चिमी मॉडलों की अपर्याप्तता को उजागर करते हुए व्यवहारों प्रशासन उनकी प्रशासनिक विधियों एवं व्यवहारों की अपर्यान्तताओं को भी उजागर करता है। चूंकि पश्चिमी मॉडल पूरब में प्रयोज्य नहीं रहे, अतः विकास प्रशासन देशज प्रशासनिक विधियों के विकास का समर्थन करता हैं। उदाहरण के लिए भारत ने विकास का पंचायती राजमांड अपनाया है तो उसकी अपनी विधि है।
7. विकास प्रशासन, प्रशासन के मानव कारकों पर ध्यान केंन्द्रित करता है। जिनकी पहले उपेक्षा की जा रही थी। यह इस अर्थ मे अधिक लोकतांत्रिक है कि यह निचले स्तर से विचारों को प्रवाह एंव विकास प्रक्रिया में लोगों की भागीदारी भी प्रोत्साहित करता है जो कि विकास प्रशासन की सफलता के लिए अनिवार्य है।

विशेषताएँ
(Features)

विकास प्रशासन सरकार का कार्यात्मक पहलू है जो लक्ष्योन्मुखी होता हैं विकास प्रशासन केवल जनता के लिए प्रशासन नही है बल्कि यह जनता के साथ कार्य करने वाला प्रशासन है। संक्षेप, मे विकास प्रशासन की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं।

1. **परिवर्तनशील**: विकास प्रशासन का केन्द्रबिन्दु परिवर्तनशीलता है। यह परिवर्तन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक है। विकासशील देशों में प्रशासन को निरन्तर परिवर्तनों के दौर से गुजरना पड़ता है। इस प्रकार परिवर्तनशीलता विकास प्रशासन की बहुमूल्य पूँजी है जिसके सहारे वह सक्रिय बना रहता है।
2. **विकासात्मक प्रकृति**: फेनसोड ने ठीक ही कहा है कि विकास प्रशासन नवीन सुधारों तथा अभिनवकरणों पर निर्भर करता है। इसकी प्रकृति विकासात्मक कार्यक्रमों को लेकर चलने की होती हैं। इसका प्रमुख उद्देश्य सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक द ष्टिकोण से पिछड़े समाज का विकास करना है।
3. **प्रजातान्त्रिक मूल्यों से सम्बन्धित**: विकास प्रशासन जन-आकांक्षाओं की पूर्ति के प्रति प्रयन्तशील रहता है। साथ ही विकास प्रशासन प्रजातान्त्रिक मूल्यों से सम्बद्ध रहता है, क्योंकि इसमें मानव अधिकारों और मूल्यों के प्रति सम्मान, जनहित का उद्देश्य तथा उत्तरदायित्व की भावना निहित रहती है। चूँकि विकास प्रशासन का सम्बन्ध सरकारी प्रशासन द्वारा किये जाने वाले प्रयासों से है और सरकारी प्रयास जनकल्याण और प्रजातान्त्रिक मूल्यों से जुड़े रहते हैं, अतः विकास प्रशासन द्वारा किये जाने वाले प्रयासों से है और सरकारी प्रयास जनकल्याण और प्रजातान्त्रिक मूल्यों से जुड़े रहते हैं, अतः विकास प्रशासन को प्रजातान्त्रिक मूल्यों से प थक नहीं किया जा सकता।
4. **आधुनिकीकरण**: विकासशील देशों के विकास के लिए आधुनिक द ष्टिकोण अपनाना अवश्यक हो गया है। साथ ही आज के आधुनिक उद्देश्यों को प्राप्त करने हेतु विकास प्रशासन को अपने आपको योग्य बनाना पड़ता है। इसके लिए प्रशासनिक आधुनिकीकरण को बढ़ावा देना पड़ता है। प्रशासनिक आधुनिकीकरण के लिए विकास प्रशासन विकसित देशों से मापदण्ड और तकनीक प्राप्त करता हैं।
5. **प्रशासनिक कुशलता**: कुशलता प्रशासन की सफलता की कुंजी है। विकास प्रशासन में प्रशासनिक कुशलता को इसलिए महत्त्व दिया जाता है कि इसके अभाव में विकास के उद्देश्यों को सफलतापूर्वक प्राप्त करना सम्भव नहीं है। विकास प्रशासन इस बात के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है कि प्रशासनिक विकास के माध्यम से प्रशासन की कार्यकुशलता में व द्धि की जाये।
6. **आर्थिक विकास**: आर्थिक विकास और विकास प्रशासन का परस्पर महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है। प्रशासनिक विकास के लिए आर्थिक विकास भी आवश्यक हैं। विकासशील देशों की विभिन्न आर्थिक योजनाएं एवं विकास सम्बन्धी कार्यक्रम विकास प्रशासन के सहयोग से ही लागू किये जाते हैं। विकास प्रशासन ऐसे प्रशासनिक संगठन की रचना करता है जो देश की आर्थिक प्रगति को सम्भव बनाता है तथा आर्थिक विकास के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। राष्ट्र के विकास के लिए आर्थिक योजनाएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती हैं और उन्हें लागू करने मे विकास प्रशासन महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता हैं
7. **परिणामोन्मुखी**: विकास प्रशासन का परिणामोन्मुखी होना इसकी एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता है। विकास प्रशासन से यह अपेक्षा की जाती है कि वह निर्धारित सीमा के अन्तर्गत कार्यों को सम्पन्न करें और परिणाम अच्छे हों। इसमें परिणाम को अधिक महत्त्व दिया जाता हैं

क्षेत्र
(Scope)

विकास प्रशासन लोक प्रशासन की एक नवीन विस्त त शाखा हैं। इसका जन्म विकासशील देशों की नयी-नयी प्रशासनिक योजनाओं तथा कार्यक्रमों को लागू करने के सन्दर्भ में हुआ हैं इसके क्षेत्र में लोक प्रशासन के वे सभी कार्य आ जाते हैं जो नीतियों, योजना, कार्यक्रमों के निर्माण से सम्बन्धित हैं। संक्षेप में, इसके क्षेत्र में वे समस्त, गतिविधियाँ आती हैं जो सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, ओद्योगिक तथा प्रशासनिक विकास से सम्बन्धित हों और जो सरकार द्वारा संचालित की जाती हों। जिस प्रकार विकास के क्षेत्र को निर्धारित करना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार विकास प्रशासन के क्षेत्र को निर्धारित करना सम्भव नहीं है। इसके क्षेत्र का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

1. **पोस्डकॉर्ब सिद्धान्त**: चूँकि विकास प्रशासन लोक प्रशासन का ही विस्त त अंग है इसलिए लूथर गुलिक द्वारा प्रतिपादित पोस्डकॉर्ब सिद्धान्त विकास प्रशासन के क्षेत्र के लिए प्रासंगिक है। यह शब्द निम्नलिखित शब्दों से बना है: Planning (नियोजन), Organisation (संगठन), Staffing (कर्मचारी), Direction (निर्देशन), Coordination (समन्वय), Reporting (प्रतिवेदन), तथा Budgeting (बजट)। इन सभी सिद्धान्तों की विकास प्रशासन में आवश्यकता पड़ती है।

2. **प्रशासनिक सुधार एवं प्रबन्धकीय विकास**: इन दोनों का विकास प्रशासन में अत्यन्त महत्त्व होता है इसलिए प्रशासनिक सुधार एवं प्रबन्धकीय विकास पर अधिक ध्यान दिया जाता है। प्रशासन के संगठनों मे हमेशा सुधार की आवश्यकता पड़ती है। प्रशासकीय सुधार का मुख्य उद्देश्य है जटिल कार्यो और प्रक्रियाओं को सरल बनाना तथा उन नियमों का निर्माण करना जिनसे न्यूनतम श्रम एंव व्यय करके अधिकतम उत्पादक परिणाम प्राप्त किये जा सकें। इसके लिए समय-समय पर विभिन्न आयोग एवं समितियाँ गठित की जाती हैं तथा प्रशासनिक सुधार के सम्बन्ध में इनके प्रतिवेदन माँगे जाते हैं।
3. **लोक सेवकों के लिए प्रशिक्षण**: विकास प्रशासन को नवीन योजनाओं, विशेषीकरण तथा जटिल प्रशासनिक कार्यक्रमों को लागू करना पड़ता है। ऐसे कार्यों को सम्पन्न करने के लिए विकास प्रशासन को अनुकूल लोक सेवकों की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिए लोक सेवकों को प्रशिक्षण हेतु विभिन्न प्रकार के विशेषीकृत प्रशिक्षण संस्थानों में भेजा जाता है, जहाँ उन्हें प्रशासकीय समस्याओं और संगठनात्मक प्रबन्ध आदि के विषय में बताया जाता हैं इस प्रकार समय के साथ बदली हुई आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल अपने लोक सेवकों को प्रशिक्षित करना विकास प्रशासन कर महत्त्वपूर्ण कार्य है।
4. **आधुनिक प्रबन्धकीय तकनीक का प्रयोग**: विकास प्रशासन का एक महत्त्वपूर्ण कार्य उन नवीन प्रबन्धकीय तकनीकों की खोज करना है जिनसे विकास कार्यक्रमों में कार्यकुशलता बढ़ायी जा सके। इस सम्बन्ध में विकसित देशों में अपनाये जाने वाले नवीन प्रबन्धकीय तरीकों को लागू करना चाहिए।
5. **विकास के कार्यक्रम**: जैसा कि विदित है, विकास प्रशासन का एक महत्त्वपूर्ण कार्य ग्रामीण एवं शहरी विकास के कार्यक्रमों को लागू करना है। भारत जैसे विकासशील देशों के लिए अनेक योजनाएँ एवं कार्यक्रम लागू किये जाते है। इन्हें आधुनिक तकनीकी के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाना विकास प्रशासन का महत्त्वपूर्ण कार्य है।
6. **जन सम्पर्क का सहयोग**: प्रशासन का उद्देश्य जनहित होता है अतः विकास सम्बन्धी कार्यक्रमों को लागू करने के लिए जन सहयोग एवं जन सम्पर्क अत्यन्त आवश्यक है। इससे स्पष्ट होता है कि विकास प्रशासन मे जन सम्पर्क और जन सहयोग का विशेष महत्त्व है। वास्तव में जन सम्पर्क के द्वारा यह जाना जा सकता है कि जो जनकल्याण सम्बन्धी कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं उनका लाभ आम जनता तक पहुँचता है या नहीं तथा जनता की उनके प्रति क्या प्रतिक्रिया होती है। विकास प्रशासन के लिए जन सहयोग न केवल आवश्यक है बल्कि इसके अभाव में सफलता सम्भव नहीं है।
7. **आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक ढाँचे का विकास**: वस्तुतः आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक विकास सम्बन्धी कार्य विकास प्रशासन की रीढ़ होते हैं। इस दिशा में कार्य करना चुनौतीपूर्ण होती है। परम्परागत संरचनाओं की कमियों और प्रक्रियाओं को सुधार कर उनकी जगह नवीन प्रकार के आर्थिक व सामाजिक ढाँचे का निर्माण करना विकास प्रशासन के सामने एक बहुत जटिल कार्य बन गया है। इन संरचनाओं का विकास व सुधार करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार विकास प्रशासन के क्षेत्र में आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक ढाँचे का विकास करना एक महत्त्वपूर्ण कार्य है।

उपरोक्त बातों के अतिरिक्त विकास प्रशासन के क्षेत्र में क्षेत्रीय विकास परिषदें, सामुदायिक सेवाएँ, प्रबन्ध कार्यक्रम, अन्तराष्ट्रीय सहयोग आदि बातो का भी अध्ययन किया जाता है। जैसे-जैसे सरकार के विकास सम्बन्धी कार्यक्रम बढ़ते जाते हैं, विकास प्रशासन का क्षेत्र भी विस्त त होता जाता हैं।

भारत में विकास प्रशासन और प्रशासनिक विकास
(Development Administration and Administrative Development in India)

स्वतंत्रता पश्चात् भारत मे 'विकास प्रशासन' की अवधारणा अपनायी गयी। पंचवर्षीय योजनाओं की सफल क्रियान्विती के साथ देश में 'विकास प्रशासन' के चरण बढ़ते रहे। प्रशासन और जनता की खाई पाटी जा रही है, प्रशासन द्वारा जन-सम्पर्क को महत्त्व दिया जा रहा है, और यह निरन्तर प्रयास चल रहे हैं कि विकास कार्यों में जन-सहभागिता में व द्धि हो। सामुदायिक विकास और पंचायती राज में जन-सहभागिता को जो महत्त्व दिया गया है। वह विकास प्रशासन के नए द ष्टिकोण का परिचायक हैं परियोजना क्षेत्र विकास प्रशासन का ही एक रूप है। भारत में विभिन्न नदी-घाटी अथवा नहर परियोजनाओं का विस्तार देश में सिंचाई की समस्या सुलझाने और विद्युत प्राप्त करने हेतु किया जा रहा है। इन विभिन्न परियोजनाओं के निकटवर्ती क्षेत्रों कि विकास के लिए समेकित कार्यक्रम वांछनीय माने जाते हैं तद्नुसार एक परियोजनता के माण्ड क्षेत्र मे कृषि, पशुपालन, वन, सहकारिता, सामुदायिक विकास, शक्ति, सड़कें, शिक्षा, स्वास्थ्य, पीने का पानी, देहाती ग ह निर्माण, कम आय के घर, मण्डियाँ, लघु उद्योग आदि के क्षेत्रों मे विकास की ओर एकीकृत रूप से ध्यान दिया जाता है। क्षेत्रीय विकास की

समस्याओं के समाधान हेतु एकीकृत संगठन की आवश्यकता होती हैं जो विभिन्न कार्य स्तरों पर समन्वय स्थापित करता है। इस संगठन को पर्याप्त प्रशासनिक और वित्तीय अधिकारों के साथ-साथ विपणन, संचार, प्रोसेसिंग आदि शक्तियाँ प्रदान की जाती हैं।

विकास प्रशासन के सभी अभिकरण ग्राम विकास के लिए प्रयत्नशील हैं। इस पर बल दिया गया है कि विकास अधिकारी स्थानीय परिस्थितियों का महत्त्व समझे और उन्हें ग्रामीण समाज का विशेषज्ञतापूर्ण ज्ञान हो। ग्रामीण क्षेत्रों का विकास सभी पंचवर्षीय योजनाओं के सर्वोच्च लक्ष्यों में से एक रहा हैं।

पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए आवश्यक बुनियादी भौतिक व संस्थागत ढाँचा तैयार हो गया है। समेकित ग्राम विकास कार्यक्रम, बीस सूत्री कार्यक्रम तथा जवाहर रोजगार योजना के माध्यम से विकास प्रशासन के लक्ष्यों को साकार किया जा रहा है।

विकास प्रशासन में जिला स्तर पर अभिकरणों और अधिकारियों में जिलाधीश, जिला परिषद, पंचायत समितियाँ, विकास अधिकारी, खण्ड विकास अधिकारी, प्रसार अधिकारी, ग्राम विकास खण्ड, ग्राम सेवक, प्रधान, उप-प्रधान आदि महत्त्वपूर्ण हैं। पंचायती राज 1959 में शुरू किया गया था। स्थानीय स्वशासन का ग्राम खण्ड या जिला-स्तर पर लागू किया गया त्रिस्तरीय ढाँचा है परन्तु राज्यों को स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार ढाँचे में परिवर्तन करने की छूट है। पंचायती राज के सभी निकाय आंगिक रूप से परस्पर जुड़े हुए हैं। ग्राम विकास के कार्यक्रम को आगे बढ़ाने के लिए ग्राम स्तर पर पंचायत, सहकारी समिति और विद्यालय बुनियादी संस्थाएँ हैं।

विकास प्रशासन के परिप्रेक्ष्य में भारत में प्रशासनिक परिवर्तन या विकास

भारत एक विकासशील देश है और स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सरकार ने देश की प्रशासनिक व्यवस्था मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों के लिए समय-समय पर उचित कदम उठाए है। प्रबोधन और उपदेशात्मक स्तर पर अनेक नियोजन देखने को मिले हैं। विभिन्न आयोगों और समितियों का गठन हुआ है जिन्होंने प्रशासनिक सुधार और परिवर्तन के लिए सिफारिशें की हैं। वेतन आयोगों और समितियों के अध्ययन प्रशासनिक परिवर्तन की अपेक्षाओं और आवश्यकताओं, सेवीवग्र के मूल्यों और अपेक्षित परिवर्तनों को दर्शाते है। इन विभिन्न सिफारिशों पर अमल हुआ है लेकिन व्यवहार मे आज प्रशासनिक व्यवस्था और समाज मे दूरी बनी हुई है। दोनों के बीच की खाई को पाटा नहीं जा सका है। विकासशील राजनीतिक व्यवस्था की माँग है कि प्रशासन को आधुनिकीकरण के साधन के रूप में प्रयुक्त किया जाए। यदि इस माँग की पूर्ति करती है तो प्रशासन व्यवस्था और क्रिया प्रणाली में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करने होंगे। भारत में प्रशासनिक सुधार आयोग की स्थापना करते समय इस स्थिति को विशेष ध्यान में रखा गया था, लेकिन प्रबुद्ध राजनीतिक एंव प्रशासनिक क्षेत्रों में निराशा हुई है कि आयोगों की सिफारिशों मे किन्हीं आधारभूत परिवर्तनों का प्रतिबिम्ब देखने को नहीं मिलता है। विकासशील व्यवस्था के लिए प्रशासन का आधुनिकीकरण करने हेतु इन प्रश्नों पर रचनात्मक सिफारिशों की आवश्यकता है कि प्रशासन में क्या परिवर्तन लाए जाएँ, नवीन परिवर्तनों और चुनौतियों का सामना करने के लिए प्रशासन को सक्षम कैसे बनाया जाए आदि। अब तक जो सिफारिशें आई हैं उनमे ऐसे प्रश्नों पर विचार तो किया गया लेकिन अपेक्षित रूप से यह सन्तोषजनक नहीं है।

भारत में प्रशासनिक परिवर्तन आशानुकूल नहीं हो पाए हैं जो परिवर्तन हुआ वह सन्तोषजनक नही है। कुछ विकासात्मक परिवर्तन प्रशासनिक स्तर के संगठनों में देखे जा सकते हैं, यथा-लघु स्तरीय उद्योग, लोक निगम, सरकारी कंपनी, पदोन्नति गठन आदि। 'स्टफिंग' के नए स्वरूप देखने मे आए हैं और ऐसे प्रयत्न किये गए हैं कि विकास तथा परिवर्तन की अनुकूल दिशा में बढ़ने के लिए विशेषज्ञ तथा व्यावसायिक सेवाओं को विशिष्टता प्रदान की जा सके। परम्परागत नौकरशाही को बदलने के प्रयास किए गए हैं। प्रशासन को एक नया दर्शन दिया गया है और यह आग्रह रहा है। कि प्रशासक स्वयं को समाज-सेवक समझें ओर जन-साधारण के निकट आएँ। प्रशासन को क्रियात्मक स्वायत्तता प्राप्त रहे, वह राजनीतिक दबाव से परे रहे- इन दिशा में अनेक प्रयास किए गए हैं। विभिन्न प्रशासकीय संगठनों में शक्ति हस्तांतरिक की जाने लगी है। संगठनात्मक और व्यावहारिक दोनों स्तरों पर प्रकाशन को रचनात्मक रूप देने की दिशा मे कदम उठाए गए हैं। अभी कुछ करना शेष है। जो कदम उठाए गए हैं उनके अपेक्षित सन्तोषजनक परिणाम नहीं निकले हैं। प्रशासन और जनता दोनों की मनोव त्ति सरलता से नहीं दबायी जा सकती। इसमें सेवी-वर्ग सम्बन्धी नीतियों में परिवर्तन का विशेष महत्त्व है क्योंकि सभी परिवर्तनों की सफलता इसी वर्ग की दक्षता पर निर्भर हैं। यह नितान्त आवश्यक है कि प्रशासन की सेवी-वर्ग सम्बन्धी नीतियाँ प्रेरक और सन्तोषजनक हों ताकि यह वर्ग विकासशील समाज की माँगों के प्रति अधिकाधिक जागरूक बनें।

प्रशासनिक विकास की अवधारण में यह विचार अन्तर्निहित है कि प्रशासन की कोई व्यवस्था तभी प्रभावशाली और गतिशील रह सकती है जब उसमें सुधार के लिए निश्चयात्मक, व्यवस्थित एवं संगठित प्रयास होते रहें। सुधार के द्वार बन्द करने का अर्थ है। अपनी उपयोगिता का ह्रास और सजीवता का नाश। सीमित स्रोतों से अधिकाधिक लाभ तभी उठाया जा सकता है जब आवश्यकता और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन किए जाएँ, प्रभावी सुधार-नीतियों को अपनाया जाए। प्रशासनिक प्रबंध में निरन्तर सुधार की आवश्यकता विश्व के सभी देशों मे स्वीकार की गई है और द्वितीय महयुद्धोत्तर युग में इसे अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है। "प्रबुद्ध सेवीवर्ग प्रशासन, परिष्कृत रीतियाँ तथा प्रक्रियाएँ, व्यवस्थित संगठन, स्वचालित यन्त्रों का बढ़ता हुआ प्रयोग, कर्मचारियों को प्रोत्साहन, पुरस्कार एवं प्रशिक्षण-योजनाएँ तथा निष्पादकीय विकास कार्यक्रम, कुछ ऐसी युक्तियाँ हैं जो वांछित परिणाम प्राप्त करने के लिए प्रयोग में लाई जाती है।" प्रशासनिक सुधार से तात्पर्य, प्रशासन में ऐसे सुनियोजित परिवर्तन लाना है जिनसे यह अपनी क्षमताएँ बढ़ा सके एवं सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति की जा सके। प्रशासनिक विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जो संयोजित एंव संगठित होने के साथ-साथ निरन्तरता एवं स जनशीलता की अपेक्षा करती है।

आलोचना
(Criticism)

वर्तमान नौकरशाही विकास प्रशासन के कार्यों हेतु अनुपयुक्त है। इसमें अनेक संरचनात्मक एवं व्यवहारवादी दोष हैं। इसको विकास प्रशासन के अनुकूल बनाने हेतु निम्नलिखित परिवर्तन करने होंगे।

1. पद सोपानात्मक संरचना को कम महत्त्व दिया जाना चाहिए।
2. नीतिनिर्माण एवं विनिश्चय निर्माण में कार्मिकों की भागेदारी बढ़ाने हेतु संगठनों की नई संरचना करनी होगी।
3. सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया जाए तथा क्षेत्रीय इकाईयों को निर्णय लेने के अधिक अधिकार दिए जाएँ।
4. संगठन में प्रस्थिति एवं पद को अधिक महत्त्व दिए बिना संचरण का मुक्त प्रवाह होना चाहिए।
5. कार्मिकों की भर्ती के लिए योग्यता एक मात्र आधार होना चाहिए। उचित प्रशिक्षण की उपयुक्त व्यवस्था होनी चाहिए।
6. नौकरशाही को जन-सहभागिता एवं सहयोग प्राप्त करना चाहिए।
7. नौकरशाही को जनता के प्रति अपने व्यवहार को बदलना होगा। उन्हें उनमें मुक्त रूप से मिलकर उनकी समस्याओं को जानने को प्रयास करना होगा एवं अपने व्यवहार में शिष्ट एवं विनम्र होना चाहिए।
8. व्यावसायिक गतिशीलता को प्रोत्साहित किया जाए।

इस तथ्य के बावजूद कि विकासशीलता देशों में नौकरशाही विकास प्रशासन की अपेक्षाओं को पूरा करने में असफल रही है, इस बात सें इंकार किया जा सकता कि इसकी भूमिका महत्त्वपूर्ण है। आवश्यकता है नये संदर्भ में विकास की अपेक्षाओं के अनुकूल इसमें आवश्यक संरचनात्मक एवं व्यवहारवादी परिवर्तन करने की।

अध्याय-6
निर्णय-निर्माण पद्धतिः हरबर्ट साईमन
(Decision-Making Approach: Herbert Simon)

प्रबन्ध की सभी समस्याओं में से निर्णय करने की समस्या सबसे कठिन है। साधारण जीवन में भी कार्य करने से पहले यह निर्णय करना कि यह कार्य किया जाये अथवा न किया जाय, बहुत कठिन काम है। व्यक्ति परामर्श, मार्ग-दर्शन तथा सुझाव लेता रहता है तथा जब निर्णय लेता है तो बहुत देर हो जाती है और फिर उसका मन बदल जाता है। प्रायः यह हम सभी के साथ होता है। सर लाप गोर बूथ जो कभी भारत में ब्रिटिश हाई कमिशनर थे, ने ठीक ही कहा है कि निर्णय लेना कितना कठिन है, '"यदि आप यह कार्य सुगम समझते हैं तो सूट खरीदने पर ही इसको लागू कीजिए। किसी निश्चित दिन आप यह निर्णय करें कि आगामी डेढ़ वर्ष में आपको एक सूट की आवश्यकता है। विद्यमान सामाजिक परिस्थितियों को द ष्टि में रखते हुए सप्लाई करने वालों तथा उनके नमूनों, रंगों तथा स्टाइलों के बारे में विस्त त सूचना वांछित होगी इसलिए आप सभी दरजियों (उनको भी जो दूर हैं) से सूचना मंगवाएँगे तथा इसमें तीन मास लग जाएंगे जिसमें आपको तीन मास और लग जायेंगे। तब आप संक्षिप्त सूचना एक समिति मांगेंगे जिसमें आपको तीन मास और लग जायेंगे। तब आप संक्षिप्त सूचना एक समिति के सम्मुख प्रस्तुत करेंगे जिसमें आपकी पत्नी, भाई तथा अन्य मित्र सम्मिलित होंगे। इसमें एक वर्ष और लग जायेगा तथा निस्सन्देह आपने एक आदर्श सूट आदर्श कीमत पर लिया है किन्तु तब तक स्टाइल बदल चुका हेगा।"[1]

किन्तु यह कोई संगठन हमारी तरह निर्णय ले सकता है? क्या वे इस तरह निर्णय निलम्बित कर सकते हैं? व्यापार में तो निर्णय बहुत शीघ्र लेने पड़ते हैं, नहीं तो व्यापार चौपट हो जाता है। किन्तु लोक प्रशासन में निर्णय लेना इतना सुगम नहीं है जितना व्यापारिक जगत् में है चाहे इसमें निर्णय बहुत देर तक निलम्बित नहीं किये जा सकते। व्यापार में शीघ्र निर्णयों की आवश्यकता है किन्तु लोक प्रशासन में ठीक निर्णयों की आवश्यकता है। सर इरनेस्ट गोवरस (Sir Ernest Gowers) ने व्यापारिक तथा सरकारी निर्णयों के अन्तर की ओर विशेष ध्यान दिया है और कहा है कि व्यापारिक जगत् में यदि लिये गये दस निर्णयों में से सात अच्छे, दो न अच्छे न बुरे तथा एक बुरा निर्णय हो तो वर्ष के अन्त में शेयर होल्डरों के लिए परिणाम संतोषजनक होगा। दूसरी ओर, यदि सरकार यह प्रतिशतता प्राप्त करे तो अच्छे निर्णयों को उपेक्षित कर दिया जायेगा और ऐसे निर्णयों की, जो न अच्छे हैं न बुरे, बहुत आलोचना की जायेगी तथा बुरे निर्णय को विरोधी दल कभी द ष्टि से ओझल नहीं होने देंगें।

इसके अतिरिक्त, लोक प्रशासन में निर्णय लेने का कार्य बाह्य प्रभावों से मुक्त नहीं है। कई प्रकार के प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दबाव डाले जाते हैं तथा कई बार अनिच्छा से निर्णय लेना पड़ जाता है। दूसरी ओर, व्यापारिक प्रशासन स्वतंत्र होता है तथा अपने निर्णय स्वतंत्रता से ले सकता है।

प्रभावी प्रबन्ध, चाहे वह सरकारी संगठन का हो अथवा गैर-सरकारी संगठन का, का अन्ततः अर्थ यह होता है कि उस से संबंधित ठीक था उत्तरदायी निर्णय किये जाएँ। एक अच्छा नेता वह होता है जो निर्णय ले सके, जो इस समस्या को हल कर सके कि कोई विशेष कार्य किया जाए अथवा न किया जाये तथा जो निर्णय करने का उत्तरदायित्व सहर्ष स्वीकार कर सके। प्रायः यह देखा गया है कि आलोचना की स्थिति में मंत्री भी कई बार किये गये निर्णयों का उत्तरदायित्व स्वीकार नहीं करते तथा कैबिनेट के सामूहिक उत्तरदायित्व की आड़ लेते हैं। वस्तुतः उत्तरदायित्व का भार हम सहर्ष नहीं संभालते, कई तो इसे स्वीकार करने के लिए तैयार ही नहीं होते। निर्णय लेने लेने की क्षमता तथा इच्छा के बिना प्रबन्ध कार्य चलाना सम्भव नहीं है।

कोई भी मनुष्य त्रुटिरहित नहीं है। सभी निर्णय व्यक्तियों को पसन्द नहीं आ सकते। साइमन (Simon) के विचार में संगठन की सारी समस्या को सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्णय

लेने का कार्य अनिवार्यतः तार्किक (rational) नहीं है। "किसी संगठन के सदस्यों के केवल मशीनी यन्त्र नहीं समझा जाना चाहिए। उन्हें व्यक्ति समझा जाना चाहिए, जिनकी आवश्यकताएँ, उद्देश्य, प्रेरणाएँ होती हैं, जिनका ज्ञान सीमित होता है, सीख सकने की क्षमता तथा समस्याओं के हल करने की क्षमता सीमित होती है।" इसके, अतिरिक्त कई समस्याओं का समाधान करना होता है तब किसी कार्यकारी अधिकारी के लिए यह निर्णय करना कठिन होता है कि प्रत्येक निर्णय पर कितना समय लगेगा। वस्तुतः बहुत सी समस्याओं के लिए बहुत अल्प समय मिलता है। मार्च (March) के शब्दों में, "व्यापारिक संगठन के जटिल वातावरण में किसी कार्यकारी अधिकारी को निर्णय लेते समय तीन अवस्थाएँ पार करी पड़ती हैं:

१ अनेक समस्याओं में से किसी समस्या की ओर वह ध्यान दे;

२. उस समय की अनिश्चितता का समाधाना करने के लिये वह कितना समय, यत्न था धन लगाये; तथा

३. समस्या का क्या समाधान किया जाये।"

निर्णय का अर्थ
(Meaning of Decision)

शब्दकोश के अनुसार 'निर्णय' का अर्थ है "अपने मन में किसी विचार अथवा कार्रवाई के बारे में निर्धारित (determine) करना।" प्रस्तुत कई विकल्पों में से एक विकल्प चुनना होता है।" वस्तुतः निर्णय लम्बी सोच-विचार का निष्कर्ष है। टैरी के शब्दों में, "निर्णय प्रायः नीति द्वारा निर्धारित सीमाओं के अंतर्गत लिया जाता है। नीति अपेक्षाकृत विस्त त तथा कई समस्याओं को प्रभावित करने वाली होती है। इसके उलट निर्णय किसी विशेष समस्या से सम्बन्धित होता है तथा इसमें निरन्तरता नहीं होती"[2] किन्तु यह भी उल्लेखनीय है कि नीति स्वयं भी निर्णय का परिणाम है। निर्णय एक साधन है, अपने आप में साध्य नहीं है। उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए निर्णय लेने होते हैं; कई बार दोबारा निर्णय लेना पड़ता है। निर्णय स्थायी नहीं होते क्योंकि उन्हें परिवर्तित परिस्थितियों का ध्यान रखना पड़ता है। अब्राहम लिंकन द्वारा एक समिति के सम्मुख जनरल ग्रांट के पक्ष में कहे गए शब्द इसका सर्वोत्तम उदाहरण हैं। वह समिति जनरल ग्रांट की शिकायत कर रही थी। समिति के अध्यक्ष ने कहा, "राष्ट्रपति महोदय, आप जानते हैं कि जनरल ग्रांट कई निर्णय लेता है। वह एक के बाद दूसरा ठीक निर्णय लेता है और कई बिल्कुल गलत निर्णय लेता।" लिंकन ने शान्तिपूर्वक सुना और एक क्षण मौन रहने के बाद कहने लगा, "अध्यक्ष महोदय, आप ठीक कहते हैं किन्तु मेरे विचार में यदि वह एक गलत निर्णय लेता है, उसे शीघ्र ही ज्ञान हो जाता है, वह तुरन्त ही इसे बदल देता है। मैं उसे पदासीन रखने का प्रस्ताव रखता हूँ।"

निर्णय के निम्नलिखित तत्त्व (elements) हैं-

१ निर्णय लेना चयन की प्रक्रिया है तथा लक्ष्य सर्वोत्तम विकल्प चयन करना है;

२. निर्णय का उद्देश्य संगठन के प्रयोजनों को प्राप्त करना होता है;

३. निर्णय-निर्धारण में उपलब्ध विकल्पों का मूल्यांकन निहित है;

४. निर्णय-निर्धारण एक मानसिक प्रक्रिया है;

५. निर्णय-निर्धारण तर्कसंगत होता है।

परन्तु कभी-कभी निर्णय लेते समय इनमें से किसी तत्व को उपेक्षित कर दिया जाता है।

निर्णय लेने की प्रक्रिया में उठाये जाने वाले पग
(Steps in the Process of Decision Making)

निर्णय लेने की प्रक्रिया में उठाये जाने वाले पग निम्नलिखित हैं-

1. **समस्या की पहचान करना (Problem Identification):** एक तर्कशील निर्णय लेने की प्रक्रिया में सबसे पहला पग होता है समस्या की सही पहचान करना। एक कार्यपालक की समस्या की पहचान करने की योग्यता की तुलना एक डाक्टर द्वारा मानवीय समस्याओं की पहचान करने से की जा सकती है। परन्तु डाक्टर को इस बात का लाभ होता है कि वह

रोगी की जांच प्रयोगशाला में भी कर सकता है। परन्तु एक प्रशासकीय संगठन के कार्यपालक के पास ऐसी सुविधा नहीं होती। कई बार निर्णण लेने वाला विभिन्न प्रणालियों को ही कारण समझ लेता है तो वह अपने सही मार्ग से भटक जाता है, और जब वह आखिरकार (Symptoms) लक्षणों का इलाज करने लगता है, तो वह समस्या के कारणों को दूर करने में असफल हो जाता है। इस लिए यह आवश्यक है कि समस्या की सही पहचान की जाये और केवल उस के लक्षणों की पहचान करना ही काफी नहीं होगा। इस कदम पर निर्णय करने वाले को प्रासंगिक (Relevant) को असंगिठत (irrelevant) से अलग-करना चाहिए; तथा महत्वपूर्ण को गैर-जरूरी से भी अलग करना चाहिए इस निर्णय लेने वाले को समस्या का वर्णन सरल शब्दों में करना चाहिए। एक बार समस्या की सही पहचान हो गई तो फिर निर्णय लेने वाले के लिए इस को काफी हद तक हल करने के अधिक अवसर पैदा हो जायेंगे।

2. **समस्या का विश्लेषण (Problem Analysis):** अगला पग समस्या के विश्लेषण का है। यदि समस्या बड़ी है तो यही अच्छा रहेगा कि इसको कई भागों में बाँटकर इस का विश्लेषण किया जाये। इससे उसको हल करने में आसानी ही होगी। समस्या का वर्गीकरण भी किया जाना चाहिए। लक्षणों को समस्या से अलग किया जाये, समस्या का कारण, किस्म तथा उसकी प्रकृति का भी पता लगाया जाना चाहिए। समस्या से सम्बन्धित आंकड़े एकत्र किये जाये तथा उन का विश्लेषण किया जाए। इन आंकड़ों का मूल्यांकन करके उन्हें समस्या के लक्षणों तथा कारणों से सम्बन्धित किये जाये। इस से समस्या के प्रारम्भिक समाधान का विकास शुरू हो जायेगा।

3. **सम्भावित विकल्पों को निर्धारित करना (Determine Possible Alternative):** निर्णय लेने की प्रक्रिया में यह एक कठिन पग है। निर्णय लेने वाले को समस्या के सभी सम्भावित अथवा तर्क संगत समाधानों के लिए अपने दिमाग को खुला रखना चाहिए और उसे न केवल उन्हीं समाधानों के बारे में सोचना चाहिए जो उसके द्वारा पूर्व-निर्णीत अथवा उसे प्रिय हो। समस्या के पहले किये गये समाधानों के प्रभाव को कम करने के लिए यत्न किया जाए। समस्या के पहले किये गये समाधानों (Solutions) पर विचार करना बुरा नहीं, परन्तु फिर भी इस बात से बचाव ही करना चाहिए कि समस्या के पहले समाधान ही विचारों के केवल एक मात्र स्रोत हैं। नये विकल्पों को खोजने के लिए यह आवश्यक है कि सभी प्रकार के सम्भावित विकल्पों की सूची तैयार कर ली जानी चाहिए। वास्तव में विकल्प समाधान ही हमारा एकमात्र शस्त्र है, जिस से हम अपने अन्दाजों को क्रियात्मक रूप दे सकते हैं।

4. **विकल्पों के प्रभाव का मूल्यांकन करना (Evaluate the impact of Alternatives):** निर्णय करने वाला अब प्रत्येक विकल्प के प्रभाव का मूल्यांकन करता है। वास्तव में वह विभिन्न विकल्पों को लागू किये जाने पर उन के प्रभावों का अनुमान लगाता है। यदि निर्णय राष्ट्रीय महत्त्व का है तो सार्वजनिक सलाहकार समिति तथा दबाव समूहों के विचार भी जान लिए जाने चाहिएं। इस स्टेज पर निर्णय लेने वाले को निम्नलिखित चार पग उठाने चाहिए-

   (i) ***स्रोतों की पहचान करनाः*** समस्या को सुलझाने में सहायक हो सकने वाले जितने भी स्रोत हों उन की पहचान की जाये।

   (ii) ***विकल्प समाधानों को तैयार करनाः*** समस्या को हल करने के लिए स्रोतों के विभिन्न जोड़ (Combinations) तैयार करना। इस से समस्या के समाधान के लिए विभिन्न विकल्प तैयार हो सकेंगे।

   (iii) ***प्रत्येक विकल्प का परीक्षण करनाः*** प्रत्येक विकल्प का परीक्षण किया जाये। विश्लेषण द्वारा इस बात का पता लगाया जाये कि प्रत्येक विकल्प समस्या को पूरी तरह हल करेगा अथवा उसके कुछ भाग को हल करेगा? क्या वह समस्या को हमेशा के लिए हल करेगा अथवा कुछ समय के लिए? क्या यह व्यावहारिक हो सकेगा? इस पर कितना खर्च होगा? क्या हम इतना खर्च सहन कर सकेंगे? वे लोग जो इस के लिए उत्तरदायी होंगे तथा जो इससे सम्बन्धित होंगे क्या वे इसे स्वीकार करेंगे?

   (iv) ***प्रत्येक विकल्प के लाभों, खर्चों तथा खतरों की सूची तैयार करनाः*** क्या प्रत्येक विकल्प एक सुधार है? क्या लाभों तथा क्रिया पर आने वाले खर्चे को मापा जा सकता है? प्रत्येक विकल्प की सफलता की क्या विषमताएं (Odds) होंगी?

5. **एक विकल्प का चुनाव करना (Selection of an Alternative):** यह निर्णय करने की अन्तिम स्टेज होती है। अब निर्णय करने वाले को विभिन्न विकल्पों में से सर्वोत्तम विकल्प का चुनाव करना होता है। ऐसा करते समय निम्नलिखित चार बातों का ध्यान रखना चाहिए-

   (i) ***लाभों तथा खतरों की तुलना करना:*** निर्णय लेने वाले को अब अपनी क्रिया द्वारा प्राप्त होने वाले लाभों तथा उसमें आने वाले खतरों की तुलना करनी चाहिए। जिस विकल्प में उसे खतरों की अपेक्षा लाभ अधिक दिखाई देते हों, उसे उस विकल्प का चुना करना चाहिए।

   (ii) ***प्रयन्त में मितव्ययिता:*** उस विकल्प को चुना जाये जिस के लागे करने के लिए प्रयत्न कम करना पड़े तथा उसके परिणाम सबसे अधिक हों।

   (iii) ***समय के अनुसार:*** सही समय पर सही निर्णय लेना ही सब से कठिन कार्य है। पर निर्णय लेने वाले को यदि अपना निर्णय सफलता से लागू करना है तो उसे ठीक समय पर ही निर्णय ले लेना चाहिए। यदि उसने देर कर दी तो सफलता उसके हाथ नहीं लगेगी।

   (iv) ***मानवीय स्रोत:*** सभी स्रोतों में से सब से महत्वपूर्ण स्रोत है- मानवीय शक्ति क्योंकि वे मानव ही होंगे जो निर्णय को लागू करेंगे। इसलिए निर्णय लेने वाले को संगठन के अंदर तथा संगठन के बार ऐसे योग्य व्यक्तियों का पता लागाना होगा जो उसके निर्णय को कुशलतापूर्वक लागू कर सकें।

अच्छा निर्णय लेने में सहायक होने वाले तत्त्व
(Factors Helpful in Good Decision Making)

अच्छा निर्णय लेने में बहुत से तत्त्वों का हाथ होता है। निर्णय लेने वाले को एक योग्य, अच्छा तथा कुशल निर्णय लेने के लिए जो तत्व सहायक होते हैं, वह इस प्रकार हैं-

1. **क्रियाविधि को सरल बनाना (Simplification of Procedures):** लम्बी तथा जटिल क्रियाविधि, गैर-जरूरी नियम तथा विनियम पक्षपातीय झुकाव पैदा करते हैं। इस लिए यह जरूरी है कि कार्यविधि के उन्नत नियम स्थापित किये जायें तथा गैर-ज़रूरी नियमों तथा विनियामों को समाप्त किया जाये।

2. **बोर्ड की किस्म वाले संगठनों का प्रयोग (Use of Board Type Organisation):** बोर्ड की किस्म वाले संगठनों का प्रयोग मन मर्जी के निर्णय करने में कमी लाने में सहायक होता है। क्योंकि इस प्रकार के संगठन में सत्ता व्यक्तियों के समूह में बंटी होती है तथा प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे द्वारा पक्षपात को रोकने के लिए यत्न करता है।

3. **बाहरी दबाव की रक्षा (Protection from External Pressures):** कर्मचारियों को बाहरी दबाव से बचाना चाहिए, ताकि वे ठीक निर्णय कर सकें। मन्त्रियों, विधान मण्डल के सदस्यों, राजनीतिक दलों के नेताओं, कई सरकारी तथा गैर-सरकारी संगठनों द्वारा सरकारी कर्मचारियों पर प्रभाव डाले जाते हैं। यह तरीका बहुत गलत है। इससे सरकारी कर्मचारियों की स्वतंत्रता तथा उनमें पहलकदमी (Initiative) करने की भावना समाप्त हो जाती है। इसलिए सरकारी कर्मचारियों को बाहरी दबाव से बचाने के लिए हर प्रकार का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

4. **सलाहकार संस्थाओं का प्रयोग (Use of Consultative Bodies):** निर्णय लेने से पहले सलाहकार संस्थाओं से सलाह लेना भी लाभदायक सिद्ध होता हैं ये हमें विभिन्न प्रकार की सूचनाएं प्रदान करती हैं। ये किसी विशेष नीति से सम्बन्धित विभिन्न द ष्टिकोण पेश करती हैं। अन्तिम निर्णय लेने से पहले इन सुझावों पर विचार किया जा सकता है।

5. **पक्षपात का परिहार करना (Avoid Bias):** निर्णय करते समय पक्षपात से काम नहीं लेना चाहिए। निर्णय लेने वाले को खुले ह्रदय तथ पूर्ण सोच-विचार से निर्णय लेना चाहिए। उसे अपने तथा किसी व्यक्ति विशेष के हितों तथा लाभों को ध्यान में रख कर निर्णय नहीं करना चाहिए। उसे पक्षपातीय भावना का परिहार करना चाहिए।

6. **निर्णयों का प्रचार (Publicity of Decisions):** निर्णय लेने में बहुत से पक्षपातीय झुकावों को रोका जा सकता है, यदि निर्णय करने के योग्य कारणों का प्रचार करने का उपबन्ध किया जाये। ऐसा प्रचार शासन को विनियमित रखने वाली गतिविधियों के सम्बन्ध में विचार किया जाना अति आवश्यक है। उदाहरणतया, यदि लोगों को सरकारी रिकार्ड

की जांच करने की अनुमति प्राप्त हो तथा सरकारी कर्मचारियों को अपनी स्थिति स्पष्ट करने के लिए कहा जाए, तो वे निर्णय करते समय अधिक चेतन रहेंगे। गलत निर्णय करने पर लोग ही उनका पीछा नहीं छोड़ेंगे।

7. **शिक्षा तथा प्रशिक्षण (Education and Training):** योग्य तथा सही निर्णय लेने के लिए यह अति आवश्यक है कि सरकारी कर्मचारियों को इस से सम्बन्धित शिक्षा तथा प्रशिक्षण देने के लिए अच्छे ढंग की व्यवस्था की जाये। हमारी सरकार ने सरकारी अधिकारियों के लिए प्रशिक्षण के कई प्रकार के प्रबन्ध किये हैं। परन्तु यह पर्याप्त नहीं है तथा न ही इन के अन्तर्गत सभी सरकारी अधिकारी एवं कर्मचारी आते हैं। जो नीति को लागू करने में भाग लेते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि ऐसे प्रशिक्षण कार्यक्रमों का विस्तार किया जाये, ताकि सरकारी कर्मचारी अधिक योग्यता, अनुभव या दक्षता से निर्णय ले सकें और उन्हें देश के सामूहिक विकास के लिए कुशलतापूर्वक लागू कर सकें।

हरबर्ट साईमनः निर्णय निर्माण पद्धति
(Herbert Simon's Decision Making Approach)

1945 में हर्बर्ट ए. साइमन ने प्रशासनिक व्यवहार (Administrative Behaviour) नाम से एक पुस्तक का प्रकाशन किया जो एक प्रशासनिक संगठन में निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया का अध्ययन है। इसमें कुल 11 अध्याय हैं। अध्याय II एवं III में कुछ प्रविधीय मसलों पर विचार किया गया है ताकि मानवीय तार्किक चयन की संरचना का विश्लेषण किया जा सके। अध्याय IV और V में तार्किक चयन का सिद्धान्त रचा गया है ताकि एक संगठनात्मक पर्यावरण में निर्णय-निर्माण पर पड़ने वाले प्रभावों को समझ सकें। अध्याय VII और X में इन प्रभाव प्रक्रियाओं का विस्तार से अध्ययन किया गया है ताकि निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया पर, संगठन के प्रभावों पर विचार किया जा सके। अध्याय XI में यह देखा गया है कि इस विश्लेषण का उपयोग संगठनात्मक संरचना में किस प्रकार किया जा सकता है। इसमें व्यक्ति एवं संगठन के मध्य अभिप्रेरणात्मक कड़ी प्रस्तुत की गई है ताकि यह स्पष्ट किया जा सके कि संगठनात्मक प्रभाव और विशेष रूप से सत्ता के प्रभाव मानवीय व्यवहार के रूप में निर्धारण में कितनी प्रभावशाली शक्तियाँ हैं।

साइमन की पुस्तक 'मानवीय व्यवहार' में प्रशासनिक व्यवहार सम्बन्धी जो विषय सामग्री उपलब्ध होती है उसका वर्णन हम संक्षेप में निम्नलिखित प्रकार से कर रहे हैं।

प्रशासनिक व्यवहार के अध्ययन का महत्त्व
(Importance of the Study of Administrative Behaviour)

प्रो. साइमन का मत है कि संगठन का अध्ययन करते समय ध्यान का मुख्य केन्द्र-बिन्दु कार्यरत कर्मचारी होता है। क्योंकि संरचना की सफलता इसमें उसकी कार्य-सम्पन्नता के आधार पर जाँच की जाएगी।[1] यदि हम किसी संगठन की संरचना और कार्य के विषय में अन्तर्दृष्टि चाहते हैं तो इसके लिए श्रेष्ठ तरीका यह है कि जिस प्रकार संगठन में तथा संगठन द्वारा इन कर्मचारियों के निर्णयों एवं व्यवहार को प्रभावित किया जाता है उस तरीके का विश्लेषण करें। संगठन के उद्देश्यों को पूरा करने का वास्तविक कार्य नीचे स्तर के कार्यकर्त्ताओं के द्वारा किया जाता है। किसी भवन का निर्माण कोई इन्जीनियर या ओवरसीयर के हाथों नहीं वरन् मिस्त्री के हाथों होता है। इसलिए प्रशासनिक पदसोपान में निम्नस्तम्भ स्तर पर कार्य करने वाले व्यक्ति किसी प्रकार कम महत्वपूर्ण नहीं होते वरन् उसका संगठन की लक्ष्य प्राप्ति में उल्लेखनीय योगदान रहता है। इस निम्नतम या कार्यात्मक स्तर ने ऊपर वाले कर्मचारियों का भी महत्व होता है। वे संगइन में उल्लेखनीय भूमिका अदा करते हैं। यह सच है कि मेजर द्वारा युद्ध क्षेत्र में वास्तविक बन्दूक चलाने वाले से किसी प्रकार से कम नहीं होता। जब प्रशासनिक प्रक्रिया का इस रूप में वर्णन करते हैं तो यह सामाजिक मनोविज्ञान की एक समस्या बन जाती है जिसमें कार्यकर्ताओं के एक समूह पर पर्यवेक्षकों का एक समूह और रखना पड़ता है जा कि कार्यशील समूह को समन्वित एवं प्रभावशाली व्यवहार की ओर मोड़ सके।

व्यवहार करते समय कर्त्ता द्वारा चयन किया जाता है। साइमन ने लिखा है कि समस्त व्यवहार कर्ता के लिए तथा उन लोगों के लिए जिन पर वह प्रभाव एवं सत्ता का प्रयोग करता है, भौतिक रूप से सम्भव समस्त कार्यों में से विशेषण कार्यों का चेतन अथवा अचेतन रूप से चयन करना है। कार्यों का चयन कभी तो अचेतन और अनजाने रूप में होता है तथा कभी यह नियोजित अथवा निर्धारित क्रिया के रूप में होत है।

व्यवहार पर मूल्यों एवं तथ्यों का प्रभाव

(Influence of Values and Facts on Behaviour)

अधिकांश मानवीय व्यवहार ओर विशेष रूप से प्रशासनिक संगठनों में मानवीय व्यवहार उद्देश्यपूर्ण होता है जो लक्ष्य अथवा उद्देश्यों के प्रतत उन्मुख होता है। यह उद्देश्यपूर्णता उसके व्यवहार के प्रति मान में एकीकरण लाती है जिसके अभाव में प्रशासन अर्थहीन होता है। प्रशासन का अर्थ कार्य का सम्पन्न करना होता है तो 'उद्देश्य' क्या कार्य किया जाना चाहिए इसके लिए एक प्रमुख मापदण्ड त्रस्त करता है। विशिष्ट कार्यों को प्रशासित करने वाले छोटे-छोटे निर्णय अपरिहार्य रूप से उद्देश्य एवं प्रणाली से सम्बन्धित व्यापक निर्णयों को प्रभावित करते हैं। चलने वाला व्यक्ति एक कदम उठाने के लिए अपने पाँव की माँस-पेशियों को सक्रिय करता है; वह अपने उद्देश्य की ओर आगे बढ़ने के लिए एक कदम उठाता है; वह अपने उद्देश्य का लक्ष्य 'डाक के डिब्बे' तक उसमें पत्र डालने जाता है; वह पत्र इसलिए डालता है ताकि कुछ सूचना अन्य व्यक्ति को दे सके आदि-आदि। इस प्रकार मानवीय व्यवहार चयन की एक न टूटने वाली श्रंखला है। यह तब तक चलती है जब तक कि अन्तिम लक्ष्य तक नहीं पहुंच जाते। जो निर्णय अन्तिम लक्ष्य के चयन की आरे ले जाते हें उनको मूल्यात्मक निर्णय कहा जाता है तथा जो निर्णय इस लक्ष्य को कार्यान्वित कराते हें वे तथ्यात्मक निर्णय कहे जाते हैं। कभी-कभी एक ही उद्देश्य में मूल्य तथा तथ्यात्मक तत्व मिला दिए जाते हैं।

प्रशासनिक व्यवहार उद्देश्यपूर्ण (Purposive) तथा तार्किक (Rational) होता है। जहाँ तक सामान्य लक्ष्य अथवा उद्देश्य से निर्देशित है वहाँ तक यह उद्देश्यपूर्ण तथा जब यह पहले से चयनित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उचित विकल्पों का चयन करता है वहाँ तक यह तार्किक हैं वास्तविक व्यवहार में प्रत्येक निर्णय एक प्रकार से समझौता होता है। अन्तिम रूप से जिस विकल्प का चयन किया जाता है। वह लक्ष्य की पूर्ण प्राप्ति को कभी सम्भव नहीं बनता किन्तु वह तत्कालीन परिस्थितियों में उपलब्ध सर्वश्रेष्ठ समाधान मात्र नहीं बनता। किन्तु वह तत्कालिन परिस्थितियों में उपलब्ध सर्वश्रेष्ठ समाधान मात्र होता हे। पारिस्थितिक स्थितियाँ अपरिहार्य रूप से उपलब्ध विकल्पों को सीमित करती हैं।

प्रशासनिक व्यवहार निर्णय प्रक्रिया

(Administrative Behaviour is Decisional Processes)

प्रशासनिक क्रिया एक सामूहिक क्रिया है। इसको सम्पन्न करने के लिए संगठित कार्य आवश्यक है जिन तकनीकों से यह कार्य-सम्पन्नता सुविधाजनक बनती है उनको प्रशासनिक क्रिया कहते हें। उल्लेखनीय है कि प्रशासनिक क्रियाएँ अथवा व्यवहार मूल रूप से निर्णय निर्माण की प्रक्रिया है। इसके अन्तर्गत संगठन के सदस्यों के निर्णयों में कुछ तत्व डाले जाते हैं, इन तत्वों के चयन एवं निर्धारण के लिए नियमित संगठनात्मक प्रक्रिया स्थापित की जाती हैं तथा इनकी सूचना से गठन के सम्बन्धित सदस्यों तक पहुंचाई जाती हैं संगठन व्यक्ति से उसके स्वयं निर्णय लेने की कुछ स्वायत्तता को छीन लेता है तथा इसके स्थान पर संगठनात्मक-निर्णय प्रक्रिया की स्थापना करता है।

प्रशासनिक व्यवहार जो कि एक निर्णय प्रक्रिया है, वास्तव में समन्वय विशेषज्ञता और दायित्व से युक्त होता है। समन्वय इसलिए जरूरी है क्योंकि सामूहिक व्यवहार में केवल सही निर्णय लेना ही पर्याप्त नहीं है वरन् निर्णय उस समूह के सभी सदस्यों द्वारा पारित भी होने चाहिए। सत्ता या प्रभाव के माध्यम से यह कार्य किया जा सकता है। कार्यात्मक स्तर पर विशेषज्ञता का लाभ प्राप्त करने की द ष्टि से एक संगठन का कार्य इस प्रकार विभाजित किया जाता है ताकि सभी विशेषज्ञता पूर्ण प्रक्रियाएँ वैसी योग्यता रखने वाले लोगों द्वारा ही सम्पन्न की जा सकें। इसी प्रकार निर्णयों में योग्यता लाने की द ष्टि से निर्णय लेने का उत्तरदायित्व भी इस प्रकार आबंटित किया जाए ताकि विशेष योग्यता की अपेक्षा वाले निर्णय ऐसी योग्यता रखने वालों द्वारा ही लिए जाएँ। प्रत्येक संगठन के सदस्यों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे समूह द्वारा निर्धारित मानकों का अनुशीलन करें। अधीनस्थ सेवीवर्ग की स्वेच्छा उन नीतियों द्वारा सीमित हो जाती है जो प्रशासनिक पदसोपान में शीर्ष पर स्थित लोगों द्वारा बनाई जाती है।

प्रशासनिक व्यवहार पर सगंठनात्मक प्रभाव

(Organisational Influence over Administrative Behaviour)

संगठन में उच्च स्तरों पर लिए गए निर्णयों का प्रभाव केवल तभी हो सकता है जबकि उनको नीचे तक संचारित किया जाए। यह प्रभाव दो प्रकार का होता है। प्रथम, कार्य करने वाले कर्मचारी में स्वमेव द ष्टिकोण, आदतों एवं ऐसी मनःस्थिति की स्थापना

की जाती हैं ताकि वह संगठन, के लिए उपयोगी निर्णय ले सके। दूसरे, संगठन में अन्य कहीं लिए गए निर्णयों को कार्य करने वाले कर्मचारियों को प्रभावित करने की द ष्अि से सत्ता का विशेष महत्व है। जब कोई अधीनस्थ कर्मचारी अपने उच्च अधिकारी के निर्णयों का अनुशीलन करता है तो वह एक से उसकी सत्ता से निर्देशित होता है। सत्ता का प्रयोग करते समय यह आवश्यक नहीं कि उच्च अधिकारी अधीनस्थ को समझाकर प्रभवित करे किन्तु वास्तविक व्यवहार में सुझाव एवं समझाने-बुझाने की कार्यवाही चलने लगी है। सत्ता का प्रयोग ऊपर, नीचे तथा अगल-बगल में होता है। सत्ता का एक औपचारिक रूप भी विकसित हो जाता है। जो इस संगठन के दिन-प्रतिदन के कार्यों में सहयोग करता है। औपचारिक सत्ता मुख्य रूप से विवादों के निपटारे के लिए सुरक्षित करती है।

साइमन का कहना है कि मानवीय व्यवहार की यह प्रभावी विशेषता है कि एक संगठित समूह के सदस्य स्वयं को इस समूह के साथ समरूप बना लेते हैं। निर्णय लेते समय संगठन के प्रति स्वामीभक्ति से प्रभावित होकर वे कार्य के विकल्पों में से चयन करने में अपने कार्यों के संगठन पर होने वाले परिणामों का विचार करते हैं। जब कोई व्यक्ति एक कार्य इसलिए करने का निर्णय लेता है कि वह भारत के लिए कल्याणकारी है तो वह स्वयं को भारत के साथ एक रूप कर लेता है। राष्ट्र, वर्ग या संगठन के प्रति एक रूप होना आधुनिक समाज की संरचना में मौलिक महत्व की बात है। एकरूपता का आभास या संगठनात्मक स्वामिभक्ति प्रशासन में महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करती है। इसके कारण निर्णय लेना तथा व्यवहार करना सरल तथा सुनिश्चित बन जाता है अन्यथा प्रत्येक निर्णय लेना तथा व्यवहार करना सरल तथा सुनिश्चित बन जाता है अन्यथा प्रत्येक निर्णय के समय समस्त मानवीय मूल्यों पर विचार करना पड़े। मूल्यों के सीमित क्षेत्र पर केन्द्रीकृत होना इसलिए भी मूलभूत है ताकि प्रशासन को उसके निर्णयों के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सके।

प्रशासनिक व्यवहार के औचित्य का मापदण्ड मुख्य रूप से कार्यकुशलता होती है। यह सभी तर्कपूर्ण व्यवहारों पर लागू होता है। कार्यकुशलता का अर्थ संक्षेप में यह है कि छोटा से छोटा रास्ता अपनाया जाए, सस्ते साधन अपनाए जाएँ ताकि लक्ष्य प्राप्ति में समय और साधन दोनों कम से कम लगे। संगठन के सदस्यों पर पड़ने वाला प्रभाव मुख्यतः अनौपचारिक प्रकृति का होता है। सूचना एवं परामर्श के माध्यम से सम्पूर्ण संगठन की सभी दिशाओं में प्रभाव डाला जाता है।

संगठनात्मक स्वामिभक्ति एवं कार्यकुशलता के मापदण्डों की भाँति प्रशिक्षण द्वारा भी संगठन के निर्णय एवं प्रशासनिक व्यवहार को प्रभावित किया जाता है। प्रशिक्षण द्वारा एक कर्मचारी को स्वयं निर्णय लेने के लिए तैयार किया जाता है। इसमें सत्ता एवं परामर्श के निरन्तर प्रयोग की आवश्यकता नहीं रहतीं प्रशिक्षण सेवाकालीन अथवा सेवा पूर्व दोनों प्रकृतियों का हो सकता है जब अनेक निर्णयों में एक जैसे तत्व निहित होते हें तो उस विषय में कर्मचारी को प्रशिक्षण प्रदान किया जाता हैं प्रशिक्षण द्वारा प्रशिक्षणार्थी को आवश्यक तथ्य पिए जाते है। उसके चिन्तन हेतु एक सदंर्भ दिया जाता है, उसे मान्य समाधान प्रस्तुत किए जाते हैं तथा उन मूल्यों का आरोपण किया जाता है जो निर्णय लेते समय ध्यान में रखे जाने चाहिए।

प्रशासन में निर्णय लेने का स्थान

साईमन के लिए प्रशासन "कार्य कराने" की कला है। उन्होंने उन प्रक्रियाओं तथा विधियों पर बल दिया जिनसे कार्यवाही सुनिश्चित हो। वह कहते हें कि प्रशासनिक विश्लेषण में उस चयन पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है जो कार्यवाही से पहले किया जाना है। "वस्तुतः कार्यवाही" की अपेक्षा "क्या करनी है" के प्रश्न के निर्धारण पर उचित ध्यान नहीं मिला निर्णय लेना चयन की वह प्रक्रिया है जिस पर कार्यवाही आधारित होती है। साईमन ने इस ओर ध्यान दिलाया है कि इस आयाम को भली प्रकार समझने के अभाव में, प्रशासन का अध्ययन अधिकांश रूप में अपर्याप्त रहेगा कयोंकि यही संगठन में व्यक्ति के व्यवहार का सुस्थिर करता है।

व्यवहारवादी उपागम में, कार्यवाही से पूर्व की प्रक्रिया को समझने का प्रयास किया जाए इसे निर्णय लेने की प्रक्रिया के नाम से जाना जाता है। निर्णय लेने की आवश्यकता उस समय उत्पन्न होती है जब व्यक्ति के पास किसी कार्य को करने के लिए बहुत से विकल्प हाते हैं। परन्तु व्यक्ति को छटनी की प्रक्रिया के माध्यम से केवल एक ही विकल्प चुनना होता हैं अतः निर्णय-निर्माण अनेक विकल्पों का हटाकर एक विकल्प पर लाने की प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया गया है। मानव की बुद्धिमत्ता इसमें है कि वह ऐसे विकल्प का चुनाव करे जिससे अधिकतम सकारात्मक तथा न्यूनतम नकारात्मक

परिणाम निकले। किसी संगठन के प्रयत्नों पर की कुशलता केवल किसी संगठन द्वारा एक कार्य के कारगर रूप से सम्पन्न करने पर ही निर्भर नहीं करती बल्कि यह उन सिद्धांतों पर भी निर्भर है जो सही निर्णय-निर्माण सुनिश्चित करें जो बदले में कार्य की सफलता का निर्धारण करते हैं।

किसी भी संगठन में कार्योत्पादक स्तर से ऊपर के लोग महत्वपूर्ण समझे जाते हैं क्योंकि उन्हें निर्णय लेने के अधिक महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करने पड़ते हैं। उन्हें संगठनात्मक लक्ष्यों या उद्देश्यों को प्राप्त करने में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करना पड़ता है। कार्मिकों के व्यवहार को प्रभावित करने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका है। उदाहरण के लिए सिपाही युद्ध के मैदान में लड़ते हैं और अपने स्तर पर कुछ निर्णय भी लेते हैं परन्तु जनरल द्वारा बनाई गई व्यापक नीति (Strategy) ही युद्ध का परिणाम निर्धारित करती है। इसी प्रकार मोटर उद्योग में असैम्बली लाईन के कारीगरों द्वारा कार बनाई जाती है।

प्रशासनिक व्यवहार में तार्किकता
(Rationality in Adminsitrative Behaviour)

फ्रायड के बाद व्यवहारवादी वैज्ञानिकों की अतीत कालीन संतति द्वारा यह प्रमाणित करने का प्रयास किया गया कि व्यक्ति उतना तार्किक नहीं होता जितना कि यह समझा जाता है। बाद की संततियों ने इसके विपरीत इस बात पर जोर दिया कि व्यक्ति तार्किक होता है। प्रत्येक प्रशासक यह प्रयास करता है कि वह सही निर्णय ले। प्रशासनिक निर्णय का सही होना एक सापेक्षित बात है। वह तब सही है जबकि निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति के लिए सही साधनों का चयन करता हो। एक तर्कशील प्रशासक इन प्रभावशाली साधनों के चयन से सम्बन्ध रखता है। निर्णय की प्रक्रिया में उन विकल्पों को चुना जाता है जो वाँछित लक्ष्यों पर पहुंचने के सही साधन होते हैं। लक्ष्य स्वयं भी प्रायः अन्तिम उद्देश्य के लिए साधन मात्र ही होते हैं। इस प्रकार उद्देश्यों की एक श्रंखला अथवा पदसोपान होता है। तार्किकता (Ratonality) का अर्थ साधन-साध्य की कड़ियों की रचना करना है। मनोवैज्ञानिक स्तर पर भी साधन-साध्य सम्बन्ध व्यवहार को एकीकृत करने की चेष्टा करते हैं। साधन तथा साध्य का पदसोपान जिस प्रकार व्यक्ति के व्यवहार की विशेषता है उसी प्रकार यह संगठन के व्यवहार की भी विशेषता है।

प्रत्येक क्षण में व्यक्ति या संगठन के सम्मुख वैकल्पिक व्यवहारों की बहुत बड़ी संख्या होती हैं इनमें से कुछ तो व्यक्ति के चतना पटल पर होते हैं और कुछ नहीं होते। चयन अथवा निर्णय का अर्थ यह है कि इनमें से प्रत्येक क्षण के लिए एक व्यवहार को छाँट लिया जाता हे। कुछ सयम तक व्यवहार का निर्धारित करने वाली निर्णयों को ऐसी श्रंखला को रणनीति (Strategy) कहा जाता है। प्रत्येक 'रणनीति' के अपने कुछ सम्भावित परिणाम होते हैं। तार्किक निर्णय का कार्य ऐसी रणनीति का चयन करना है जो अपेक्षित परिणामें की द ष्टि से पसन्द की जाती है। निर्णय की प्रक्रिया में तीन कदम होते हैं। तार्किक निर्णय का कार्य ऐसी निर्णय का चयन करना है जो अपेक्षित परिणामों की द ष्टि से पसन्द की जाती है। निर्णय की प्रक्रिया में तीन कदम होते है- पहले सभी वैकल्पिक रणनीतियों की सूची बनायी जाती है, दूसरे, प्रत्येक रणनीति के सभी परिणामों का निर्धारण किया जाता है तथा तीसरे, इन परिणाम पुँजों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। एक बार जब एक रणनीति अपना ली जाती है तो उसे बदल कर दूसरी रणनीति अपनाया जाना उचित नहीं होता क्योंकि समय का बड़ा महत्व होता है। उदाहरण के लिए, यदि एक व्यक्ति डाक्टर बनने के लिए अपने जीवन के सात वर्ष प्रशिक्षण में व्यतीत किए और दस वर्ष उसके व्यवहार में लगा दिए गए तो इसके बाद उसके यह सोचने का प्रश्न नहीं उठता कि उसे डाक्टर बनाना चाहिए, अथवा इन्जीनियर बनाना चाहिए। यही बात प्रशासनिक व्यवहार पर लागू होती है।

प्रशासनिक व्यवहार में ज्ञान की महत्वपूर्ण भूमिका है। ज्ञान के द्वारा यह निर्धारित होता है कि किन वैकल्पिक रणनीतियों से कौन से परिणाम प्राप्त होंगे। कोई व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से अपने कार्यों के परिणामों को नही जान सकता। वह भविष्य के परिणामों की अपेक्षा कर सकता है। ये अपेक्षाएँ ज्ञातअनुभवात्मक सम्बन्धों तथा वर्तमान स्थिति के बारे में सूचना पर आधारित होते हैं। उदाहरण के लिए सेवीवर्ग के चयन की प्रशासनिक निर्णय प्रक्रिया का उल्लेख किया जा सकता है। इसमें प्रत्येक प्रत्याशी की स्थिति के बारे में परीक्षाओं से, सेवा मूल्याँकन से तथा अन्य साधन स्रोतों से आँकड़े एकत्रित किए जाते हें। इन आँकड़ों पर कौन सा प्रत्याशी सबसे सन्तोषजनक कार्य करेगा। यदि भविष्यवाणी सही हैं तो सही निर्णय लिया जा सकेगा।

गैर सरकारी संगठनों में निर्णय लेने की समस्या सरकारी प्रभिकरणों की अपेक्षा अधिक सरल होती है। गैर-सरकारी संगठनों में केवल उन्हीं परिणामों को ध्यान में रखा जाता है जो संगठन को प्रभावित करते हैं जबकि सरकारी अभिकरण में निर्णयों

को सामाजिक मूल्यों के प्रकाश में देखा जाता है। उदाहरण के लिए जब एक गैर-सरकारी निगम का अध्यक्ष अपने किसी सम्बन्धी को फर्म में पद सौंपना चाहता है तो उसे यह देखना होगा कि नियुक्ति का फर्म की कार्य-कुशलता पर क्या प्रभाव पड़ेगा। किन्तु यदि उसी पद पर लोक सेवा में नियुक्ति करनी हो तो उसे यह देखना होगा कि इस कार्य का लोक सेवा में अवसर की समानता के सिद्धान्त पर क्या प्रभाव पड़ेगा।

सगठन में व्यक्ति का व्यवहार सामूहिक प्रकृति का होता है इसलिए कोई निर्णय लेते समय संगठन के सदस्य को अन्य सदस्यों के निर्णयों से भी प्रभावित होना पड़ता हैं प्रत्येक व्यक्ति को अपने कार्यो के परिणामों के बारे में सोचने के साथ साथ दूसरों के कार्यो पर भी विचार करना होता है। यह कारक सम्पर्ण प्रशासनिक व्यवहार की प्रक्रिया का एक मूलभूत तत्व है। प्रशासक 'क' को कोई रणनीति चुनने से पूर्व यह देखना होगा कि 'क' ने क्या रणनीति अपनायी है। प्रशासनिक कार्य एक प्रकार से टीमवर्क होता है। इसमें प्रत्येक सदस्य को अपना कार्य तो कुशलता से करना ही है साथ ही अन्य के कार्यों की अपेक्षा का ध्यान भी रखना है। सभी के कार्यों की अपेक्षा का ध्यान भी रखना है। सभी के कार्यों में समन्वय रहता है तथा प्रत्येक को दूसरों के नियोजित कार्यों की सूचना प्रदान की जाती है। समन्वय के अभाव में सहयोग प्रभावहीन बन जाता है तथा अपने लक्ष्य प्राप्त नहीं कर पाता।

प्रशासनिक व्यवहार की सीमाएँ

(Limits of the Administrative Behaivour)

किसी एक अलग-अलग व्यक्ति का व्यवहार तार्किकता की उच्च श्रेणी तक पहुँच जाए या असम्भव है। प्रत्येक व्यक्ति के सामने विकल्पों की संख्या इतनी अधिक रहती है तथा उसे प्राप्त सूचना इतनी व्यापक होती है कि वस्तुगत तार्किकता के करीब-करीब पहँचना भी असम्भव होता है। व्यक्तिगत चन कुछ 'प्रदत्तों' के परिवेश में होता है। इन प्रदत्तों (givens) दारा निर्धारित द्वारा निर्धारित सीमाओं के अन्तर्गत की व्यवहार को समायोजित किया जाता है।

प्रशासनिक व्यवहार की वस्तुगत वास्तविकता के लिए तीन बातों का होना आवश्यक है-

(क) तार्किकता के लिए आवश्यक है कि पूर्ण ज्ञान हो तथा प्रत्येक चयन के प्रत्याशित परिणामों का पूर्वानुमान हो। वास्तव में परिणामों का ज्ञान हमेशा अधूरा रहता है।

(ख) ये परिणाम भविष्य में प्राप्त होते हैं अतः कल्पनात्मक रूप से उनके साथ संलग्न मूल्यों का ध्यान रखा जाए। इन मूल्यों का अनुमान भी केवल अपूर्ण रूप से भी लगाया जाता है।

(ग) तार्किकता के लिए यह आवश्यक है कि सभी सम्भावित वैकल्पिक व्यवहारों में से चयन किया जाए। वास्तविक व्यवहार में इन सभी सम्भावित व्यवहारों में से केवल कुछ ही दिमाग में आ पाते हैं। इन कारणों से प्रशासनिक व्यवहार की तार्किकता सीमित हो जाती है।

प्रशासनिक सिद्धान्त का सम्बन्ध मूल रूप से मानवीय सामाजिक व्यवहार के तार्किक एवं गैर-तार्किक पहलुओं के बीच की सीमा-रेखा से होता है। प्रशासनिक क्षेत्र में यद्यपि मानवीय व्यवहार तार्किक होता है किन्तु उसकी यह तार्किकता सीमित है और इसीलिए संगठन तथा प्रशासन के उपयुक्त सिद्धान्त के लिए यहाँ स्थान रहता है।

प्रशासनिक व्यवहार को समझने की द ष्टि से यहाँ आर्थिक व्यवहार के साथ उसकी तुलना कर ली जाय तो उचित होगा। साइमन ने आर्थिक व्यक्ति और उसके चचेरे भाई प्रशासिनक व्यक्ति के मध्य अन्तर किया है। उसके मतानुसार आर्थिक व्यक्ति उसके लिए उपलब्ध सभी विकल्पों में से सर्वश्रेष्ठ का चयन करता है जबकि प्रशासनिक व्यक्ति केवल सन्तोषजनक या ठीक-ठाक कार्य से ही सन्तुष्ट हो जाता है। आर्थिक व्यक्ति इसकी समस्त जटिलताओं के साथ वास्तविक दुनिया पर विचार करता है। प्रशासनिक व्यक्ति यह मानता है कि उसके द्वारा देखी गयी दुनिया एक मनमानी तथा भ्रम प्रसारित करती दुनिया का एक सरलीकृत प्रतिरूप है। वह इस सरलीकरण से इसलिए सन्तुष्ट हो जाता है क्योंकि वह मानता है कि वास्तविक दुनिया मुख्यतः खाली है। वास्तविक दुनिया के अधिकांश तथ्य उसके सामने आने वाली समस्याओं के सन्दर्भ में अधिक संगति नहीं रखते। अपनी इन दो विशेषताओं के कारण प्रशासनिक व्यक्ति सभी सम्भावित, व्यवहारिक विकल्पों की परीक्षा किए बिना ही अपना चयन कर लेता है। वह अपने निर्णय अपेक्षाकृत सरल नियमों के आधार पर ले लेता है।

अध्याय-7
व्यवस्थावादी उपागम
(System Approach)

एक व्यवस्था की परिभाषा वस्तुओं की व्यवस्था के उस सैट के रूप में दी जाती है जिससे वे इस प्रकार जुड़े या संबंधित हों कि एक एकीक त पूर्ण का निर्माण हो। एक व्यवस्था का निर्माण अंतरसंबंधित तथा अन्तनिर्भर तत्वों से होता है जो अंतःक्रिया करते समय एकात्मक "पूर्ण" बनाते हैं। परिभाषा के अनुसार किसी भी तथ्य या घटना (Phenomenon) का विश्लेषण व्यवस्थावादी द ष्टिकोण के आधार पर किया जा सकता है। व्यवस्थावादी उपागम इस सिद्धांत पर आधारित है कि संगठन के सभी अंग अन्तर्सबंधित, पारस्परिक रूप से जुड़े हुए तथा अन्तनिर्भर होते हैं। व्यवस्थावादी उपागम अपने आप में नया नहीं है। इस उपागम का सर्वप्रथम विकास प्राक तिक तथा भौतिक विज्ञानों में हुआ। यहां तक कि प्रशासनिक तथा प्रबंध-साहित्य में भी व्यवस्थावादी अवधारणाओं का प्रयोग इस सदी के प्रारंभिक भाग में टेलर तथा अन्य लोगों ने किया था। जो नई बात है वह सामाजिक विज्ञान साहित्य में इस उपागम पर दिया गया बल है, जिसमें ज्ञान-समन्वय अधिक उजागर रूप में अनुभव किया गया है। टॉलकॉट पारसंस ने सामाजिक संरचनाओं के अध्ययन में मुक्त व्यवस्था उपागम को अपनाया। इसी प्रकार मनोवैज्ञानिक अर्थशास्त्री, राजनीति शास्त्री तथा प्रशासनिक विश्लेषक तत्व या घटना (Phenomenon) के विश्लेषण में व्यवस्थावादी उपागम का प्रयोग करते रहते हैं। प्रशासनिक विश्लेषण में सामयिक वर्षो में व्यवस्थावादी उपागम का विस्त त रूप से प्रयोग हो रहा है। इस इकाई में आप बरनार्ड द्वारा की गई संगठन की सहकारी व्यवस्था की अवधारणा का अध्ययन करेंगे।

परम्परावादी एवं व्यवहारवादी द ष्टिकोण से भिन्न व्यवस्थावादी द ष्टि (Systems Approach) एक ऐसी द ष्टि है जो व्यवस्था को केन्द्रिय तत्व मानकर उसी के चारों ओर अपने अध्ययन को सार्थक बनाना चाहती है। व्यवस्थावादी द ष्टि लोक प्रशासन को ऐसा सुनियोजित एवं गतिशील यंत्र मानती है जिसका अध्ययन उसी प्रकार किया जाना चाहिए जैसे एक मोटरकार अथवा साइकिल का किया जा सकता है। कार का एक 'सिस्टम' होता है। किसी भी सिस्टम में निम्न विशेषताएं मोटे तौर पर देखी जा सकती है-

1. 'सिस्टम' एक उद्देश्य विशेष को ध्यान में रखकर अपनी संगठन-रचना एवं व्यूह रचना निर्धारित करता है।
2. 'सिस्टम' में विभिन्न अंग विशेषीक त ढंग से अलग-अलग कार्य करते हैं किन्तु उनका समग्र कार्य 'सिस्टम' को गति देना और उद्देश्य तक पहुंचना है।
3. 'सिस्टम' में प्रकार्यात्मक विशेषीकरण (Functional Specialisation) के साथ-साथ एक गंभीर प्रकार की अन्तर्निभरता होती है और एक अंग की आवश्यकता से अधिक दक्षता सारी व्यवस्था (System) को तोड़ सकती है। यदि डॉक्टर व्यवस्थावादी द ष्टिकोण (System Approach) के अनुसार न चले तो वह जुकाम तो ठीक कर सकता है पर तेज दवा से खून के 'सिस्टम' को जहरीला बना देगा।
4. 'सिस्टम' एक गतिशील (On going Process) प्रक्रिया होती है। उसमें क्रिया, प्रतिक्रियाएं और उनके अन्तर्सम्बन्ध अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। 'सिस्टम' की द ष्टि की यह मांग है कि समग्रता और प्रक्रिया को कुल मिलाकर उसकी प्रभावशाली द ष्टि से आंका जाए।
5. 'सिस्टम' के चलने के लिए कुछ आगत (Inputs) डालनी पड़ती है जो एक प्रक्रिया विशेष में निकलकर निर्गत (Output) में बदल जाती है। उदाहरणार्थ कार में आगत के रूप में डाला गया पेट्रोल कार के सिस्टम से गुजर कर यात्रा की दूरी के रूप में निर्गत देता है और इस प्रक्रिया में स्वयं नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार राजनीति और प्रशासन में कुछ आगत डाली जाती है जो सेवा, उत्पादन, सुरक्षा आदि के रूप में निर्गत बनकर व्यवस्था से निकलती है।

इस तरह व्यवस्थावादी द ष्टि ने केवल वर्णन है, न व्यवहार एवं आचरण का परीक्षण। यह लोक-प्रशासन के ढांचे और अधिकारियों को उस प्रक्रिया और अन्तर्निभरता के संदर्भ में देखती है जो नियोजित कार्य की भूमिका निभा रहे हैं। व्यवस्थावादी में योग्यता, प्रभावोत्पादकता और क्षमता तीन विशेषताओं का होना जरूरी है। यह आवश्यक नहीं कि तीनों ही एक साथ मिल सकें। एक अच्छे 'सिस्टम' में तीनों स्तर पर ये तीन प्रभाव मापे जा सकते हैं। लोक-प्रशासन का निम्नतम स्तर प्रभावशाली, मध्यस्तर कार्यकुशल और शीर्षस्तर स्वस्थ उपादेयता का पोषक होना चाहिए। लोक प्रशासन के प्रबन्ध क्षेत्र में आज व्यवस्थावादी-अध्ययनों एवं विश्लेषणों की धूम है। अध्ययन के विचार से यह द ष्टि व्यापक, अधिक उपयोगी एवं अधिक उद्देश्यपूर्ण एवं व्यवहारक पूरक है।

व्यवस्थावादी उपागम पर चैस्टर बरनार्ड के विचार (Views of Chester Barnard)

बरनार्ड को मूल रूप में एक व्यवहारवादी माना जाता है क्योंकि उन्होंने प्रबंध के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर बल दिया। उसके साथ ही उन्हें व्यवस्थावादी विचारक माना जाता है। वह संगठन को एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में देखते हैं। बरनार्ड, जिसने अपना जीवन व्यापार व्यवस्थाओं के प्रबंध में कार्य करके व्यतीय किया, इन्होंने दो पुस्तकें लिखीः द फंक्शंस ऑफ द एक्जीक्यूटिव (1938) तथा आर्गेनाइजेशन एण्ड मैनेजमेंट (1948)। इन पुस्तकों में सहकारी व्यवस्था के रूप में संगठन पर अपने विश्वसनीय विचार प्रस्तुत किए।

संगठन-तत्व को समझने में बरनार्ड का योगदान प्रशासनिक सिद्धांत के विकास की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों में से एक है। जिस सिद्धांत का 1930 के बाद के वर्षो में विकास तथा प्रकाशन किया गया, वह आज भी बहस तथा चर्चा का विषय है। इससे सिद्धांत की प्रासंगिकता तथा उसकी बौद्धिक तथा अवधारणात्मक सामर्थ्य का पता चलता है। बरनार्ड का सिद्धांत एक ओर तार्किकता के सिद्धांत और दूसरी ओर औपचारिकता और अनौपचारिक सिद्धांतों के सम्मिश्रण का मिलन बिन्दु और चरम बिंदु दोनों ही है। उनके सिद्धांत का उद्देश्य, जैसा कि स्वयं बरनार्ड ने कहा है, औपचारिक संगठनों में सहकारी व्यवहार का एक विस्त त सिद्धांत प्रदान करना है। इन सिद्धांतों का निर्माण पूर्ण रूप से शैक्षिक या सैद्धांतिक प्रयोग के आधार पर न होकर बरनार्ड ने विभिन्न महत्त्वपूर्ण पदों पर रहकर प्राप्त किये विविध अनुभवों के आधार पर हुआ। यही सम्मिश्रण बरनार्ड के योगदान का काफी महत्त्वपूर्ण बनाता है।

एक सहकारी व्यवस्था के रूप में संगठन (Organisation as a means of Co-operation)

बरनार्ड अपने सिद्धांत का विकास एक केंद्रीय प्रश्न को लेकर करता है-किन परिस्थितियों में व्यक्ति का सहकारी व्यवहार संभव है? वह संगठन को एक सहकारी व्यवस्था समझते हैं। उनका कहना है कि सहयोग का जन्म उन उद्देश्यों की प्राप्ति की आवश्यकता से होता है, जिन्हें वह अकेले प्राप्त नहीं कर सकता। परिणामस्वरूप, संगठन दूसरे लोगों के सहयोग की भरती बन जाता है। चूँकि बहुत से व्यक्ति सहयोगी व्यवहार में संलग्न होते हैं, यह निरंतर बदलता है तथा जटिल जीवन वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक कारक निरंतर पारस्परिक क्रिया करते हैं। सहयोगी संगठन को अपने अस्तित्व के लिए संगठन-उद्देश्य प्राप्त करने के अर्थ में प्रभावी एवं व्यक्तिगत उद्देश्यों को संतुष्ट करने में व्यावहारिक होना चाहिए। इस प्रकार संगठन तथा व्यक्ति दोनों महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं। कार्यपालिका संगठन को व्यक्ति की आवश्यकताओं तथा सामान्य वातावरण के अनुकूल ढालना चाहिए। प्रभावशीलता तथा कुशलता का यही चिन्तन उनके सहयोगी व्यवहार के सिद्धांत का मूल आधार है।

सहयोगी व्यवस्था के व्यक्ति एवं संगठन के बीच संबंध के संदर्भ में समझने की आवश्यकता है। बरनार्ड सबसे प्रथम व्यक्ति के गुणों को समझने का प्रयास करते हैं। वे गुण हैं (अ) गतिविधि या व्यवहार जो (ब) मनोवैज्ञानिक कारकों से उत्पन्न होता है तथा जिनमें (स) चयन की सीमित शक्ति जोड़ दी जाती है जिसका परिणाम (द) उद्देश्य होता है। ये चार मान्यताएँ या आधार बरनार्ड के विश्लेषण को निर्धारित करते हैं। वे तर्क देते हैं कि निजी चयन की शक्ति को बढ़ा-चढ़ाकर कहने की एक प्रव त्ति होती है। इसके अतिरिक्त कार्यवाही भी इस विश्वास पर आधारित होती है कि एक व्यक्ति की रूचि क्या है। बरनार्ड का कहना है इस प्रकार की मुक्त रूचि का कोई स्थान नहीं होता है। व्यक्तियों का अनुकूल न होना गलती से संगठन के प्रति विरोध समझा जाता है। वास्तव में यह विरोध नहीं होता, अपितु संरचनात्मक सीमा होती है जहाँ व्यक्ति प्रशिक्षण तथा अन्य प्रोत्साहनों का जन्म देती है जिनका लक्ष्य व्यक्तिगत व्यवहार तथा संगठनात्मक आवश्यकताओं के बीच समझौते को आसान बनाना होता है।

बरनार्ड मानव को दो स्तरों पर समझने का प्रयास करते हैं। एक संगठन के भीतर तथा दूसरे संगठन के बाहर। आंतरिक रूप में उन्हें "विशेष-सहयोगी व्यवस्था के भागीदार" माना जाता है। यहाँ उन्हें केवल कार्यात्मक पहलुओं के संदर्भ में देखा जाता है। तत्पश्चात् प्रयास निवैयक्तिक होते हैं और उन्हें औपचारिक भूमिकाओं के अनुरूप बैठाया जाता है। दूसरे द ष्टिकोण से किसी विशेष या निश्चित संगठन से बाहर व्यक्ति के अपने अलग गुण होते हैं। बरनार्ड के अनुसार ये दो पहलू समय के आधार पर विकल्प न होकर एक साथ उपस्थित होते हैं। इस प्रकार की स्थिति से एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होती है जब व्यक्ति के कार्य एक द ष्टिकोण से कार्यों की अवैयक्तिक प्रणाली का एक हिस्सा होते हैं तथा दूसरे द ष्टिकोण से व्यक्ति सहयोग व्यवस्था के बाहर तथा उसके विरूद्ध होते हैं। पारम्परिक रूप से विरोधी तथा टकराने वाले इन्हीं पहलुओं के गंभीर परीक्षण की आवश्यकता है यदि संगठन को एक सहयोगी व्यवस्था के रूप में समझना है, तो।

व्यक्तियों के व्यवहार की परीक्षा इस पूछताछ से शुरू होनी चाहिए कि व्यक्ति किसी सहयोगी व्यवस्था या संगठन में किस प्रकार शामिल हो। व्यक्ति दो आधारों पर चयन करता है-

1. उद्देश्य, इच्छाएँ, तात्कालिक मनोवेग (impulses), तथा
2. व्यक्ति के बाहरी विकल्प, इन किन्हीं श्रेणियों में से व्यक्ति के कार्य पर नियंत्रण या प्रभाव के फलस्वरूप ही संगठित प्रयास होता है।

ये मानव व्यवहार का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है। अपने ध्येय अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में ही व्यक्ति को उनका ज्ञान होता है। प्रभावशीलता तथा व्यावहारिकता या कुशलता की जड़ें ध्येयात्मक प्रक्रियाओं में है।

बरनार्ड का कहना है कि यह कार्य "प्रभावी" कहा जाता है जिससे एक निश्चित वांछित लक्ष्य की प्राप्ति हो गई हो और उस समय कार्य अव्यवहारिक कहलाता है, जब इसके परिणाम अनपेक्षित हों। फिर भी, यदि अनपेक्षित परिणाम व्यक्ति की इच्छाओं को संतुष्ट करते हैं जिसे कार्यवाही या कार्य ने आवश्यक रूप से तथा सीधे रूप से नहीं सोचा हो, तो कार्यवाही व्यवहारात्मक या कुशल कहलायेगी परंतु प्रभावी नहीं। इस प्रकार पहले से न सोचे गए परिणाम किसी कार्यवाही के कुशल या प्रभावी होने का निर्णय दे सकते हैं। अन्य शब्दों में वह कार्य प्रभावी होता है जो यह उस उद्देश्य के ध्येय को संतुष्ट करता है तथा उस लक्ष्य, जिसकी ओर गतिविधि निदेशित है, की प्राप्ति में सहायता किये बिना।

उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट है कि मानव स्वभाव के विषय में दो दार्शनिक प्रस्ताव है-

1. ऐसे दर्शन हैं जो मानव व्यवहार की सार्वभौमिक शक्तियों की प्रस्तुति के रूप में व्याख्या करती है। जो व्यक्ति को मात्र अनुकूल मानती हैं, जो विकल्प या इच्छा की स्वतंत्रता की मनाही करती है। जो संगठन तथा समाजवाद को आधारभूत बताती है।
2. ऐसी विचारधाराएँ हैं जो व्यक्ति को स्वतंत्र व्यक्तित्व बनाने का विकल्प प्रदान करती है, जो भौतिक तथा सामाजिक वातावरण को गौण तथा अतिरिक्त स्थिति तक अवनत करती है। बरनार्ड इन दो मतों में समझौता कराने का प्रयास न करके, "सहयोगी व्यवस्था" में इन दो मतों को स्पष्ट करना चाहते हैं। सहयोगी व्यवस्था से प्राप्त अनुभव से कोई भी समझ सकता है कि वे दोनों विचारधाराएँ किस प्रकार सहयोगी व्यवस्था की कार्य-प्रणाली पर निर्भर मानव के कार्यों को किस प्रकार प्रभावित करती है।

सहयोग के तथ्यों का परीक्षण करते हुए सहयोग के कारणों की खोज बरनार्ड भौतिक तथा क्रियात्मक कारणों में करते हैं। व्यक्ति सहयोग करते हैं क्योंकि अकेले वे अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हैं। उनकी शारीरिक सीमाएँ सहयोगी कार्यवाही की ओर उन्हें ले जाती हैं। सहयोगी तथ्यों को परखने की एक दूसरी द ष्टि है कि प्रक ति अकेले व्यक्ति पर ऐसे प्रतिबंध लगा देती है कि वह उन पर सहयोगी कार्यवाही के अतिरिक्त विजय नहीं पा सकता। उदाहरण के लिए, एक पत्थर है जिसे एक व्यक्ति उठाना चाहता है, परन्तु वह उठा नहीं सकता। उसकी यह असमर्थता दो द ष्टिकोणों से देखी जा सकती है। एक, वह इतना छोटा है कि पत्थर उठा नहीं सकता, दूसरे, पत्थर इतना बड़ा है कि उसे उठाया नहीं जा सकता। एक द ष्टिकोण से सीमा शारीरिक है तथा दूसरे से यह भौतिक है। यदि एक बार आदमी पत्थर को उठाने का लक्ष्य तय कर ले, तो दोनों ही प्रकार से सहयोग आवश्यक हो जाता है। सीमाएँ सदैव एक व्यक्ति द्वारा निर्धारित लक्ष्य या ध्येय से संबद्धित होती है।

ऊपर बताई गई परिस्थितियों जैसी स्थितियों में व्यक्तिगत विशेषताओं को समझने की आवश्यकता है। एक सहयोगी स्थिति जहाँ सभी व्यक्तियों की मनःशक्तियों को एक साथ रखा गया हो निजी मनःशक्तियों का स्वयं में शायद कोई अर्थ न हो। इसीलिए सभी सहयोगी गतिविधियों में कार्यवाही का लक्ष्य व्यक्ति से हटाकर सामूहिक लक्ष्यों से विस्थापित किया जाता है। चूंकि सहयोगी कार्यवाही के विभिन्न प्रकार के साध्य हो सकते हैं, इसलिए प्रत्येक प्रकार का कार्य सहयोग को सीमित करने वाली स्थिति बन जाता है। इसके अतिरिक्त वे लक्ष्य जिन्हें व्यक्ति प्राप्त करने का प्रयास करता है कभी स्थिर नहीं होते क्योंकि जैसे परिवेश या वातावरण बदलता है, लक्ष्य या ध्येय बदल जाते हैं जिसके लिए नये प्रकार की सहयोगी कार्यवाही की आवश्यकता होगी। इस प्रकार सहयोगी कार्यवाही की सीमाएँ न केवल व्यक्तियों की सीमाओं से उत्पन्न होती है, अपितु सहयोगी कार्यवाही की संरचना से भी उत्पन्न होती है। इस प्रकार सहयोगी कार्यवाही की प्रभावशीलता बदलते परिवेश तथा सहयोगी कार्यवाही का सामना करने की क्षमता पर निर्भर होती है। ऊपरी चर्चा से यह परिलक्षित होता है कि सहयोग दो अंर्तसम्बन्द्ध तथा अन्तनिर्भर प्रक्रियाओं पर निर्भर करता है-

1. वे जो परिवेश के संदर्भ में संपूर्ण सहयोग-व्यवस्था से संबंधित हैं, तथा
2. वे जिनका संबंध व्यक्तियों के बीच संतुष्टि पैदा करना या बांटना है। संगठनों या सहयोगी प्रक्रियाओं की अस्थिरता तथा असफलता इन प्रक्रियाओं के अलग-अलग वर्गो में से प्रत्येक की कमियों से तथा उनके सम्मिश्रण में कमियों से उत्पन्न होती है।

औपचारिक संगठन (Informal Organisation)

सहयोगी व्यवस्थाएँ औपचारिक संगठनों को जन्म देती है। संगठन की परिभाषा देते हुए बरनार्ड कहते हैं कि संगठन जानबूझकर समन्वित की गई व्यक्तिगत गतिविधियों या शक्तियों का नाम है। संगठन उस समय बनता है जब

1. परस्पर बातचीत करने में समर्थ लोग हों
2. जो कार्य में सहयोग देने के इच्छुक हों
3. जिससे साझा उद्देश्य प्राप्त हो सके।

एक संगठन के तत्व हैं-

1. संचार
2. तत्परता, तथा
3. साझा उद्देश्य।

इस बात को स्पष्ट करते हुए बरनार्ड कहते हैं कि संगठन की कार्यशक्ति सहयोगी व्यवस्था के लिए शक्ति प्रदान करने की लोगों की तत्परता पर निर्भर करती है। इस तत्परता के लिए वह विश्वास आवश्यक है कि उद्देश्य पूरा किया जा सकता है। परन्तु प्रभावशीलता के समाप्त होने पर योगदान करने की तत्परता लुप्त हो जाती है। तत्परता की निरंतरता उद्देश्य को पूरा करने की प्रक्रिया में व्यक्तिगत सहयोगियों द्वारा संतुष्टि पर भी निर्भर है। यदि संतुष्टि आवश्यक त्याग से अधिक न हो तो तत्परता लुप्त हो जाती है तथा संगठन-अकुशलता की स्थिति बन जाती है। यदि संतुष्टि त्याग से अधिक हो तो तत्परता निरंतर रहती है तथा संगठन निपुण और कुशल बना रहता है।

ऊपरी मान्यताओं को आधार बनाकर बरनार्ड टिप्पणी करते हैं कि एक संगठन का अस्तित्व बाहरी परिवेश के अनुकूल संचार, तत्परता एवं उद्देश्य के संयोजन पर निर्भर करता है। इसका बना रहना व्यवस्था के संतुलन बने बनपए रखने पर निर्भर करता है। संतुलन के आंतरिक तथा बाहरी दोनों आयाम है। आंतरिक संतुलन इन तीनों तत्वों के अनुपात पर निर्भर है। बाहरी संतुलन में दो शब्दावलियाँ हैं। पहली, संगठन की प्रभावशीलता जिसमें परिवेशीय स्थिति के साथ उसके उद्देश्य की प्रासंगिकता निहित है तथा दूसरे, इसकी कार्यकुशलता जो संगठन तथा व्यक्तियों के बीच परस्पर-परिवर्तन से बनी है। दो स्तरों पर संतुलन बनाये रखने में ही औपचारिक संगठन का स्थायित्व बना रहता है तथा उन्नति करता है।

सहयोगी व्यवस्थाओं तथा प्रक्रियाओं की गहरी समझ के लिए औपचारिक तथा अनौपचारिक संगठनों के बीच संबंध को समझना आवश्यक है। बरनार्ड का कहना है कि व्यवस्थित अंतक्रियाओं के आधार पर मनुष्यों के संबंध का ताना-बाना विकसित करना

मानव स्वभाव तथा सामाजिक प्रक्रिया का एक हिस्सा है। इससे प्रथाओं तथा संस्थाओं का विकास होता है। इनका सहयोगी व्यवस्थाओं पर अत्यधिक प्रभाव होता है। वास्तव में बरनार्ड का बल इस बात पर है कि सामाजिक प्रक्रियाओं के परिणाम के रूप में प्रत्येक अनौपचारिक संगठन औपचारिक संगठन को जन्म देता है तथा प्रत्येक औपचारिक संगठन, अंतवैयक्तिक संबंधों के कारण अनौपचारिक संगठन को जन्म देता है। संचार या संसक्ति तथा व्यक्तियों की ईमानदारी की रक्षा करने के साधन के रूप में अनौपचारिक संगठन औपचारिक संगठन के कार्य करने के लिए आवश्यक बन जाता है।

औपचारिक संगठन के कुछ अद्‌भुत तत्व हैं जो सहयोगी व्यवस्थाओं तथा उनकी संरचनात्मक आवश्यकताओं एवं व्यक्तिगत आकांक्षाओं का प्रयोग करने के सामर्थ्य को समझने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। संगठन की औपचारिक व्यवस्थाओं में, श्रम विभाजन, जो विशेषीकरण या कार्यात्मकता के रूप में माना जाता है, संगठन का अटूट हिस्सा है। इन दो शब्दों का जब ओर आगे विश्लेषण किया जाता है तो पता चलता है कि व्यक्ति विशेषज्ञता प्राप्त करता है परंतु कार्य क्रियागत होता है। किसी भी स्थिति में, श्रम के विभाजन का परिणाम समानुपातिक रूप से कार्य के विभाजन में होता है। संगठन विशेषीकरण के 5 आधार हैं।

1. वह स्थान जहाँ कार्य सम्पन्न होता है;
2. कार्य का समय;
3. वे लोग जिनके साथ कार्य किया जाता है;
4. वे वस्तुएं जिनके ऊपर कार्य किया जाता है तथा
5. पद्धति अथवा प्रक्रिया जिसके माध्यम से कार्य किया जाता है।

सहयोग की प्रक्रिया में पांचों आधारों की आवश्यकता होती है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति पर ही संगठन की कुशलता अधिकतर निर्भर करती है।

औपचारिक संगठन में सहयोग प्रयास के उद्देश्य से प्रोत्साहन का प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है। कुल मिलाकर संतुष्टि जो एक कार्य को संगठन हेतु प्रयास करने के लिए प्रोत्साहित करती है, हानियों के मुकाबले सकारात्मक लाभों का परिणाम होता है। प्रोत्साहन दो प्रकार के होते हैं, भौतिक व अभौतिक। भौतिक प्रोत्साहनों में वेतन की दशाएं तथा पदोन्नति के अवसर आदि शामिल हैं। अभौतिक प्रोत्साहन भी होते हैं, जिनमें सम्मानों तथा विशेषताओं तथा संगठन का रखरखाव, गौरव, सामुदायिकता की भावना आदि के साथ पदों का सोपान शामिल है। बरनार्ड का कहना है, दोनों प्रकार के प्रोत्साहन, आवश्यक है और उनका बल इस बात पर है कि किसी भी संगठन का इन दोनों प्रकार के प्रोत्साहनों के अभाव में अस्तित्व नहीं रह सकता।

सत्ता की अवधारणा (Concept of Authority)

एक सामान्य संगठन में सहयोगी प्रयास के लिए एक अन्य तत्व, जो सबसे अधिक निर्णायक समझा जाता है, सत्ता का तत्व है। बरनार्ड सत्ता या अधिकार की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि यह एक औपचारिक संगठन में संचार (व्यवस्था) का वह गुण है जिसके कारण वह संगठन के सदस्यों द्वारा मान्य होता है। इससे पता चलता है कि बरनार्ड मानते हैं कि सत्ता के दो पहलू हैं।

पहलू संचार वह गुरू है जिसके कारण यह स्वीकार किया जाता है। इसके अतिरिक्त बरनार्ड का यह तर्क है यदि आदेशित संचार उस व्यक्ति द्वारा, जिसे वह भेजा गया है, स्वीकार कर लिया जाता है, तो उसके लिए उसकी सत्ता स्थापित या सुनिश्चित हो जाती है। यह कार्य के आधार रूप में स्वीकार हो जाती है। ऐसे आदेश का उल्लंघन उसके लिए सत्ता को नकारना होता है। इसलिए इस परिभाषा के अनुसार यह निर्णय करना कि किसी आदेश में सत्ता है या नहीं उन व्यक्तियों पर निर्भर है, जिन्हें वह आदेश भेजा गया है, न कि सत्ताधारी लोगों या उन आदेश देने वाले लोगों पर। इसके अतिरिक्त वह कहते हैं कि संगठन सत्ता की असफलता के कारण असफल होता है, जिसका अर्थ है कि वे प्रभावी होने के लिए निजी प्रयासों का पर्याप्त योगदान प्राप्त नहीं कर सकते या उन्हें व्यवहार पर प्रोत्साहित नहीं कर सकते। सत्ता इसलिए भी विफल होती है क्योंकि काफी संख्या में लोग आवश्यक आदेशों के स्वीक ति संबंधी बोझ को उनके हित में होने वाले लाभ के संतुलन को बदलने का प्रयास समझते हैं और इसलिए वे या तो अपने आपको हटा लेते हैं या अपना योगदान रोक लेते हैं। इस कारण बरनार्ड बल देते हैं कि सत्ता

की स्थापना के लिए व्यक्ति की स्वीक ति की आवश्यकता जरूरी है। एक व्यक्ति एक आदेश को सत्तात्मक स्वीकार कर सकता है और स्वीकार करेगा यदि चार शर्तें एक साथ पूरी हो:

1. वह आदेश को समझ सकता है या समझता है।
2. अपने निर्णय के समय उसका विश्वास है कि यह संगठन के उद्देश्य से असंगत नहीं है।
3. अपने निर्णय के समय उसका विश्वास है कि वह कुल मिलाकर उसके हितों के अनुकूल है तथा
4. वह मानसिक तथा शारीरिक रूप से उसका पालन करने के योग्य है।

ऊपरी चित्रण या वर्णन से एक प्रश्न यह उठता है कि इस प्रकार का महत्त्वपूर्ण तथा चिरस्थायी सहयोग प्राप्त करना किस प्रकार संभव है क्योंकि हम देखते हैं कि सिद्धांत तथा व्यवहार में सत्ता का निर्धारण अधीनस्थ व्यक्तियों के पास होता है। यह संभव है क्योंकि व्यक्तियों के निर्णय निम्नलिखित परिस्थितियों में सम्पन्न होते हैं:

1. चिरस्थायी संगठनों में जानबूझकर दिए गए आदेश प्रायः ऊपर बतलाई चार परिस्थितियों का पालन करते हैं;
2. प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर उदासीनता-क्षेत्र होता है जिसके अंदर सत्ता को चेतनाशील चुनौती दिए बिना आदेश मान्य होते हैं;
3. एक समूह के रूप में एक संगठन के प्रति योगदान करने वाले व्यक्तियों के हितों का परिणाम विषय या व्यक्ति के द ष्टिकोण पर प्रभाव का वह प्रयोग होता है जो इस उदासीनता के क्षेत्र को कुछ स्थायी बनाये रखता है।

उदासीनता का क्षेत्र (Zone of Indifference)

पूर्व भाग में हमने ये चर्चा की है कि संगठनों में सत्ता की स्वीक ति उदासीनता के क्षेत्र (Zone of Indifference) पर निर्भर करती है। यह उदासीनता का क्षेत्र क्या है, यदि काफी हद तक व्यवहार योग्य कार्य के सभी आदेश प्रभावित व्यक्तियों द्वारा उनकी स्वीक ति के क्रम में रखे जायें तो ऐसे आदेशों का ऐसा क्षेत्र या सीमा होगी जो स्पष्ट रूप से अमान्य है अर्थात् जिनका निश्चित रूप से मान्य या अमान्य। तीसरा, समूह निश्चित रूप से मान्य हो सकता है। बरनार्ड कहते हैं कि यह अंतिम समूह "उदासीनता के क्षेत्र" में आता है। इस क्षेत्र में पड़ने वाले आदेशों को प्रभावित व्यक्ति स्वीकार करेगा तथा तुलनात्मक रूप में इस बात के प्रति उदासीन होता है कि सत्ता से संबंधित की संगठन के प्रति झुकाव को निर्धारित करने वाले उस स्तर या सीमा पर निर्भर है, जिस सीमा तक उद्देश्य या ध्येय, बोझों तथा बलिदानों से अधिक हो जाते हैं।

यदि प्रलोभनों अपर्याप्त है, तो संगठन के सदस्यों द्वारा संभवतः स्वीकार किय जाने वाले आदेशों की सीमा या क्षेत्र सीमित होगा। अन्य शब्दों में, आप कह सकते हैं कि क्षेत्र छोटा होगा। इसलिए कार्यपालिका को क्षेत्र के बारे में सचेत होना चाहिए। उसे केवल वे आदेश ही देने चाहिए जो क्षेत्र के अंदर ही आयें तथा मान्य हों। यदि कार्यपालिका इस विषय में सचेत नहीं है, बरनार्ड कहते हैं, तो कार्यपालिका अपनी सत्ता का प्रयोग करने का ढंग नहीं जानती या वह सत्ता का दुरूपयोग कर रही है।

मुख्य कार्यपालिका के कार्य (Function of Chief Executive)

ऊपर की प्रक्रियाओं तथा विचारों से, कार्यपालिका के कार्य उत्पन्न होते हैं। बरनार्ड के अनुसार कार्यपालिका के आवश्यक कार्यों में पहला है, संचार व्यवस्था प्रदान करना, दूसरे, आवश्यक प्रयास प्राप्त करने का बढ़ावा देना, तीसरे, उद्देश्य निर्माण तथा उद्देश्य परिभाषित करना। संगठनात्मक संचार को बनाए रखने संबंधी प्रथम कार्य के दो चरण हैं। पहला, संगठनात्मक पदों की परिभाषा है तथा दूसरा, कार्मिक व्यवस्था को बनाए रखना है। पहले में संगठनात्मक चार्ट, कर्त्तव्यों का निर्धारण, कार्य का विभाजन आदि आवश्यक है तथा दूसरे में उचित योग्यताओं वाले व्यक्तियों को प्रोत्साहन आदि देकर भर्ती करना शामिल है। ये दोनों चरण एक दूसरे के पूरक तथा अन्योन्याश्रित हैं।

व्यक्तियों से आवश्यक सेवाएँ प्राप्त करने के दूसरे कार्य के भी दो मुख्य पक्ष हैं। पहला, लोगों को संगठन के साथ सहयोगी संबंध में लाना है या लोगों का संगठन के साथ सहयोगी संबंध स्थापित करना है तथा दूसरा, ऐसे लोगों से सेवाएँ तथा योगदान प्राप्त करना या सुनिश्चित करना है। बरनार्ड के अनुसार ये मनोबल, शिक्षा तथा प्रशिक्षण प्रोत्साहन तथा पर्यवेक्षण तथा नियंत्रण बनाए रखकर प्राप्त किए जा सकते हैं। तीसरा, कार्यपालिका का कार्य है संगठनात्मक उद्देश्यों तथा ध्येयों का निर्माण। ये उद्देश्य संगठन के सभी सदस्यों द्वारा व्यापक रूप में मान्य होने चाहिए।

ऊपर बताए गए तीन कार्य मूल रूप से विभिन्न मानवों के बीच सहयोग की आवश्यकता से उत्पन्न होते हैं क्योंकि प्रत्येक संगठन मूलतः एक सहयोगी व्यवस्था है, सहयोगी प्रयास को चेतनागत रूप से समन्वित होने की आवश्यकता है। संगठनात्मक प्रक्रिया के यही वह क्षेत्र है जिसमें कार्यपालिका को एक सहयोगी व्यवस्था के लक्ष्यों तथा ध्येयों को प्राप्त करने में भूमिका निभानी है।

एक आलोचनात्मक मूल्यांकन (Critical Evaluation)

कैनेथ एन्ड्रयूज, जिसने "फंक्शंस आफ द एक्जीक्यूटिव" पुस्तक की प्रस्तावना लिखी थी, ने टिप्पणी की है कि बरनार्ड के अनुभव सापेक्ष थे। इससे उनका विश्लेषण गहरी द ष्टि रखता है। यह एक सीमा या बांध के रूप में भी कार्य करता है। सिद्धांत यह संकेत नहीं देता कि विभिन्न प्रकार के संगठनों के विभिन्न पहलुओं तक यह सिद्धांत किस प्रकार लागू किया जा सकता है। उसक आगे भी यह टिप्पणी करता है कि बरनार्ड ने उच्च प्रबंध की संस्थाओं का वर्णन या विश्लेषण नहीं किया है।

बरनार्ड ध्येय को एक केंद्रीय प्रश्न मानने पर बल देते हैं परंतु वे परिवर्तनशील विश्व ध्येय के चयन पर या संगठन के लिए लक्ष्यों एवं उद्देश्यों के निर्माण की प्रक्रियाओं पर कोई ध्यान नहीं देते। वास्तव में महत्त्वपूर्ण है संघर्ष में लोगों की भागीदारी तथा उसे समन्वित करने के उनके प्रयास। वास्तव में मानव संगठनों में उत्पन्न होने वाली दिन-प्रतिदिन की समस्याओं के प्रति उन्होंने पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है। उद्देश्यों के प्रति कम ध्यान इस तथ्य के कारण हो सकता है कि जिन संगठनों का दायित्व उनके पास था, उनमें उद्देश्य स्थिर थे जिसका परिणाम यह हुआ कि वे निर्माण प्रक्रियाओं के प्रति विवरणात्मक या विधिवत् ध्यान नहीं दे पाए।

बरनार्ड का सिद्धांत जहाँ अपना ध्यान सहयोग पर केंद्रित करता है, वहाँ वह व्यक्ति के रचनात्मक विकास पर पर्याप्त रूप से ध्यान नहीं देता है। न ही वह इस प्रश्न पर ध्यान देता है कि व्यक्ति किन परिस्थितियों में संगठन के प्रति प्रतिबद्धता व्यक्त करता है तथा यह प्रतिबद्धता किस प्रकार द ढ़ बनती है।

बरनार्ड का सत्ता-सिद्धांत निर्पेक्ष स्थितियों को कम महत्त्व देता है तथा व्यक्ति द्वारा मान्य सापेक्ष कारकों की ओर ज्यादा ध्यान देता है न कि उन सत्ताधारी लोगों की ओर जो इसका प्रयोग करते हैं। वास्तव में, सत्ता का एक आर्थिक आयाम है। आर्थिक रूप से सापेक्षित निर्भरता बाजार संरचना पर निर्भर है। विकल्पों के बड़े क्षेत्र वाले समाज में व्यक्यिों के पास तुलनात्मक स्वतंत्रता हो सकती है परंतु जहाँ अवसर सीमित हैं, व्यक्ति के पास तुलनात्मक स्वतंत्रता हो सकती है परंतु जहाँ अवसर सीमित हैं, व्यक्ति को सत्ता नकारने की कोई कोई स्वतंत्रता नहीं होती। अन्य शब्दों में एक पूंजीवादी समाज में जहाँ उसकी व्याख्या मान्य है, सामंतवादी या अल्प विकसित समाजों में ऐसी कोई स्वतंत्रता नहीं होती।

समाजीकरण प्रक्रिया, परिवार-संरचना, शैक्षिक प्रक्रियाएं सत्ता के लोगों के द ष्टिकोण को निर्धारित करते हैं। वास्तव में यही प्रक्रियाएँ मूल्य व्यवस्था का निरूपण करती है। बरनार्ड ने व हत्तर परिप्रेक्ष्य को ध्यान में नहीं रखा है, उस सीमा तक उसका सिद्धांत पीड़ित है या कमजोर है।

अध्याय-8
परिस्थितिकीय द ष्टिकोण
(Ecological Approach)

प्रशासन तथा वातावरण अथवा पर्यावरण में घनिष्ट सम्बन्ध है। वे दोनों परस्पर प्रभावित करते हैं। वह द ष्टिकोण जो प्रशासन तथा वातावरण में सम्बन्ध अथवा अंतःक्रिया पर प्रकाश डालता है को पारिस्थितिकीय द ष्टिकोण (Ecological Approach) कहते हैं। इस द ष्टिकोण के मुख्य प्रतिपादक जॉन एम. गॉस (John M. Gaus) रावर्ट ए. डाहल (Robert A. Dahl), रॉस्को मार्टिन (Rasco Martin), एफ. डब्लयू रिगज (F.W. Riggs) आदि हैं। इस द ष्टिकोण के अनुसार सभी संस्थानों (Institutions) पर समाज के वातावरण तथा संस्क ति का प्रभाव पड़ता है। क्योंकि लोक प्रशासन भी एक उप-व्यवस्था (Sub-system) है इसकी सामाजिक व्यवस्था के साथ अन्तःक्रिया होती रहती है। सामाजिक व्यवस्था लोक प्रशासन को प्रभावित करती है तथा प्रशासन इसे प्रभावित करता है। प्रशासन का आकार एवं स्वरूप इसके चहुँ ओर विद्यमान वातावरण पर निर्भर है तथा सामाजिक व्यवस्था प्रशासन पर निर्भर है। एफ. डब्लयू रिगज (F.W. Riggs) के अनुसार, "किसी भी प्रशासनिक प्रतिरूप या नमूने (Pattern) का महत्त्व उसकी स्थिति के अन्तर्गत होता है।" यह अब सामान्य रूप में स्वीकार किया जाने लगा है कि किसी समाज में राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक सांस्क तिक घटनाओं की प्रशासनिक व्यवस्था के साथ उसी प्रकार परस्पर क्रिया है जैसे सभी सामाजिक व्यवस्थाएं (जिनमें प्रशासनिक व्यवस्थाएं भी सम्मिलित हैं) अपने वातावरण के साथ अंतःक्रिया करती है तथा उनको प्रभावित करती है तथा उनसे स्वयं प्रभावित होती है।

पारिस्थितिकी अथवा पर्यावरण (Ecology) शब्द जीवन विज्ञान से लिया है जिसका अभिप्राय सभी जीवत जीव (Organisms) तथा उनके वातावरण में अन्तःसम्बन्ध से है, दूसरे शब्दों में इससे यह ज्ञात होता है कि किस प्रकार प्राणी तथा प्राक तिक एवं सामाजिक वातावरण एक दूसरे को प्रभावित करते हैं तथा इन दोनों में कैसे संतुलन रखा जा सकता है। शास्त्रीय द ष्टि से पारिस्थितिक का अर्थ है संगठन तथा उसके वातावरण में पारस्परिक सम्बन्ध। इसी द ष्टि से समाज शास्त्रियों ने इसका प्रयोग संगठन तथा उसके वातावरण के बीच पारस्परिक सम्बन्ध के लिए किया है। उनके अनुसार प्रशासकीय व्यवस्था सभी परिस्थितियों में एक स्वतन्त्र प्रक्रिया के रूप में कार्य नहीं कर सकती बल्कि यह अपने गिर्द होने वाली परिस्थितियों के प्रभावाधीन कार्य करती है तथा उन्हें प्रभावित करती है। क्योंकि प्रशासन विद्यमान परिस्थितियों के अन्तर्गत कार्य करता है इसलिए इसके अन्तर्गत उन परिस्थितियों का अध्ययन करना अवश्य है जो इसे प्रभावित करती है।

लोक प्रशासन में इस द ष्टिकोण का सबसे पहले प्रयोग 1947 में जॉन. एम. गॉस (John M. Gaus) ने एक सेमिनार लेख में किया जो बाद में उसकी रचना रिफलैक्शन आन पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन (Reflections on Public Administration) में प्रकाशित हुआ। इसमें गॉस ने सार्वजनिक नौकरशाही और उसके पर्यावरण की अनिवार्य परस्पर निर्भरता का अध्ययन करने के लिए पर्यावरण की धारणा के प्रयोग करने की आवश्यकता पर बल दिया। गॉस ने इस द ष्टिकोण का प्रयोग लोक प्रशासन की नवीन विषय-वस्तु तथा व्यक्ति एवं परिस्थितियों अथवा पर्यावरण के पारस्परिक प्रभावित करने की प्रक्रिया की खोज के लिए किया। उसने यह दर्शाने की चेष्टा की कि लोक प्रशासन किस प्रकार सामाजिक वातावरण से प्रभावित होता है। गॉस के अनुसार, "लोक प्रशासन के परिस्थितिकीय द ष्टिकोण का निर्माण स्थान के तत्त्व-भू-भाग, जलवायु, स्थान, वहां रहने वाले लोग, उनकी संख्था, आयु तथा ज्ञान, भौतिक और सामाजिक टेकनालॉजी और उनका पारस्परिक सम्बन्ध करते हैं। प्रशासन तथा वातावरण में पारस्परिक अन्तःप्रभाव को देखते हुए गॉस ने इस बात पर बल दिया कि लोक प्रशासन के विद्यार्थियों को वातावरण का अवलोकन (Observe) इस प्रकार से करना चाहिए कि वे यह अनुभव करें कि वातावरण की विशेषताओं का प्रशासन संस्थापन

के विकास पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है। परिस्थितिकीय तत्त्वों (Ecological Elements) का संचित ज्ञान प्रशासकों को इस योग्य बना देता है कि वे अपनी संस्थाओं में बाहरी परिस्थितियों के कारण उठने वाली मांगों तथा चुनौतियां का सामना समझदारी से कर सकते हैं।

इसी वर्ष राबर्ट ए. डाहल (Robert A. Dahl) ने लोक प्रशासन के साहित्य का एक संस्क ति तक सीमित होने की विशेषता की आलोचना करते हुए अन्त सांस्क तिक अध्ययनों की आवश्यकता, प्रशासनिक ढांचों तथा व्यवहार पर वातावरण के प्रभाव पर बल दिया। उन्होंने कहा कि लोक प्रशासन राष्ट्रीय मनोविज्ञान तथा राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्क तिक पर्यावरण, जिसमें यह विकसित होता है, के प्रभावों से नहीं बच सकता। उन्होंने तथाकथित लोक प्रशासन के सिद्धान्तों तथा उनकी सामान्य स्थिति के बीच सम्बन्धों की लगभग पूर्ण अज्ञान की आलोचना की। राबर्ट ए. डाहल ने परिस्थितिकी द ष्टिकोण की विवेचना तीन विवादास्पद निष्कर्षो के आधार पर की-

1. एक राष्ट्र के अनुभव पर आधारित सामान्यीकरण (Generalisations) सर्वव्यापक (Universal) नहीं हो सकते। उन्हें अन्य प्रशासकीय व्यवस्थाओं में सभी प्रकार की पर्यावरण सम्बन्धी स्थितियों में कार्यान्वित नहीं किया जा सकता।
2. प्रशासन के सिद्धान्तों तथा धारणाओं का निर्माण करने से पूर्व उनकी वैद्यत की सभी प्रकार की सामाजिक परिस्थितियों में आनुभाविक रूप में जांच कर लेनी चाहिए ताकि यह देखा जा सके कि क्या सर्वव्यापी है।
3. निष्कर्षतः लोक प्रशासन केवल अपनी सीमा का विस्तार करने के लिए नहीं अपितु अपने अध्ययन को अधिक वैज्ञानिक तथा सभी प्रकार की समाजों से सम्बन्धित करने के लिए वास्तव में अन्तः अनुशासनीय तथा परिस्थितिकीय है।

1950 के पश्चात् पर्यावरण तथा लोक प्रशासन में अंतःसम्बन्धों में लेखकों की रूचि में व द्धि होने लगी। इसी काल में संयुक्त राज्य अमेरिका का तकनीकी सहायता कार्यक्रम प्रारंभ हुआ। उस समय लोक प्रशासन के विद्वान (विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका के विद्वान) नए-नए स्वतंत्र होने वाले राष्ट्रों के प्रशासनिक स्वरूपों के अध्ययन करने में रूचि लेने लगा जिससे तुलनात्मक प्रशासन (Comparative Administration) की धारणा को बल मिला तथा विभिन्न प्रशासनिक स्वरूपों से लोक प्रशासन पर भिन्न-भिन्न सामाजिक स्थितियों के प्रभावों के अध्ययन करने के लिए प्रेरणा मिली।

तत्पश्चात् फ्रेड डब्लयू. रिगज (Fred W. Riggs) ने थाईलैंड (Thailand) तथा फिलीपाईन (Philippines) के प्रशासन के अध्ययन के आधार पर अपने विचार प्रकट करते हुए कहा कि पर्यावरण प्रशासन पर कैसे प्रभाव डालता है? रिगज के अनुसार परिस्थितिकी से अभिप्राय है प्रशासकीय व्यवस्थाओं की सम्पूर्ण व्यवस्था, राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्क तिक तथा आर्थिक उप-व्यवस्थाओं से अन्तःसम्बन्ध। रिगज के अनुसार एक देश का सामाजिक, सांस्क तिक, ऐतिहासिक तथा स्थापत्य कला सम्बन्धी वातावरण आचरण को कैसे प्रभावित करते हैं तथा इसकी तुलना में प्रशासन समाज को कैसे प्रभावित करता है-इन प्रश्नों का सम्बन्ध परिस्थितिकीय द ष्टिकोण से है। रिगज के विचार में केवल अनुभववादी वैधिक तथा वातावरण से प्रभावित (Empirical, Nomothetic and Ecological) अध्ययन ही परिस्थितिकीय माने जा सकते हैं। इस द ष्टिकोण के अनुसार प्रशासन प्रक्रिया को एक ऐसी व्यवस्था माना जाता है जो किसी विशेष वातावरण में कार्य करती है तथा इसका उस वातावरण के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया हो। इसलिए परिस्थितिकीय द ष्टिकोण के समर्थकों का यह मत है कि किसी देश के लोक प्रशासन की प्रक ति का समुचित रूप में अध्ययन करने के लिए उस सामाजिक स्थिति तथा रूप रचना को समझना आवश्यक है जिसमें वह कार्य कर रहा है। इसे समझे बिना प्रशासन के स्वरूप को जानना सम्भव नहीं। मूल रूप में परिस्थितिकीय द ष्टिकोण इस बात का संकेत देता है कि प्रशासकीय व्यवहार अनियमित (Randon) नहीं है। यह सांस्क तिक विशेषताओं, मूल्यों तथा प्रशासन में अन्तर्क्रिया की उपज है। संक्षेप में प्रशासनिक संस्क ति महान् सामाजिक संस्क ति का प्रसारण (Extension) है।

इस द ष्टिकोण का विशेष गुण यह है कि यह आधुनिक प्रजातांत्रिक देशों के लिए बहुत उपयोगी है। इस द्वारा किसी देश के प्रशासन का अध्ययन वहां के लोगों और उनके वातावरण के संदर्भ, उनकी सामाजिक समस्याओं तथा मनोव त्तियों को ध्यान में रखते हुए किया जा सकता है तथा यथा आवश्यक शासन पद्धति नीतियों में सुधार किया जा सकता है। एक प्रजातान्त्रिक देश में एक सफल प्रशासन के लिए लोगों का सहयोग आवश्यक है और यह तभी सम्भव है यदि प्रशासन लोगों की समस्याओं तथा सामाजिक मूल्यों के प्रति जागरूक हो क्योंकि परिस्थितिकीय द ष्टिकोण लोगों के सामाजिक, सांस्क तिक, आर्थिक तथा

परम्परागत संस्थाओं की जानकारी प्राप्त करने में सहायता करता है। इस लिए इसके द्वारा जनता का सक्रिय सहयोग प्राप्त किया जा सकता है। अतः लोकतन्त्रात्मक प्रशासन के सकुशल तथा लोकप्रिय होने के लिए इसके आचरण का परिस्थितिकीय होना अनिवार्य है।

फ्रैड डब्ल्यू० रिग्स के विचार

(Views of FW. Riggs)

जे.एम. गॉस, राबर्ट ए. डाल तथा रॉबर्ट एस. मर्टन ने फ्रैड डब्ल्यू. रिग्स से बहुत पहले लोक प्रशासन के अध्ययन के परिस्थितिकीय द ष्टिकोण की शुरूआत की थी। परन्तु रिग्स ने ही इस द ष्टिकोण के प्रति महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। अमरीकी विद्वानों तथा विकासशील देशों के सलाहकारों ने उसके थाईलैंड, फिलीपींस तथा भारत में किये अध्ययनों के आधार पर परिस्थितिकीय अवधारणा का विकास किया। विकासशील देशों के प्रशासनिक तथा आर्थिक, सामाजिक, तकनीकी, राजनीतिक तथा संचार कारकों के बीच संबंध का विश्लेषण किया। थाईलैंड तथा फिलीपींस में अपने अध्ययनों के आधार पर उन्होंने उदाहरण देकर यह बतलाया कि किस प्रकार पर्यावरण प्रशासनिक व्यवस्थाओं को प्रभावित करता है।

रिग्स ने विकासशील देशों में पश्चिमी संगठन सिद्धांतों की उपयुक्तता के विषय में मौलिक या आधारभूत प्रश्न उठाए। उन्होंने कहा कि प्रत्येक समाज की अपनी कुछ विलक्षण विशेषताएँ होती हैं जो उसकी उपव्यवस्थाओं को प्रभावित करती है। उसने पाया कि पश्चिमी सिद्धांतों में से अधिकतर ने व्यवस्था के "भीतर" झाँका। इसकी तुलना में "बाहर" का संबंध सामान्यतः सामाजिक-आर्थिक वातावरण या परिवेश से है। जैसा कि आप जानते हैं पश्चिमी विकसित देशों का सामाजिक-आर्थिक परिवेश त तीय विश्व के देशों जैसा नहीं है। इसीलिए, रिग्स के अनुसार, शायद विकसित देशों के लिए निर्मित सिद्धांत या प्रादर्श अविकसित देशों में लागू नहीं होते। इसलिए रिग्स के निष्कर्ष, त तीय विश्व के देशों में प्रशासनिक व्यवस्थाओं को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। अपने निष्कर्षों के आधार पर त तीय विश्व के देशों में प्रशासनिक व्यवस्थाओं के विश्लेषणात्मक ढाँचे को विस्त त किया गया है।

आदर्श प्रारूप (Ideal Model)

परिवेशीय या परिस्थितिकीय द ष्टिकोण वस्तु स्थिति या घटना विशेष को समझने के लिए व्यवस्था-उपागम का प्रयोग करता है। व्यवस्था-उपागम का अर्थ घटना विशेष (Phenomena) को अंतनिर्भर भागों से बने एक ही भाग (Aspect) पर केन्द्रित होने के बावजूद भी परिस्थितिकीय उपागम संगठन के समग्र द ष्टिकोण को अपनाता है। यही कारण है कि रिग्स ने व हद स्तर पर मुख्य (Broad) व्यवस्थाओं को श्रेणीबद्ध किया तथा उन श्रेणियों को प्रशासन जैसी सूक्ष्म या छोटी-उप व्यवस्थाओं को लिया तथा विकासशील समाजों में परिवर्तन की व्याख्या करने के लिए तीन आदर्श रूपों-बहुकार्यात्मक, समपार्श्वीय तथा अल्पकार्यात्मक को विकसित किया। रिग्स द्वारा आदर्श प्रारूप इतिहास-पूर्व, विकासशील तथा विकास समाज का विश्लेषण करने के उद्देश्य से स्थापित काल्पनिक मान्यताएँ (Hypothetical) हैं।

एक प्रिज्म से किरन के संक्रमण की प्रक्रिया को एक समाज परिवर्तन की प्रक्रिया की व्याख्या के लिए संकेत रूप में लिया गया है। किरण के आरंभ बिन्दु को बहुकार्यात्मक, (फ्यूज्ड) प्रिज्म के अंदर किरण के स्पंदन (Vibration) प्रक्रिया को संक्रमण कालीन, इन्द्रधनुष बनाने के लिए प्रिज्म से किरण के बाहर आने की प्रक्रिया का अल्पकार्य (डिफ्रैक्शन) कहा गया है। इसी प्रकार, जैसे रिग्स ने व्याख्या की है, विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाएँ विकास-प्रक्रिया की आरंभिक अवस्थाओं में बहुकार्यात्मक, (फ्यूज्ड) संक्रमण-कालीन अवस्था में समपार्श्वीय तथा अंत में अल्पकार्यात्मक (डिफ्रैक्टेड) होगी।

रिग्स ने संरचनात्मक तथा कार्यात्मक उपागमों के आधार पर प्रारूप तैयार किए। उसके अनुसार एक बहुकार्यात्मक (फ्यूज्ड) समाज में एक अकेला संगठन या संरचना बहुत से कार्य करती है। इसके विरूद्ध, एक अल्पकार्यात्मक (डिफ्रैक्टेड) समाज में निश्चित कार्य करने के लिए अलग-अलग संरचनाएँ बनाई जाती है। परन्तु इन दोनों के बीच में अनेक ऐसे समाज हैं जिनमें बहुकार्यात्मक (फ्यूज्ड) तथा अल्पकार्यात्मक (डिफ्रैक्टेड) समाज दोनों की विशेषताएँ लगभग समान पाई जाती है। ऐसे समाजों को समपार्श्वीय कहा जाता है। रिग्स इस बात पर बल देता है कि कोई भी समाज पूर्ण रूप से बहुकार्यात्मक (फ्यूज्ड) या अल्पकार्यात्मक (डिफ्रैक्टेड) नहीं कहा जा सकता। सामान्यतः सभी समाज प्रक ति में संक्रमणकालीन होते हैं। प्रत्येक समाज

चाहे वह बहुकार्यात्मक (फ्यूज्ड) है या अल्पकार्यात्मक (डिफ्रैक्टेड) उसका चरित्र विभिन्न संरचनाओं एवं उसके द्वारा किए जाने वाले कार्यो की प्रक ति पर निर्भर करता है।

बहुकार्यात्मक प्रारूप (Fused Model)

बहुकार्यात्मक (फ्यूज्ड) समाज की अवधारणा को स्पष्ट करने हेतु उदाहरणों के रूप में रिग्स ने साम्राज्यवादी चीन तथा क्रांति-पूर्व सयामी थाईलैंड को चुना। इन समाजों में कार्यो का कोई वर्गीकरण नहीं था तथा एक संरचना अनेक प्रकार के कार्य करती थी। ये समाज क षि पर बहुत अधिक निर्भर थे तथा उनका औद्योगीकरण या आधुनिकीकरण नहीं हुआ था। उनकी आर्थिक व्यवस्था उस वस्तु विनिमय के कानून तथा परिवर्तन व्यवस्था पर आधारित थी जिसे रिग्स ने "पुनर्वितरण प्रारूप" (redistributive model) कहा। देश के प्रशासन में शाही परिवार ने एक बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। राजा तथा उसके द्वारा नामित अधिकारी सभी प्रकार के प्रशासनिक, आर्थिक तथा अन्य कार्य स्वयं ही करते थे। आर्थिक तथा प्रशासनिक कार्य करने की कोई अलग व्यवस्था नहीं थी। सरकार तथा जनता के बीच संबंध सामान्यतः निचले स्तर पर थे। जनता किसी भी चीज की आशा किए बिना राजा को अपनी सेवाएँ तथा भौतिक वस्तुएँ देकर उसके प्रति अपना सम्मान प्रदर्शित करती थी। सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं थी यद्यपि जनता सरकार के आदेशों को मानने के लिए बाध्य थी।

सयामी राज्य में परिवार की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। यह आर्थिक राजनीतिक तथा सामाजिक अनेक कार्य करता था। सामाजिक संरचना को आधार प्रदान करने के अतिरिक्त, यह प्रशासन के प्रमुख स्थान पर था। परिणामस्वरूप, इन संघों के प्रशासन ने व्यापक प्रसन्नता तथा विकास पर ध्यान देने की अपेक्षा परिवार तथा कुछ अन्य संप्रदायों क विशेष हितों की सुरक्षा करने का प्रयास किया। वास्तव में प्रशासन व्यवस्था परिवार तथा अन्य संप्रदायों की संरचना पर आधारित थी तथा यह व्यवस्था को सुरक्षित बनाये रखने बनाये रखने में सहायक रही। सामान्यतः इस समाज की प्रव त्ति स्थिर रहने की थी और जिनकी कोई विकसित संचार व्यवस्था भी नहीं थी। जनता की शायद ही कोई माँग रही होगी तथा शायद ही सरकार के समाने कभी कोई मामला उठाया गया होगा। राजा तथा उसके द्वारा नामित लोगों के पास असीमित सत्ता थी। जिसका प्रयोग वे सामान्यतः अपने निजी हितों की रक्षा के लिए करते थे। ये समाज औपचारिक व अनौपचारिक ढाँचों, सरकारी और गैर-सरकारी कार्यो में भेद नहीं करते थे।

समाज में आरोपित मान्यताएँ एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती थी तथा जनता का व्यवहार अत्यधिक परम्परावादी था। सदियों पुरानी परम्पराएँ, मान्यताएँ, विश्वास तथा रहन-सहन के परम्परावादी ढंग लोगों को एक साथ रहने तथा अपने व्यवहार को नियंत्रित करने में समर्थ बनाते थे।

अल्पकार्यात्मक प्रारूप (Diffracted Model)

ये प्रारूप सार्वभौमिक सिद्धांतों पर आधारित है तथा इनके व्यवहार में भेद नहीं होता है। बहुत अधिक विशेषीकरण होता है तथा प्रत्येक संरचना एक विशेष कार्य करती है। आरोपित मान्यताएँ समाप्त हो जाती हैं तथा उपलब्धि मान्यताओं का आगमन होता है। समाज अत्यधिक रूप से गतिशील तथा अल्पकार्यात्मक (डिफ्रैक्टेड) होता है। इन समाजों में खुली वर्ग-संरचनाएँ होती है जिनका प्रतिनिधित्व विभिन्न संघ करते हैं तो समाज में तार्किक परिणामों को प्राप्त करने की प्रमुख भूमिका अदा करते हैं। समाज के सभी संगठनों तथा संरचनाओं की निर्मित की जाती है तथा ये वैज्ञानिक तर्क पर आधारित होते हैं। आर्थिक व्यवस्था बाजार व्यवस्था पर आधारित होती है। बाजार का प्रभाव समाज के अन्य पहलुओं को प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों रूप से प्रभावित करता है। रिग्स ने इसे "बाजारक त (मार्केटाइज्ड) समाज" कहा है। विभिन्न संघ अलग-अलग कार्य करते हैं। संचार व्यवस्था तथा प्रौद्योगिकी बहुत अधिक विकसित होती है तथा सरकार सौहार्दपूर्ण जन-संपर्क व्यवस्था को उच्च प्राथमिकता देती है। सरकारें लोगों की आवश्यकताओं के प्रति संवेदनशील होती हैं तथा मानव-अधिकारों की रक्षा करती है। लोगों द्वारा कार्यो को पूर्ण करने हेतु तथा काफी सीमा तक सरकार के व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए दबाव डाला जायेगा। सरकारी अधिकारियों के पास कोई दबावकारी तथा असीमित शक्तियाँ नहीं होतीं। जनता स्वयं राष्ट्र के कानूनों पर ध्यान देती है तथा उनका सम्मान करती है। इससे सरकार को बिना किसी कठिनाई के अपने दायित्वों का निर्वाह करने तथा कानूनों को क्रियान्वित करने में आसानी होती है। सामाजिक जीवन के सभी आधारभूत पहलुओं पर जनता में व्यापक सामंजस्य होता है।

समपार्श्वीय प्रारूप (Prismatic Model)

रिग्स ने अपने प्रारूपों के केन्द्रीय बिन्दु-समार्श्वीय प्रारूप पर ध्यान केन्द्रित किया। रिग्स के अनुसार समापार्श्वीय समाज वह है जिसने विशिष्टीकरण का स्तर, आधुनिक प्रौद्योगिकी के लेन-देन में आवश्यक भूमिकाओं का विशेषीकरण प्राप्त कर लिया हो परन्तु इन भूमिकाओं को जोड़ने में असफल रहा हो। समपार्श्वीय समाज बहुकार्यात्मक (फ्यूज्ड) तथा अल्पकार्यात्मक (डिफ्रैक्टेड) दोनों समाजों के मूल्य प्रतिरूपों का हिस्सा है।

समपार्श्वीय समाज : विशेषताएँ (Features of Prismatic Society)

दो चरण रूपों-बहुकार्यात्मक तथा अल्पकार्यात्मक-के बीच का समाज समपार्श्वीय समाज कहा जाता है। अपने विश्लेषण में रिग्स ने बहुकार्यात्मक तथा अल्पकार्यात्मक प्रारूपों का विकासशील देशों के समपार्श्वीय वस्तु स्थिति की व्याख्या करने के साधन रूप में प्रयोग किया है। रिग्स के अनुसार, समपार्श्वीय समाज की तीन चारित्रिक विशेषताएँ होती हैं। वे हैं-

1. विजातीयता,
2. औपचारिकता, तथा
3. अतिआच्छादन।

विजातीयता (Heterogeneity)

समपार्श्वीय समाज की मुख्य चारित्रिक विशेषता की अधिकता। विजातीयता का अर्थ है भिन्न प्रकार की व्यवस्थाएँ, व्यवहार, क्रियाएँ तथा द ष्टिकोणों आदि की एक साथ उपस्थिति। पूर्णतया विरोधी द ष्टिकोणों के समानांतर सह-अस्तित्व के कारण एक समपार्श्वीय समाज में होने वाला परवर्तन असंगत, अपूर्ण तथा गैर-अनुक्रियाशील होगा। विजातीयता प्रशासनिक व्यवस्था को भी प्रभावित करती है।

एक समपार्श्वीय समाज में प्रशासन के आधुनिक गजट, पश्चिमी रूप के कार्यालय, बुद्धिजीवी वर्ग, क त्रिमता भरे शहरी क्षेत्र होते हैं। सुविकसित संचार व्यवस्था, गगन चुम्बी इमारतें, वातानुकूलन, विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा तकनीकि सेवाओं को सम्पन्न करने वाली विशेषीक त एजेसियाँ भी इस समाज में होती है। दूसरी ओर ग्रामीण क्षेत्रों में, लोग बहुत अधिक परंपरावादी जीवन व्यतीत करते हैं जिनके पास टेलीफोन, फ्रिज आदि जैसी आधुनिक जीवन की कोई सुविधाएँ नहीं होती। गांव के बुजुर्गो (एलडर्स) द्वारा विभिन्न राजनीतिक, प्रशासनिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक भूमिकाओं का निर्वाह किया जाता है। विजातीयता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विरोधी तस्वीर प्रस्तुत करती दिखाई देती है। उदाहरण के लिए शिक्षा के क्षेत्र में, समाज शिक्षा के पाश्चात्य रूप पर भी बल देता है तथा परंपरावादी गुरूकुलों को स्वीकार करता है। इसी प्रकार आधुनिक सुविधा सम्पन्न डाक्टरी प्रथा के अनुसार (एलोपैथी) इलाज देने वाले अस्पतालों के साथ आयुर्वेदिक, यूनानी, होमियोपैथिक तथा प्राक तिक चिकित्सा संबंधी केन्द्र भी अस्तित्व में हैं। इस प्रकार विरोधी व्यवस्थाओं का सह-अस्तित्व समाज को अलग-अलग दिशाओं की ओर खीचता है जिससे सामान्यीकरण प्रक्रिया कठिन बन जाती है। समपार्श्वीय समाजों में राजनीतिक तथा प्रशासनिक कार्यालय काफी प्रभावी शक्तिशाली तथा प्रतिष्ठावान होते हैं जो धन कमाने में सहायता करते हैं। यद्यपि सभी के लिए समान अवसर होते हैं, फिर भी कुछ ही व्यक्ति विशेषाधिकार प्राप्त कर लेते हैं तथा उच्च स्थानों का कार्य या पद पाने की आशा करते हैं। वे लोग, जिन्हें कार्य प्राप्त करने में सफलता नहीं मिलती, समय को देखते हुए सरकार के विरूद्ध दबाव समूह बना लेते हैं तथा एक या दूसरे बहाने से आंदोलन प्रारंभ करते हैं। प्रजातांत्रिक प्रक्रियाओं द्वारा चुने जाने पर भी सरकार लोगों को नियंत्रित करने की स्थिति में नहीं होती। सत्ताधारी लोग अपने हितों की रक्षा करने तथा सत्ता से चिपके रहने के सभी प्रयास करने की ओर प्रव त्त या उन्मुख होते हैं। इस प्रकार, सदैव, तथ्यों की गलत समझ तथा गलत प्रस्तुतीकरण से समाज में तनाव तथा अस्थिरता पैदा हो जाती है।

बहु-समुदायवादी समाज में जहाँ विभिन्न समुदाय अपने-अपने हितों को बढ़ावा देने के लिए समाज को अलग-अलग दिशाओं में खींचने का प्रयास करते हैं, समस्या काफी पेंचीदा या जटिल हो जाती है। यह एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमरीका के लगभग सभी विकासशील देशों में स्पष्ट है। इस प्रकार एकीकरण का अभाव एक समपार्श्वीय समाज की आधारभूत विशेषता

होती है।

जीवन के लगभग सभी पहलुओं में ये सभी असमानताएँ, विभेद न केवल प्रशासनिक व्यवस्था के कार्य को प्रभावित करते हैं और उसके व्यवहार को सीमित करते हैं अपितु प्रशासन के लिए अनेक समस्याएँ भी उत्पन्न करते हैं। यदि सत्ताधारी वर्ग धनी लोगों के हितों की रक्षा तथा गरीबों के हितों की उपेक्षा करने का प्रयास करेगा तो, रिग्स के अनुसार, इससे समाज में क्रांति के आरंभ की अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न होंगी।

औपचारिकता (Formalism)

औपचारिकता का अर्थ उस सीमा से है जहाँ तक परंपरा सिद्ध (perscriptive) तथा वर्णनात्मक (descriptive) में अंतर रहता है, जहाँ नियमनिष्ठ तथा प्रभाव शक्ति (effective power) में अंतर रहता है और संविधान, कानूनों एवं नियमों संगठन सारणियों एवं आंकड़ों, समाज तथा सरकार की वास्तविक क्रियाओं तथा तथ्यों के बीच विसंगति होती है। दूसरे शब्दों में, इसका अर्थ औपचारिक रूप से आदेशित तथा प्रभावी रूप से व्यवहारित मानदंडों तथा वास्तविकताओं के बीच का अंतर तथा निर्धारित उद्देश्यों एवं वास्तविक निष्पादन के बीच का अंतर है। औपचारिकता तथा वास्तविकता में जितना अधिक अंतर होगा एक व्यवस्था उतनी ही अधिक औपचारिक होगी। एक समपार्श्वीय समाज, जिसमें औपचारिकता अधिक होती है, की तुलना में बहुकार्यात्मक फ्यूज्ड तथा अल्पकार्यात्मक (डिफ्रैक्टेड) समाजों में वास्तविकता अधिक होती है।

यद्यपि कानून, नियम एवं विनियम सरकारी अधिकारियों की कार्य प्रणाली को निर्धारित करते हैं, परन्तु वास्तविक रूप में उनके व्यवहार में अधिक अंतर होता है। अधिकारी कभी नियमों पर डटे रहते हैं और कभी उनकी उपेक्षा, यहाँ तक की उनका उल्लंघन भी करते हैं। इस औपचारिक व्यवहार का कारण कार्यक्रम-उद्देश्यों के प्रति सरकार पर दबाव की कमी नौकरशाही के निष्पादन को प्रभावित करने की सामाजिक शक्ति की कमजोरी तथा स्वैच्छिक प्रशासन की उन्मुक्तता है। इस प्रकार सरकारी अधिकारियों तथा नौकरशाहों का व्यवहार ऐसा होता है जिसे पहले से नहीं बताया जा सकता तथा यह असंगत तथा परिस्थिति पर निर्भर करता है। इस प्रकार के व्यवहार के कारण कर्मचारियों में आसानी से धन इकट्ठा करने की स्वाभाविक प्रव त्ति या कुप्रशासन के अवसरों की उपस्थिति हो सकती है। इस प्रकार सामान्यतः प्रशासन में नियमबद्धता समाज में भ्रष्टाचार के लिए रास्ता बनाती है।

औपचारिकता सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं में होती है। सामान्यतः जीवन के सामाजिक तथा सांस्क तिक पहलुओं से संबंधित कानूनों का सम्मान तथा पालन नहीं होता। वे केवल सरकारी रिकार्ड के लिए ही होते हैं तथा सरकार भी उनके क्रियान्वयन के विषय में गंभीर नहीं होती। भारत में कुछ उदाहरण स्वरूप, कह सकते हैं कि नशाबंदी कानूनों का सम्मान उनका पालन करने की अपेक्षा उनको तोड़ने में अधिक है। शहरी योजना विनियम पालन करने की अपेक्षा तोड़े अधिक जाते हैं। इस प्रकार सामाजिक जीवन में बनावटीपन लगभग सभी विकासशील देशों में सामान्यतः देखा जा सकता है।

औपचारिकता के आयामों की व्याख्या करते हुए रिग्स ने संवैधानिक औपचारिकता का भी विचार किया। संवैधानिक औपचारिकता का अर्थ संवैधानिक उपबंधों तथा उनके वास्तविक क्रियान्वयन के बीच का अंतर है। यह भारत में देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए संवैधानिक व्यवहार के अनुसार, मुख्यमंत्रियों का चुनाव विधानसभा के बहुमत पक्ष द्वारा होता है। मंत्री परिषद् का चयन मुख्यमंत्री द्वारा होता है। परन्तु व्यवहार में, ज्यादातर मामलों में केन्द्रीय पार्टी नेत त्व उनके चयन में निर्णायक भूमिका निभाती है। संविधान कानूनी रूप से शासन चलाने का कार्य जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथों में सौंपता है परन्तु व्यवहार में वास्तविक सरकारी शक्ति तथा प्रभाव संसद के बाहर कुछ लोगों तथा समूहों के पास होती है।

संविधान कानून बनाने का दायित्व विधायकों को सौंपता है परन्तु वास्तव में वे कानून निर्माण में बहुत कम समय लगते हैं। वे अपने विधायी दायित्व का निर्वाह करने की अपेक्षा सत्ता की राजनीति में अधिक व्यस्त होते हैं। इससे नौकरशाही को समपार्श्वीय समाज में कानून निर्माण की मुख्य भूमिका का निर्वाह करने में सहायता मिलती है। यहाँ तक कि अधिकारी समूह बना सकते हैं या सत्ताधारी दल के अंतर्गत फूट डालने वाले राजनीतिक नेताओं के साथ स्वयं को जोड़ सकते हैं। इस प्रकार समपार्श्वीय समाज में सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं में औपचारिकता रहती है।

अतिच्छादन (Overlapping)

अतिच्छादन (ओवरलैपिंग) का अर्थ उस सीमा से है जिस तक एक अल्पकार्यात्मक (डिफ्रैक्टेड) समाज के औपचारिक रूप से विभेदीक त संगठन या संरचनाएँ बहुकार्यात्मक समाज में अविभेदीक त संगठनों के सह-अस्तित्व में होते हैं। प्रशासनिक व्यवस्थाओं में प्रशासनिक व्यवहार अप्रशासनिक आधार से अर्थात् राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक या अन्य बातों से प्रभावित होने की ओर उन्मुख होता है। एक बहुकार्यात्मक समाज में परम्परावादी संरचनाएँ लगभग सभी प्रकार के कार्य सम्पन्न करती है इसलिए उनमें अतिच्छादन की समस्या उत्पन्न नहीं होती क्योंकि इस प्रकार के समाज में जो औपचारिक है वह प्रभावी भी है। जबकि एक समपाश्वीय समाज में, नये या आधुनिक संगठन खड़े किये जाते हैं, फिर भी वास्तव में पुराने या अविभेदीक त संगठन, सामाजिक व्यवस्था पर प्रभुत्व जमाये रखते हैं। यद्यपि नये आदर्श या मानदंड तथा मूल्य, जो सामान्यतः अल्पकार्यात्मक संगठन से जुड़े होते हैं उनको औपचारिक मान्यता दे दी जाती है, वास्तव में उनके साथ जबानी सहानुभूति होती है तथा अल्पकार्यात्मक समाजों से जुड़े परंपरावादी मूल्यों के पक्ष में उन्हें उपेक्षित कर दिया जाता है। इस प्रकार एक समपाश्वीय समाज में, संसद, सरकारी कार्यालय, बाजार, स्कूल आदि विभिन्न राजनीतिक, प्रशासनिक तथा आर्थिक कार्य संपन्न करते हैं। वास्तव में, उनका व्यवहार कुछ परंपरावादी संगठनों, जैसे, परिवार, धर्म, जाति आदि से प्रभावित होता है।

साल प्रारूप (Sala Model)

बहुकार्यात्मक समाज की विशेषता यह है कि उसमें अनेक आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा प्रशासनिक उप-व्यवस्थाएँ शामिल होती हैं। रिग्स ने प्रशासनिक उप-व्यवस्था को "साल प्रारूप" का नाम दिया। एक अल्पकार्यात्मक समाज में इसके दूसरे भाग को "ब्यूरो" या "कार्यालय" तथा एक बहुकार्यात्मक समाज में उसे ही "चेम्बर" कहा जाता है। इनमें से प्रत्येक की अपनी अलग विशेषताएँ होती हैं।

स्पेनिश शब्द "साल" के अनेक अर्थ हैं, जैसे-सरकारी कार्यालय, धार्मिक सम्मेलन, एक कमरा, इत्यादि। पूर्वी एशियाई देशों में भी सामान्यतः साल शब्द का प्रयोग लगभग इस अर्थ में किया जाता है। साल में अल्पकार्यात्मक "ब्यूरो" एवं बहुकार्यात्मक "चेम्बर" दोनों की कुछ विशेषताएँ पाई जाती है। परंतु साल की जो "ब्यूरो" विशेषताएँ हैं इसके आधारभूत चरित्र का सही प्रतिनिधित्व नहीं करती। विषय मूल्य व्यवस्था तथा समपाश्वीय समाज के परम्परावादी एवं आधुनिक तरीके इसकी प्रशासनिक समझदारी में दिखाई देते हैं तथा ब्यूरो में पाई जाने वाली कार्यकुशलता साल में नहीं होती।

समपाश्वीय समाज में परिवार कल्याण, भाई-भतीजावाद तथा पक्षपात की महत्त्वपूर्ण भूमिका है, विभिन्न प्रशासनिक पदों पर नियुक्तियाँ तथा कुछ प्रशासनिक कार्य संपन्न किए जाते हैं। अल्पकार्यात्मक समाज में रिश्तेदारों प्रशासनिक व्यवहार तथा सरकारी सत्ता के प्रयोग से अलग रखी जाती है। बहुकार्यात्मक समाज में राजनीतिक-प्रशासनिक व्यवस्था का चरित्र आनुवंशिक है इसलिए परिवार या रिश्तेदारी को महत्त्व देता है। समपाश्वीय समाज में नातेदारी तथा परिवार के ऊपर नये औपचारिक संगठनों को लादने के अतिरिक्त, दूसरी तरफ यह कानूनों के व्यापक रूप से क्रियान्वयन की उपेक्षा करता है। यद्यपि आनुवंशिकतावाद अधिकारिक रूप से निर्धारित होता है, वास्तविक रूप में इसका व्यापक रूप से प्रयोग किया जाता है तथा सभी प्रशासनिक व्यवहारों में देखा जा सकता है। "साल" अधिकारी सामाजिक कल्याण की अपेक्षा निजी उन्नति या धन प्राप्ति को प्राथमिकता देता है। उसका व्यवहार तथा निष्पादन पुरातनवाद या रूढ़िवाद से प्रभावित होता है जिसके परिणामस्वरूप नियमों एवं विनियमों का क्रियान्वयन व्यापक रूप से नहीं किया जाता। कुछ लोग दूसरों की तुलना में सरकारी कार्यक्रमों से अधिक लाभान्वित होते हैं जिससे बहुत बड़े वर्ग के हितों की उपेक्षा होती है।

इसके अतिरिक्त बहु-समुदायवाद से कुछ प्रशासनिक समस्याएँ भी उत्पन्न होती हैं। सैद्धांतिक रूप से यह कहा जा सकता है कि सरकारी अधिकारियों द्वारा कानूनों का निष्पक्ष रूप से क्रियान्वयन होना चाहिए। परंतु एक सरकारी अधिकारी सरकार के प्रति कम वफादार होता है जबकि अपने समाज के सदस्यों के प्रति अधिक वफादार पाया जा सकता है। परिणामस्वरूप, प्रबल अल्पसंख्यक समुदाय भर्ती आदि में प्रतिनिधित्व का प्रधान अंश प्राप्त करते हैं जिससे अधिकतर लोगों में असंतोष उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति उपस्थित करने तथा अन्य अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा करने के लिए "कोटा" या आरक्षण पद्धति अपनाई जा सकती है जिससे प्रशासन में सभी समुदायों को एक प्रकार का आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रदान किया जा सके।

फिर भी इस प्रकार की व्यवस्था विभागीकरण तथा समुदायों को पारस्परिक विद्वेष की ओर ले जा सकती है जिससे विभिन्न सरकारी एजेसियों में कार्यरत भिन्न समुदायों के बीच तनाव और भी बढ़ सकता है। केवल विकासशील देशों में ही विशेष रूप से यह स्थिति नहीं है, दक्षिण अमेरिका में सफेद तथा नीग्रो लोगों के बीच तनाव भी इसका उदाहरण है।

समपार्श्वीय समाज में परिवार, समुदाय तथा जाति निर्णायक भूमिकाएँ निभाती है, परंतु उसके साथ ही नए समूहों का विकास भी इस समाज के अंतर्गत होता है। रिग्स इसे "क्लैक्ट" कहते हैं। "क्लैक्ट" एक अपने ही प्रकार का समपार्श्वीय समूह होता है जो आधूनिक संघात्मक पद्धतियां या संगठन का प्रयोग तो करता है, परंतु पुरातनवादी अपविस्त त (डिफ्यूज) तथा विशिष्ट ध्येयों को बनाए रखता है। "क्लैक्टों" में मात्र एक समुदाय या समूह विशेष के लोग शामिल होते हैं तथा उस श्रेणी से जुड़े सरकारी अधिकारी केवल अपने कलैक्टों के सदस्यों की सेवा प्रभावी रूप से अन्य लोगों की उपेक्षा करके करते हैं। कभी-कभी साल या इसकी एजेंसियों में से कोई एक क्लैक्ट विशेष के साथ संबंध स्थापित कर लेती है या एक क्लैक्ट के रूप में कार्य करना प्रारंभ कर देती है।

परिणामस्वरूप क्लैक्ट एक समूह विशेष से घनिष्ठ संबंध बनाए रखता है तथा प्राथमिक रूप से उसके हित के कार्य करता है तथा व्यापक मानदंडों या आदर्शों तथा उपलब्धियों के प्रति केवल दिखावटी बातें करता है।

एक समपार्श्वीय समाज में पुरातनवादी व्यवहार का प्रतिमान मानदंडों या आदर्शों की नई प्रव त्ति के साथ-साथ विद्यमान होता है। औपचारिक तथा प्रभावी आचरण मानदण्डों के अतिच्छादन के परिणामस्वरूप आचरण प्रतिमानों के विषय में सामंजस्य का अभाव समपार्श्वीय की सामाजिक अंतःक्रियाओं की विशेषता होता है।

साल अधिकारी राजसेवा में प्रवेश तो उच्चतर शैक्षिक योग्यताओं के कारण या प्रतियोगी परीक्षाओं में सफलता प्राप्त करने के माध्यम से कर सकते हैं, परन्तु अपनी पदोन्नति तथा कैरियर के विकास के संबंध में वे मुख्यतः या अधिकतर निक्षेपित संबंधों तथा वरिष्ठता के आधार पर अथवा वरिष्ठ अधिकारियों के प्रभाव पर भी निर्भर करता है। यद्यपि ये अधिकारी अपने आचरण में आधुनिक मानदंडों पर चलने का दावा कर सकते हैं, वास्तविकता प्रतिदिन के व्यवहार में वे मानदंडों की उपेक्षा अथवा उन्हें अस्वीक त करते हैं। जनता भी नियमों तथा विनियमों का पालन करने में साल अधिकारियों का अनुसरण करती है। परन्तु जब उनका निजी मामला होता है तो वे या तो नियमों को तोड़ने का प्रयास करती है या अपने हित में छूट प्राप्त करने के लिए निवेदन करते हैं।

एक समपार्श्वीय समाज के शक्ति संगठन के आच्छादन का वर्णन करते समय रिग्स कहते हैं कि यह एक बहुत अधिक केन्द्रीक त तथा सकेन्द्रित सत्ता संरचना है जो बहुत अधिक स्थानीय तथा बिखरी हुई नियंत्रण व्यवस्था को आच्छादित करती है। इसमें सत्ता का (अधिकाधिक रूप से स्वीक त या वैध सत्ता) तथा नियंत्रण वास्तविक, परंतु अनाधिकाधिक रूप से अनुमत या अवैध सत्ता से विभाजन होता है। व्यवहार में कानूनी शक्ति वस्तुतः नियंत्रणों के सामने झुक जाती है। साल की सत्ता बहुल समुदायवाद, क्लैक्ट तथा बहुत आदर्शवाद पर आधारित समाज की नियंत्रण संरचनाओं को आच्छादित करता है। बहुत सी संरचनाएँ कभी-कभी असाधारण से व्यवहार करती है तथा यहां तक कि कई बार उस उद्देश्य के ही विरूद्ध कार्य करती है जिसके लिए उन्हें बनाया गया था। कभी-कभी प्रशासन की ओर मूलभूत स्थिति से विहीन संरचनाएँ इसके लिए उत्तरदायी अन्य संरचनाओं के साथ प्रशासनिक कार्यों का क्रियान्वयन करती है।

रिग्स ने समपार्श्वीय समाज को एक असंतुलित राज्य कहा है जिसमें राजनीतिक नेताओं की संवैधानिक शक्तियों के होते हुए भी नौकरशाहों का प्रभुत्व होता है। परिणामस्वरूप साल अधिकारी समपार्श्वीय समाज की निर्णय निर्माण प्रक्रियाओं में अल्पकार्यात्मक समाज की तुलना में अधिक प्रभुत्वशाली भूमिका निभाते हैं। नौकरशाहों के हाथों में शक्तियों के केन्द्रीकरण के कारण, लोगों की आवश्यकताओं तथा इच्छाओं के प्रति उनके द ष्टिकोण में सहानुभूति का अभाव होगा। इस प्रकार की परिस्थिति में विकासशील समाज में लोग प्रशासन को शक्तिशाली बनाना राजनीतिक विकास को संभवतः अवरूद्ध करना होगा। उन्होंने आगे कहा है कि नौकरशाही को नियंत्रित करने में असफल राजनीतिक व्यवस्था विधानमंडल, राजनीतिक दलों, स्वैच्छिक संस्थाओं तथा जनमत को प्रभावशून्य बना देगी।

किसी भी सत्तारूढ़ राजनीतिक नेता की कमजोरी या शक्ति उसके प्रशासकों को दंडित करने तथा पारितोषिक देने की योग्यता से अलग होती है। एक कमजोर राजनीतिक नेता एक कार्यकुशल अधिकारी की सेवाओं को पहचानने तथा उसके द्वारा संगठन लक्ष्य को प्राप्त करने पर उसे अधिकारी को पुरस्कार देने में असफल हो सकता है और उसी समय अपनी असफलताओं के लिए कोई अकुशल अधिकारी दंड से बच कर निकल सकता है। परिणामतः एक कुशाग्र बुद्धि वाला साल अधिकारी अपनी शक्ति तथा निजी हितों को बढ़ावा देने में अपना अधिकतम समय व्यतीत करने की ओर प्रव त्त होता है तथा इस प्रक्रिया में अकुशल अधिकारी बचकर निकल सकते हैं। क्योंकि सरकार का निष्पादन साल अधिकारी के उत्पादन स्तर पर निर्भर करता है, इसलिए रिग्स का कहना है कि नौकरशाही के व्यवहार तथा प्रशासनिक उत्पादन में घनिष्ठ संबंध है, एक नौकरशाह जितना अधिक शक्तिशाली होगा, उतना ही वह प्रभावहीन प्रशासक होता है, परिणामस्वरूप अपने हितों की रक्षा के लिए सत्ता प्राप्त करने के उद्देश्य से नियंत्रित होने के कारण कानूनों के संचालन में, अकुशलता, संस्थागत भ्रष्टाचार तथा भर्ती में भाई-भतीजावाद साल की विशेषताएँ होती हैं।

बाजार कैंटीन प्रारूप (Bazaar Canteen Model)

समपार्श्वीय अर्थव्यवस्था की आर्थिक उपव्यवस्था को रिग्स बाजार कैंटीन प्रारूप का नाम देते हैं। एक अल्पकार्यात्मक (डिफ्रैक्टेड) समाज में आर्थिक व्यवस्था मांग और पूर्ति के बाजार घटकों पर निर्भर होकर काम करती है तथा केवल आर्थिक कारण ही बाजार को नियंत्रित करते हैं। एक बहुकार्यात्मक (फ्यूज्ड) समाज में धार्मिक, सामाजिक या परिवार संबंधी कारक अर्थव्यवस्था का संचालित करते हैं। ऐसी अर्थव्यवस्थाओं में एक प्रकार से वस्तु विनिमय प्रणाली ही विद्यमान होती है तथा कीमत का प्रश्न कभी-कभार ही उत्पन्न होता है। समपार्श्वीय समाज में बाजार अर्थव्यवस्था तथा परम्परावादी अर्थव्यवस्था दोनों की विशेषताएँ होती हैं। ऐसी परिस्थितियों में एक वस्तु या सेवा का मूल्य आंकना संभव नहीं होता।

बाजार कैंटीन, प्रारूप में, समाज का एक वर्ग आर्थिक संस्थाओं पर नियंत्रण द्वारा सभी लाभ प्राप्त करता है तथा अधिक लोगों का शोषण करता है। सौदेबाजी, कटौती तथा रिश्वत इत्यादि इस प्रारूप की सामान्य विशेषताएँ हैं। सभी स्तरों पर भेदभाव तथा पक्षपात होता है, सेवाओं का निर्धारण सार्वजनिक अधिकारी तथा लोगों के संबंधों से द ढ़ होता है, सेवाओं का निर्धारण सार्वजनिक अधिकारी तथा लोगों के संबंधों से द ढ़ होता है, जो एक स्थान से दूसरे स्थान में तथा एक समय से दूसरे समय तथा व्यक्तिवभः भिन्न होता है। किसी वस्तु या सेवा की कीमत परिवार के संबंध, रिश्तेदारी, व्यक्तिगत संबंध, सौदेबाजी की शक्ति तथा राजनीति पर निर्भर होती है। इस प्रकार की स्थिति कालाबाजारी, जमाखोरी, मिलावट तथा महँगाई इत्यादि को बढ़ावा देती है। एक समपार्श्वीय समाज में बाजार कारक पूंजी में आनुपातिक व द्धि के बिना ही विकसित होते हैं, व्यापारी अपने प्रभाव को निजी हितों के उद्देश्य से राजनीतिक तथा प्रशासनिक क्षेत्रों तक फैलाने का प्रयास करते हैं। इसलिए शोषण, गरीबी तथा सामाजिक अन्याय बाजार कैंटीन प्रारूप की मुख्य विशेषताएँ बन जाती है।

समपार्श्वीय समाज का सिद्धांत : पुनर्निर्माण का संशोधन (Theory of Prismatic Society : Revisited)

अपने प्रयासों की सीमाओं को स्वीकार करते हुए रिग्स ने अपने बाद के कार्य "प्रिज्मैटिक-सोसाइटी रिविजिटिड" (1975) में सुधार किया था। जैसा पहले कहा जा चुका है, उनके बहुकार्यात्मक, समपार्श्वीय तथा अल्पकार्यात्मक समाजों के प्रारूपों विभेदीकरण के स्तरों पर आधारित थे। अपने नए सूत्रों में, रिग्स ने विभेदीक त तथा समपार्श्वीय समाजों के बीच समन्वय का दूसरा आयाम प्रस्तुत किया है। रिग्स ने विभेद तथा समन्वय के दोहरे द ष्टिकोण के माध्यम से समाजों को समन्वय तथा असमन्वय के आधार पर संकलित किया। अल्पकार्यात्मक तथा समपार्श्वीय समाजों के प्रारूपों का फिर आगे समन्वय के आधार पर उप विभाजित किया गया। इसलिए अल्पकार्यात्मक समाजों आदि को अल्पकार्यात्मक अर्थो-अल्पकार्यात्मक तथा नव-अल्पकार्यात्मक के रूप में संकलित किया गया है। इसी प्रकार समपार्श्वीय समाजों को भी अति समपार्श्वीय (co-prismatic) आर्थो-समपार्श्वीय (artho-prismaticK) तथा नव-समपार्श्वीय (neo-prismatic) के रूप में संकलित किया गया है।

दोहरे द ष्टिकोण के नए सूत्रों का अर्थ है एक अल्पकार्यात्मक प्रारूप उस समाज का वर्णन करता है जो विभेदीक त तथा समन्वित है तथा समपार्श्वीय प्रारूप विभेदीक त परन्तु असमन्वित समाज का वर्णन करता है। दोनों प्रारूपों के साथ जुड़े पूर्व प्रत्यय विभेद तथा समन्वय के बीच भिन्न संबंधों को बतलाते हैं।

रिग्स ने संशोधित प्रारूपों का प्रयोग अमरीका जैसे विकसित समाज में तनावों की व्याख्या करने के लिए किया। उसके विचार में विकसित राष्ट्रों में शहरी, संकट, वंशानुगत या जातिगत हिंसा, विद्यार्थी आंदोलन जैसे सामाजिक तनाव विभेद तथा समन्वय में दूषित समायोजन के परिणामस्वरूप होते हैं। अल्पविकसित देशों में अधिक स्थिर या शांतिपूर्ण स्थितियों समपार्श्वीय समाजों में विभेद तथ समन्वय के बीच के कम अंतर का सूचक हो सकती है। रिग्स के ये सूत्र विकासशील तथा विकसित समाजों की विशेषताओं को समझने के लिए अधिक उपयोगी है।

आलोचना (Criticism)

रिग्स की पारिस्थितिकीय द ष्टिकोण की बहुत सी आलोचनाएँ आपको मिलेगी। मुख्यतः आलोचनाएँ निम्न आधारों पर की जाती हैं:

भाषा के प्रयोग में कठिनाइयाँ,

परिवर्तनोन्मुखता का अभाव,

परिमाणात्मक सूचकों का अभाव,

आवधारणाओं की नकारात्मक प्रव त्ति या उन्मुखता; तथा

जाति या वंशवाद पर मुख्य बल। (Ethnocentricism)

भाषा-प्रयोग में कठिनाइयाँ: रिग्स ने अपनी धारणाओं का अर्थ बतलाने के लिए नये शब्दों को निर्मित किया। इसके अतिरिक्त पहले से ही प्रयोग में आए अनेक शब्दों का भिन्न अर्थ भी प्रदान किया। नये शब्द बनाने में उस समय कोई हानि नहीं होती जब वर्तमान शब्दकोष अर्थ समझाने तथा अवधारणाओं को ढंग से अभिव्यक्त करने में असमर्थ हो यदि कोई अपने ढंग से शब्द की व्याख्या करता है तो इसमें यह भी कोई गलत बात नहीं है। परन्तु नये शब्दों का स्वतंत्र प्रयोग और ऐसे शब्दों का जिनके पहले ही भिन्न-भिन्न अर्थ हों, अवधारणाओं को स्पष्ट करने के स्थान पर उलझन या भ्रांति पैदा कर सकता है। रिग्स ने अपने प्रारूपों को वैज्ञानिक रूप देने के उत्साह में अपनी अधिकतम शब्दावली भौतिक विज्ञानों से उधार ली है। परन्तु प्रशासन के विश्लेषण के लिए भौतिक विज्ञानों से उधार लिए कुछ नये शब्दों का प्रयोग इसे विज्ञान नहीं बना सकता।

परिवर्तनोन्मुखी की कमी: 'हानि-बीन ली' विकास प्रशासन के सामाजिक परिवर्तन पर संकेन्द्रण की द ष्टि से समपार्श्वीय तथा साल प्रारूपों की उपयोगिता को संदेह की द ष्टि से देखते हैं। ली का मानना है कि रिग्स के प्रारूप सामाजिक परिवर्तन तथा विकास की प्रक्रिया के विश्लेषण में सहायक नहीं है। वे रिग्स के प्रारूपों को संतुलन-प्रारूपों के रूप में मानते हैं। संतुलन प्रारूप व्यवस्था को सुरक्षित रखने में तो सहायता देंगे परन्तु व्यवस्था में कोई परिवर्तन प्रस्तुत करने में नहीं। इस प्रकार निष्कर्षतः ली कहते हैं कि रिग्स के प्रारूप उस समय उपयोगी नहीं है जब प्रशासन का लक्ष्य व्यवस्था को बनाये रखने की अपेक्षा व्यवस्था को परिवर्तित करता हो।

परिमाणात्मक सूचकों का अभाव या अनुपस्थिति: विशेष समाजों में रिग्स के प्रारूपों को क्रियान्वित करने में मूल्यांकन की समस्या उत्पन्न होती है। मूल्यांकन के अभाव में समपार्श्वीय या अल्पकार्यात्मक समाजों की पहचान कठिन हो जाती है। रिग्स के विश्लेषण के पीछे चलने वाला विद्यार्थी समपार्श्वीय को प्रत्येक ज्ञातस्थिति या अवस्था से जोड़ने की ओर प्रव त्त हो सकता है। इसी प्रकार जब प्रस त (फ्यूज्ड) तथा अल्पकार्यात्मक (डिफ्रैक्टेड) समाज काल्पनिक हो, दयाक ष्ण कहते हैं, सभी समाजों का वर्गीकरण निम्न, मध्यम या उच्च स्तरों पर समपार्श्वीय के रूप में करना होगा परंतु जब समपार्श्ववाद के स्तरों के मूल्यांकन का अभाव हो तो इस प्रकार का वर्गीकरण असंगत होगा। सत्य यह है कि रिग्स के प्रारूप कुछ मान्यताओं पर आधारित हैं। परन्तु किसी अनुभव-परस्त प्रमाण के अभाव में इस प्रकार की मान्यताओं का चुनौती दी जा सकती है।

अवधारणाओं की नकारात्मक प्रव त्ति या उन्मुखता: रिग्स ने एक समपार्श्वीय समाज के सकारात्मक चरित्र को इतना महत्त्व नहीं दिया जितना नकारात्मक चरित्र को। उसने नियमबद्धता या नियमनिष्ठता का एक नकारात्मक पहलू के रूप में प्रस्तुत किया तथा उसके सभी बुरे प्रभावों का उभारा। परन्तु यह भी सच है कि कभी-कभी नियमों तथा विनियमों का सख्ती से पालन न करने से लोगों को लाभ हो सकता है। उदाहरण के लिए, यदि कुछ नियमों का सख्ती से पालन न किया जाए तो प्रशासन

अधिक तेज गति से चल सकता है। भारत जैसे देशों में, यदि नेत त्व ठीक हो, नियमनिष्ठता अधिकतम या सभी स्थितियों में कार्य-अवरोधक बन जाता है तथा एक गैर-परिवेशीय द ष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है। रिग्स की नकारात्मक औपचारिकता की अवधारणा को प्रति-संतुलित करने के लिए वाल्सन ने सकारात्मक औपचारिकता की नई अवधारणा प्रस्तुत की है। इस बात से असहमति नहीं हो सकती जहाँ पर निष्पादन के एक उच्चतर स्तर को प्राप्त करने का प्रयास किया जायेगा वहाँ प्रत्येक स्थिति में औपचारिकता का होना आवश्यक है। इसका अर्थ निष्पादन के नये उच्चतर स्तर पर पहुँचने की लोगों की इच्छा है। सभी संस्थाएँ तथा व्यक्ति अपना निष्पादन सुधार सकते हैं जब निर्धारित लक्ष्य, निर्धारित मानदंड उच्चतर किस्म या स्थिति के हों। औपचारिकता को सद्भावनाओं तथा उसे प्राप्त करने के लिए संघर्ष के बीच अंतर समझने की अपेक्षा, इसका वर्णन एक नकारात्मक विशेषता के रूप में किया गया है।

जातिवाद या वंशवाद पर अधिक बलः समाजों का बहुकार्यात्मक समपाश्वीर्य या अल्पकार्यात्मक समाजों के रूप में वर्गीकरण पूंजीवादी व्यवस्था में अंतनिर्हित मूल्यों पर आधारित है। वास्तव में अल्पकार्यात्मक प्रारूप की विशेषताएँ पूर्णतः एक पूँजीवादी व्यवस्था की विशेषताएँ है। रिग्स का विश्लेषण स्पष्ट रूप में अन्य प्रारूपों के ऊपर अल्पकार्यात्मक प्रारूप की श्रेष्ठता स्थापित करता है। उस सीमा तक यह द ष्टिकोण जाति या वंशवाद से ग्रसित है।

अध्याय-9
संगठन की सिद्धान्त
(Theories of Organisation)

प्रशासन में किन्हीं विशेष उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कई व्यक्तियों को सहयोगी यत्न करना पड़ता है। स्पष्ट है कि इन व्यक्तियों को वांछित उद्देश्य की पूर्ति के लिए संगठित होना पड़ता है। उन्हें कार्य में एक दूसरे को सहयोग देना होता है तथा एक ही उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सांझी शक्ति लगानी होती है। यह तभी संभव है यदि ऐसे संगठनात्मक ढांचे का निर्माण किया जाए जिसमें उनकी शक्तियाँ सांझे उद्देश्य की प्राप्ति की ओर लगी हुई हो। भारतीय संगठन किसी भी प्रशासनिक कार्रवाई से पहले आता है क्योंकि संगठन के बिना कोई भी प्रशासनिक कार्य नहीं किया जा सकता।

संगठन का अर्थ
(Meaning of Organisation)

शब्दकोश के अनुसार संगठन का अर्थ है-"परस्पराश्रित भागों को इस प्रकार जोड़ना ताकि प्रत्येक को विशिष्ट कार्य, कार्रवाई, पद प्राप्त हो तथा जो सम्पूर्ण (whole) से सम्बन्धित हों।" जे. गम. हाऊस के अनुसार, "संगठन कर्मचारियों की वह व्यवस्थित है जो कार्यो तथा दायित्वों के विभाजन के माध्यम से स्वीक त उद्देश्य की प्राप्ति में सुविधा प्रदान करती है। इसमें सांझे कार्य में लगे व्यक्तियों तथा समूहों के यत्नों और सामर्थ्यो को इस प्रकार जोड़ना होता है कि न्यूनतम तनाव से कार्यकर्त्ताओं तथा जिनके लिए कार्य किया जा रहा है, उनके अधिकतम संतोष से उद्देश्य की प्राप्ति में व्यस्त होती है।" कुछ अन्य परिभाषाएँ इस प्रकार हैं-

1. **"संगठन कर्मचारियों की वह व्यवस्था है जो कार्यो तथा दायित्वों के विभाजन के माध्यम से स्वीक त उद्देश्य की प्राप्ति में सुविधा प्रदान करती है।"**

-एल.डी. ह्वाईट

2. **"संगठन प्रत्योयोजित सत्ता (delegated authority) की लाइन से जुड़ा हुआ परस्पर सम्बन्धित पदों का प्रतिमान (pattern) है।"**

-मिलवार्ड

3. **"संगठन में व्यक्ति का व्यक्ति से तथा समूह का समूह से इस प्रकार सम्बन्ध जोड़ा जाता है कि ठीक प्रकार से श्रम विभाजन हो जाए।"**

-फिफनर

4. **"संगठन उस ढांचे की ओर संकेत करता है जो मुख्य कार्यकारी अधिकारी तथा उसके प्रशासनिक अधीनस्थों को सौंपे गए कार्य को निष्पादित करता है।"**

-माकर्स एम.

5. **"संगठन सत्ता की वह औपचारिक संरचना है जिसके माध्यम से परिभाषित उद्देश्य के लिए कार्य सम्बन्धी प्रयोगों को व्यवस्थित, परिभाषित तथा समायोजित किया जाता है।"**

-ग्यूलिक लूथर

6. "संगठन आवश्यक मनुष्यों, सामग्री, यन्त्रों, उपकरणों, कार्य-स्थान आदि का वह प्रभावकारी तथा समायोजित एकत्रीकरण है जिससे किसी वांछित उद्देश्य की पूर्ति होती है।"

-शुल्जे विलियम

7. "संगठन किसी उद्यम में कार्य करने वाले व्यक्तियों के संबंधों का प्रतिमान है, जो उद्यमी के कार्यों को पूरा करने के लिए बनाया गया है।"

-ग्लैडन

8. संगठन से हमारा अभिप्राय सहयोगी प्रयास की नियोजित व्यवस्था से है जिसमें प्रत्येक सहभागी के निश्चित कार्य तथा मान्य भूमिका होते हैं।

-साईमन

संगठन शब्द प्रायः भिन्न-भिन्न अर्थो में प्रयुक्त होता है-

1. प्रशासनिक संरचना का डिजाईन बनाने का कार्य;
2. संरचना का डिजाईन तथा निर्माण दोनों, तथा
3. स्वयं संरचना।

कई विचारकों का यह मत है कि संगठन केवल संरचना का डिजाईन करना है और कुछ नहीं। उदाहरणार्थ उरविक संगठन के अर्थ को केवल प्रशासनिक मशीन के डिजाईन करने तक सीमित करता है। वह संगठन की परिभाषा करते हुए कहता है कि यह किसी उद्देश्य के लिए आवश्यक गतिविधियों को निर्धारित करना एवं उन्हें वर्गो में विभाजित करना है ताकि इन्हें व्यक्तियों को निर्दिष्ट किया जा सके।" उसके द ष्टिकोण को स्ट्रक्चरल (structural) अथवा परम्परावादी द ष्टिकोण कहा जाता है। दूसरे लोग संगठन के इस द ष्टिकोण से सहमत नहीं है। उनका विश्वास है कि संगठन आवश्यक रूप से मानवीय सम्बन्धों का तानाबाना है तथा इसके अध्ययन में इस तथ्य को द ष्टि से ओझल नहीं किया जाना चाहिए। वाल्डो के कथनानुसार, "कई द ष्टियों से परम्परावादी सिद्धान्त अपरिमार्जित, अधूरा तथा अपने कुछ निष्कर्षो में गलत है, कुछ इसकी वैज्ञानिक प्रणाली भी सुलझी हुई नहीं है तथा इसका द ष्टिकोण भी सीमित है।" मिलवार्ड (Milward) के अनुसार, "संगठन स्वयं कुछ नहीं करता, इसको निर्मित करने वाला स्टाफ ही कार्य करता है।" इसी प्रकार गाऊस (Gous) भी संगठन में मानवीय अंश पर बल देता है। संगठन की परिभाषा देते हुए वह कहता है, "इसमें सांझे कार्य में लगे व्यक्तियों तथा समूहों के प्रयत्नों और सामर्थ्यो को इस प्रकार जोड़ना होता है कि न्यूनतम तनाव से कार्यकर्त्ताओं तथा जिनके लिए कार्य किया जा रहा है, के अधिकतम संतोष से उद्देश्य की पूर्ति हो जाए।" इस बात में कोई संदेह नहीं कि संगठन केवल एक ढांचा मात्र (Structural framework) ही नहीं है, यह एक ढांचा भी है, तथा मानवीय सम्बन्धों का तानाबाना भी है। इसलिए कोई भी संगठन सम्बन्धी सिद्धान्त मूल रूप से मानवीय होना चाहिए।

इस तथ्य को विद्वान् विचारकों ने इस प्रकार प्रकट किया है-"संगठन अन्योन्याश्रित भागों को सम्पूर्ण तथा एकीक त इकाई (unified whole) के रूप में जोड़ता है जिसके माध्यम से निश्चित उद्देश्य प्राप्त करने के लिए सत्ता, तालमेल तथा नियन्त्रण का प्रयोग किया जा सके। चूँकि ये भाग भी व्यक्तियों से निर्मित है, जिनको निदेशित तथा अभिप्रेरित किया जाना जरूरी है तथा निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जिनके कार्य में तालमेल लाना जरूरी है, इसलिए संगठन ढांचा भी है तथा मानव समूह भी। संगठन को केवल ढांचा समझना तथा उसे निर्मित करने वाले तथा जिन के लिए यह बनाया गया है, उन पर विचार न करना अर्थहीन है।" एल.डी. ह्वाईट के शब्दों में, "संगठन पदवियों तथा पदधारियों का एक समूह है।" तथा इसके मुख्य तत्त्व हैं व्यक्ति, सामूहिक यत्न तथा सांझा उद्देश्य।

पुराने समय में संगठन सरल होते थे क्योंकि मानव समाज प्राथमिक अवस्था में था। किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि आज की तरह के संगठन विद्यमान ही नहीं थे। इसका अर्थ केवल यह है कि पुराने सरल संगठनों में सम्बन्ध प्रणाली आज की सम्बन्ध प्रणाली से भिन्न थी। औद्योगिक युग से पूर्व के स्केल संगठनों का उल्लेख करते हुए फिफनर तथा शेरवुड लिखते हैं-"वे सरल समूह थे, उनका कार्य सरल था जो केवल एक सरल कार्य को बारम्बार करना था। संगठन अपनी जनक परिस्थितियों के अनुकूल होता है। इसी सिद्धांत के अनुसार उनमें एक ही सम्बन्ध प्रणाली थी जो सत्तावादी प्रकार की थी अर्थात् उनका स्वामी तथा दास का संबंध था।" किन्तु अब स्वामी दास सम्बन्ध नहीं है। आज के संगठन कई तत्त्वों से प्रभावित होकर जटिल

बन गए हैं। ये वही तत्त्व हैं जिन्होंने सारे समाज को जटिल बनाया है। इनमें

1. हमारे सामाजिक दर्शन तथा नीतियों में परिदर्शित व्यक्ति स्वतंत्रता,
2. मानवीय सहयोग की प्रक ति के बारे में नयी धारणाओं का विकास,
3. संगठन के उद्देश्यों का विस्तार,
4. कार्य में विशिष्टता लाने का अभियान सम्मिलित हैं।

यह बात महत्त्वूपर्ण है कि प्रशासकीय संगठन सामाजिक इकाइयाँ हैं तथा इस नाते वे उन्हीं प्रभावों, दबावों, पूर्वाग्रहों आदि के अधीन होती हैं जिस प्रकार अन्य सामाजिक संस्थाएँ होती हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि उन पर सम्पूर्ण रूप से बहु आयामी परिप्रेक्ष्य से विचार किया जाए न कि सीमित, यांत्रिक द ष्टिकोण से। जेम्स डी. मूनी के कथनानुसार, "इसलिए संगठन का तात्पर्य एक भवन की रूपरेखा से कहीं अधिक है। यह एक संपूर्ण संरचना एवं इसके सभी सहसम्बन्धित कार्यो की ओर संकेत करता है। ये ऐसे कार्यो की ओर संकेत करता है, जो क्रियारत दिखाई देते हैं, अर्थात् व्यवस्थित इकाई की नब्ज, धड़कन, रक्त संचार तथा श्वास आदि, इसके मूल जीवन की ओर संकेत करता है। यह इन सभी तत्वों के समन्वय की ओर संकेत करता है क्योंकि ये सांझे उद्देश्य के लिए सहयोग देते हैं।"

संगठन के सिद्धान्त
(Theories of Organisation)

संगठन के सिद्धान्तों के बारे में बहुत साहित्य रचा गया है। इन सिद्धान्तों में व्यवहारवादी सिद्धान्त, समूह सिद्धान्त, अनौपचारिक संगठन की अवधारणा, अभिप्रेरणात्मक उपागम (motivational approach), अर्ध-गणितीय उपागम, मानवीय सम्बन्ध उपागम आदि सम्मिलित हैं, किन्तु इसमें से कोई भी सिद्धान्त अध्ययन सभी पूर्णतया संतोषजनक नहीं है। यह संभवतः इस कारण है कि संगठन सम्बन्धी अध्ययन अभी अपने शैशवकाल में है। प्रशासनिक संगठन सम्बन्धी अध्ययन इसके एक अथवा दूसरे पक्ष पर केन्द्रित रहा है। एक ओर परम्परावादी, यांत्रिक, अभियांत्रिक द ष्टिकोण रहा है तथा दूसरी ओर, मानव व्यवहारवादी द ष्टिकोण है जिसमें समाजशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों एवं मानवशास्त्रियों का योगदान प्रमुख रहा है। ये दोनों सिद्धान्त एक दूसरे के बिल्कुल विपरीत हैं तथा दोनों में भिन्न मूल्यों पर बल दिया गया है। जो व्यक्ति औद्योगिक प्रबन्ध की द ष्टि से देखते हैं, एवं औपचारिक संरचात्मक अवधारणाओं को प्रमुखता देते हैं वे उत्पादन, प्रतियोगिता तथा उद्यम की कार्यकुशलता संबंधी मूल्यों पर बल देते हैं। इसके विपरित, समाजशास्त्री संगठन के मानवीय पक्ष को लेते हैं, वे सत्ता को शीर्ष से नीचे की ओर उतरती हुई न समझ कर समूह के अंदर से ही उपजी हुई समझते हैं। अब इन दोनों सिद्धान्तों का विस्त त अध्ययन किया जाएगा।

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक सिद्धान्त (Structural Functional Theory)

इस सिद्धान्त को संगठन का परम्परावादी अथवा मिकैनिस्टिक सिद्धान्त भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार संगठन एक औपचारिक ढाँचा है जो कुछ स्वीक त नियमों के अनुसार बनाया जा सकता है, जैसे कि किसी भवन का नक्शा वास्तुकार द्वारा कुछ नियमों के अनुसार पहले ही तैयार कर दिया जाता है। वास्तव में संयुक्त राज्य अमेरिका में 'संगठन इंजीनियर' हैं जो संगठनात्मक चार्ट तैयार करने का व्यवसाय करते हैं। यह सिद्धान्त दो धारणाओं पर आधारित है। प्रथम, यह सिद्धान्त यह विश्वास रखता है कि कुछ ऐसे मूल सिद्धान्त हैं जिनके कार्य पदधारियों से स्वतन्त्र है। अब तक यह स्पष्ट हो गया है कि यह सिद्धान्त संगठन को एक मशीन समझता है जिसमें मनुष्य पुरजों की तरह फिट किए जाते हैं। वैज्ञानिक प्रबन्ध आन्दोलन जो विनस्लो टेलर के नेत त्व के अधीन 20वीं शताब्दी के प्रथम दशकों में आरम्भ हुआ, का मुख्य उद्देश्य कार्य को इसके घटक भागों में विभाजित करना था। इस आन्दोलन ने कामगारों के लिए दैनिक कार्य की मात्रा निश्चित करने के यत्न में मानवीय व्यवहार का उपेक्षित किया जिसके परिणामस्वरूप इसमें त्रुटि आ गई।

फिफनर तथा शेरवुड के अनुसार, "परम्परावादी सिद्धान्त स्वेच्छाचारिता, अर्थशास्त्र के 'अकेला छोड़ दो के सिद्धान्त', युक्तीकरण एवं मानव व्यवहार की यांत्रिक व्यवहार के सम्मिश्रण से उद्भूत हुआ है।" यह 19वीं शताब्दी की औद्योगिक संस्थाओं में आरंभ हुआ जबकि लोकतन्त्रात्मक वातावरण पैदा नहीं हुआ था। इस सिद्धान्त के अनुसार काम करने वाले व्यक्तियों का कोई महत्त्व नहीं है। लोगों को कार्य की आवश्यकताओं के अनुसार अपने आपको ढालना चाहिए तथा जो ऐसा नहीं कर सकते उन्हें निकाल

फेंकना चाहिए। इसकी यह भी धारणा है कि कामगार सदा तर्कसंगत विकल्प से प्रेरित होते हैं तथा विकल्प विद्यमान होने पर वे सदा आर्थिक व्यक्ति के रूप में कार्य करते हैं। एल.डी. ह्वाईट के शब्दों में, "यह सरकार में कानून द्वारा तथा उच्च मैनेजमेंट द्वारा स्थापित सम्बन्धों का औपचारिक घोषित प्रतिमान है। यह किए जाने वाले कार्य की प्रक ति तथा मात्रा पर निर्भर है तथा कार्यकुशलता इसका मुख्य उद्देश्य है अर्थात् उत्तरदायित्व के साथ-साथ कर्मचारियों तथा सामग्री का अत्यन्त प्रभावकारी प्रयोग हो सके। इस प्रकार संगठन सत्ता द्वारा स्थापित तथा समर्थित होता है जिसे एक तालिका अथवा मानचित्र पर यद्यपि अपूर्ण रूप से रूपांकित किया जा सकता है। यह सामान्यतः कार्य सम्बन्धों का प्रबल प्रारूप है।" संक्षेप में, परम्परावादी सिद्धान्त के मुख्य विचार निम्नलिखित हैं-

1. प्रथम, यह मानवीय सम्बन्धों का प्रशासनिक द ष्टिकोण अपनाता है;
2. द्वितीय, यह मानव व्यवहार का पूर्णतः तर्कयुक्त समझता है तथा मानव स्वभाव के तर्करहित तत्त्व को उपेक्षित करता है;
3. तीसरा, यह मानव जीवन में केवल आर्थिक प्रोत्साहन को ही प्रोत्साहन मानता है तथा मनोवैज्ञानिक तत्वों की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं देता;
4. चौथा, यह इस धारणा में विश्वास रखता है कि व्यक्ति समूहों तथा अन्य सामाजिक तत्त्वों के नियन्त्रण से प्रभावित नहीं होता है;
5. पाँचवाँ, यह संगठन के प्रति यांत्रिक द ष्टिकोण अपनाता है तथा संगठनात्मक व्यवहार की गतिशीलता की उपेक्षा करता है;
6. छठा, यह संगठन में केवल औपचारिक सम्बन्धों को द ष्टिगत रखता है तथा अनौपचारिक सम्बन्धों की उपेक्षा करता है।

इस द ष्टिकोण पर "उस इंजीनियर की मोहर लगी हुई है जो वैज्ञानिक निपुणता, तर्कसंगत ढाँचा, प्रत्येक कार्य को करने का सर्वोत्तम ढंग तथा सभी अंगों को एकीक त संपूर्ण से सम्बद्ध करने का तरीका खोज रहा है।"

सामाजिक-मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त (Social-Psychological Theory)

20वीं शताब्दी के चौथै दशक में परम्परावादी संगठन सिद्धान्त का घोर विरोध शुरू हो गया। यह विरोध अनेक आन्दोलनों, विचारधाराओं द्वारा किया गया जो परम्परावादी द ष्टिकोण के, जो संगठन का सीमित अर्थो में लेता है, आलोचक थे। यह संगठन को अमानवीय बनाने के विरूद्ध विद्रोह था। यह मनुष्यों को मशीनों के पुर्जे समझने के विरूद्ध था। हरबर्ट ए. साइमन ने संगठन के सिद्धान्तों की कड़ी आलोचना करते हुए कहा कि ये केवल कहावतें हैं जिनको वैज्ञानिक द ष्टि से कभी परखा नहीं गया। संगठन सिद्धान्त के क्षेत्र में यह सैद्धान्तिक क्रान्ति हाथोर्न द्वारा 1920 के दशक में किए गए प्रयोगों के परिणामस्वरूप आई। यद्यपि इस अनुसंधान के निष्कर्ष एक दशक बाद प्रकाशित हुए। एलटन मेओ तथा उसके सहयोगियों जिनके द्वारा में प्रयोग किए गए ने संगठन तथा प्रबन्ध के क्षेत्र में दो महत्त्वपूर्ण योगदान दिए, जो निम्नलिखित हैं-

1. अभिप्रेरणा विषयक भौतिक अथवा इंजीनियरिंग द ष्टिकोण को चुनौती।
2. संगठन के संरचनात्मक, परसोपानात्मक (Hierarchiacal approach) उपागम पर प्रथम वास्तविक प्रहार।

इस प्रयोग से यह सिद्ध हो गया कि लोग भौतिक तथा वातावरण सम्बन्धी प्रोत्साहनों से विशेष प्रभावित नहीं होते। दूसरे शब्दों में, संगठन एक सामाजिक संस्था है तथा इसमें कार्य करने वाले व्यक्ति सामाजिक प्राणी हैं। वे अधिकतम कार्यकुशलता तब दिखाते हैं जब उन्हें कार्य की मानवता परिस्थितियाँ प्रदान की जाएँ। हेनरी फेओल ने बड़े सुन्दर शब्दों में कहा है-"यदि हम मानवीय अंश को निकाल दें तो संगठन बनाना सुगम हो जाएगा; कोई भी इसे कर सकता है यदि उसे वर्तमान विधियों का ज्ञान हो तथा उसके पास आवश्यक पूंजी हो। किन्तु हम मनुष्यों को केवल समूहों में बाँटकर तथा उन्हें काम देकर प्रभावकारी संगठन नहीं बना सकते; हमें मनुष्यों का केवल समूहों में बाँटकर तथा उन्हें काम देकर प्रभावकारी संगठन नहीं बना सकते; हमें संगठन को आवश्यकताओं के अनुसार ढालने की आवश्यकता है तथा प्रत्येक व्यक्ति को उपयुक्त स्थान पर लगाने की आवश्यकता है।"

फिफनर तथा शेरवुड ने संगठन सम्बन्धी सिद्धान्त में परिवर्तित प्रव त्तियों का अपनी पुस्तक 'प्रशासनिक संगठन' में उल्लेख किया है। वे इस प्रकार हैं-

संगठन सिद्धान्त के झुकाव
(Trends of Organisation Theory)

किस ओर से	किधर को
परम्परावाद	सामाजिक गतिशीलता
कार्य पदक्रम	सामाजिक प्रक्रिया
(Job-Task Hierarchy)	(Social Process)
कार्य कुशलता यांत्रिक प्रक्रिया के रूप में	कार्यकुशलता मानवीय प्रक्रिया के रूप में
संगठन नौकरशाही संरचना रूप में	संगठन सामाजिक संस्था के रूप में
आदेश द्वारा नियन्त्रण	संचार द्वारा नियन्त्रण
सत्ता ऊपर से नीचे	सत्ता समूह से
नेत त्व सत्ता द्वारा	नेत त्व सहमति द्वारा
व्यक्तिगत निर्णय, केन्द्रित कार्य	सामूहिक निर्णय, स्थिति अनुसार
कार्य वातावरण रेजीमेंटिड	कार्य वातावरण लोकतान्त्रात्मक
टैक्नोलोजिकल परिवर्तन आदेश द्वारा	टैक्नोलोजिकल परिवर्तन परामर्श द्वारा
सामाजिक अथवा वित्तीय अभिप्रेरणा	सामाजिक तथा वित्तीय प्रोत्साहन
कार्य निर्वाह के लिए	कार्य संतोष के लिए
आयोजना आपात तकनीक के रूप में	आयोजना औपचारिक प्रक्रिया के रूप में
अधूरी तथा विलम्बित सूचना	पूरी तथा अद्यतन सूचना
नीति तथा प्रशासन विभेद	नीति तथा प्रशासन सातन्य
लाभ लूट के रूप में	लाभ सामाजिक दायित्व के साथ

संगठन सम्बन्धी सिद्धान्त में उपर्युक्त प्रव त्तियाँ शुभ हैं क्योंकि ये संगठन में मनुष्यों के गौरव तथा व्यक्तित्व का भी ध्यान रखते हैं। ह्वाइट के अनुसार, "संगठन ऐसे कार्य सम्बन्धों का समूह है जो बहुत समय तक इकट्ठा काम करने वाले व्यक्तियों की पारस्परिक क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं से पनपते हैं.....। अनौपचारिक संगठन अधिक तीक्ष्ण होते हैं जिनमें सामाजिक तथा आर्थिक स्तर, जाति तथा भाषा के अन्तर, शैक्षणिक स्तर तथा निजी इच्छाएँ तथा घ णाएँ परिलक्षित होती हैं। यह परम्परागत होता है, कानून द्वारा बनाया हुआ नहीं होता, यह लिखित नहीं होता तथा इसे मानचित्र पर नहीं बनाया जा सकता। औपचारिक संगठन तर्कसंगत तथा निवैयक्तिक हो जाता है; अनौपचारिक संगठन भावात्मक तथा पूर्ण वैयक्तिक होता है। ये दोनों एक-दूसरे से टकरा भी सकते हैं, एक जैसे भी हो सकते हैं तथा एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न भी हो सकते हैं।"

तथापि उरविक जैसे ऐसे भी लेखक हैं जो अब भी संगठन के परम्परावादी सिद्धान्त के समर्थक हैं। उदाहरणार्थ उरविक का विश्वास है कि मानवीय अंशों की अतिशयोक्ति नहीं की जानी चाहिए। संगठन की योना अथवा डिजाइन के बिना कार्य करने का ढंग अतर्कपूर्ण, अपव्ययी तथा अकुशलतापूर्ण है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि औपचारिक सिद्धांत में जैसे कि अनौपचारिक सिद्धान्त में, अपनी त्रुटियाँ हैं। इसमें पदक्रम सम्बन्धों के अव्यवस्थित होने का भय रहता है तथा इस पर अधिक निर्भरता संगठन की कार्यकुशलता पर भी बुरा प्रभाव डाल सकती है। बड़े संगठन में अनौपचारिक अथवा स्ट्रक्चरल द ष्टिकोण अपनाना आवश्यक है तथा यदि यह द ष्टिकोण विद्यमान न हो तो इसे अपनाना होगा।

उपर्युक्त दो सिद्धान्तों के अध्ययन से यह कहना कठिन है कि कौन-सा सिद्धान्त पूर्ण तथा पूर्णतः संतोषजनक है। वास्तव में ये दोनों सिद्धांत परस्पर आश्रित है क्योंकि औपचारिक सिद्धान्त की त्रुटियाँ अनौपचारिक संगठन सिद्धान्त से ठीक की जा सकती

है। एक अकेला सिद्धान्त बनाने में अभी समय लगेगा। जैसे कि डिमाक तथा अन्य लेखकों ने कहा है, "संगठन के विद्यार्थी की समस्या भ्रांतिपूर्ण द्वैधता में से एकता की खोज करना है। वर्तमान पीढ़ी के लिए स्पष्ट चुनौती यह है कि वह अब तक प्रचलित दो सिद्धान्तों के स्थान पर एक अकेले सिद्धान्त की खोज करे।"

हम फिफनर तथा प्रीथस के शब्दों में इस प्रकार निष्कर्ष निकाल सकते हैं-

1. औपचारिक तथा अनौपचारिक संगठन समरूप भी हो सकते हैं तथा नहीं भी।
2. अनौपचारिक संगठन खण्डनायक हो भी सकता है और नहीं भी इस अर्थ में कि यह प्रबन्धकीय उद्देश्यों का विरोध करता है।
3. संगठन के अनौपचारिक पक्ष जरूरी होने के कारण, मैनेजमेंट का अपना प्रबंधकीय उद्देश्य पूरा करने के लिए उन्हें प्रयोग करना चाहिए।
4. वह प्रबन्धकीय व्यवस्था स्वस्थ तथा संतोषजनक है जिसमें औपचारिक तथा अनौपचारिक संगठन का संगम हो।

संगठन की कुछ तकनीकी समस्याएँ: बिना कुछ तकनीकी समस्याओं का सामना किये कोई भी संगठन बनाना सुगम नहीं। जितना बड़ा संगठन होगा उतनी अधिक समस्याएँ होंगी। इनमें से कुछेक समस्याओं जैसे नेत त्व, नीति-निर्धारण, निर्णय लेना, प्रत्यायोजन, तालमल तथा पर्यवेक्षण आदि पर इस पुस्तक के चतुर्थ भाग 'मैनेजमेंट' शीर्षक के अधीन विचार किया गया है। यहाँ हम केवल कुछ लघु समस्याओं का वर्णन करेंगे।

अध्याय-10
संगठन के सिद्धान्त
(Principles of Organisation)

संगठन की कतिपय आधारभूत तकनीकी समस्याएं हैं; जैसे, संगठन का विभाजन किस आधार पर किया जाए; प्रशासन का कार्य चलाने के लिए विभिन्न इकाइयों का निर्माण किस विधि से किया जाए; संगठन से सत्ता को किस प्रकार वितरित और नियन्त्रण को किस प्रकार संगठित किया जाए; संगठन की विभिन्न इकाइयों के बीच पारस्परिक सहकार भावना किस प्रकार जाग्रत की जाए?

संगठन संबंधी उपरोक्त समस्याओं के समाधान के लिए लोक प्रशासन के विभिन्न विद्वानों के कतिपय सिद्धान्तों (Princples) का वर्णन अपनी पुस्तकों में किया है। इन्हें ही प्रशासकीय संगठन के 'मूल तत्व' या 'सिद्धान्त' (Principles) कहा जाता है। यद्यपि कतिपय लेखकों की मान्यता है कि संगठन के सिद्धान्त होते ही नहीं हैं। उनके अनुसार संगठन के तथाकथित सिद्धान्त केवल 'कहावतें' (Proverbs) मात्र हैं। जैसा कि हर्बर्ट साइमन का अभिमत है, ''अधिकतम प्रशासकीय सिद्धान्तों में दुर्भाग्यवश कहावतों का यह दोष पाया जाता है। प्रायः प्रत्येक सिद्धान्त के लिए हमें उतना ही सत्य प्रतीत होने वाला तथा स्वीकार्य विरोधी सिद्धान्त मिल सकता है।.....सिद्धान्त में यह संकेत नहीं मिलता कि कौन-सा नियम (Principle) प्रयुक्त किए जाने के लिए उपयुक्त है।''

यद्यपि यह सर्वविदित है कि लोक प्रशासन के सिद्धान्तों से भौतिक विज्ञान के नियमों की गणितीय निश्चतता तथा अपरिवर्तनशीलता नहीं पायी जाती, तथापि यह भी उतना ही सत्य है कि लोक प्रशासन (संगठन) के भी अपने सिद्धान्त हैं जो गहन एवं सूक्ष्म अवलोकन के परिणाम हैं। संगठन के सम्बन्ध में विस्तार से अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि **लूथर गुलिक, उर्विक, हेनरी फेयोल, टेलर, विलोबी**, आदि विभिन्न लेखकों के कतिपय सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। अपने प्रयोगों के आधार पर फ्रेडरिक टेलर ने संगठन में कार्यकुशलता तथा मितव्ययिता में सुधार के उद्देश्य से व्यापक 'वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्त' निर्मित किए। लूथर गुलिक एवं लिंडल एफ. उर्विक ने अपने तथा अन्य लोगों के अनुभवों तथा अध्ययनों को एकत्रित करके प्रशासन तथा संगठन के सामान्य सिद्धान्तों के निर्माण में योगदान किया। दोनों ही 'संगठनात्मक कुशलता' के स्तर को बढ़ाने वाले 'तटस्थ सिद्धान्तों' के सिद्धान्त समर्थक लेखक थे। उन्होंने 'पेपर्स ऑन साइंस ऑफ ऐडमिनिस्ट्रेशन' (1937) नामक ग्रन्थ का सम्पादन किया जो प्रशासन विज्ञान में अनुपम योगदान समझा जाता है। इसमें प्रशासन के सिद्धान्तों का सार दिया गया तथा दावा किया गया कि कार्यकुशलता से निवेदित लोक प्रशासन एक विज्ञान बन सकता है।

यह सच है कि आज तक संगठन के कोई सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं बन पाए हैं, यह भी निश्चित है कि संगठन के सिद्धान्त भौतिक विज्ञान के नियम नहीं हैं, ये तो अनुभवजन्य सिद्धान्त हैं, फिर भी सिद्धान्त अवश्य हैं। इन सिद्धान्तों को 'संगठन के मूल तत्व' अथवा 'संगठन के आन्तरिक संचालन की समस्याएं' भी कहा जाता है। इन्हें 'प्रबन्ध की समस्याएं' अथवा 'प्रशासकीय संगठन की प्रावैधिक या तकनीकी समस्याएं' भी कहा जाता है। हेनरी फेयोल के अनुसार, ''ऐसे सत्य हैं जो सिद्ध मान लिए गए हैं और जिन पर विश्वास किया जा सकता है।'' इस सम्बन्ध में प्रो० एल०डी० व्हाइट का कथन उल्लेखनीय है: ''ये व्यवहार के कार्य नियमों का सुझाव देते हैं जो विस्त त अनुभव के कारण मान्य से हो गए हैं।''

मूनी तथा रैली ने एक आदर्श संगठन के लिए निम्नलिखित चार सिद्धान्तों का उल्लेख किया है:

1. समन्वयात्मक सिद्धान्त
2. पदसोपान सिद्धान्त
3. कार्यात्मक सिद्धान्त
4. स्टाफ एवं सूत्र सिद्धान्त

हेनरी फेयोल ने संगठन के निम्नलिखित 14 सिद्धान्तों का उल्लेख किया है:

1. श्रम-विभाजन
2. अधिकार तथा उत्तरदायित्व
3. अनुशासन
4. आदेश की एकता
5. निर्देशन का ऐक्य
6. व्यक्तिगत हित सामान्य हित से गौण
7. पारिश्रमिक
8. केन्द्रीकरण
9. स्कैलर श्रंखला
10. सुव्यवस्था
11. समता
12. पदावधि की स्थिरता
13. पहल करने की शक्ति
14. सहयोग की भावना

इन 14 सिद्धान्तों को फेयोल ने सार रूप में 5 तत्वों के रूप में पेश किया था: (1) योजना, (2) संगठन, (3) आदेश, (4) समन्वय, तथा (5) नियन्त्रण।

लूथर गुलिक ने फेयोल के सिद्धान्तों को परिवर्तित ढंग से 'पोस्डकोर्ब' (POSDCORB) परिवर्णीय शब्द (एक्रोनिम) के रूप में प्रस्तुत किया हे। एक्रोनिम में प्रत्येक अक्षर प्रशासन के 7 कार्यों में से एक को प्रदर्शित करता है। यह फेयोल के 'प्रशासन के तत्वों' पर सुधार है। उसके अनुसार संगठन के सिद्धान्त हैं:

1. योजना (Planning)
2. संगठन (Orgnaisation)
3. कार्मिक सम्बन्धी कार्य (Staffing)
4. निदेशन (Direction)
5. समन्वय (Co-ordination)
6. प्रतिवेदन (Reporting)
7. बजट बनाना (Budgeting)

उर्विक ने संगठन के अग्रलिखित आठ सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं:

1. उद्देश्य का सिद्धान्त
2. अनुरूपता का सिद्धान्त
३. उत्तरदायित्व का सिद्धान्त
४. पदसोपान का सिद्धान्त
५. नियन्त्रण-क्षेत्र का सिद्धान्त
६. विशेषीकरण का सिद्धान्त
७. समन्वय का सिद्धान्त
८. परिभाषा का निर्धारित का सिद्धान्त

लूथर गुलिक ने संगठन के 20 सिद्धान्त प्रतिपादित किए। इन सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति में गुलिक हेनरी फेयोल के प्रशासन के 14 आधारभूत सिद्धान्तों से बहुत अधिक प्रभावित हुए। गुलिक के सिद्धान्त हैं:

1. कार्य-विभाजन या विशेषीकरण
2. विभागीय संगठनों के आधार
3. पदसोपान द्वारा समन्वय
4. सोद्देश्य समन्वय
5. समितियों के अन्तर्गत समन्वय
6. विकेन्द्रीकरण
7. आदेश की एकता
8. स्टाफ तथा सूत्र
9. प्रत्यायोजन
10. नियन्त्रण का क्षेत्र

उपर्युक्त विद्वानों के विचारों का विश्लेषण करने पर संगठन के निम्नलिखित प्रमुख सिद्धान्तों या तत्वों या संकल्पनाओं का विस्तार से उल्लेख आवश्यक है:

1. **पदसोपान** (Hierarchy)
2. **आदेश की एकता** (Unity of Command)
3. **नियन्त्रण की सीमा** (Span of Control)
4. **समन्वय** (Co-ordination)
5. **केन्द्रीकरण बनाम विकेन्द्रीकरण** (Centralisation vs. Decentralisation)
6. **एकीक्रत बनाम स्वतन्त्र व्यवस्था** (Integral vs. Independent System)

अर्थ और परिभाषा
(Meaning and Definitions)

भाषा की द ष्टि से देखा जाए तो ''पदसोपान'' का अर्थ किसी अधीनस्थ पर वरिष्ठ का नियंत्रण या सत्ता है। लेकिन प्रशासन में सोपानक्रम का अर्थ एक ऐसा बहुस्तरीय संगठन है जिसमें क्रमवार कई स्तर होते है जो आपस में एक-दूसरे से जुड़े होते हैं। यह एक ऐसी व्यवस्था है जिससे किसी संगठन के विभिन्न व्यक्तियों के प्रयासों को एक-दूसरे से जोड़ा जाता है। किसी भी बड़े संगठन में कुछ ऐसे लोग होते हैं जो आदेश देते हैं जबकि उसी संगठन के अन्य लोग इन आदेशों का पालन करते हैं। इसके परिणामस्वरूप संगठन में ऊपर से नीचे तक उत्तरदायित्वों के कई स्तरों के माध्यम से वरिष्ठ और अधीनस्थ के संबंध स्थापित हो जाते हैं। संगठन में इन संबंधों का पिरामिड आकार का ढाँचा स्थापित हो जाता है जिसे मूनी (Mooney) और रैली (Reiley) ने ''सीढ़ीनुमा प्रक्रिया'' की संज्ञा दी है। संगठन में ''सीढ़ीनुमा'' का अर्थ है अधिकारों तथा संबंधित उत्तरदायित्वों के अनुपात में दायित्वों का स्तर निर्धारित करना। मूनी के अनुसार यह सीढ़ीनुमा श ंखला सभी जगह पाई जाती है। जहाँ कहीं भी वरिष्ठ और अधीनस्थ के संबंधों से बना लोगों का संगठन होगा वहीं सीढ़ीनुमा सिद्धान्त भी लागू होगा।

विद्वानों ने पदसोपान की परिभाषा अलग-अलग प्रकार से की है। एल.डी. व्हाइट के अनुसार ''पदसोपान'' व्यवस्था में ऊपर से नीचे तक उत्तरदायित्व के कई स्तरों के कारण उत्पन्न वरिष्ठ-अधीनस्थ का वह संबंध है जो सब जगह लागू होता है।'' दूसरे शब्दों में सोपानक्रम का अर्थ है उच्च स्तर से निचले स्तर पर नियंत्रण। प्रशासन में सोपानक्रम का अर्थ किसी संगठन का कई स्तरों अथवा सीढ़ियों में बंटा होना है। इसे ''सीढ़ीनुमा सिद्धान्त'' भी कहते हैं। जैसे सीढ़ी में एक के ऊपर एक पायदान होते हैं उसी प्रकार सोपानक्रम से विभिन्न स्तर होते हैं। मूनी और रैली ने इसीलिए इसे ''सीढ़ीनुमा प्रक्रिया'' कहा है। अर्ल लैथम (Earl Latham) ने सोपानक्रम की परिभाषा इस प्रकर की है: ''यह ऊँचे और नीचे पदों की ऐसी सुनियोजित व्यवस्था है जो

नीचे से ऊपर तक फैली हुई है। इस व्यवस्था में सबसे बड़ा अधिकारी सबसे ऊँची कुर्सी पर बैठ अपनी पैनी द ष्टि से अपने सबसे निचले कर्मचारियों के दिलों को टटोल सकता है और उनकी गतिविधियों को अपने आदेशानुसार जैसा चाहे ढाल सकता है। सोपानक्रम का अर्थ है संगठन की गतिविधियों का मार्गदर्शन करने और उन पर नियन्त्रण रखने के उद्देश्य से इकाइयों को मिला कर, एक बड़ी इकाई बनाना। यह एक ऐसी पद्धति है जिससे विभिन्न व्यक्तियों के प्रयासों को, ऊपर से नीचे तक, एक-दूसरे से जुड़े वरिष्ठ-अधीनस्थ संबंधों के माध्यम से किसी सांझे उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक सूत्र में पिरो दिया जाता है। जे.डी. मिलेट के अनुसार सोपानक्रम एक ऐसी पद्धति है जिससे विभिन्न लोगों के प्रयासों को आपस में जोड़ दिया जाता है।

प्रत्येक संगठन का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है। उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह अपनी गतिविधियों को विभिन्न इकाइयों में बाँटता है। इन इकाइयों को भी तब तक उप-इकाइयों में विभाजित किया जाता है जब तक सबसे निचला स्तर न आ जाए। जो संगठन सोपानक्रम के अनुसार कार्य करता है उसमें अधिकार अथवा सत्ता ऊपर से नीचे की ओर एक-एक सीढ़ी अथवा एक-एक स्तर उतरते हुए आते हैं। सोपानक्रम में ऊपर या नीचे एक-एक सीढ़ी या एक-एक स्तर चढ़ कर या उतर कर आया जाता है। प्रत्येक कर्मचारी को अपने से वरिष्ठ कर्मचारी के आदेश का पालन करना होता है तथा अपने अधीनस्थ को आदेश देना होता है। इस प्रकार सोपानक्रम सिद्धान्त में यह आवश्यक है कि ऊपर या नीचे के स्तर में संपर्क स्थापित करते समय बीच के किसी भी स्तर को लांघा या अनदेखा न किया जाए। इसे ''उपयुक्त माध्यम से'' काम करना कहते हैं। अतः हर प्रकार का आदेश या जानकारी एकदम ऊपर के या एकदम नीचे के स्तर से ही आनी चाहिए। प्रत्येक अधिकारी अपने पास केवल आवश्यक अधिकार ही रखता है, अन्य अधिकारों को वह अपने अधीनस्थों में बांट देता है। इस प्रकार सोपानक्रम के परिणामस्वरूप निर्णय लेने के विभिन्न स्तरों की रचना होती है। सोपानक्रम ढाँचे के कारण प्रमुख कार्यकारी अधिकारी संगठन के किसी भी स्तर के कर्मचारी को आदेश दे सकता है तथा उत्तरदायित्व सौंप सकता है।

पदसोपान का विशिष्ट लक्षण यह है कि इसमें संगठन अनेक क्रमिक स्तरों से युक्त होता है। इसमें प्रत्येक अधीन व्यक्ति अपने से एकदम ऊपर के अधिकारी से आदेश एवं निर्देश प्राप्त करता है और उसी के प्रति उत्तरदायी होता है। कोई संगठन पदसोपान के सिद्धान्त पर आधारित है - यह कहने का तात्पर्य यह होता है कि उसमें सत्ता नीचे से शिखर की ओर उतरती चली जाती है। पदसोपान का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह भी है कि ऊपर के पदाधिकारी कभी भी नीचे के साथ सम्पर्क स्थापित करते समय मध्यस्थ पदाकिारी की उपेक्षा नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में इस पद्धति में प्रशासकीय संरचना एक सीढ़ी के समान रहती है। इसमें समस्त कार्यवाही क्रमिक रूप में अथवा 'चरणों की पंक्ति' द्वारा होती है। प्रत्येक कार्य 'उचित मार्ग द्वारा' (Through Proper Channel) सम्पन्न होता है। उसे सत्ता के विभिन्न स्तरों के क्रम में गुजरना पड़ता है।

पदसोपान की तुलना 'पिरैमिड' से की जा सकती है। इसमें शिखर पर एक प्रधान प्रशासनिक अधिकारी होता है तथा सत्ता क्रमिक रूप से नीचे की ओर बढ़ती है। हमारे देश में राज्यों के पुलिस संगठन में पदसोपान की रचना को निम्नलिखित ढंग से दर्शाया जा सकता हैः

पुलिस महानिदेशक (Director General of Police)

↓

पुलिस महाधिपति (Inspector General of Police)

↓

पुलिस उपमहाधिपति (Deputy Inspector General of Police)

↓

जिला पुलिस अधीक्षक (District Superintendent of Police)

↓

उप/सहायक पुलिस अधीक्षक (Dy. S.P./A.S.P.)

↓

मण्डल निरीक्षक (Cricle Inspector)

↓

निरीक्षक/सहायक निरीक्षक (Inspector/Sub-Inspector)

↓

हैड कांस्टेबल (Head Constable)

↓

कांस्टेबिल सिपाही (Constable)

इस प्रकार पुलिस प्रशासन में पदसोपान ऊपर से नीचे तक इस तरह से होता है: पुलिस महानिदेशक, पुलिस महाधिपति, पुलिस उपमहाधिपति पुलिस अधीक्षक, उप/सहायक पुलिस अधीक्षक, मण्डल-निरीक्षक, निरीक्षक/सहायक निरीक्षक, हैड कांस्टेबिल, कांस्टेबिल (सिपाही)।

पदसोपान शासन के प्रत्येक विभाग में पाया जाता है। एक लिपिक (Clerk) प्रधान लिपिक (Head Clerk) के अधीन है, प्रशासन लिपिक एक कार्यालय अधीक्षक (Office Superintendent) के अधीन है तथा कार्यालय अधीक्षक अनुभाग अधिकारी (Section Officer) के अधीन है, आदि-आदि। यदि लिपिक को कोई बात अनुभाग अधिकारी से कहनी है तो वह प्रधान लिपिक के माध्यम से कार्यालय अधीक्षक तक जाएगा और तब उसके द्वारा अनुभाग अधिकारी तक पहुंचेगा। इसी प्रकार यदि अनुभाग अधिकारी कोई आदेश देना चाहता है तो वह आदेश कार्यालय-अधीक्षक के द्वारा प्रधान लिपिक तक पहुंचेगा और तब उसके माध्यम से लिपिक तक।

सोपानक्रम के बिना किसी संगठन की कल्पना करना मुश्किल है। निश्चित रूप से संगठन निर्धारित संख्या के लोगों में कार्यो का विभाजन करने की प्रक्रिया है। कार्यो और उत्तरदायित्वों का वितरण आड़ी और खड़ी दोनों दिशाओं में होता है। संगठन के ढाँचे में आड़े और खड़े (लम्बबत्) दोनों और व द्धि होती है। जब संगठन में नए-नए स्तर जोड़े जा रहे हों तो उसे खड़ी व द्धि कहते हैं। लेकिन जब स्तरों में व द्धि किए बिना ही नए-नए कार्य या स्थान जोड़े जा रहे हों तो उसे आड़ी व द्धि कहते हैं। खड़ी व द्धि से शीर्ष प्रबंध, प्रेक्षक तथा कार्य-निष्पादन का वास्तविक स्तर, जैसे स्तरों की रचना होती है। वास्तव में इन स्तरों का तात्पर्य अपने आप में किसी प्रकार की वरिष्ठता या अधीनस्थता नहीं है। फिर भी विभिन्न स्तरों के उत्तरदायित्वों में असमानता, वेतनमान में अंतर तथा उन पर काम करने वाले लोगों की योग्यता और गुणों में भेद होने के कारण संगठन में वरिष्ठ-अधीनस्थ संबंध स्थापित हो ही जाते हैं।

सीढ़ीनुमा व्यवस्था की आवश्यकता दो कारणों से पूरी होती है:

1. कार्य में विशेषज्ञता प्राप्त करने के उद्देश्य से, (जो कि प्रबंध के सिद्धान्त के लिए आवश्यक है) कार्य को उसके आवश्यक हिस्सों में बाँटना।
2. विशेषज्ञताओं के व्यवहार तथा कार्यो को एक संयुक्त प्रयास में जोड़ने की प्रक्रिया।

मूल विशेषताएँ (Major Features)

सोपानक्रम की कुछ विशेषताएँ नीचे दी गई है:

- पूरे प्रशासनिक क्रिया-कलाप को इकाइयों और उप-इकाइयों में विभाजित कर दिया जाता है।
- इन इकाइयों की स्थापना एक के नीचे एक की जाती है जिससे पिरामिड का सा आकार बन जाता है।
- विभिन्न स्तरों को अधिकार सौंपे जाते हैं।
- सोपानक्रम पर आधारित संगठन "उचित माध्यम से" सिद्धांत का पालन करता है। सभी आदेश और सूचनाएँ उचित

माध्यम से होकर गुजरती चाहिए। बीच के किसी भी स्तर को अनदेखा नहीं किया जा सकता।

- व्यक्ति केवल अपने से निकटतम वरिष्ठ अधिकारी से आदेश लेता है किसी भी अन्य अधिकारी से नहीं। यहाँ "समादेश की एकता" का सिद्धांत लागू होता है।
- अधिकार और उत्तरदायित्व में समुचित ताल-मेल रखा जाता है। बिना उत्तरदायित्व के अधिकार खतरनाक होते हैं जबकि बिना अधिकार के उत्तरदायित्व अर्थहीन हो जाते हैं।

सोपानक्रम के सिद्धांत को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता हैः

चित्र-1

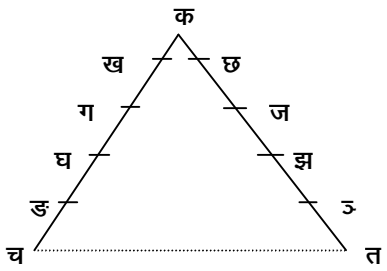

ऊपर दिए गए चित्र में, "क" संगठनात्मक पिरामिड के शिखर पर है। वह संगठन का प्रधान है। "ख" "क" का अधीनस्थ है। "ग" "ख" का निकटतम अधीनस्थ है तथा साथ ही वह "क" का अधीनस्थ है। इस प्रकार अगर हम इस श्रंखला के नीचे चलते जाएँ तो पाएँगे कि "च" "ङ" का निकटतम अधीनस्थ है साथ ही "क" का भी। अतः आदेश शिखर से तल तक चले आते हैं, अर्थात् "क" से "ख" को, "ख" से "ग" को, "ग" से "घ" को, "घ" से "ङ" को, तथा "ङ" से "च" को; तथा संचार (अथवा सूचना) तल से शिखर की ओर होता है अर्थात् "च" से "ङ" को, "ङ" से "घ" को और इसी प्रकार शिखर तक। यही बात इस पिरामिड (त्रिभुज) के दूसरी ओर भी लागू होती है अर्थात् "क" से "त" तक। यदि "क" "च" को आदेश देना चाहता है तो उस आदेश को "ख", "ग", "घ" और "ङ" से होकर जाना पड़ेगा, और यदि "च" को "त" से संपर्क स्थापित करना है तो उसे "ङ", "घ", "ग", "ख" और "क" तक जाना होगा और फिर "क" से नीचे के स्तरों से होते हुए एक-एक स्तर कर "त" तक पहुँचना होगा। इस चित्र में "च", "क", "त" अधिकार आदेशों का एक-एक सीढ़ी कर उतरते हुए पहुँचने, तथा संपर्क का "च" से "क" तक एक-एक सीढ़ी कर चढ़ते हुए पहुँचने को "उचित माध्यम से" संपर्क कहते हैं।

इस सिद्धांत को निम्नलिखित उदाहरण से भी समझाया जा सकता हैः

↑ अनुभाग अधिकारी ↓
↑ अधीक्षक ↓
↑ मुख्य लिपिक ↓
संपर्क लिपिक आदेश

यदि अनुभाग अधिकारी लिपिक (क्लर्क) को कोई आदेश देना चाहता है तो उस आदेश को पहले अधीक्षक और मुख्य लिपिक (हेड क्लर्क) से हो कर जाना होगा तभी वह लिपिक के पास पहुँचेगा। इस प्रकार लिपिक से कोई प्रस्ताव अनुभाग अधिकारी तक तभी पहुँचेगा जब वह पहले मुख्य लिपिक और फिर अधीक्षक से होकर गुजरा हो।

स्तर लांघना (Gang Plank)

व्यावहारिक रूप से देरी से बचने के लिए ऐसा आसान रास्ता खोज लिया जाता है जिससे सोपानक्रम के मूल सिद्धांतों की भी अवहेलना नहीं होती। ऐसा करने के दो रास्ते हो सकते हैं। हेनरी फैयॉल ने सुझाव दिया है कि सोपानक्रम में सत्ता अथवा अधिकारों की औपचारिक श्रंखला के उस पार एक 'सेतु' स्थापित किया जा सकता है ताकि किसी विभाग के अधीनस्थ अधिकारी अन्य विभागों के अपने समान्तर अधिकारियों के साथ सीधा संपर्क स्थापित कर सकें। ऊपर के चित्र में "च" तथा "त" "उचित माध्यम से" सिद्धांत का अनुसरण किए बिना एक दूसरे के साथ सीधे संपर्क स्थापित कर सकते हैं। यह संपर्क बिंदुओं

से दर्शाया गया है। लेकिन प्रक्रिया के विरूद्ध आसान रास्ता अपनाने से पहले उन्हें इसके लिए अपने अन्य वरिष्ठ अधिकारियों की आज्ञा लेनी होगी। अथवा कार्य को शीघ्रता से निपटाने के उद्देश्य से वे अपने से वरिष्ठों की अनुमति लिए बिना भी एक दूसरे से संपर्क स्थापित कर सकते हैं। लेकिन उनके बीच क्या कुछ हुआ इसकी पूरी जानकारी उन्हें अपने वरिष्ठ अधिकारियों को अवश्य देनी चाहिए।

अधिकारियों के बीच सीधे संपर्क स्थापित करने तथा कार्य की गति में तेजी लाने के लिए बीच के एक या अधिक स्तरों को लांघा जा सकता है। इसे "स्तर लांघना" कहते हैं। "क" सीधे "ग" से संपर्क स्थापित कर सकता है यदि "ग" "ख" को यह बता दे कि उसके और "क" के बीच क्या विचार-विमर्श हुआ। कुछ वर्ष पूर्व भारत सरकार ने "फाइल लांघना परीक्षण" नाम से एक योजना शुरू की थी जिसके अंतर्गत सोपानक्रम के मध्यवर्ती स्तरों को लांघ कर फाइलें सीधे निर्णय लेने वाले अधिकारी तक पहुंचाने की व्यवस्था थी।

अतः प्रत्येक स्तर पर वरिष्ठ और अधीनस्थों के बीच समुचित आपसी विश्वास और वफादारी से सोपानक्रम, संगठन व्यवस्था में होने वाली देरी को भले ही पूरी तरह समाप्त न किया जा सके पर उसमें काफी कमी अवश्य लाई जा सकती है। ऊपर जिन दो आसान रास्तों की चर्चा की गई है वे दोनों ही देरी को कम करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

उर्विक ने ठीक ही कहा है, "प्रत्येक संगठन में सीढ़ीनुमा श्रंखला वैसे ही आवश्यक है जैसे कि हर घर में अपना निकास (drain) किन्तु इस कड़ी को संचार का एकमात्र साधन बनाना वैसे ही अनावश्यक है जैसे कि घर के निकास में अपना समय बिताना।"

लाभ (Advantages)

संगठन में सोपानक्रम सिद्धांत के प्रयोग से होने वाले कुछ लाभ निम्नलिखित हैं-

1. प्रत्येक बड़े संगठन में उद्देश्य की एकता होनी चाहिए, जिसे केवल सोपानक्रम व्यवस्था से ही प्राप्त किया जा सकता है।
2. सोपानक्रम, संगठन की विभिन्न इकाइयों को आपस में जोड़कर एक संयुक्त ढाँचे की रचना करता है। एम.पी. शर्मा के अनुसार, "यह संगठनात्मक समन्वय और एकजुटता का माध्यम है। यह संगठन के ढाँचे से उसी तरह संबंधित है जिस प्रकार सीमेंट किसी भवन के ढाँचे से।"
3. यह संगठन में ऊपर और नीचे दोनों और संपर्क का माध्यम उपलब्ध कराता है। इससे प्रत्येक कार्मिक को यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका संबंध किससे है।
4 इससे संगठन में प्रत्येक स्तर और पद पर उत्तरदायित्व निर्धारित करने में सुविधा रहती है। प्रत्येक कर्मचारी को संगठन में अपनी स्थिति और उत्तरदायित्वों का ज्ञान होता है तथा यह भी मालूम होता है कि वह किसके प्रति उत्तरदायी है।
5. सोपानक्रम सिद्धांत के परिणामस्वरूप स्थापित "उचित माध्यम से" व्यवस्था से प्रक्रिया का कड़ाई से पालन किया जाता है जिससे आसान स्तरों का प्रयोग या मध्यवर्ती स्तरों को अनदेखा किया जाना संभव नहीं हो पाता।
6. सोपानक्रम के फलस्वरूप उच्चतम स्तर पर काम का बोझ हल्का हो जाता है तथा निर्णय लेने की प्रक्रिया का विकेंद्रीकरण हो जाता है। इससे उच्च कार्यकारी स्तर से नीचे कई और अधीनस्थ स्तर भी स्थापित हो जाते हैं। प्रत्येक अधीनस्थ स्तर स्वयं को सौंपे गए निर्दिष्ट मामलों में निर्णय लेने का अधिकारी हो जाता है। संगठन का प्रत्येक कर्मचारी निर्णय लेने और अपने अधीनस्थों के मार्ग निर्देशन के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। साथ ही साथ इससे सर्वोच्च कार्यकारी के काम का बोझ हल्का होता है तथा अधीनस्थ अधिकारियों में भी संगठन में अपने महत्त्व की भावना जोर पकड़ती है।
7. "उचित माध्यम से" नियम का कड़ाई से पालन किए जाने के कारण फाइलों की गति की प्रक्रिया आसान हो जाती है और यह जानना आसान हो जाता है कि कोई फाइल विशेष इस समय कहाँ है।

कमियाँ (Shortcomings)

संगठन में सोपानक्रम के सिद्धांत को लागू करने के कुछ नुकसान भी हैं। ये कमियाँ नीचे दी जा रही हैं:

1. सोपानक्रम पद्धति में आदेश ऊपर से नीचे की ओर चलते हैं। निचले स्तरों के कर्मचारियों या अधिकारियों से आशा की जाती है कि वे अपने से वरिष्ठ लोगों के आदेश का ज्यों का त्यों पालन करें। इससे निचले स्तरों पर काम के प्रति कोई चाव या चुस्ती-फुर्ती नहीं रह पाती।
2. इससे प्रशासनिक संगठन में लचीलापन नहीं रह पाता जिसके कारण संगठन के लोगों में आपसी जीवंत संबंधों का भलीभांति विकास नहीं हो पाता है।

3. इस पद्धति में सफलता या असफलता काफी सीमा तक संगठन के प्रमुख की इच्छा-अनिच्छा पर निर्भर करती है। यदि वह संगठन में व्यक्तिगत संबंधों के आधार पर नई स्फूर्ति का संचार कर सकें तो सफलता ही सफलता है अन्यथा संगठन निश्चित रूप से असफल हो जाएगा।

4. सोपानक्रम पर आधारित संगठन की सबसे बड़ी कमी यह है कि इसके कारण कार्य के निपटान में अनावश्यक देरी हो जाती है। पीछे दिए गए चित्र में हमने देखा कि "उचित माध्यम से" नियम को अगर कड़ाई से लागू किया जाए तो किसी सूचना को "च" से "त" तक पहुंचने से पहले उसे "ङ", "घ", "ख", "क", "छ", "ज", "झ" और "ग" से होकर जाना पड़ेगा और फिर उसके बाद वापस भी इसी प्रकार जाएगी, ये कुल मिलाकर 20 सीढ़ियाँ बन जाती है। इसका अर्थ हुआ कार्य में अनावश्यक विलंब। कहा जाता है कि सन् 1940 में "पर्ल हार्बर त्रासदी" (Pearl Harbour tragedy) इसलिए नहीं हुई क्योंकि अमरीकी सेनाओं के सर्वोच्च कमांडर का जापानी सेनाओं की गतिविधि के बारे में समय पर सूचना नहीं मिल पाई थी बल्कि इसलिए कि उसे यह जानकारी उचित माध्यम से नहीं मिली थी।

व्यावहारिक उपयोग (Practical Importance)

यह पता लगाना आवश्यक है कि प्रशासन के दैनिक कार्यों में सत्ता अथवा अधिकारों का उपयोग सोपानक्रम सिद्धांत के अनुसार किया जाता है या नहीं। अर्ल लैटहैम जैसे कुछ आलोचकों के अनुसार यह सोचना गलत है कि वरिष्ठ अधिकारी, अधीनस्थों पर बिना सोचे-समझे अधिकार चलाते हैं। यह कहा जा सकता है कि अधीनस्थ कर्मचारी वरिष्ठ कर्मचारियों के आदेशों का पालन इसलिए करते हैं क्योंकि वरिष्ठ लोग अधिक अनुभवी होने के फलस्वरूप अधिक ज्ञानी होते हैं। लेकिन यह भी सही है कि कभी-कभी अधीनस्थों के पास अधिक जानकारी होती है क्योंकि वे किसी समस्या से अपने वरिष्ठ की तुलना में कही अधिक गहराई से जुड़े होते हैं। ठीक इसी कारण से अधीनस्थों के निर्णयों को उनके वरिष्ठ अधिकारियों द्वारा स्वीकार कर लिया जाएगा।

यह बात भी समझी जानी चाहिए कि कोई भी संगठन केवल सोपानक्रम के सिद्धांत पर ही नहीं चलता है। नीग्रो के अनुसार, "किसी भी संगठन का केवल वही ढाँचा और औपचारिक संबंध नहीं होते जो उसके संगठनात्मक चार्टो और नियम पुस्तिकाओं में लिखे होते हैं..... संगठन तो वास्तव में एक सामाजिक व्यवस्था भी है जिसमें उसके सदस्य ऐसा व्यवहार भी कर सकते हैं जो आधिकाधिक से अलग हो। इसे अनौपचारिक संगठन कहते हैं, और अगर किसी एजेंसी की कार्यप्रणाली को सही प्रकार से समझना है तो अनौपचारिक संगठन की भूमिका को समझना अत्यावश्यक हो जाता है।"

सारांश (Conclusion)

सोपानक्रम को संगठन के सिद्धांत के रूप में सभी जगह मान्यता प्राप्त है। इस सिद्धांत में वरिष्ठ और अधीनस्थ के बीच व्यवस्थित संबंधों पर बल दिया जाता है। "उचित माध्यम से" नियम सोपानक्रम का केंद्रबिंदु है। इस पद्धति के अंतर्गत संगठन का आकार पिरामिड (त्रिभुज) की तरह होता है जिसके शिखर पर सर्वोच्च अधिकारी तथा आधार पर कर्मचारी होते हैं और इन दोनों छोरों के बीच एक के बाद एक कई स्तर होते हैं जो आड़े भी हैं और खड़े भी। अर्थात् यह सत्ता की एक सीढ़ी है जिसमें कई पद हैं। आदेश और सूचनाएँ एक बार में एक सीढ़ी से ही नीचे या ऊपर आ-जा सकते हैं। किसी भी प्रकार के उल्लंघन से अव्यवस्था और अविश्वास फैल जाएगा। संगठन के एक सिद्धांत के रूप में सोपानक्रम ऊपर और नीचे के स्तरों के लिए संपर्क के माध्यम के रूप में कार्य करता है, प्रक्रिया का पालन सुनिश्चित करता है, निर्णय लेने के प्रक्रिया का विकेंद्रीकरण करता है तथा संगठन के प्रमुख के कार्य के बोझ को हल्का करता है। लेकिन देरी इस प्रणाली की सबसे बड़ी कमी है। इसके लिए दो आसान रास्तों का पता लगाया गया है, वे हैं, अत्यावश्यक मामलों में अधिकारों अथवा "सत्ता की वास्तविक श्रंखला के उस पर सेतु स्थापित करना" तथा "लांघना"। लेकिन सोपानक्रम से होने वाले लाभ उसमें निहित कमियों से कहीं अधिक है। कुल मिलाकर संगठन केवल औपचारिक संबंधों पर आधारित होकर नहीं चलते हैं। वास्तव में प्रत्येक संगठन में अनौपचारिक संबंध भी होते हैं। वरिष्ठ और अधीनस्थ कर्मचारी अपनेपन तथा बंधुत्व के सद्भावपूर्ण वातावरण में मिलकर काम करते हैं क्योंकि उनके बीच अनौपचारिक संबंध भी होते हैं, केवल औपचारिक संबंधों से ही यह संभव नहीं है। सोपानक्रम किसी संगठन की स्थापना के उद्देश्यों की प्राप्ति करने तथा सर्वसम्मति पैदा करने की एक अत्यंत लाभदायी पद्धति है जो संगठन में स्वाभाविक रूप से ही पाई जाती है।

अध्याय-11
नियंत्रण का क्षेत्र
(Span of Control)

उत्तर-संगठन अथवा प्रशासन में नियंत्रण की आवश्यकता स्वंय सिद्ध है। बिना नियंत्रण के कोई भी संगठन अथवा कोई भी समुचित रूप से संचालित नहीं किया जा सकता। नियंत्रण की व्यवस्था का उद्देश्य यह देखना होता है कि संगठन अथवा प्रशासन की इकाई के कर्मचारी दिए गए आदेशों, निर्देशों और नियमों के अनुरूप काम कर रहे हैं अथवा नहीं। यदि इस प्रकार की देखभाल न की जाए तो स्वाभाविक है कि संगठन अथवा कार्यालय का काम अव्यवस्थित तथा शिथिल हो जाएगा।

नियंत्रण के संदर्भ में स्वाभाविक रूप से नियंत्रण के विस्तार का प्रश्न उठता है। एक उच्च अधिकारी कितने अधीनस्थों अर्थात् अधीनस्थ कर्मचारियों के कार्य क्षमतापूर्वक अधीक्षण कर सकता है। यह नियंत्रण विस्तार की समस्या है। पारिभाषिक रूप में, जैसा कि डिमॉक का कथन है, "नियंत्रण का विस्तार किसी उद्यम के मुख्य निष्पादक तथा उसके मुख्य साथी कार्यालयों के बीच सीधे एवं स्वाभाविक संचालन की संख्या एवं क्षेत्र हैं।" नियंत्रण के विस्तार को कई अन्य नामों से भी जाना जाता है, यथा- 'प्रबन्ध-विस्तार', 'पर्यवेक्षण का विस्तार', 'अधिकार का विस्तार' आदि।

नियंत्रण विस्तार के सिद्धान्त के अनुसार किसी भी अधिकारों के नियंत्रण का क्षेत्र केवल उतना ही रखना चाहिए जितना वह कुशलतापूर्वक संभाल सकता है। अधिकारी की सामर्थ्य से अधिक या कम क्षेत्र का होना उचित नहीं है। मानवीय ध्यान क्षेत्र सीमित होता है, अतः कोई भी एक पदाधिकारी कर्मचारियों की असीमित संख्या का भली-भांति निरीक्षण नहीं कर सकता। जॉन डी. मिलेट ने ठीक ही लिखा हे कि अनुभव और मनोवैज्ञानिक अनुसंधान दोनों इस बात की पुष्टि करते हैं कि किसी भी प्रशासकीय अधिकारी की पर्यवेक्षण क्षमता की सीमा रहती है। यदि अधिकारी के सामर्थ्य से कम नियंत्रण-क्षेत्र रखा जाए तो वह भी अनुचित है क्योंकि इसका अर्थ है अधिकारी की क्षमताओं और सामर्थ्य का पूरा लाभ नहीं उठाया जा रहा है।

अब यह प्रश्न उठता है कि नियंत्रण विस्तार की सीमा कितनी होनी चाहिए। इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। जहां नियंत्रण-क्षेत्र का असंतुलित विस्तार हानि-कारक है वहां क्षेत्र का बहुत सीमित होना भी बुरा है। हेनरी फेयोल का मत है कि "एक बड़े उद्यम के शिखर-स्थिति प्रबन्धक के नीचे पांच या छः से अधिक अधीनस्थ कर्मचारी नहीं होनी चाहिए।" एल. उर्विक का विचार है कि "उच्च पदाधिकारियों के लिए आदर्श संख्या चार होगी और निम्न स्तर के कर्मचारियों के लिए आठ या बारह।" ग्रेक्यूनस ने लिखा है कि "कोई उच्च अधिकारी पांच या छः अधीनस्थ कर्मचारियों से अधिक कार्य का उचित निरीक्षण नहीं कर सकता।" सैनिक संगठन के संबंध में सर हैमिल्टन ने एक बार कहा था, "एक औसत मानव मस्तिष्क तीन से छः अन्य मस्तिष्कों का ही प्रभावशाली निरीक्षण कर सकता है।"

स्पष्ट है कि नियंत्रण विस्तार की सीमा के संबंध में कोई एक सुनिश्चित मत नहीं हो सकता है। कर्मचारियों की आदर्श संख्या की खोज करना, जिस पर कि एक उच्च अधिकारी नियंत्रण रखने में सक्षम हो, निरर्थक है। प्रशासन की गतिशीलता ही प्रशासन की सफलता की परिचायक है। यह बहुत कुछ शीर्ष अधिकारी की योग्यता, नेत त्व कुशलता और प्रशासनिक क्षमता पर निर्भर करता है कि वह कितने अधीनस्थ कर्मचारियों को अपने नियंत्रण में रख सकता है। फिर भी विद्वान यह सुनिश्चित करने के लिए अवश्य प्रयत्नशील हैं कि नियंत्रण के विस्तार क्षेत्र की लम्बाई क्या होनी चाहिए। सामान्य सहमति इस बात पर पायी जाती है कि:

(क) प्रत्येक स्तर पर एक निश्चित नियंत्रण-क्षेत्र होता है और यदि इसका उल्लंघन किया जाए तो कार्य के अवरुद्ध होने की संभावना उत्पन्न हो सकती है।

(ख) नियंत्रण विस्तार में चार तत्वों के कारण विविधता उत्पन्न होती हैः कार्य (Function), काल या समय (Time), व्यक्तित्व (Personality) और स्थान (Place or Space)।

अर्थ (Meaning)

'स्पैन' (Span) का शाब्दिक अर्थ वह दूरी है जो किसी व्यक्ति के अंगूठे और कनिष्ठ ऊंगली को फैलाए जाने से बनती है। जबकि नियंत्रण शब्द का मतलब आदेश-निर्देश या नियंत्रित करने वाले अधिकार या सत्ता से हैं लोक प्रशासन में नियंत्रण के क्षेत्र का मतलब उन अधीनस्थ कर्मचारियों से है जिन पर एक अधिकारी कारगर ढंग से नियंत्रण रख सकता है। इसका मतलब यह भी है कि कोई अधिकारी कितने अधीनस्थों को निर्देश दे सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि नियंत्रण के क्षेत्र का मतलब मातहतों की उस संख्या या कार्य की उस इकाई से हैं जिन्हें एक प्रशासक निजी रूप से निर्देशित कर सकता है। डिमॉक के शब्दों में किसी उद्यम में उसके प्रमुख अधिकारी और उसके मुख्य सह-अधिकारियों के बीच सीधे और नियमित संचार सम्पर्क को नियंत्रण का क्षेत्र कहते हैं। मनोविज्ञान में वी. ए. ग्रेकुनास ने इस संकल्पना को 'ध्यान के क्षेत्र' से जोड़ा है।

नियंत्रण का क्षेत्र ध्यान के क्षेत्र पर निर्भर है। हममें से कोई भी व्यक्ति एक साथ एक खास संख्या से अधिक वस्तुओं की ओर ध्यान नहीं दे सकता। मनोवैज्ञानिकों ने ध्यान के क्षेत्र में कई प्रयोग किए है। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि सामान्य तौर पर एक व्यक्ति एक समय में एक खास संख्या से अधिक चीज़ों की ओर ध्यान नहीं दे सकता। चूंकि लोक प्रशासन में नियंत्रण का क्षेत्र मनोविज्ञान के ध्यान के क्षेत्र से जुड़ा है, इसलिए यह मानकर चला जाता है कि कोई वरिष्ठ अधिकारी जितनी व्यक्तियों को कारगर ढंग से नियंत्रित कर सकता है, उनकी संख्या की एक सीमा होती है। यदि अधीनस्थों की संख्या उस सीमा से अधिक हुई तो यह संगठन के लिए नुकसानदेह होगा।

शारीरिक और मानसिक दोनों ही द ष्टियों से मानव क्षमता की एक सीमा होती है। इसलिए यह व्यापक धारणा है कि कोई वरिष्ठ अधिकारी कितना भी सक्ष्म क्यों न हो, वह असीमित संख्या में अधीनस्थों का निरीक्षण नहीं कर सकता। नियंत्रण के क्षेत्र की वास्तविक सीमा क्या है, इस बारे में लोक प्रशासन के रचनाकारों के विचार समान नहीं है। सर इयान हेमिल्टन ने यह सीमा तीन से चार की नियत की हे। लार्ड हाल्डेन और ग्राहम वॉलास की धारण है कि एक वरिष्ठ अधिकारी अपने दस से बारह की देख-रेख कर सकता है। उर्विक का कहना है कि उच्च और निचले स्तर के नियंत्रण के क्षेत्र के बीच अंतर होता है। उनके अनुसार उच्च स्तर पर वरिष्ठ अधिकारी छह या सात से अधिक अधिनस्थों की देख-रेख नहीं कर सकता जबकि नीचे के स्तर पर जहाँ का काम सरल और नियमित ढंग का होता है, आठ से बाहर अधीनस्थों के काम का निरीक्षण कर सकता है। 1937 में वॉलास द्वारा किए गए एक सर्वेक्षण के अनुसार किसी मुख्य अधिकारी के नियंत्रण का क्षेत्र देश के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। जापान में एक मुख्य अधिकारी के अधीन 13 विभाग होते हैं। कनाडा, जर्मनी और इटली में 14 फ्रांस में 17, रूस में 19 या 20, इंग्लैण्ड में 25 और अमरीका में लगभग 60 विभाग होते हैं। यद्यपि ये संख्या समान नहीं है लेकिन कहीं भी प्रशासन अस्त-व्यस्त नहीं हुआ।

कुछ लेखकों के अनुसार अमरीका के सरकारी संगठनों में नियंत्रण का क्षेत्र बड़ा होने के निम्नलिखित कारण हैंः

1. वहाँ के अनेक विभागों में इस प्रकार की प्रव त्ति पाई जाती है क्योंकि 'इम्पायर बिल्डर' किस्म के विभाग के प्रधान यह चाहते हैं कि वे केवल मुख्य अधिकारी या संचालक मंडल के प्रति ही जवाबदेह हैं।
2. प्रत्येक दबाव समूह एक स्वतंत्र विभाग में अपने ढंग की प्रशासनिक गतिविधियाँ कायम करना चाहता है।
3. हर कार्यकारी अधिकारी सोपानाक्रम की सीढ़ियों से गुजरे बगैर सत्ता तक पहुंचना चाहता है। 1949 में हूवर आयोग ने अमरीकी राष्ट्रपति द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाले नियंत्रण के विशाल क्षेत्र की आलोचना की थी। आयोग ने उन 65 विभागों या एजेंसियों (स्वतंत्र विनियमित आयोगों को छोड़कर) का उल्लेख किया था जो राष्ट्रपति के नियंत्रण क्षेत्र में आते हैं।

लेकिन सभी लेखक आमतौर पर इस बारे में सहमत हैं कि क्षेत्र जितना छोटा होगा, सम्पर्क उतना ही ज्यादा होगा और परिणाम स्वरूप नियंत्रण अधिक कारगर होगा। दूसरी ओर सेक्लर-हड्सन का कहना है कि "अत्यंत सीमित नियंत्रण के क्षेत्र में खतरे

निहित हैं। उदाहरण के लिए कुछ प्रतिवेदनों के ब्यौरेवार निरीक्षण का परिणाम यह होगा कि अधीनस्थों को प्रेरित नहीं किया जा सकेगा या उनकी क्षमता का पूरा उपयोग नहीं हो पाएगा" यह भी संभव है कि नियंत्रण का क्षेत्र जितना हुआ होगा, समादेशों की जकड़न उतना ही अधिक होगी। इसलिए विभिन्न लेखक यह मानते हैं कि नियंत्रण का क्षेत्र तीन से 15 के बीच होना चाहिए। यद्यपि लेखकों ने यह पता लगाने की कोशिश की कोशिश की है कि किसी वरिष्ठ अधिकारी द्वारा देख-रेख के लिए व्यक्तियों की आदर्श संख्या क्या हो सकती है। लेकिन वे किन कारणों से इसमें सफल नहीं हो पाए हैं, इस बारे में हम आगे विचार विमर्श करेंगे।

नियंत्रण के क्षेत्र का महत्व (Importance)

नियंत्रण के क्षेत्र की समस्या सोपानक्रम के सिद्धांतों का स्वाभाविक विस्तार है। जैसा कि हमने इससे पहले देखा है, सोपानक्रम वाले संगठनों में एक के बाद एक कई स्तर और सीढ़ियाँ होती हैं। प्रत्येक स्तर की जिम्मेदारी किसी एक व्यक्ति पर होती है। किसी संगठन में कितने स्तर होने चाहिए यह इस बात पर निर्भर करता है कि उस संगठन में निचले स्तर पर कर्मचारी कितने हैं जिनकी निरीक्षण किया जाना है और प्रत्येक वरिष्ठ अधिकारी कितने अधीनस्थों का कारगर ढंग से निरीक्षण कर सकता है। इससे पता चलता है कि सोपानक्रम और नियंत्रण के क्षेत्र में निकट का संबंध है। इसलिए किसी संगठन में एक वरिष्ठ अधिकारी के नियंत्रण के क्षेत्र को ध्यान में रखकर सोपानक्रम में स्तरों या सीढ़ियों का निर्धारण किया जाना चाहिए। यदि किसी वरिष्ठ अधिकारी से उसकी क्षमता से अधिक संख्या में कर्मचारियों के नियंत्रण की उम्मीद की जाएगी तो उससे कार्य में विलंब होगा और अकुशलता बढ़ेगी। किसी संगठन के कार्य की गुणवत्ता उसके कारगर नियंत्रण और निरीक्षण पर निभर्र करती है। कोई भी संगठन इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। यदि क्षेत्र व्यक्ति क्षमता से अधिक होगा तो संगठन अस्त-व्यस्त हो जाएगा।

नियंत्रण का विस्तार निर्धारित करने वाले तत्व
(Factors Determining Span of Control)

कोई अधिकारी कितने अधीन कर्मचारियों पर प्रभावशाली नियंत्रण स्थापित कर सकता है, इसके लिए लूथर गुलिक (Luther Gulick) ने चार तत्व बतलाये हैं।

1. **कार्यः** कार्य किस ढंग का है यदि कार्य में समरूपता (homogeneous) हो तो अधिक व्यक्तियों के कार्य का निरीक्षण अथवा नियंत्रण किया जा सकता है। एक प्रमुख इंजीनियर कई इंजीनियरों पर प्रभावशाली नियंत्रण स्थापित कर सकता है, क्योंकि उसके कार्य तथा अधीनस्थ के कार्य की प्रकृति एक ही समान है। यदि प्रमुख इंजीनियर को दूसरे प्रकार के कार्य के निरीक्षण का उत्तरदायित्व सौंपा जाय तो उसे समय लगेगा और असुविधा होगी क्योंकि इस कार्य के लिए विशेष प्रकार की मानसिक संरचना (Mental Frame) की आवश्यकता होगी। कठिन तथा अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य की अपेक्षा सरल तथा नित्य प्रकृति (Routine work) के कार्य का नियंत्रण आसान होता है।
2. **समयः** समय से तात्पर्य है कि संगठन कितना पुराना, स्थायी और जमा हुआ है। सुव्यवस्थित, पुराने संगठन का नियंत्रण नये संगठनों की अपेक्षा अधिक सरल हो जाता है क्योंकि नये संगठन में परम्परा का अभाव होता है और नित-प्रति नई समस्यायें सामने आती हैं।
3. **स्थानः** भौगोलिक द ष्टि से बिखरे हुए अधीनस्थ कर्मचारियों पर नियंत्रण का क्षेत्र छोटा रखना पड़ता है। इसके विपरीत यदि ये कर्मचारी एक ही भवन अथवा स्थान परिसर हों तो नियंत्रण के क्षेत्र को विस्त त करना पड़ता है।
4. **व्यक्तित्वः** उच्च अधिकारी की क्षमता (Competence) तथा उसकी व्यक्तित्व भी नियंत्रण-क्षेत्र को प्रभावित करता है। कोई भी स्फूर्तिवान (Energetic) और योग्य अधीक्षक अपेक्षाकृत कम क्षमतावान सहयोगी की अपेक्षा अधिक क्षेत्र पर प्रभावशाली नियंत्रण रख सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नियंत्रण का विस्तार परिवर्तित होता रहता है और इस विभिन्नता के रूप में उपर्युक्त चारों तत्व महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सामान्यतया नियंत्रण विस्तार के संबंधों में निम्नलिखित सिद्धान्तों पर सहमति पायी जाती हैः

1. समान कार्य करने वाले कर्मचारियों के मामले में नियंत्रण क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक विस्त त हो जाता है।

2. योग्यतम व्यक्तियों में भी नियंत्रण और निरीक्षण करने की शक्ति सीमित होती है और असीमित क्षमता कहीं नहीं पाई जाती है।
3. उत्तरदायित्व जितना बड़ा होता है, सक्रिय नियंत्रण का क्षेत्र उतना ही संकुचित होता है।

नियंत्रण-विस्तार क्षेत्र निश्चित करने में बड़े विवेक से काम लेना चाहिए। सैकलर हडसन (Secklor Hudson) के अनुसार यदि नियंत्रण का क्षेत्र अत्यन्त सीमित कर दिया तो उसमें भी कई खतरे उत्पन्न हो सकते हैं। जितने भी प्रतिवेदन आएंगे उनका विस्तार से निरीक्षण किया जाएगा तथा अधीनस्थों को उसकी क्षमता का पूरा-पूरा उपभोग करने के लिए प्रोत्साहन किया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त छोटे नियंत्रण क्षेत्र का अर्थ होता है आज्ञा देने वालों की मात्रा गढ़ जाएगी। वास्तव में यह बहुत कठिन है कि नियंत्रण के क्षेत्र में एक आदर्श संख्या तय की जाए।

न्यूमैन एवं समर ने नियंत्रण विस्तार को प्रभावित करने वाले निम्नलिखित घटकों अथवा तत्वों पर बल दिया है:

1. यदि उच्चाधिकारी उच्च योग्यता-सम्पन्न है तो वे अधीनस्थों की एक बड़ी संख्या पर भी नियंत्रण कर सकते हैं अथवा नियंत्रण का विस्तार संकुचित हो जाएगा।
2. यदि उच्चाधिकारी स्थायी आदेशों-निर्देशों का प्रयोग करते हैं तो उनका कार्यभार काफी हल्का हो जाता है और नियंत्रण-विस्तार अधिक हो जाता है क्योंकि अधीनस्थों को अपने उच्चाधिकारियों से बार-बार निर्देश लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती। विपरीत स्थिति में में नियंत्रण का विस्तार संकुचित हो जाएगा।
3. यदि अधीनस्थ प्रशिक्षित, अनुभवी और योग्यता सम्पन्न हैं तो वे अपने अधिकारी की बिना अधिक सहायता लिए ही संतोषजनक ढंग से कार्य करते हैं और ऐसे अधीनस्थों की एक बड़ी संख्या पर भी सरलता से नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है। किन्तु यदि अधीनस्थ अकुशल, अप्रशिक्षित और अनुभवहीन है तो नियंत्रण का विस्तार संकुचित हो जाएगा अर्थात् बहुत थोड़े से अधीनस्थों पर ही एक उच्चाधिकारी का नियंत्रण स्थापित करना असंभव हो सकेगा।
4. यदि उच्चाधिकारी अपने अधीनस्थों के कार्य का पर्यवेक्षण करने की लिए अधिक समय निकाल सकेंगे तो नियंत्रण का विस्तार अधिक होगा। प्रायः देखा जाता है कि अधिकांश प्रबन्धक तथा उच्चाधिकारी ग्राहकों से भेंट, बाह्य सम्पर्क आदि में अपना अधिकांश समय निकाल देते हैं और पर्यवेक्षण के लिए उनके पास बहुत कम समय बचता है जिसमें नियंत्रण का विस्तार संकुचित होता है।
5. यदि अधीनस्थों द्वारा सम्पन्न होने वाला कार्य महत्वपूर्ण और जटिल प्रकृति का है तो नियंत्रण विस्तार संकुचित हो जाएगा अर्थात् कम अधीनस्थों की क्रियाओं पर नियंत्रण किया जा सकेगा। किन्तु यदि कार्य सामान्य महत्व और सरल प्रकृति का है तो एक अधिकारी अधिक संख्या में अधीनस्थों की क्रियाओं पर नियंत्रण कर सकेगा।
6. यदि स्टाफ में आपसी सहयोग की भावना है और उच्चाधिकारी को स्टाफ से सहयोग मिलता रहता है तो नियंत्रण विस्तार अधिक हो सकेगा। किन्तु यदि उच्चाधिकारी को स्टाफ से सहयोग नहीं मिलता हो, कर्मचारी कार्य-निष्पादन के मार्ग में कठिनाईयां पैदा करते हों तो नियंत्रण का विस्तार-क्षेत्र संकुचित हो जाएगा।
7. संगठन में विकेन्द्रीकरण की मात्रा के अनुसार नियंत्रण विस्तार संभव होता है। यदि विकेन्द्रीकरण की मात्रा सीमित होगी और उच्चाधिकारी निर्णयन के मामलों से उलझे रहेंगे तो अधीनस्थों की कम संख्या पर नियंत्रण रखना संभव होगा।

ग्रेकुनाज का नियंत्रण के विस्तार का सिद्धान्त
(Graicunas Span of Control Theory)

बी. एस ग्रेकुनाज ने सन् 1933 में एक लेख प्रकाशित किया, जिसका शीर्षक था 'संगठन से संबंध' इस लेख में उन्होंने अधीनस्था एवं उच्च अधिकारियों के संबंधों की समस्या पर विचार किया है। उन्होंने एक गणितीय सूत्र विकसित करके यह प्रतिपादित किया कि जब अधीनस्थों की संख्या बढ़ जाती है तो गणितीय रूप में संबंधों की संख्या भी बढ़ जाती है। प्रोफेसर हेमेन के अनुसार, उनका अध्ययन अनुभवयुक्त निरीक्षण पर आधारित नहीं है किन्तु शीर्ष पर प्रबंध के क्षेत्र में परिवर्तन करने से एक संगठन की क्या स्थिति होगी, इस बात का यह गणितीय प्रस्तुतीकरण है। ग्रेकुनाज ने यह बताया है कि उच्च अधिकारियों को अपने अधीनस्थों के साथ कायम रखने में हमेशा यह बात मस्तिष्क में रखनी चाहिए कि उसका न केवल प्रत्येक अधीनस्थ से

प्रत्यक्ष रूप से व्यक्तिगत संगंध है बल्कि उसके संबंध अधीनस्थों के विभिन्न समूहों और अधीनस्थों के पारस्परिक संबंधों से भी है।

इन संबंधों की संख्या प्रबन्धाधीन समूह की संख्या के साथ-साथ बदलती रहती है। ग्रेकुनाज ने मुख्यतः ऐसे तीन प्रकार के संबंधों का वर्णन किया है। ये हैं-

1. प्रत्यक्ष इकहरे संबंध,
2. प्रत्यक्ष समूह संबंध, और
3. आड़े-खड़े संबंध। प्रत्यक्ष इकहरे संबंध किसी सर्वोच्च अधिकारी और उसके तात्कालिक धीनस्थों के साथ व्यक्तिगत एंव परोक्ष रूप से होते हैं। उदाहरण के लिए यदि 'क' के तीन अधीनस्थ हैं- ख, ग, घ तो यहां तीन प्रत्यक्ष संबंध बन जाएंगे। प्रत्यक्ष संबंधों का अर्थ है- सर्वोच्च अधिकारी और अधीनस्थों के प्रत्येक प्रभावित समूह के मध्य संबंध। यदि इस द ष्टि से देखा जाए जो उक्त उदाहरण में प्रत्येक समूह-संबंधों की संख्या नौ हो जाएगी। संभावित संबंधों के तीसरे समूह को ग्रेकुनाज ने आड़े-खड़े संबंधों का लाद दिया है। जब एक उच्च अधिकारी के विभिन्न अधीनस्थों को पारस्परिक सम्पर्क करने की आवश्यकता होती है तो इस प्रकार संबंधों का जन्म हो जाता है। जब अधिनस्थों की संख्या बढ़ने के कारण सर्वोच्च अधिकारी के प्रत्यक्ष संबंध अनुपात संबंध अनुपात के अनुसार बढ़ जाते हैं तो समूह और आड़े-खड़े संबंध अनुपात से भी अधिक बढ़ जाते हैं तो समूह और आड़े-खड़े संबंध अनुपात से भी अधिक बढ़ जाते हें। ग्रेकुनाज का सूत्र इस प्रकार है:

$$n\left(\frac{2n}{2}+n-1\right)$$

यह सूत्र सभी संभव संबंधों की संख्या बता देती है जिनमें प्रबन्धक की रुचि हो सकती है और जो उसने ध्यान में रखनी चाहिए। यहां n का अर्थ है अधीनस्थों की संख्या और n को इस सूत्र में लगाने से सब प्रकार के संबंधों की संख्या ज्ञात हो जाएगी। इस सूत्र के परिणामों को निम्नांकित सारणी द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

अधीनस्थों की विभिन्न संख्या से उत्पन्न संभावित सम्बन्धों का योग

अधीनस्थों की संख्या	सम्भावित संबंधों की कुल संख्या
1	1
2	6
3	18
4	44
5	100
6	222
7	490
8	1,080
9	2,376
10	5,210

इस सूत्र के आधार पर हम यह देखते हैं कि अधीनस्थों की संख्या चार होने पर संबंधों की कुल संख्या 44 हो जाती है। यदि एक ओर अधीनस्थ जोड़ दिया जाए तो नियंत्रण कार्य-क्षेत्र पांच अधीनस्थों का हो जाएगा। सूत्र के अनुसार संभावित आड़े-खड़े संबंधों का योग 100 हो जाएगा। इस प्रकार एक अधीनस्थ जुड़ जाने मात्र से संभावित संबंध रेखागणितीय रूप में बढ़ जाते हैं। अधीनस्थों की संख्या 15 प्रतिशत व द्वि करने पर संबंधों का कुल योग 127 प्रतिशत

बढ़ जाता है। यह व द्धि अत्यन्त चेतावनीपूर्ण है और प्रत्येक प्रबंधक को, जो अधीनस्थों की संख्या में व द्धि कर रहा है, इसका ध्यान रखना होता है।

यह सूत्र हमको केवल संभावनाओं का दिग्दर्शन कराता है। इसके द्वारा यह स्पष्ट किया जाता है कि जब एक उच्च अधिकारी को बहुत से अधीनस्थ प्रतिवेदन देंगे तो स्थिति कितनी जटिल बन जाएगी। वास्तविक व्यवहार में यह तालिका जिन संबंधों का वर्णन करती है, वे साकार नहीं बन जाते। विलियम न्यूमैन (William Newman) का कथन है कि जब एक उद्यम आकार में बढ़ता है तो कर्मचारी एक दूसरे के साथ उन सभी संबंधों का ही उल्लेख करता है। यह सब जानते हुए भी उच्च अधिकारी अधीनस्थों की संख्या में व द्धि करते समय पर्याप्त-विचार से काम लेता है।

ग्रेकुनाज ने बातया कि आड़े-खड़े संबंधों द्वारा अधिक जटिलताएं उत्पन्न हो जाती हैं। इन जटिलताओं का मात्रा संगठन के कार्यों की व द्धि के आधार पर बदलती रहती है। यदि किसी कार्य में अधीनस्थों को परस्पर कम संबंध रखने की आवश्यकता हो तो वहां जटिलता नहीं बढ़ेगी। इस द ष्टि से हेमिल्टन का कथन पूर्णतः सार्थक है कि समूह के सदस्य का उत्तरदायित्व जितना कम होगा, समूह उतना ही बड़ा हो सकता है। एल. उर्विक ने भी बताया जाता है कि कोई भी सर्वोच्च अधिकारी परस्पर संबंधित कार्यों वाला पांच अथवा छः अधीनस्थों से अधिक कार्य को प्रत्यक्ष रूप से पर्यवेक्षित नहीं कर सकता।

सारांश

नियंत्रण सीमा का सिद्धान्त प्रशासनिक संगठन के सामान्य मार्गदर्शक के रूप में एक अच्छा सिद्धान्त है किन्तु इसे गणित का सा सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता है। अतः हम कह सकते हैं कि नियंत्रण सिद्धान्त कोठरता से लागू नहीं किया जा सकता। नियंत्रण सीमा उपर्युक्त चार निर्धारक तत्वों पर निर्भर करती है।

पिछले कुछेक वर्षों में प्रशासन में स्वचालित उपकरणों के बढ़ते प्रयोग के फलस्वरूप, निमंत्रण सीमा की अवधारणा में परिवर्तन आ गया है। स्वचालित एवं यांत्रिक उपकरणों के प्रयोग से संचार की सुगमता एवं व द्धि हो गई है। इससे समय की बचत हुई है एवं दूरी भी कम हो गई। यांत्रिकीकरण से अभिलेखों के भंडारण, लेखा-जोखा तैयार करने, सामान की सूची बनाने, तालिकाएँ तैयार करने, क्रय-विक्रय करने में सुगमता आई है। गणक (Calculator) एवं कम्प्यूटर (Computer) के प्रयोग ने प्रशासन के क्षेत्र में क्रांति ला दी है। इन अविष्कारों के प्रयोग से उच्चाधिकारी अब अधिक संख्या में अधीनस्थों के कार्य का पर्यवेक्षण एवं नियंत्रण कर सकता है।

इसके अतिरिक्त, आधुनिक लोक प्रशासन अफसरवाद (Bossism) में विश्वास नहीं करता है। आदेशक के स्थान पर अब विचार-विमर्श को अपनाया जाता है। अधीनस्थ कर्मचारियों से परामर्श किया जाता है। संयुक्त बैठकें होती हैं। इस नवीन पद्धति ने 'अफसर-मातहत' के सम्बन्धों में गुणात्मक परिवर्तन ला दिया है। मुख्य कार्यपालिका का अर्थ अब नियंत्रण एवं आदेश न होकर समन्वय अधिक है। इन परिवर्तित परिस्थितियों में - 'नियंत्रण सीमा' के सिद्धान्त का महत्व कम हो गया है।

अध्याय-12
केन्द्रीकरण बनाम विकेन्द्रीकरण
(Centralization Versus Decentralization)

"पूर्ण प्रशासकीय नियन्त्रण, एकरूपता एवं निश्चितता स्थापित करने की स्वाभाविक इच्छा तथा शासकीय प्रशासन को स्थानीय सार्वजनिक भावनाओं को ध्यान में रखकर शासन करने की जनता की माँग में समन्वय स्थापित करना संगठन की एक महत्वपूर्ण समस्या है"[1] ये ही दो बातें हमारे शासन में दिखायी देती हैं। सरकार के समक्ष आज मुख्य समस्या यह है कि केन्द्रीकरण किया जाय अथवा विकेन्द्रीकरण। एक ओर नियोजित अर्थव्यवस्था एवं सशक्त व प्रभावशाली प्रतिरक्षा तथा राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता केन्द्रीकरण पर बल देती है तो दूसरी ओर सामान्य जनसहयोग से लोकतन्त्र की स्थापना का आश्वासन एवं क्षेत्रीय स्वायत्तता की बढ़ती हुई माँग विकेन्द्रीकरण का समर्थन करती है। योजना आयोग केन्द्रीकरण का प्रतीक है तो पंचायत राज विकेन्द्रीकरण की प्रव त्ति का।

केंद्रीकरण का अर्थ (Meaning)

केंद्रीकरण का अर्थ है आधिकारिक शक्तियों को संगठन के उच्च स्तर पर केन्द्रित करना। इस प्रव त्ति का लक्ष्य है केन्द्रीकृत कार्य। इसलिए यह सत्ता के छितराव तथा प्रत्यायोजन के सिद्धांत के ठीक विपरीत है। नीति निर्धारण तथा निर्णय लेने की प्रक्रियाओं पर इसका महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। किसी भी केंन्द्रीकृत संगठन में प्रबन्ध और प्रशासन के ये दो क्षेत्र उच्चतम अधिकारियों के अधिकार क्षेत्र हैं। संगठनात्मक सोपानक्रम के निचले स्तर के अधिकारी निर्देश, सलाह, स्पष्टीकरण तथा अर्थ निर्णय के लिए हमेशा अपने से ऊपर के स्तर के अधिकारियों पर निर्भर करते हैं। यहाँ तक कि मुख्य संगठन के क्षेत्रीय इकाइयाँ या शाखाएँ भी निर्णय लेने की शक्ति नहीं रखती। इसलिए वे पूरी तरह से केंद्रीय प्रबंधकों पर निर्भर करती है। क्षेत्रीय इकाइयों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे केंद्रीय प्रबंधकों के रूप में कार्य करने वाले मुख्यालय द्वारा दिए गए पूर्व निर्धारित निर्देशों के अनुरूप ही इन निर्देशों को कार्यान्वित करें। केंद्रीकरण उस समय तीक्ष्ण हो जाता है जब कोई संगठन एक ही स्थान से कार्य करे अर्थात जब उसकी कोई क्षेत्रीय शाखा न हो। हैरल्ड कून्ट्ज (Harold Koontz) के शब्दों में, "केंद्रीकरण का प्रयोग उन प्रव त्तियों का विवरण देने के लिए किया गया है जो सत्ता के छितराव से भिन्न है.....बहुधा यह विभागीय गतिविधियों, सेवा, प्रभागों, या एक ही विभाग में केंद्रीकरण की चर्चा की जाती है तो इसका अर्थ होता है सत्ता को सौंपना या रोके रखना तथा निर्णय लेने में सत्ता का छितराव या जमाव होना"।

इस प्रकार केंद्रीकरण को भौतिक सुविधाओं का जमाव तथा निर्णय लेने वाली शक्ति भी माना जा सकता है। दूसरे शब्दों में प्रत्यायोजन का सीमित तथा नियंत्रक प्रयोग ही केंद्रीकरण है। हेनरी फायोल (Henri Fayol) का केंद्रीकरण और विकेंद्रीकरण के बारे में यह कहना है "जिससे अधीनस्थ के महत्व में व द्धि हो वह विकेंद्रीकरण है। जो उसे घटाये वह केंद्रीकरण है"।

केंद्रीकरण के लाभ (Advantages)

1. केंद्रीय सत्ता का पर्याप्त नियंत्रण-विद्वानों का कहना है कि केंद्रीयकृत व्यवस्था न केवल प्रशासन में प्रभावकारी नियंत्रण के लिए आवश्यक है वरन् वह अदक्षता, अपव्यय और पक्षपात जैसी प्रशासनिक बीमारियों का इलाज है।
2. प्रशासन में एकरूपता- केंद्रीकरण से देश भर में प्रशासनिक एकरूपता स्थापित की जा सकती है, जोकि अनेक मामलों में अनिवार्य होती है।

3. मितव्ययिता- केंद्रीकरण से प्रशासन में मितव्ययिता रहती है। सभी साधन एक साथ जुटाए जा सकते हैं, माल की खरीद बड़े पैमाने पर एक साथ की जा सकती है।
4. भ्रष्टाचार में कमी- केंद्रीकृत व्यवस्था में किसी संस्था के लिए समान खरीदने व अधिकारियों की नियुक्ति करने में अधिकारों के दुरूपयोग की अपेक्षाकृत कम सम्भावना रहती है। प्रशासन में भ्रष्टाचार, पक्षपात, भाई-भतीजावाद की गुंजाइश कम हो जाती है।
5. केंद्रीकरण के पक्ष में एक तर्क यह दिया जाता है कि स्थानीय संस्थाओं के पास धन व साधनों का अभाव रहता है। इसलिए भी उन्हें केंद्र पर निर्भर रहना पड़ता है, फिर क्यों न केंद्रीकरण को अपनाया जाय।
6. आधुनिक समय में यातायात व संचार के साधन में, आर्थिक नियोजन की आवश्यकताओं व देश की सुरक्षा की आवश्यकताओं ने केंद्रीकरण की सम्भावनाओं को बढ़ा दिया है।
7. संकटकाल के लिए केंद्रीकरण उपयोगी है क्योंकि शीघ्र निर्णय लिए जा सकते हैं।

केंद्रीकरण की हानि (Disadvantages)

1. निर्णयों में त्रुटि की सम्भावना- केंद्रीकृत व्यवस्था में अधिकारियों को स्थानीय समस्याओं का पर्याप्त ज्ञान नहीं होता, अतः उनके निर्णय दोषपूर्ण हो सकते हैं।
2. कार्य में देरी- इस व्यवस्था में अधिकारियों पर कार्य का बोझ भी एकत्रित हो जाता है अतः कार्य में देरी स्वाभाविक है।
3. प्रशासन में कठोरता- केंद्रीकरण से प्रशासन में लचीलेपन के स्थान पर कठोरता आती है क्योंकि स्थानीय अधिकारी स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल निर्णय नहीं ले सकते हैं।
4. लाल फीताशाही- क्योंकि प्रत्येक कार्य को सर्वोच्च अधिकारी के सामने से गुजरना पड़ता है अतः लाल फीताशाही में भाग लेने का अवसर नहीं मिल पाता।
5. अलोकप्रिय शासन- इस व्यवस्था में अधिकारियों में पहल करने की शक्ति समाप्त हो जाती है। जनता को भी प्रशासन में भाग लेने का अवसर नहीं मिल पाता।
6. स्थानीय शासन की उपेक्षा होती है। फिर केंद्र स्थानीय मामलों में गलत निर्णय भी ले सकता है।

विकेन्द्रीकरण
(Decentralisation)

आज की व्यावसायिक जटिलताओं एवं व्यवसाय को बढ़ते हुए स्वरूप के कारण किसी भी उपक्रम में केन्द्रित व्यवस्था सम्भव नहीं है। अब व्यवसाय क्षेत्रीय न रहकर अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है जिसमें समय-समय पर अनेक जटिलताओं का सामना करना पड़ता है। इन जटिलताओं पर विजय प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि व्यवसाय में प्रत्येक स्तर पर महत्वपूर्ण निर्णय लेने के कार्य किये जायें और अधीनस्थों को सम्पूर्ण अधिकार व उत्तरदायित्व प्रदान किये जायें। उपक्रम में ऐसी व्यवस्था ही अधिकार सत्ता के विकेन्द्रीयकरण की व्यवस्था कहलाती हैं इस प्रकार विकेन्द्रीयकरण में उच्च अधिकारी द्वारा अपने अधीनस्थों को अधिकार एवं दायित्व प्रदान किये जाते हैं। विकेन्द्रीयकरण से आशय उन समस्त कार्यों से है जिनके द्वारा अधीनस्थ व्यक्ति की भूमिका अथवा महत्व में बढ़ोत्तरी होती हैं अर्थात् जब उपक्रम या संस्थान का कोई उच्चाधिकारी अपने अधिकारों में से कुछ अधिकार स्थायी रूप में अपने अधीनस्थों को भारार्पित कर देता है, तो ऐसे अधिकारों के प्रत्यायोजन को केन्द्रीयकरण कहा जायेगा। विकेन्द्रीयकरण का कार्य इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप में अधिकार सौंपने के कार्य से सम्बन्धित है। दूसरे शब्दों में विकेन्द्रीयकरण प्रत्यायोजन की ही एक प्रमुख समस्या एवं विस्त त रूप हैं। विकेन्द्रीयकरण संगठन की वह अवस्था है जिसके अन्तर्गत अधिकार सत्ता (Authority) एवं उत्तरदायित्व (Responsibility) का प्रत्यायोजन अधिकाधिक एवं स्थायी रूप में होता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अधिकार सत्ता का एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति (अधीनस्थ) को सौंपना एवं साथ ही उस अधीनस्थ व्यक्ति को उस कार्य के लिए जिम्मेदार ठहराना विकेन्द्रीयकरण के अन्तर्गत आता है। विकेन्द्रीयकरण की प्रमुख परिभाषायें निम्नलिखित है-

हेनरी फेयोल (Henri Fayol) के अनुसार, "वे समस्त कार्य जिनसे अधीनस्थ की भूमिका के महत्व में व द्धि होती है, विकेन्द्रीयकरण कहलाता है।"

प्रबन्ध विद्वान फेयौल के विचारों का विश्लेषण करने से स्पष्ट होता है कि विकेन्द्रीयकरण क्रिया में अधीनस्थों को सौंपे गये प्रत्येक कार्य से उनकी भूमिका के महत्व में व द्धि होती है।

कीथ डेविस (Keith Devis) के मतानुसार, "संगठन की छोटी से छोटी इकाई तक, जहां तक कि व्यावहारिक हो, सत्ता एवं दायित्व का वितरण ही विकेन्द्रीयकरण कहलाता है।"

लुइस ए. एलन (Lewis A. Allen) के अनुसार, "विकेन्द्रीयकरण का अर्थ केंद्रीय बिन्दुओं के अतिरिक्त निम्नतम स्तरों तक समस्त अधिकार सत्ता के प्रत्यायोजन के व्यवस्थित प्रयासों से होता है। विकेन्द्रीयकरण उत्तरदायित्व के सन्दर्भ में अधिकारों के प्रदान किये जाने से सम्बन्धित होता है।"

एल डी वहाइट (L.D. White) के अनुसार, "उच्च स्तर से निम्न स्तर को अधिकारों का हस्तान्तरण विकेन्द्रीयकरण की प्रक्रिया है।"

जोसेफ एल. मैसी (Joseph L. Massie) के अनुसार, "विकेन्द्रीयकरण संगठन अवधारण के रूप में, निर्णयन क्रिया को संगठन के निम्नतम स्तर तक ले जाने के कार्य को कहते हैं।"

उपरोक्त परिभाषाओं के निष्कर्षानुसार हम कह सकते हैं कि विकेन्द्रीयकरण वह प्रक्रिया है जिसमें उच्चाधिकारी द्वारा अपने अधिकारों में से कुछ अधिकार स्थायी रूप से अधीनस्थों को सौंपे जाते हैं, जिनमें उनकी भूमिका के महत्त्व में व द्धि होती है और वे अपने दायित्वों को निभाने हेतु स्वतंत्र निर्णय लेने के अधिकारी हो जाते हैं साथ ही उन्हें अपने कार्यों के लिए उच्चाधिकारी के प्रति उत्तरदायी ठहराया जा सकता है-

विकेन्द्रीयकरण के लक्षण
(Charactersitics of Decentralization)

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से विकेन्द्रीयकरण के निम्नलिखित लक्षण द ष्टिगोचर होते हैं-

1. विकेन्द्रीयकरण में प्रबन्ध के निम्नतम स्तर पर अधिकाधिक निर्णय लिए जाते हैं।
2. प्रबन्ध के निम्नतम स्तर पर अधिक महत्वपूर्ण निर्णय लिये जाते हैं।
3. विकेन्द्रीयकरण में संस्था के अधिकांश कार्य प्रबंध के नीचे के स्तम्भ पर लिये गये निर्णयों से प्रभावित होते हैं।
4. विकेन्द्रीयकरण और अधीनस्थों की भूमिका का महत्व बढ़ता है।
5. विकेन्द्रीयकरण में सम्पूर्ण संगठन की प्रशासकीय इकाई को कई उपविभागों में बांट दिया जाता है।
6. विकेन्द्रीयकरण से केन्द्रीय स्टाफ को पर्याप्त सुविधा रहती है।
7. विकेन्द्रीयकरण में अधीनस्थों की क्रियाओं पर नियंत्रण रखने हेतु एक सीमा तक नियंत्रण भी लागू किये जाते हैं।

विकेंद्रीयकरण के लाभ (Advantages)

1. विकेंद्रीकरण से प्रशासकीय शीर्ष पर पक्षाघात एवं सिरों में रक्ताल्पता की आशंका समाप्त हो जाती है। सत्ता-कार्यों तथा उत्तरदायित्वों को वितरित करने के भार में दबी हुई केंद्रीय सत्ता को राहत मिलने के साथ-साथ इसमें क्षेत्रीय एजेन्सियों तथा जनता से सम्पर्क रखने वाली इकाइयाँ मजबूत बनती हैं।
2. जो व्यक्ति प्रशासकीय कार्यक्रमों एवं कार्यों से प्रत्यक्षतः प्रभावित होते हैं उन्हें प्रशासन से घनिष्ट रूप में संबंधित होने पर अनुकूलता तथा व्यवस्थित होने का अवसर मिलता है।
3. सत्ता के विकेंद्रीयकरण से तुरन्त कार्यवाही को प्रोत्साहन मिलता है तथा विलम्ब एवं लालफीताशाही कम हो जाती है।
4. अधीनस्थ प्रशासकों को अपने साधन तथा आत्मविश्वास को बढ़ाने का अवसर प्राप्त होता है और इस स्थिति में उन्हें अपने स्वयं के निर्णय लेने होते हैं एवं उत्तरदायित्व वहन करने पड़ते हैं।

5. विकेन्द्रित व्यवस्था में सम्पर्क संगठन एक ही कार्यप्रणाली का अनुमान करने के लिए बाध्य नहीं है। संगठन की विभिन्न इकाइयों को अपने प्रयोग की सुविधा होती है।
6. चार्ल्सवर्प के शब्दों में- "विकेन्द्रीकरण में मात्र प्रशासकीय कुशलता के अतिरिक्त कुछ लाभ भी हैं। नागरिक के व्यक्तिगत औचित्य की भावना के विकास पर इसका सीधा प्रभाव पड़ता है। अतः इसमें कुछ आत्मिक गुण भी होते हैं।"

दोष (Demerits)

1. अत्यधिक विकेंद्रीकरण अराजकता को जन्म दे सकता है।
2. प्रत्येक अवस्था में विकेंद्रीकरण प्रशासकीय कार्यों में समन्वय एकीकरण को कठिन बना देता है।
3. कर्मचारियों संबंधी कार्यों, बजट निर्माण, कर-एकीकरण लेखाकार्य, योजना-कार्यक्रम के निर्माण आदि में पूर्ण विकेंद्रीकरण न तो संभव है और न ही वांछनीय है।
4. यातायात एवं संचार की अत्यधिक द्रुतगामी साधन, आधुनिक सुरक्षा की आवश्यकताएँ और आर्थिक नियोजन की अनिवार्यताएँ निस्संदेह विकेंद्रीकरण की अपेक्षा केंद्रीकरण का समर्थन करती हैं।
5. सम्पूर्ण देश का रहन-सहन का स्तर, निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा तथा मद्यनिषेध में एक सी नीति अपनाने की घोषणाएँ प्रशासन की अनिवार्यता पर बल देती है।

किन्तु विकेंद्रीकरण को केवल एक सीमा तक ही लागू किया जा सकता है। अतः प्रशासकीय प्रणाली में इस हेतु कुछ आरक्षणों की व्यवस्था आवश्यक है। अपने कार्यों का विपरीत करने के पूर्ण केंन्द्रीय अधिकारियों को निम्नलिखित बातों के संबंध में निश्चित हो जाना आवश्यक है।

1. स्थानीय अधिकारियों को एक से अधिक केंन्द्रीय अधिकारी या कार्यालय के प्रति उत्तरदायी नहीं होना चाहिए।
2. अधिकार क्षेत्र का निर्धारण बड़ी सावधानी से किया जाना चाहिए।
3. अनेक क्षेत्रीय संस्थानों की प्रक्रियाएँ एक विशेष समान स्तर की होनी चाहिए, यह आवश्यक नहीं हैं कि वे एक सी ही है।
4. स्थानीय एजेन्सी का पर्याप्त नमनीय या लचीला भौतिक एवं मनौवैज्ञानिक ढाँचा होना चाहिए जिससे वह संस्था स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल स्वयं को ढाल सके।
5. क्षेत्रीय इकाई को ऐसे निर्णय लेने चाहिए जिनका समग्र नीति पर प्रभाव पड़े। परिस्थिति उत्पन्न होने पर उसे स्वयं निर्णय लेने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।
6. तुरन्त अपील की जा सके, ऐसी पद्धति विद्यमान होनी चाहिए।
7. क्षेत्र द्वारा केन्द्र को मुक्त रूप से सुझाव दिए जाने चाहिए।
8. प्रतिवेदन एवं निरीक्षण की समुचित प्रणाली द्वारा केंद्रीय सत्ता को संगठन की दूरस्थ या क्षेत्रीय इकाइयों का पूरा ज्ञान प्राप्त होते रहना चाहिए।

केंद्रीकरण तथा विकेंद्रीकरण को प्रभावित करने वाले तत्व (Factors Influencing both)

केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण, सत्ता संचालन के दो छोर हैं, इसलिए ये सापेक्षिक शब्द है। हम किसी एक ऐसे संगठन की कल्पना नहीं कर सकते जो पूर्णरूप से केंद्रीकृत या विकेंद्रीकृत हो, क्योंकि इन दोनों के प्रयोग के बीच भी सत्ता की निरन्तरता रहती है। इन दोनों को एक दूसरे के पूरक में देखने की आवश्यकता है, क्योंकि इन दोनों का सम्मिलन ही स्थिरता, जवाबदेही, निपुणता और प्रभावीपन लाता है। किसी लोकतांत्रिक ढाँचे में उनका प्रयोग किसी संगठन के उद्देश्य, जीवन, आकार तथा सेवा की प्रकृति पर निर्भर करता है। यह कहा गया है कि अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए एक संगठन को कुछ काम करने ही होते हैं जो मूलरूप में स्वभाव एवं प्रभाव में केंद्रीकृत होते हैं। इसके अतिरिक्त उनका कार्य सत्ता के केंद्रीय बिन्दु से ही हो सकता है। ऐसे दो प्रमुख कार्य हैं- योजना, संगठन, प्रेरणा, समन्वय तथा अधीनस्थ अधिकारियों और क्षेत्रीय इकाइयों के कार्यों में नियंत्रण। जैसे आधारभूत व्यवस्था कार्यों के मामलों में निर्णय लेना तथा कार्य प्रारम्भ करना। इस प्रकार कार्य प्रारंभ

करने तथा निर्णय लेने तक उच्च स्तरीय-अधिकारी वास्तविक सत्ता को संगठन के केंद्र में ही निहित रखते हैं। दूसरी तरफ अर्नेस्ट डेल (Earnest Dale) का कहना है कि निम्नलिखित स्थितियों में विकेन्द्रीकरण की मात्रा अधिक होती है:

1. प्रबन्ध सोपानाक्रम के निचले स्तर पर जितने अधिक निर्णय लिए जाएंगे उतना ही विकेंद्रीकरण अधिक होगा।
2. प्रबंध के निचले स्तर पर लिए गए निर्णय जितने अधिक महत्वपूर्ण होंगे, उतना ही विकेंद्रीकरण अधिक होगा। उदाहरण के लिए जब क्षेत्रीय इकाई का प्रमुख बिना किसी अन्य व्यक्ति से परामर्श किए वित्तीय निवेश या खर्च मंजूर करने की शक्ति रखता हो।
3. विकेंद्रीकृत सत्ता के ढाँचे में निचले स्तर पर निर्णय लिए जाते हैं और इनका असर संगठन के अधिकतर कार्यों पर समग्र रूप से पड़ता है। इस प्रकार वे संगठन जो विभिन्न शाखा स्तरों पर केवल कार्यात्मक निर्णय लेने की अनुमति देते हैं, उन संगठनों की अपेक्षा कम विकेन्द्रीकृत होते हें जो शाखा स्तरों पर वित्तीय एवं कार्मिक संबंधी निर्णय लेने की अनुमति भी देते हैं।
4. जब निर्णय पर कम नियंत्रण की आवश्यकता हो, विकेंद्रीकरण उस समय सर्वाधिक होता है। जब कोई जाँच पड़ताल हो न हो, जब प्रवर अधिकारियों को लिए गए निर्णयों की सूचना देने की आवश्यकता हो तो विकेंद्रीकरण में कमी आ जाती है। यदि निर्णय लेने से पहले प्रवर अधिकारियों से परामर्श लेना पड़े तो विकेंद्रीकरण और कम हो जाता है। जब कम लोगों से परामर्श किया जाए और परामर्श देने वाले संगठन सोपानक्रम में निचले स्तर पर हों तो विकेंद्रीकरण की मात्रा बढ़ जाती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन दो संकल्पनाओं का प्रयोग एक से अधिक तत्वों से प्रभावित होता है। आधुनिक समय में जब प्रशासकीय एवं राजनैतिक संगठन में विविधता हो तो लोगों को अधिकाधिक लाभ देने के लिए सत्ता के केंद्रीकृत एवं विकेंद्रीकृत ढाँचे को प्रयोग करने की आवश्यकता होती है। यह कल्याणकारी राज्य या लोकराज्य के लिए जरूरी तत्व है। जनमत विकेन्द्रीकृत प्रणाली के पक्ष में नहीं है। पिफनर और शेरवुड (Pfiffner Sherwood) का कहना है कि "विकेंद्रीकरण को हमेशा एक ऐसे संघर्ष का सामना करना पड़ेगा जो समन्वयन के पक्षधर तथा उसके विरोधियों के बीच होता है। आवश्यक बात यह है कि एक ऐसी जीवन पद्धति अपनायी जाए जिसमें लोग अधिक से अधिक अपने व्यक्तिगत लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास कर सकें और साथ ही भिन्न मत रखने वाले दूसरे व्यक्तियों के साथ मिलकर सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कार्य करे"।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है विकेंद्रीकरण के राजनैतिक एवं प्रशासनिक तत्व भी हैं, लेकिन प्रबन्ध में या प्रशासनिक संगठनों के लिए विकेंद्रीकरण को एक ऐसी प्रशासकीय विधि के रूप में देखा गया है जो एक छितराए तरीके से निर्णय लेने की शक्ति को अवस्थित करती है। इसके विपरीत केंद्रीकरण को शीषर्किस्थ प्रबन्ध में सत्ता के जमाव के रूप में देखा जाता है। इन दोनों संकल्पनाओं की संयन्त्र, कार्मिक तथा उपकरण जैसी भौतिक सुविधाओं की द ष्टि से विवेचना करते हुए मर्विन कोहन (Mervin Kohn) मत व्यक्त करते हैं कि कोई भी संगठन दोनों की विशेषताएँ प्रदर्शित करता है। कोहन ने चार सम्भावित सम्मिलित बनाए हैं और उन्हें वह "केंद्रीकरण- विकेंद्रीकरण साँचा या मैट्रिक्स का नाम देता है इन्हें नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है:

	केंद्रीकृत (जमाव) **(Centralised)**	**विकेंद्रीकृत (छितराव)** **(Decentralised)**
संयत्र कर्मचारी उपकरण (सुविधाएँ)	उत्पाद, सेवाएँ और व्यापार कार्य जो एक ही भवन में या एक स्थानीकृत क्षेत्र के विभिन्न भवनों में केंद्रीकृत हैं।	उत्पाद, सेवाएँ और व्यापार कार्य जो विभिन्न क्षेत्रों में छितराया हुआ है, अनेक संयंत्र संचालन, प्रत्येक उप इकाई एक अलग अस्तित्व लिए होती है, यह भी संभव है कि यह स्वायत्त, आत्मनिर्भर इकाई हो जो प्रमुख व्यापार स्वयं करें

सत्ता (निर्णय लेना)	एकत्रीकरण की उच्च मात्रा और प्रबन्ध के उच्च स्तरों पर निर्णय लेने को बनाए रखना, अधीनस्थ अधिकारी बहुत अधिक निर्भर	प्रत्यायोजन की उच्च मात्रा और प्रबंध के निचले स्तरों पर निर्णय लेने की समतलीय या ऊर्ध्वगामी स्वतंत्रता, अधीनस्थ अधिकारी अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र, "लाभ केन्द्र" संकल्पना

इस मैट्रिक्स से हमें चार सम्भावित सम्मिलित मिलते हैं। इन सभी में केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण की सीमा अलग-अलग है। अब हम उन सम्मिलिनों की व्याख्या करेंगे-

1. पहला सम्मिलिन सुविधाओं और संगठनात्मक सोपानक्रम के उच्च स्तरों पर सत्ता के केन्द्रीकरण की उच्च मात्रा दर्शाता है। इन स्तरों के अधिकारी निर्णय लेने तथा निर्णय के क्रियान्वयन का व्यवस्थात्मक कार्य करते हैं। ऐसा संगठन सरकार में विशेषतः रक्षा या रक्षा उत्पादन के पक्षों जैसे- संवेदनशील विषयों से संबंधित हो सकता है या फिर विदेश मंत्रालय में कुछ स्थितियों में भी हो सकता है। इसमें सत्ता का अल्पमत या न के बराबर प्रत्यायोजन होता है निजी उद्योग में यह किसी एक व्यक्ति या एक परिवार के अंतर्गत चलने वाली इकाइयों से मिलता-जुलता होता है और जिसका कार्य क्षेत्र बहुत छोटा या मालिकों द्वारा सुचारू रूप से संचालित होता है।
2. दूसरे सम्मिलिन से एक ऐसा संगठन पैदा होता है जिसकी भौतिक सुविधाएँ एक ही स्थान पर केंद्रित होती है। दूसरे शब्दों में उत्पाद या सेवाएँ तो केंद्रीकृत होती हैं किन्तु निर्णय लेने की शक्ति समतलगामी या ऊर्ध्वगामी रूप में न्यस्त होती हैं। जिस स्तर के अधिकारियों को निर्णय लेने की शक्ति प्रदान की जाती है, वे प्रभावी प्रबंध के लिए अपने से ऊपर के अधिकारियों के प्रति उत्तरदायी होते हैं क्योंकि उनके निर्णय सर्वोच्च प्रबंधकों की सम्पूर्ण नीति के अनुरूप होने चाहिए। इस प्रकार की स्थिति सेवा संस्थाओं में पाई जा सकती है। जैसे- राज्य व्यापार निगम या वे संस्थाएं जो अन्न वसूली से संबंधित है और वितरण व्यवस्था में संलग्न हैं, जैसे- पंजाब में पुनसुप (Punsup) कार्य योजना।
3. तीसरे, ऐसा भी संगठन हो सकता है जिसमें भौतिक सुविधाएँ देश के विभिन्न हिस्सों या क्षेत्र विशेष में स्थित विभिन्न इकाइयों में छितरायी होती हैं लेकिन मुख्य निर्णय लेने की शक्ति प्रबन्ध उच्चाधिकारियों के पास होती हैं इकाइयों को केवल कुछ छोटे विषयों में निर्णय लेने का अधिकार होता है जैसे- छुट्टी या अतिरिक्त समय भत्ता मंजूर करना आदि। इस प्रकार मुख्य नीतियों के फलस्वरूप प्रबंध संबंधी कार्य करने की शक्ति का ही प्रत्यायोजन किया जाता है जिससे वे मुख्य नीतियों के छोटे-छोटे पक्षों को कार्यान्वित कर सकें। महत्वपूर्ण एवं मुख्य नीतियाँ सर्वोच्च प्रबंधकों द्वारा ही निश्चित की जाती है। ये प्रबंधक केन्द्रीय कार्यालय या मुख्यालय में होते हैं। इसी वर्ग में विभिन्न प्रकार के सार्वजनिक एवं निजी यातायात संगठनों को रखा जा सकता है।
4. अंत में हम उस संगठन को रख सकते हैं जो प्रशासकीय विकेंद्रीकरण या जमाव या समाप्त करने के सिद्धांत पर आधारित होता है। ऐसा उस स्थिति में होता है जब भौतिक सुविधाएँ तथा निर्णायक शक्ति दोनों ही विभिन्न स्तरों एवं इकाइयों में छितरायी हुई या विकेन्द्रित होती हैं। ऐसे संगठन को व्यापक कार्य करने होते हैं और इकाइयों को महत्वपूर्ण कार्यकारी स्वायत्तता प्राप्त होती है। हिन्दुस्तान मशीन टूल्स लिमिटेड को इस वर्ग में रखा जा सकता है। मर्विन कोहन (Mervin Kohn) ने जो "लाभ केन्द्र" की संकल्पना की है उसे इसी संगठन के नमूने का हिस्सा माना जा सकता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यह संकल्पना केवल निजी व्यवसाय पर ही लागू होती है जोकि आमतौर पर लाभ के आधार पर चलता है। लेकिन सरकारी संगठन में उत्पादकता अथवा सामाजिक या आर्थिक उपलब्धियों को लाभ माना जाता है और ये उपलब्धियाँ पूरे देश या किसी वर्ग विशेष के लिए लाभप्रद होती है।

हम यह कह सकते हैं कि किसी एक या दोनों मिश्रण के अपनाना संगठन और उसके द ष्टिकोणों पर निर्भर करेगा। इसके अतिरिक्त कार्यों की प्रकृति, उत्पाद एवं सेवाएँ, दूरगामी योजनाएँ और उत्पादन एवं वितरण की नीति भी इस विषय में आधार हो सकती है। इस प्रकार केंद्रीयकरण तथा विकेंद्रीकरण के बीच संतुलन आंतरिक एवं बाह्य प्रभावों के कारण बदलता रहता है। आंतरिक प्रभाव अधिकारी एवं अधीनस्थों के संबंधों पर आधारित सोपानक्रम के सिद्धांत की आवश्यकता से उत्पन्न होते हैं। दूसरी ओर सेवा की प्रकृति भी इसे प्रभावित करती है। बाह्य प्रभाव एक ओर तो ग्राहक वर्ग के साथ संबंध पर आधारित होते हैं दूसरी ओर ये उसे उस वातावरण पर आधारित होते हैं जिसमें कोई संगठन कार्य करता है। मुख्यतः यह लोगों की परिपक्वता

तथा देश के विकास के स्तर पर आधारित होते हैं जिसमें कोई संगठन कार्य करता है। मुख्यतः यह लोगों की परिपक्वता तथा देश के विकास के स्तर पर निर्भर करता है। मुतालिक (Muttalib) के शब्दों में, "सोपानक्रम का सिद्धांत उन अवस्थाओं में अधिक अधिनायकवादी नहीं होता जहाँ संगठन के सदस्य और ग्राहक वर्ग उस समाज से संबद्ध हों जो समतावादी संकल्पना को उच्च महत्व देता हो"। राजनैतिक और प्रशासकीय विकेंद्रीकरण की सफलता के लिए पिफनर (Pfiffner) और शेरवुड (Sherwood) यह सुझाव देते हैं कि विकेंद्रीकरण को वांछित लाभ पाने के लिए बहुत ध्यान देना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त इसके लिए न केवल किसी संगठन के सदस्यों की चारित्रिक परिपक्वता आवश्यक है बल्कि ब हत समाज की संस्कृति और उस संगठन की उप-संस्कृति में भी परिपक्वता आवश्यक है।

मूल्यांकन- किन्तु केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण ऐसे निगमनात्मक सिद्धान्त नहीं है जो प्रत्येक समय और प्रत्येक स्थान पर सार्वभौमिक रूप से लागू किये जा सकें। इनमें परिस्थितिजन्य अनुरूपता होती है। जेम्स डब्ल्यू. फेस्लर के अनुसार केन्द्रीकरण एवं विकेन्द्रीकरण के निर्धारण में चार तत्व सहायक होते हैं- उत्तरदायित्व, प्रशासकीय तत्व, कार्यात्मक तत्व एवं बाह्य तत्व। किसी प्रकार के विकेन्द्रीकरण के विरुद्ध एक तर्क प्रशासकीय उत्तरदायित्व का सिद्धान्त है। सत्ता एवं उत्तरादायित्व का चोली-दामन का साथ होता है। केन्द्रीय सत्ता को जब किसी कार्य के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता है तो उसके द्वारा क्षेत्रीय अधिकारियों को अपनी स्वविवेकीय शक्ति प्रदान करने में हिचकना स्वाभाविक है। फेस्लर ने अभिकरण की आयु, उसकी नीतियों एवं पद्धतियों का स्थायितत्व, उसके क्षेत्रीय अधिकारियों की क्षमता, गति एवं मितव्ययता सम्बन्धी दबाव तथा प्रशासकीय दक्षता को प्रशासकीय तत्वों के रूप में व्यक्त किया है। किसी अभिकरण द्वारा सम्पादित विभिन्न प्रकार के कार्यों, उनकी तकनीकी प्रकृति एवं राष्ट्रव्यापी एकता की आवश्यकता को मुख्य कार्यात्मक तत्व माना है। यह सामान्य अनुभव पर आधारित है कि सुरक्षा, नियोजन, संचार एवं यातायात के हेतु राष्ट्रव्यापी एकरूपता के कारण केन्द्रीकरण आवश्यक होता है। इसके विपरीत, संगठन के उपयुक्त स्तरों को कार्य-सम्पादन सम्बन्धी निर्णय करने के अधिकार सरलतापूर्वक विकेन्द्रीत किये जा सकते हैं। बहुत पहले जे. एस. मिल ने स्थानीय अभिकरणें को "न केवल क्रियान्वयन अपितु विस्तार के मामलों में भी पर्याप्त नियंत्रण देने की" सिफारिश की थी। बाह्य तत्वों के अन्तर्गत शासकीय कार्यक्रमों में लोकप्रिय सक्रिय सहयोग की माँग एवं राजनीतिक दलों द्वारा दबाव को शामिल किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में एलेक्सिस डि टॉकविल (Alexis de Tocqueville) का मत उद्ध त करना उचित हैः "मैं, वास्तव में, यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि कोई राष्ट्र शासन के उचित एवं शक्तिशाली केन्द्रीकरण के अभाव में जीवित रह सकता है। लेकिन मेरा मत है कि जिस राष्ट्र में थोड़ी-बहुत भी स्थानीय भावना विद्यमान होती है, केन्द्रीकृत शासन व्यवस्था उसे निरन्तर कम करके राष्ट्र को स्फूर्तिवान बनाये रखने की क्षमता रखती है। ऐसे प्रशासन के अन्तर्गत एक निश्चित अवसर पर समस्त उपलब्ध साधनों को एकत्र करना सम्भव होता है। संकट के समय भले ही विजय प्राप्त हो जाय किन्तु क्रमशः शक्तिस्नायु शिथिल हो जाते हें। यह (केन्द्रीकृत शासन) पद्धति किसी व्यक्ति की अस्थायी महानता में प्रशंसनीय योग भले ही प्रदान कर दे परन्तु किसी राष्ट्र की वांछित सम द्धि में कोई योग प्रदान नहीं करती।"

अध्याय-13
प्रत्यायोजन
(Delegation)

सत्ता का प्रत्यायोजन विशाल स्तरीय संगठनों का एक सामान्य तत्त्व है। आदेश की एकता अवधारणा के अनुसार विभाग की प्रत्येक क्रिया का आरम्भ नेता अथवा 'पिता' से होना चाहिए किन्तु यह छोटे पैमाने के संगठन में अथवा ऐसे संगठन में ही सम्भव है जहाँ आमने-सामने के सम्पर्क सम्भव हो। बड़े पैमाने के संगठनों में सत्ता के प्रत्यायोजन की आवश्यकता इसलिए है क्योंकि नियंत्रण परिधि की सीमाएँ होती हैं। यद्यपि कानूनी द ष्टि से सारी शक्ति संगठन के मुख्य अधिकारी के पास ही होती है तथापि व्यवहार में सत्ता को नीचे शक्ति कर्मचारियों तक प्रत्यायोजित किया जाता है क्योंकि मुख्य अधिकारी के लिए सारा कार्यभार संभालना असम्भव होता है।

प्रत्यायोजन की आवश्यकता
(Need for Delegation)

प्रत्यायोजन के निम्नलिखित लाभों के कारण इसकी आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है। वे लाभ निम्नलिखित हैं:

1. **प्रभावी नेत त्व (Effective Leadership):** इससे मुख्य कार्यकारी अधिकारी को संगठन सम्बन्धी महत्वपूर्ण निर्णय लेने के लिए समय तथा शक्ति मिल जाती है। बहुत सारा रूटीन कार्य नीचे स्तर पर हो जाता है तथा महत्वपूर्ण कार्य ही मुख्य अधिकारी के पास आता है। प्रभावकारी नेत त्व केवल प्रत्यायोजन के द्वारा ही सम्भव है।" व्यापार जगत् में एक दुःखदायी बात यह है कि एक व्यक्ति जिस कार्य में कुशल होता है उसे स्वयं करना चाहता है तथा इस प्रकार कार्य के बोझ में दब कर असफल हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों को कार्य प्रत्योजित करना नहीं आता।" प्रत्यायोजन अच्छे नेत त्व का पहला सिद्धान्त है।

   प्रत्योजन की आवश्यकता की ओर बाईबल के वर्णित मोज़िज़त (Moses) तथा जैथ्रौ (Jethro) की कथा हमारा ध्यान दिलाती है। मोज़िज़ के कंधों पर शासन का बहुत भार था तथा जैथ्रो ने उसे परामर्श दिया कि वह किन्हीं योग्य अधीनस्थों को शक्तियाँ प्रत्यायोजित कर दे। मोज़िज़ ने परामर्श मान लिया था सारे इजराईल से योग्य व्यक्ति चुने तथा उन्हें हजार व्यक्तियों का शासक, सौ व्यक्तियों का शासक, पचास व्यक्तियों के शासक तथा दस व्यक्तियों का शासक बना दिया। वे हर समय लोगों का निर्णय करते तथा केवल जटिल मामलों को मोज़िज़ के पास लाते।

   सच्चा संयोजक वह है जिसे यह ज्ञात हो कि कब तथा क्या प्रत्यायोजित करना चाहिए। मूनी तथा रेली के शब्दों में, "वास्तविक नेता को शक्ति प्रत्यायोजित करना सुगम होता है तथा वह इसे मौका आने पर शीघ्र कर देता है, किन्तु वह एक बात के बारे में सचेत रहता है और वह यह है कि वह अपनी सत्ता तथा इसमें सम्मिलित उत्तरदायित्व को प्रत्यायोजित नहीं कर सकता। यह उत्तरदायित्व की भावना ही है जिसके कारण वह ज्यों ही कार्य उसके सामर्थ्य से बढ़ जाये, वह उसे तत्परता से प्रत्यायोजित कर देता है। ऐसे व्यक्ति सच्चे संयोजक होते हैं; हम उन्हें जन्मजात संयोजक कह सकते हैं। मेधावी स्वाभाविक रूप से ही इस बात को जानते हैं कि समान्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सामूहिक कार्यकुशलता तभी प्राप्त हो सकती है यदि प्रत्यायोजन के सिद्धान्त का पालन किया जाये।" प्रत्यायोजन से मुख्य अधिकारी के कन्धों से बहुत सा अनावश्यक भार हट जाता है।

2. **अत्यधिक शैक्षणिक मूल्य (Immense Educative Value):** प्रबन्धक का एक कार्य यह होता है कि वह अपने अधीनस्थों को प्रशिक्षित करे तथा उत्तरदायित्व संभाने तथा निर्णय लेने की कला सिखाए। इस तरह शक्ति प्रत्यायोजन का अत्यधिक शैक्षणिक मूल्य है। यदि अधीनस्थों को सत्ता के प्रयोग में भागीदार बनाया जाये तो वे संगठन के प्रति अधिक निष्ठावान

हो जाते हैं तथा लगन से कार्य करते हैं। इससे उनका उत्साह बढ़ता है तथा उनमें परिश्रम करने की इच्छा पैदा हो जाती है।

3. **कठोरता में लचीलापन (Flexibility in Rigidities):** प्रत्यायोजन से कठोर कार्यविधियों में भी लचीलापन आ जाता है। प्रत्यायोजन से कार्यविधियों को आवश्यकता के अनुसार ढालने में सहायता मिली हे। इस बात को समझाने के लिए श्री मिलेट एक रोक कहानी सुनाते हैं। "एक अधिकारी को यह स्पष्टीकरण देने के लिए कहा गया कि उसके स्थान पर विनाशकारी आग क्यों लगी। उस अधिकारी ने अपनी रिपोर्ट में संभवतः कुछ इस तरह का वाक्य लिखा, "नियमों का पूरी तरह पालन किया गया था भवन जल गया। कोई भी नियम भविष्य की प्रत्येक परिस्थितियों से निपटने के लिए पर्याप्त नहीं हो सकते। प्रत्यायोजन से ही समान्य उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है जिसका संगठित समूहों को यत्न करना चाहिए।"

4. **मितव्ययता तथा कार्यशुलता (Economy and Efficiency):** शक्तियों के उचित प्रत्यायोजन से सेवा अधिक प्रभावकारी, मितव्ययी तथा कुशल हो जाती है। ये लाभ श्रम विभाजन तथा शक्ति प्रत्यायोजन से ही मिल सकते हैं।

वहाईट के शब्दों में, "कार्य-अधिकता की स्थिति में शक्तियों के प्रत्ययोजन की आवश्यकता होती है। कार्य उसी स्थान पर निपटाया जाना चाहिए जहाँ पैदा होता है। नागरिकों की सुविधा से विवश होकर ही बहुत से मामले वाशिंगटन से बाहर हल करने पड़ते हैं। प्रशासकीय विलम्ब से बचने के लिए केवल एक ही मुख्यालय पर निर्णय करने की बजाए सैकड़ों अथवा हजारों क्षेत्रीय अधिकारियों द्वारा निर्णय करने की आवश्यकता होती है। कई मामलों में नीति तथा कार्यक्रम को स्थानीय स्थितियों के अनुसार ढालना पड़ता है, जिसके लिए क्षेत्रीय अधिकारियों को कुछ शक्ति सौंपनी पड़ती है। निश्चित रूप से शक्तियों के प्रत्यायोजन का अर्थ है क्षेत्रीय अधिकारियों में अधिक उत्साह तथा उत्तरदायित्व की अधिक भावना। वे केवल वाशिंगटन के बड़े अधिकारियों के रिपोर्ट अथवा सन्देशवाहक मात्र बनकर नहीं रहना चाहते।"

प्रत्यायोजन का अर्थ तथा प्रकार
(Meaning of Delegation and its Forms)

मूनी के अनुसार प्रत्यायोजन का अर्थ है उच्च-अधिकारी का निम्न-अधिकारी को शक्तियाँ सौंपना। इसका अर्थ है उच्चतर अधिकारी द्वारा अपने एजेन्ट अथवा अधीनस्थ को अपने पर्यवेक्षण तथा नियंत्रण के अधीन शक्तियाँ सौंपना। कानूनी तौर पर प्रत्यायोजित शक्ति सौंपने वाले अधिकारी के पास ही रहती है किन्तु व्यवहार में इसके प्रयोग की स्वीकृति अधीनस्थ तथा एजेन्ट को दी जाती है। टेरी (Terry) मूनी के मत से सहमत नहीं होते। उनके अनुसार, "प्रत्ययोजन का अर्थ है एक कार्यकारी अधिकारी अथवा संगठनात्मक यूनिट द्वारा दूसरे को शक्ति सौंपना। यह नीचे अधिकारी द्वारा ऊपर वाले अधिकारी अथवा बराबर वाले अधिकारी को भी शक्तियाँ सौंपने हो सकता है। प्रत्यायोजन का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है-

(क) नीचे की ओर (downward) जब बड़ा अधिकारी छोटे अधिकारी को शक्तियाँ सौंपता है जैसे सेल्स मैनेजर, सेल्स मैन को;

(ख) ऊपर की ओर (upward) जब छोटा अधिकारी बड़े अधिकारी को शक्तियाँ सौंपता है जैसे शेयर होल्डर निदेशक बोर्ड को, तथा

(ग) साथी पक्ष की ओर (sideward) जब शक्ति बराबर के स्तर पर सौंपी जाती है, जैसे अफ्रीकन ट्राइबल चीफ्स तथा केन्द्रीय ट्राइबल सत्ता के मामले में (Central Tribal Authority)"।

प्रत्यायोजन को मात्रा की द ष्टि से इसे इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है-

(क) पूर्ण अथवा आंशिक;

(ख) सशर्त तथा बिना शर्त के;

(ग) सीधा अथवा मध्यवर्ती (direct or intermediate)।

(क) पूर्ण प्रत्यायोजन का अर्थ है एजेन्ट को पूरी शक्तियाँ सौंपना, जैसे, राजनयिक को बातचीत करने के लिए पूरी शक्तियाँ सौंप कर विदेश भेजा जाता है। आंशिक प्रत्यायोजन तब होता है जब उसे महत्वपूर्ण बातों पर अपने देश से परामर्श तथा मार्गदर्शन लेना पड़े।

(ख) सशर्त प्रत्यायोजन तब होता है जब किसी अधीनस्थ के कार्य की पुष्टि उसके बड़े अधिकारी द्वारा की जानी होद्ध यह बिना शर्त के तब होता है जब अधीनस्थ कार्य करने के लिए पूर्ण रूप से स्वतंत्र हो।

(ग) प्रत्यायोजन औपचारिक तब होता है जब यह नियमों, उपनियमों अथवा आदेशों में विदित हो; यह अनौपचारिक तब होता है जब रिवाजों, परम्पराओं आदि पर आधारित हो।

(घ) प्रत्यायोजन सीधा तब होता है जब इसके बीच में कोई तीसरा व्यक्ति न हो; यह मध्यवर्ती तक होता है जब इसे तीसरे व्यक्ति द्वारा किया जाए। मध्यवर्ती प्रत्यायोजन के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। मूनी इसके दो उदाहरण देता है। अमरीका के निर्वाचक मण्डल (Electoral College) द्वारा वहाँ के राष्ट्रपति का चुनाव तथा पादरियों की परिषद् (Council of Cardinals) द्वारा पोप का चुनाव।

किन्तु इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि प्रत्यायोजन का अर्थ शक्तियाँ सौंपने वाले अधिकारी द्वारा उत्तरदायित्व को त्यागना नहीं हैं अन्ततः उत्तरदायितव तो उसी अधिकारी का होता है जिसने शक्तियाँ प्रत्यायोजन की हुई होती हैं। मिलेट के शब्दों में, "प्रत्यायोजन का अर्थ केवल अधिक अथवा कम विस्तारपूर्वक शक्तियों का सौंपना ही नहीं हैं इसका भाव है दूसरों को विवेक सौंपना ताकि वे अपने कर्त्तव्यों की परिधि में रहते हुए अपनी बुद्धि का प्रयोग कर सकें। प्रबन्धकीय नेत त्व को इस बात का उत्तरदायित्व संभालना चाहिए कि विवेक का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है।" इस प्रकार प्रत्यायोजन का दोहरा स्वरूप होता है, एक तो अधीनस्थ को विवेक से कार्य करने का अधिकार सौंपना तथा दूसरे शक्तियाँ सौंपने वाले अधिकारी को यह देखने का अधिकार कि अधीनस्थ अपने विवेक का ठीक प्रयोग करें।

संक्षेप में, प्रत्यायोजन के प्रमुख तत्व हैं-

(i) प्रत्यायोजन निर्धारित ढंग से स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करने का प्राधिकार है परन्तु प्रत्यायोजनकर्ता द्वारा निर्धारित सीमाओं के अन्दर ही;

(ii) प्रत्यायोजन का द्वैध स्वरूप होता है;

(iii) प्रत्यायोजित सत्ता को वापिस लिया जा सकता है, कम किया जा सकता है अथवा इसमें व द्धि की जा सकती है, परिवर्तित परिस्थितियों की जैसी माँग हो;

(iv) ऐसी सत्ता जो व्यक्ति के पास स्वयं नहीं होती, को प्रत्यायोजित नहीं किया जा सकता;

(v) प्रत्यायोजन सामान्य अथवा विशिष्ट हो सकता है;

(vi) प्रत्यायोजन एक कला हैं।

प्रत्यायोजन के प्रकार (Kinds of Delegation)

प्रत्यायोजन कई किस्म का हो सकता है जैसे- स्थाई या अस्थाई, पूर्ण आंशिक, सशर्त या बिना शर्त, औचारिक या अनौपचारिक और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष। अब हम इन किस्मों पर कुछ विस्तार से चर्चा करेंगे।

स्थाई और अस्थाई प्रत्यायोजन (Permanent and Temporary)

प्रत्यायोजन स्थाई भी हो सकती है। स्थाई प्रत्यायोजन के अंतर्गत अधिकार हमेशा के लिए सौंप दिए जाते हैं, बशर्ते कि परिस्थितियाँ सामान्य रहें। केवल असाधारण परिस्थितियों में ही यह अधिकार वापस लिए जा सकते हैं। अस्थाई प्रत्यायोजन में कोई भी काम करने के लिए थोड़े समय के लिए ही अधिकार सौंपे जाते हैं। काम पूरा हो जाने पर प्रत्यायोजन भी समाप्त हो जाता है। इरविन हास्केल शैल के अनुसार, "परिस्थितियों के अनुसार, प्रत्यायोजन की मात्रा और क्षेत्र बदलता रहता है। उदाहरण के लिए आप किसी कम के लिए जिम्मेदार व्यक्ति के वापस लौटने तक उसकी जिम्मेदारियाँ किसी ओर को सौंप सकते हैं।"

पूर्ण और आंशिक प्रत्यायोजन (Total and Partial)

प्रत्यायोजन तब पूर्ण होता है जब उसके साथ कोई शर्त नहीं होती और जिस व्यकित को अधिकार सौंपे जाते हैं उसे निर्णय और कार्रवाई करने का पूरा अधिकार होता है। जब उसे फैसलों पर प्रत्यायोजन करने वाले अधिकारी मंजूरी जरूरी होती है तो प्रत्यायोजन आंशिक होता है जैसे अगर विदेश भेजे गए राजनयिक को बातचीत का पूरा अधिकार हो तो पूर्ण प्रत्यायोजन है और यदि उसे अंतिम वार्ता से पहले सलाह या स्वीक ति लेनी हो तो आंशिक प्रत्यायोजन है।

सशर्त और बिना शर्त प्रत्यायोजन (Condtional and Unconditional)

प्रत्यायोजन सशर्त भी होता है तथा बिना शर्त का भी। प्रत्यायोजन सशर्त तब होता है, जब उसके साथ शर्तें जुड़ी होती है यानि अधिकार ग्रहण करने वाले व्यक्ति पर कुछ पाबंदियाँ लगा दी जाती है। यदि अधिकतर ग्रहण करने वाला व्यक्ति बेरोक-टोक कार्रवाई करने का स्वतंत्र है तो बिना शर्त प्रत्यायोजन कहलाता है। उदाहरण के लिए यदि अधीनस्थ के फैसलों पर वरिष्ठ अधिकारी की स्वीक ति और निरीक्षण आवश्यक है तो सशर्त प्रत्यायोजन होगा और अगर वह अपनी समझ से कार्य करने को स्वतंत्र है तो बिना शर्त प्रत्यायोजन होगा।

औपचारिक और अनौपचारिक प्रत्यायोजन (Formal and Informal)

लिखित नियमों, उपनियमों या आदेशों के अनुसार किया जाने वाला प्रत्यायोजन औपचारिक होता है जबकि रीति-रिवाजों, परम्पराओं और आपसी सद्‌भाव पर आधारित प्रत्यायोजन अनौपचारिक होता है।

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रत्यायोजन (Direct and Indirect)

प्रत्यक्ष प्रत्यायोजन में कोई बिचौलिया नहीं होता। अप्रत्यक्ष प्रत्यायोजन में कोई तीसरा व्यक्ति या पक्ष शामिल होता है।

प्रत्यायोजन के सिद्धान्त (Principles of Delegation)

प्रत्यायोजन हमेशा कुछ सिद्धान्तों से संचालित होता है। इन सिद्धांतों के पालन के बिना प्रत्यायोजन कारगर नहीं हो सकता। सामान्यतः अधिकारों का प्रत्यायोजन करते समय निम्नलिखित सिद्धान्तों का पालन किया जाता है।

1. ***प्रत्यायोजन स्पष्ट रूप से होना चाहिएः*** प्रत्यायोजित किए जाने वाले अधिकार के बारे में कोई उलझन नहीं होनी चाहिए। "नीतियाँ, नियम और क्रियाविधि इतनी स्पष्ट होनी चाहिए कि अधिकारों का उपयोग करने वाले अधीनस्थों को कोई गलतफहमी न हो।"
2. ***प्रत्यायोजित व्यक्ति को मालूम होना चाहिए कि कितने अधिकार प्रत्यायोजित किए गए हैं।*** प्रत्यायोजन के आदेश लिखित रूप में जारी किए जाने चाहिए ताकि जिस व्यक्ति को अधिकार सौंपे गए हैं उसे प्रत्यायोजन की सीमाओं की स्पष्ट जानकारी हो।
3. ***अधिकारों का प्रत्यायोजन किसी खास गतिविधि के जरिए कुछ लक्ष्य हासिल करने के लिए किया जाता हैः*** अधीनस्थ व्यक्ति को इतने अधिकार सौंपे जाने चाहिए जिससे वह अपना काम सही ढंग से पूरा कर सके। अधिकार ग्रहण करने वाले व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार काम करने का अधिकार होना चाहिए और प्रत्यायोजक को यह अपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि वह उसकी इच्छानुसार काम करेगा। अधीनस्थों को उनकी क्षमता के अनुसार सभी अधिकार और दायित्व सौंपे जाने चाहिए।
4. ***अधिकार और दायित्व समान होने चाहिएः*** अधिकारों के जरिए अधीनस्थ निर्धारित कार्य पूरे करने के लिए फैसले लेते हैं और उनका पालन कराते हैं जबकि दायित्वों के अन्तर्गत उस पर अपने अधिकारों के जरिए इन गतिविधियों को चलाने की जिम्मेदारी आ जाती है। "दायित्वों के बिना अधिकार और अधिकार के बिना दायित्व निरर्थक हैं।" अतः अधिकारों और दायित्वों में समानता और तालमेल होना चाहिए।
5. ***वरिष्ठ अधिकारी का पूर्ण दायित्वः*** चूंकि पूरे दायित्वों का प्रत्यायोजन नहीं किया जाता अतः सिर्फ अपने अधीनस्थों को अपने अधिकार सौंप देने से ही कोई वरिष्ठ अधिकारी अपनी सभी गतिविधियों की जिम्मेदारी से बच नहीं सकता। प्रत्येक अधीनस्थ अपने को सौंपी गई गतिविधियों के लिए वरिष्ठ अधिकारी के प्रति जवाबदेह होता है। लेकिन कोई भी वरिष्ठ अधिकारी अपनी पूरी जिम्मेदारी से नहीं बच सकता।
6. ***प्रत्यायोजन समादेश की एकता के सिद्धांत पर आधारित हैः*** अर्थात् एक अधीनस्थ का एक ही वरिष्ठ अधिकारी के प्रति जवाबदेह होना चाहिए और उसी से अधिकार प्राप्त करने चाहिए। वरिष्ठ और अधीनस्थ के बीच सीधे संबंध से भ्रम और गलतफहमी दूर हो जाती है। एक वरिष्ठ अधिकारी के प्रति जवाबदेह से निर्देशों में भिन्नता की समस्या कम हो जाती है और नतीजों के लिए अधिक जिम्मेदारी की भावना पनपती है। इसके विपरीत जिम्मेदारी पूरी तरह निश्चित नहीं की जा सकती और वरिष्ठ अधिकारी के अधिकारों को चोट पहुँचती है।

7. ***सम्पर्क की सुचारू व्यवस्था:*** "अर्थात् प्रत्यायोजन के बाद भी अधीनस्थ को, आवश्यकता पड़ने पर, प्रशासक से मिलने और विचार-विमर्श करने का अधिकार होना चाहिए। प्रशासक को अधीनस्थों के मार्गदर्शन हेतु सदैव तैयार रहना चाहिए। प्रत्यायोजित कार्य में भूल करने पर अधीनस्थ को डाँटने-फटकारने के बजाय उसकी मदद करनी चाहिए और जरूरी सलाह देनी चाहिए।

8. ***प्रत्यायोजन के बाद समीक्षा होनी चाहिए:*** प्रत्यायोजित कार्य पूरा हो जाने के बाद अधीनस्थ के कार्य की समीक्षा की जानी चाहिए। चूंकि अधिकार ऊपर से नीचे जाते हैं अतः ऊपर के अधिकारियों को नियंत्रण रखना चाहिए ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि परस्पर विरोधी नीतियों से कार्यक्रम का नुकसान न हो। इसके लिए सुचारू सूचना व्यवस्था होनी चाहिए। इससे वरिष्ठ अधिकारियों को अधीनस्थों की प्रगति की समीक्षा का अवसर मिलेगा।

9. ***प्रत्यायोजन सुनियोजित और व्यवस्थित होना चाहिए:*** किसी भी संगठन के प्रबंधन में प्रत्येक पद के अधिकारों और दायित्वों का स्पष्ट निर्धारण होना चाहिए और प्रत्यायोजन किसी व्यक्ति को नहीं, पद को किया जाना चाहिए।

प्रत्यायोजन के उपरोक्त सिद्धान्तों के होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि प्रत्यायोजन एक कठिन प्रक्रिया है जिसका कोई सटीक सिद्धान्त नहीं है। उपरोक्त सिद्धान्त सिर्फ प्रशासकों के मार्गदर्शक के लिए हैं और वे हर मर्ज की दवा नहीं है।

प्रत्यायोजन में अड़चनें (Hurdles of Delegation)

इसमें संदेह नहीं है कि सभी संगठनों में प्रत्यायोजन की अहम् भूमिका है किन्तु अक्सर यह देखा जाता है कि वरिष्ठ अधिकारी अधिकारों को दूसरों को सौंपने में हिचकते हैं। वास्तव में प्रत्यायोजन की विभिन्न अड़चनों को दो समूहों में बाँटा जा सकता है।

1. संगठनात्मक, और
2. व्यक्तिगत।

1. **संगठनात्मक अड़चनें (Organisational Hurdles)**

   i. **स्थापित तरीकों और प्रक्रियाओं का अभाव:** प्रत्यायोजन की सफलता के लिए आवश्यक है कि अधिकारों के प्रत्यायोजन के लिए निश्चित प्रक्रियायें हों। सुस्थापित नियमों और प्रक्रियाओं से प्रत्यायोजन करना आसान हो जाता है।

   ii. **समन्वय और सम्पर्क का अभाव:** समन्वय संगठन का बुनियादी सिद्धान्त है। उसके बिना कोई संगठन काम नहीं कर सकता। किन्तु समन्वय के लिए संगठन की विभिन्न इकाइयों के बीच निकट सम्पर्क आवश्यक है। उसके बिना न प्रत्यायोजन हो सकता है और न समन्वय।

   iii. **अस्थिर और अनावर्ती कार्य:** प्रत्यायोजन के लिए स्थिरता परम आवश्यक है। स्थिर और पुनराव त्तियुक्त कार्यों में प्रत्यायोजन अधिक सहज होता है।

   iv. **संगठन का आकार और स्थिति:** कभी-कभी संगठन का आकार और उसकी इकाइयों की स्थिति भी प्रत्यायोजन में बाधक बन जाते हैं। बड़े और फैले हुए संगठनों में प्रत्यायोजन की आवश्यकता बढ़ जाती है।

   v. स्पष्ट पदों के अभाव और कर्त्तव्यों तथा अधिकारों के प्रत्यायोजन की अनिश्चित शर्तों के कारण भ्रान्ति फैलती है और अधिकारों के प्रत्यायोजन पर गलत असर पड़ता है।

2. **व्यक्ति की अड़चनें (Human Hurdles)**

   व्यक्तिगत कारक भी प्रत्यायोजन में बाधक होते हैं। इनमें सत्ता पर नियंत्रण रखने का अहम् हर काम का सेहरा अपने सिर बंधवाने की प्रव त्ति, अधीनस्थों की ओर से वफादारी न मिलने की आशंका, प्रत्यायोजन करने वाले अधिकारी या व्यक्ति में भावनात्मक परिपक्वता की कमी, क्या और कैसे प्रत्यायोजित किया जाए, इस जानकारी का अभाव, अपने से ऊँचे अधिकारियों, विधायिका या जनता के प्रति जवाबदेही का भय आदि कारक शामिल हैं। जे.एम. पिफनरू के अनुसार निम्नलिखित मानवीय कारणों से अधीनस्थों को अधिकार सौंपे जाने की प्रक्रिया में बाधा पड़ती है:

   i. सोपानक्रम से नेत त्व की स्थिति में पहुँचने वाले व्यक्तियों में अहम् सामान्य से अधिक होता है।

   ii. उन्हें डर रहता है कि दूसरे सही निर्णय नहीं कर पाएँगे या उन्हें सही ढंग से लागू नहीं कर पाएँगे।

iii. उन्हें भय रहता है कि प्रभावशाली अधीनस्थों में वफादारी की कमी होगी या वे विरोधी बन जाएँगे।

iv. मजबूत, बहुत उत्साही और तेजी से काम करने वाले व्यक्ति, अधीनस्थों की धीमी गति और अनिश्चितता से धैर्य खो बैठते हैं।

v. लोक प्रशासन में अक्सर राजनीतिक कारणों से भी प्रत्यायोजन मुश्किल हो जाता है।

vi. मानव का अधिनायकवादी प्रव त्ति और पैत क नेत त्व का गुण विरासत में मिला है, अतः प्रत्यायोजन की प्रक्रिया कुछ हद तक सांस्क तिक बदलाव पर निर्भर है।

vii. प्रत्यायोजन के लिए भावनात्मक परिपक्वता आवश्यक है जो अक्सर बहुत सफल व्यक्तियों में भी मुश्किल से देखने को मिलती है।

viii. नेत त्व के गुणों (व्यक्ति के वे गुण और विशेषताएँ जो दूसरों को आकर्षित करते हैं) और प्रत्यायोजन की संकल्पना में कोई तालमेल नहीं है। सफलता के लिए प्रयत्नशील लोगों को अपनी उपस्थिति का अहसास करना चाहिए।

ix. प्रत्यायोजन के इच्छुक व्यक्ति यह नहीं जानते कि प्रत्यायोजन कैसे करें।

x. वे यह नहीं जानते कि प्रत्यायोजन किस हद तक किया जाना चाहिए। इसके दो कारण हैं-

(अ) संगठन और प्रबंधन की कला अभी परिपक्व नहीं हुई है, और

(ब) उनके अनुभव ने उन्हें अनदेखी करना नहीं सिखाया है क्योंकि अधिकांश संगठनों में प्रत्यायोजन की प्रक्रिया नहीं अपनाई जाती।

इन अड़चनों के अलावा एक और प्रमुख अड़चन है अधीनस्थों द्वारा प्रत्यायोजन स्वीकार न करना। इसके निम्नलिखित कारण हो सकते हैं-

1. आलोचना का भय
2. अच्छा काम करने के लिए आवश्यक जानकारी और संसाधनों का अभाव
3. प्रत्यायोजित अधिकारों का उपयोग करने और सही निर्णय लेने के आत्मविश्वास का अभाव
4. पहल और गतिशीलता का अभाव और
5. क्षमता से अधिक कार्य सौंप दिया जाना।

इसमें संदेह नहीं कि प्रत्यायोजन में उपरोक्त समस्याएँ आती हैं किन्तु किसी संगठन में प्रत्यायोजन के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। कोई भी संगठन प्रत्यायोजन और अवक्रमण के बिना काम नहीं कर सकता। चूंकि प्रत्यायोजन परम आवश्यक है, अतः इन चुनौतियों का मुकाबला करने का एकमात्र रास्ता यही है कि जहाँ तक हो सके इनमें कमी की जाए। संगठनात्मक समस्याओं को दूर करने के लिए उचित प्रक्रियाओं और तरीके तय किए जाने चाहिएं और अधिकारों के प्रत्यायोजन और दायित्वों के निर्वाह के समय सबको इनका पालन करना चाहिए। संगठनों को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिसमें संगठन के सोपानतंत्र में विभिन्न पदों पर तैनात लोगों के कर्त्तव्यों और दायित्वों का स्पष्ट निर्धारण हो। संगठन में प्रशासन के विभिन्न स्तरों पर समन्वय और सम्पर्क की उचित व्यवस्था होनी चाहिए।

पिफनरू ने प्रत्यायोजन को कारगर बनाने के लिए निम्नलिखित उपाय सुझाए हैंः

1. दायित्वों का निर्वाह करने में सक्षम अधीनस्थों का चयन करें,
2. प्रत्येक की जिम्मेदारियाँ स्पष्ट करे,
3. उन्हें इनके लिए प्रशिक्षण दें,
4. सामान्य नीतियाँ तय करके उन्हें पूरे संगठन में प्रचारित करें,
5. क्रियात्मक और व्यवस्था संबंधी प्रक्रियाओं का अधिक से अधिक मानकीकरण करने की चेष्टा करें,
6. कार्य विश्लेषण, संगठनात्मक अध्ययन, बजट नियोजन, कार्य प्रगति अध्ययन और व्यवस्था तथा प्रक्रियाओं के सरलीकरण जैसा प्रबंधन नियोजन का कार्य निरन्तर करें,

7. निगरानी की ऐसी व्यवस्था करें जो स्वतः ही खतरे का संकेत देने लगे,
8. समूचे सोपानतंत्र में ऊपर, नीचे और हर दिशा में जानकारी के आदान-प्रदान की व्यवस्था करें।

प्रत्यायोजन की सीमाएँ (Limitations of Delegation)

सभी संगठनों में प्रत्यायोजन की अनिवार्यता के बारे में कोई सन्देह नहीं है किन्तु किसी भी प्रमुख अधिकारों को अपने सभी अधिकार प्रत्यायोजित करने की अनुमति नहीं दी जा सकती। सभी अधिकारों के प्रत्यायोजन से उस अधिकारी की उपस्थिति निरर्थक हो जाती है। यद्यपि प्रत्यायोजन की सीमा, परिस्थिति, संगठनात्मक ढाँचे और उदाहरण विशेष के अनुसार बदलती रहती है किन्तु कुछ सीमाएँ बहुत स्पष्ट हैं। एम.पी. शर्मा के अनुसार निम्नलिखित अधिकारों का प्रत्यायोजन नहीं किया जा सकताः

1. प्रथम पंक्ति या तात्कालिक अधीनस्थों के कार्य का निरीक्षण,
2. आम-वित्तीय-निरीक्षण और निश्चित राशि से अधिक खर्च की स्वीक ति का अधिकार,
3. नई नीतियों और योजनाओं को स्वीक ति देने और स्थापित नीतियों या व्यवस्थाओं से हटने की अनुमति का अधिकार,
4. नियम बनाने का अधिकार, जहाँ इसे प्रत्यायोजित अधिकारी को सौंपा गया हो,
5. निर्धारित उच्च स्तर की नियुक्तियों का अधिकार,
6. कम से कम तात्कालिक अधीनस्थों के फैसलों पर अपील की सुनवाई का अधिकार।

इन अधिकारों के बिना प्रमुख अधिकारी संगठन पर कारगर नियंत्रण नहीं रख सकता। इनके बिना वह निष्क्रिय हो जाएगा।

प्रत्यायोजन के कुछ सिद्धान्त है जिनके बिना अधिकारों का कुशल और कारगर प्रत्यायोजन होता है। प्रत्यायोजन लिखित रूप में और स्पष्ट रूप में निर्दिष्ट होने चाहिए। प्रत्यायोजन व्यक्ति को नहीं पद को होना चाहिए। प्रत्यायोजन नियोजित और व्यवस्थित होना चाहिए। पूर्ण प्रत्यायोजन सम्भव नहीं है अतः उतने ही अधिकार सौंपे जाने चाहिए जितनी अधीनस्थ की क्षमता हो। सूचना और समीक्षा का प्रावधान होना चाहिए। नीतियों, नियमों और प्रक्रियाओं का स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए, ताकि अधीनस्थों को सौंपे गए अधिकारों के बारे में किसी तरह का असमंजस न रहे।

प्रत्यायोजन में संगठनात्मक और व्यक्तिगत दोनों तरह की समस्याएँ आती हैं। तरीकों और प्रक्रियाओं का अभाव, समन्वय और सम्पर्क के साधनों का अभाव, संगठन का आकार और स्थिति तथा व्यक्तिगत कारक जैसे अहम, अधिकारों पर कब्जा रखने की प्रव त्ति भावनात्मक अपरिपक्वता तथा अधिकारों का प्रत्यायोजन न करने की इच्छा आदि प्रत्यायोजन की मुख्य अड़चनें हैं।

पूर्ण प्रत्यायोजन न आवश्यक है न व्यावहारिक और न ही मुख्य अधिकारी और संगठन के हित में है। इसकी कुछ सीमाएँ हैं। वित्त, समीक्षा, नीति निर्धारण और नियोजन, अधिकारों और अनुचित फैसलों के विरूद्ध अपील आदि के अधिकारों का प्रत्यायोजन नहीं किया जा सकता।

सारांश (Conclusion)

प्रत्यायोजन प्रबन्धन की सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या है। कोई भी संगठन प्रत्यायोजन के बिना काम नहीं कर सकता। सामान्यतः प्रत्यायोजन का अर्थ है उच्च स्तर द्वारा निचले स्तर को कुछ अधिकार सौंपना। अर्थात् निश्चित उद्देश्यों के लिए दूसरों के अधिकार और कर्त्तव्य निश्चित करना। प्रत्यायोजन अपरिवर्तनीय नहीं होता। प्रत्यायोजक अपने अधिकार वापस भी ले सकता है। प्रत्यायोजन कई प्रकार का हो सकता है। स्थाई और अस्थाई, पूर्ण और आंशिक, सशर्त और बिना शर्त, औपचारिक और अनौपचारिक तथा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष।

सभी संगठनों के लिए प्रत्यायोजन की आवश्यकता किसी से छिपी नहीं है। इससे कार्य के विभाजन और संगठनात्मक प्रक्रियाओं के संचालन में जटिलताओं को कम करने में मदद मिलती है। नीति निर्धारण और नियोजन के लिए अधिक समय मिलता है। इसका शैक्षिक महत्त्व भी है और अधीनस्थों को साहस और कुशलता के साथ अपने दायित्वों का निर्वाह करने का अवसर मिलता है। संगठन की कार्यप्रणाली में लचीलापन आता है। कर्मचारियों का मनोबल ऊँचा उठता है और संगठन का प्रशासन सुचारू रूप से चलता है।

अध्याय-14

समन्वय

(Co-ordination)

समन्वय संगठन का प्रथम सिद्धांत है। यह प्रबंध का भी प्रथम सिद्धांत है। अतः आधुनिक प्रशासन की यह बहुत महत्त्वपूर्ण समस्या भी है। कुछ लेखक तो प्रबंधक के स्थान पर समन्वयकर्ता शब्द के प्रयोग के समर्थक हैं। फिर भी, यह ध्यान रखना चाहिए कि समन्वय तो केवल साध्य की ओर ले जाना वाला एक साधन मात्र है, वह स्वयं साध्य नहीं है। न्यूमैन के शब्दों "यह कोई प थक् क्रिया नहीं है।" समन्वय की आवश्यकता निम्न तीन कारणों से उत्पन्न होते हैं।

1. किसी संगठन की इकाइयों या कर्मचारियों के कार्य में अतिच्छादन या झगड़ों से बचाव या निपटारा करना।
2. कार्य के अन्य पहलुओं की उपेक्षा करके एक ही पहलू पर अत्यधिक ध्यान देने की प्रक ति को रोकना या निरूत्साहित करना।
3. किसी अभिकरण की विभिन्न इकाइयों में विद्यमान अधिकार लिप्सा या साम्राज्य-निर्माण की प्रक ति को रोकना।

विद्वतजन समन्वय को लोक प्रशासन और प्रबंध के अति महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों में से एक मानते हैं। कुछ विद्वान तो प्रबंधक के स्थान पर समन्वयकर्ता शब्द के प्रयोग के समर्थक हैं, परंतु अवस्थी और माहेश्वरी का मानना है कि समन्वय तो केवल साहय की ओर ले जाने वाला एक साधन मात्र है, वह स्वयं में साहय नहीं है।

न्यूमैन के शब्दों में "यह कोई प थक् क्रिया नहीं है बल्कि एक ऐसी अवस्था है जो प्रशासन में रम गई है।" समन्वय की आवश्यकता निम्न तीन कारणों से उत्पन्न होती हैः

1. किसी संगठन का इकाइयों या कर्मचारियों के कार्यो में अतिच्छादन (overlapping) या झगड़ों के बचाव या निबटारा करना।
2. कार्य के अन्य पहलुओं की उपेक्षा करके एक ही पहलू पर अत्यधिक ध्यान देने की प्रक ति का रोकना या निरूत्साहित करना।
3. किसी अभिकरण की विभिन्न इकाइयों में विद्यमान अधिकार-लिप्सा या साम्राज्य-निर्माण की प्रव त्ति को रोकना।

अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definitions)

संगठन की महत्त्वपूर्ण समस्याओं में से एक समन्वय की समस्या है। किसी संगठन में मुख्य-प्रबंधक का यह कार्य है कि वह देखे कि संगठन में ठीक कार्य हो रहा, कोई भाग वहीं कार्य तो नहीं कर रहा है जिसे दूसरा पहले से ही कर रहा है, कोई कर्मचारी परस्पर विरोधी कार्य न करें, और संगठन की विभिन्न इकाइयों में भेद न हो, इसी को तकनीकी भाषा में समन्वय या तालमेल कहते हैं। यह श्रम-विभाजन के विपरीत है क्योंकि श्रम-विभाजन व्यक्ति समूह को किसी संगठन में एक कार्य को करने के लिए विभिन्न इकाइयों में बाँटता है, जबकि समन्वय इन इकाइयों के प्रयासों को जोड़ता है किसी संगठन की सफलता असफलता, संगठन पर ही निर्भर करती है। वही अधिकारी कुशल प्रशासक व प्रबंधक हो सकता है जो अपने कर्मचारियों के कार्यो में अधिकाधिक समन्वय उत्पन्न करता है।

संक्षेप में, समन्वय का अर्थ संगठन के बिखरे भागों को मिलाना है। समन्वय के दो पहलू हैं-निषेधात्मक और विधेयात्मक (Positive), निषेधात्मक रूप में समन्वय, संगठन में कार्य के दुहरेपन को रोकता है और विधेयात्मक रूप में समन्वय संगठन में लगे कर्मचारियों में मिल-जुल कर व सहयोग से कार्य करने की प्रव त्ति को विकसित करता है।

सेकलन हडसन-"समन्वय कार्य के विभिन्न भागों को आपस में संबंधित करने की सबसे महत्त्वपूर्ण क्रिया है।"

मूने-"किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उपयुक्त होनेवाले प्रयत्नों में कार्यो की एकता और उनकी क्रमिक रूप से संगठित करने को ही समन्वय कहते हैं।"

टेरी-"समन्वय संगठन की इकाइयों का एक दूसरे के साथ सामंजस्य करना है, जिससे प्रत्येक इकाई समग्र उत्पादन के लिए अपना अधिक से अधिक योगदान कर सके।"

न्यूमैन-"समन्वय प्रयत्नों का एक ऐसा व्यवस्थित सामंजस्य है जिससे किसी कार्य के निष्पादन का उचित परिणाम, समय तथा निर्देशन प्राप्त होता है, फलस्वरूप किसी कथित उद्देश्य के लिए सामंजस्यपूर्ण और एकीक त क्रियाएँ संभव हो जाती है।"

व्हाइट-"समन्वय एक भाग के कार्यो का दूसरे भाग के कार्यो से तालमेल बैठाने की क्रिया को कहते हैं और उसकी गतिविधियों से इस प्रकार से तालमेल बैठाया जाता है जिससे वे पूर्ण की उत्पत्ति में अपना अधिकतम सहयोग प्रदान कर सकें।"

चार्ल्स बर्थ-"समन्वय अनेक भागों का एक व्यवस्थित पूर्ण एकीकरण है जिससे उद्यम के लक्ष्यों का प्राप्त किया जा सके।"

नीगो-"समन्वय से तात्पर्य है कि किसी भी संगठन विभिन्न अंग प्रभावपूर्ण ढंग से एक साथ काम करते हैं और इसके द्वारा जो काम सम्पन्न होता है वह बिना संघर्ष अतिव्यापन या दोहराव के होता है।"

समन्वय और सहयोग में अंतर-समन्वय, सहयोग काल की प्रयार्यवाची नहीं है। सहयोग बराबर के व्यक्तियों अथवा इकाइयों के बीच परस्पर होता है जबकि समन्वय उच्च अधिकारी अधीनस्थों में करता है। **टेरी** के शब्दों में "सहयोग साझे उद्देश्य के लिए एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के साथ सामूहिक कार्य करना है।" इस प्रकार सहयोग भावनात्मक क्रिया है जबकि समन्वय एक बौद्धिक, कार्यक्रमबद्ध और औपचारिक क्रिया है।

समन्वय की विशेषतायें
(Characteristics of Co-ordination)

समन्वय की उपर्युक्त परिभाषाओं से इसकी निम्नलिखित विशेषतायें स्पष्ट होती है-

1. समन्वय एक व्यवस्थापक प्रक्रिया है।
2. इसके अन्तर्गत संस्था के सभी प्रयत्नों में सामंजस्य स्थापित किया जाता है।
3. यह प्रबन्ध का एक आवश्यक कार्य है।
4. यह उपक्रम के उप-प्रबन्ध का उत्तरदायित्व है।

समन्वय के प्रकार (Types of Co-ordination)

1. **आन्तरिक अथवा कार्यात्मकः** इसके अंतर्गत संगठन के भीतर कार्य करने वाले व्यक्तियों के कार्य-कलापों में समन्वय करना है।
2. **बाह्य अथवा स्ट्रक्चरलः** लोकतंत्र में प्रशासनिक संगठन को बाह्य संस्थाएँ भी प्रभावित करती हैं जैसे-सरकारी नीतियाँ दबावगुट, लोकमत, राजनीतिक दल आदि। इन सबके साथ तालमेल बैठाना बाह्य समन्वय है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के समन्वय लम्बवत् ओर समतल हो सकते हैं। लम्बवत् समन्वय में उच्च अधिकारी अपने अधीनस्थों के कार्यो का समन्वय करता है। समतल समन्वय वह है जिसमें समान स्तर के अधिकारियों के बीच परस्पर समन्वय होता है। इसमें कार्य करने की आवश्यकता और स्वेच्छा से समन्वय होता है। किसी प्राधिकार से नहीं।

समन्वय के आवश्यक तत्व

प्रो. ग्रेब्ज के अनुसार समन्वय के आवश्यक तत्व इस प्रकार हैं:

1. अन्य अभिकरणों के कार्यो से परिचय
2. अनौपचारिक जान-पहचान
3. भौतिक समीपता

4. विशिष्ट उद्देश्य
5. काम में भाग लेने वालों की संख्या सीमित हो।

प्रो. एल. बोर्न के अनुसार समन्वय के 6 तत्व हैं:

1. समन्वय करने वाले कर्मचारी
2. समितियों और सम्मेलन
3. अनुदेश
4. प्रतिवेदन
5. प्रशिक्षण
6. नीति

समन्वय के साधन या तरीके (Means of Co-ordination)

1. **नियोजन:** नियोजन समन्वय का एक अच्छा साधन है। नियोजन द्वारा निर्धारित लक्ष्य के लिए समय, साधन, सामग्री आदि पहले ही निर्धारित कर ली जाती है। प्रत्येक इकाई के लक्ष्य निश्चित परिणाम में निश्चित कर दिए जाते हैं। नियोजन द्वारा समन्वयकर्ता को पता रहेगा कि किस इकाई को कितना कार्य पूरा करना है व कितना खर्च करना है।
2. **मंत्रिमंडल और मंत्रिमंडलीय सचिवालय:** मंत्रिमंडल और उसका सचिवालय भी समन्वय स्थापित करने का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। सरकार के विभिन्न विभागों में तालमेल रखने के लिए मंत्रिमंडलीय सचिवालय महत्त्वपूर्ण कार्य करता है।
3. **क्रियाओं का मूल्यांकन:** संगठन की क्रियाओं, रीतियों और व्यवहारों का समय-समय पर किया जाने वाला मूल्यांकन भी समन्वय में सहायक होता है।
4. **वित्त मंत्रालय:** वित्त मंत्रालय द्वारा तैयार किया गया वार्षिक बजट सरकार के साधनों, खर्च और कार्यक्रमों में समन्वय लाता है बजट बनाते समय और क्रियान्वित करते समय वित्त प्रभावी स्वीक ति के माध्यम से विभिन्न विभागों की क्रियाओं के बीच समन्वय करता है।
5. **केंद्रीय देखभाल की क्रियाएँ:** केंद्र की कुछ हाउस कीपिंग एजेन्सियों भी समन्वय स्थापित करने में सहायक होती है। उदाहरण के लिए भारत में महालेखा परीक्षक के अधीन लेखा व परीक्षा सेवाएँ केंद्रीय लोक निर्माण विभाग के अधीन भवनों का निर्माण, आदि समन्वय के तरीके हैं।
6. **संचार भवन:** संचार साधनों से जानकारी प्राप्त करना, समस्याओं को जानना और समय पर निर्देश देना सरल हो जाता है। **हैमेन** के शब्दों में "अच्छे संचार विभिन्न क्रियाओं के समन्वय में अतुलनीय सहायता प्रदान करते हैं।"
7. **संगठनात्मक तरीके:** यदि संगठन अपने आप में पूर्ण है तो समन्वय की कोई समस्या नहीं रहती। **व्हाइट** के अनुसार "संगठनात्मक तरीकों को संस्थागत रूप प्रदान करके समन्वय और भी सरल बनाया जा सकता है। सम्मेलन, अंतर्विभागीय बैठकें, समितियों, कर्मचारी वर्ग की इकाइयाँ आदि ऐसे तरीके हैं जिनके द्वारा संगठन के मतभेदों को दूर करके समन्वय किया जा सकता है। भारत में प्रधानमंत्री, प्रायः मुख्यमंत्रियों का सम्मेलन बुलाते हैं जिससे नीति संबंधी तथा अन्य साझे विषयों पर विचार-विमर्श करके समन्वय किया जा सके।
8. **अनौपचारिक साधन:** समन्वय के उपर्युक्त तरीकों के अलावा, अनौपचारिक तरीके भी हैं जैसे-
   i. व्यक्तिगत जन सम्पर्क द्वारा विचार विनिमय द्वारा
   ii. विभिन्न सम्मेलन व समितियाँ भी अनौपचारिक समन्वय में सहायक हैं।
   iii. भोज, चाय तथा ऐसी दूसरी व्यवस्थाओं में भी समन्वय में सहायता मिलती है। इन सब अनौपचारिक मेलजोल से संदेह, भ्रम आदि दूर हो जाते हैं।

समन्वय में बाधाएँ (Problems of Co-ordination)

लूथर गुलिक ने समन्वय में आने वाली कुछ बाधाओं का उल्लेख किया है।

1. व्यक्ति के भावी व्यवहार की अनिश्चितता,
2. नेताओं के ज्ञान, अनुभव चरित्र और स्पष्ट विचार की कमी,
3. प्रशासकीय हुनर और तकनीक की कमी,
4. नए विचारों और कार्यक्रमों के विकास में साथ उन्हें अपनाने की कमी।

सेक्लर हडसन ने उपर्युक्त में 4 बाधाएँ और जोड़ी हैं- "आकार तथा जटिलता, व्यक्तित्व और राजनीतिक तत्व लोक प्रशासन के संबंध में बुद्धि ज्ञानवाले नेताओं की कमी और लोक प्रशासन का अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र तक विस्तार।"

अच्छे समन्वय के सुझाव (Suggestions): प्रो. न्यूमैन ने अच्छे समन्वय के लिए कुछ सुझाव इस प्रकार दिए हैं-

1. सरल संगठनः संगठन में उत्तरदायित्व का निर्धारण और प्राधिकार का प्रत्यायोजन स्पष्ट होना चाहिए।
2. कार्यक्रम और नीतियों में सामंजस्य-अच्छे समन्वय के लिए सरकार की नीतियों और कार्यक्रमों में अधिक से अधिक सामंजस्य स्थापित होना चाहिए।
3. संचार के समुचित साधन उपलब्ध होने चाहिए।
4. अधीक्षक को मजबूत करके भी समन्वय को अधिक किया जा सकता है।
5. समन्वय थोपा नहीं जाना चाहिए, अधीनस्थों को उद्देश्य अनौपचारिक संबंध, समितियों आदि के माध्यम से प्रभावित करना चाहिए।

कुछ विचारक ऐसे भी हैं जो समन्वय के अभाव की निंदा नहीं करते अपितु, वस्तुतः वे उसका स्वागत करते हैं।

हार्लव क्लीवलैण्ड ने कार्य में पूर्ण समन्वय संबंधी सुगमता के लिए किसी संगठन की वांछनीयता को चुनौती दी है। क्लीवलैण्ड ने इस संदर्भ में अपना **तनाव सिद्धांत** प्रस्तुत किया है। इस सिद्धांत का सुझाव है कि योजना भली प्रकार से ऐसी समझी बुझी होनी चाहिए कि अधिकार क्षेत्र तथा कार्यक्रम के विषय में विभिन्न विभागों और अभिकरणों के मध्य झगड़े हों इससे लाभ ही होगा, क्योंकि प्रशासन के भीतर झगड़े पैदा होने से मामले अधिक स्पष्ट हो जाएंगे।

सारांश (Conclusion)

विभिन्न व्यक्तियों की अलग-अलग शारीरिक और मानसिक क्षमताओं के कारण कार्य का विभाजन आवश्यक है। उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन से कार्य के विभाजन की आवश्यकता महसूस हुई। जिससे विशेषज्ञता को बढ़ावा मिला। कार्य के विभाजन के साथ-साथ संगठन में समन्वय का भी उतना ही महत्व है। समन्वय के जरिए, विभिन्न लक्ष्यों को किफायती और कारगर ढंग से प्राप्त करने के लिए व्यक्तियों और संस्थाओं के प्रयासों में तालमेल रखा जाता है।

अध्याय-15
सूत्र एवं स्टाफ अभिकरण
(Line and Staff Agencies)

प्रत्येक मुख्य कार्यपालिका के अधीन दो प्रकार की सेवायें होती हैं सूत्र तथा स्टाफ। स्टाफ परामर्श देना तथा सेवा करने का कार्य करता है और सूत्र आदेश देने का कार्य करता है। ''लाइन'' और ''स्टाफ'' की विचारधारा को सैनिक प्रशासन से लिया गया है। सूत्र इकाई में वे लोग आते हैं जो युद्ध के मैदान में आदेश देते हैं, सेना का संचालन एवं नेत त्व करते हैं। सेना में प्रमुख सेनापति के नीचे अनेक सूत्र अधिकारी होते हैं, जैसे-जनरल, कर्नल, मेजर, कैप्टेन, लैफ्टीनेन्ट आदि। इन सूत्र अधिकारियों के साथ अनेक अधिकारी ऐसे होते हैं, जो यातायात, पूर्ति, चिकित्सा, पशु-चिकित्सा, सामग्री के उत्पादन आदि विशिष्ट सेवाओं में लगे रहते हैं। सेनाओं को युद्ध में सफलता प्राप्त करना हो तो उनके लिए शस्त्रास्त्र, गोला-बारूद, भोजन, यातायात, चिकित्सा आदि अनेक सेवाओं की व्यवस्था करनी पड़ती हैं। ये सेवायें भले ही युद्ध में भाग नहीं लेती किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से सेनाओं को सहायता पहुँचाकर उन्हें सफलता प्राप्त करवाने में योगदान देती हैं। इन्हें ही स्टाफ - सेवा कहा जाता है। इस सम्बन्ध में एक बहुत पुरानी ब्रिटिश सैनिक कहावत बड़ी ही मनोरंजक हैः स्टाफ सेवायें ''वे खच्चर हैं जो युद्ध लड़ने वाले खच्चरों के लिए सामग्री ढोते हैं।

नागरिक प्रशासन में भी सैनिक संगठन की इस शब्दावली को ग्रहण किया है। विभिन्न विभागों अथवा अभिकरणों द्वारा जो कार्य किया जाता है, वे सूत्र सेवाएँ हैं। इन सेवाओं के अतिरिक्त, प्रत्येक विभाग में कुछ अन्य सेवाएँ भी होती हैं, जिनका विभाग को ठीक ढंग से चलाने के लिए आवश्यकता रहती है, जैसे-स्वास्थ्य, शिक्षा, पुलिस विभाग तथा इनकी प्रमुख इकाइयाँ जो उद्देश्य की प्राप्ति हेतु कार्य करती हैं। सूत्र सेवायें वे विभागीय सेवायें हैं जिनका सम्बन्ध अधिकतया जनता से पड़ता है। स्टाफ सेवाओं से आशय उन सेवाओं से हैं। जो सरकार की नीतियों को लागू करने में, सरकार के अधीन होता है तथा उनका जनता से सीधा सम्बन्ध नहीं होता।

सूत्र इकाइयों में उद्योग, रेलवे, यातायात, श्रम, उत्पादन-मंत्रालय, प्रधानमंत्री सचिवालय, योजना आयोग आदि आते हैं। मार्क्स (Marx) के अनुसार, ''लाइन से तात्पर्य परिचालित उत्तरदायित्व के अधीन प्रभागों से है। इस प्रकार संघात्मक सरकार में राष्ट्रपति से लेकर विभागों के अध्यक्षों तथा ब्यूरो के प्रमुखों तथा इसी प्रकार नीचे तक लाइन होती है। स्टाफ केवल उसके कार्य करने के लिए सामग्री जुटाता है।'' लेपावस्की के अनुसार, ''सूत्र संगठन में सत्ता तथा उत्तरदायित्व की रेखायें ऊपर से नीचे तक फैली होती हैं।'' इसलिए इन्हें ''लाइन'' की संज्ञा दी गई हैं। पद-सोपान के आधार पर इन इकाइयों को संगठित किया जाता है। व्हाइट (White) के अनुसार, ''वे उन प्राथमिक उद्देश्यों से सम्बन्धित रहती है। जिनके लिए शासन स्थापित किया जाता है।'' स्टाफ का कार्य सलाह एवं रिपोर्ट देना है। परन्तु लूथर गुलिक के अनुसार, ''साधारण तथा लाइन के कर्मचारी की सोचने तथा नियोजन का कार्य करते हैं और अपने उच्च अधिकारियों के सम्मुख झुकाव रखते हैं। इसी प्रकार के कर्मचारी भी कुछ अन्य कार्य करते हैं। परन्तु वे दूसरों को संगठित नहीं करते, वे निर्देश नहीं देते और न ही पदाधिकारियों की नियुक्ति करते हैं, न ही वे आदेश जारी करते हैं और न कार्य का उत्तरदायित्व लेते हैं।'' संक्षेप में कहा जाय तो स्टाफ विचार करता है, जबकि सूत्र को कार्य पूरा करता है।

संगठन की इकाइयाँः सूत्र तथा स्टाफ का संक्षेप में चित्रण इस प्रकार हैः

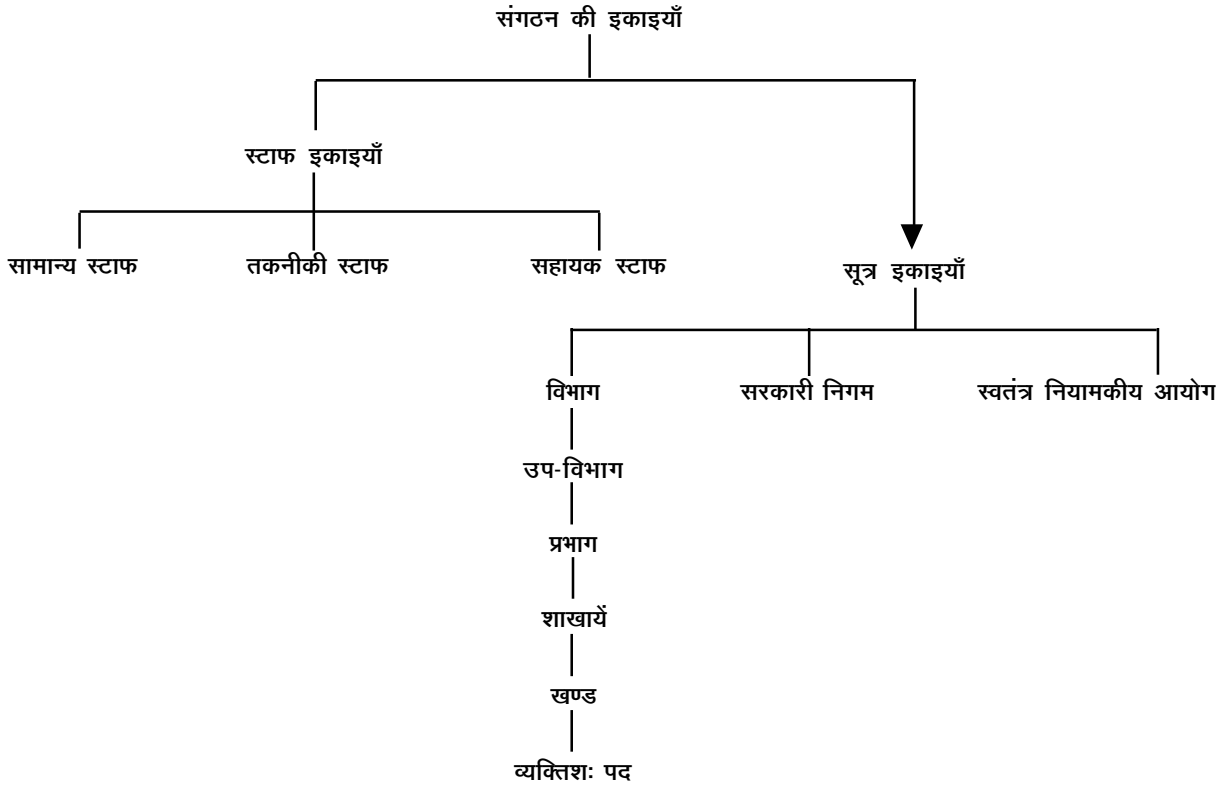

सूत्र तथा स्टाफ में अन्तर
(Difference Between Line and Staff)

सूत्र तथा स्टाफ में निम्नलिखित अन्तर है-

1. सूत्र इकाइयाँ कार्यकारी होती हैं। इनका कार्य उन सेवाओं का संचालन करना है, जो प्रशासन की ओर से जनता की सेवा करने के लिए आयोजित की जाती हैं। इसके विपरीत स्टाफ इकाइयों का काम परामर्श एवं सलाह देना है और कार्य करने के लिए सामग्री जुटाना है।
2. सूत्र इकाइयाँ प्रशासन की नीतियों को लागू करती हैं, स्टाफ इन नीतियों को लागू करने में सहायता देता है।
3. सूत्र सेवाओं का जनता से सीधा सम्पर्क रहता है, जबकि स्टाफ का सरकार से। वे जनता से सम्पर्क स्थापित नहीं कर सकती।
4. स्टाफ सलाह देता है, जबकि सूत्र आदेश देने का कार्य करता है।
5. सूत्र क्रियात्मक है और स्टाफ संस्थागत है।
6. सूत्र के कार्य साध्य हैं और स्टाफ के कार्य साधन।
7. सूत्र का कर्त्तव्य है लक्ष्य को प्राप्त करना तथा स्टाफ का कार्य है इस लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायता देना तथा सूत्र लक्ष्य प्राप्त करने योग्य बनाना।
8. सूत्र-इकाइयाँ निर्देशन करती है, किन्तु स्टाफ इकाइयाँ, अनुसंधान, नियोजन, समन्वय, अधीक्षण आदि साधनों द्वारा परामर्श एवं सहायता प्रदान करती हैं।
9. स्टाफ सदा प ष्ठभूमि में रहता है, वह निर्णयों के लिए भूमिका तैयार करता है, परन्तु स्वयं निर्णय नहीं करता। सूत्र अभिकरण प्रकट होकर सामने से कार्य करते हैं और स्वयं निर्णय भी लेते हैं।
10. स्टाफ विचार करता है तो लाइन स्वयं कार्यों को सम्पन्न करता है।

11 सूत्र के कार्य प्राथमिक होते हैं, जिसके लिए सरकार का अस्तित्व होता है, जबकि स्टाफ का कार्य विभागों की सार्थकता बनाये रखना है।

फिफनर के शब्दों में, ''स्टाफ अभिकरण कठिनाइयों को समाप्त करने का दायित्व सम्पन्न करता है। सूत्र अभिकरण अपने विश्वासपात्र स्टाफ सदस्यों को कठिनाइयों को दूर करने के लिए भेजता है।'' ('Activities are for trouble shooting).

भेद व्यावहारिक नहीं है
(Difference is not Realistic)

स्टाफ तथा लाइन को एक-दूसरे से पूर्णतः प थक नहीं किया जा सकता। ये दोनों किसी भी प्रशासकीय संगठन की दो महत्वपूर्ण भुजाएँ हैं। अतः शासन की सफलता के लिये उनमें भेद न करके यह आवश्यक है कि वे सहयोग तथा सद्भाव के साथ एकजुट होकर कार्य करें। इनमें कोई स्वाभाविक विरोध नहीं होता। प्रशासकीय संगठन का विश्लेषण करने पर हमें ज्ञात होता है कि समूचे प्रशासन में कोई भी इकाई ऐसी नहीं है कि जो केवल स्टाफ का कार्य करती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वहाँ स्टाफ का कार्य होता ही नहीं। वहाँ नीति निर्धारण के साथ स्टाफ के भी कार्य करने पड़ते हैं, जैसे-भारत में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा योजना आयोग ये दोनों स्टाफ अभिकरण हैं, किन्तु वे कई बार सूत्र अभिकरणों को निर्देश भी देते हैं। महाविद्यालय के प्राफेसर लाइन का कार्य करते हैं किन्तु जब वे किसी समिति के सदस्य बन जाते हैं, तब वे स्टाफ का कार्य करते हैं। डॉ॰ महादेव शर्मा के शब्दों में, ''संगठन जितना बड़ा होगा उतना ही स्पष्ट अलग दिखाई पड़ेगा और वह जितना छोटा होगा, सूत्र और स्टाफ का भेद उतना ही स्पष्ट होता जायेगा।''

वर्तमान में स्टाफ और सूत्र में विभाजन रेखा खींचना अत्यन्त कठिन है। स्टाफ केवल परामर्श ही नहीं देता अपितु नीतियों को क्रियान्वित करने में सहयोग भी देता है। प्रायः सभी विभागों में उसका अध्यक्ष अपने स्टाफ संगठन के भीतर आदेश देने की शक्ति का प्रयोग करता है। साइमन ने ठीक कहा है कि ''यह धारणा भ्रम और अन्धविश्वास पर आधारित है कि स्टाफ केवल परामर्श देता है, वह आदेश-निर्देश जारी नहीं करता।''

यह सोचना गलत है कि स्टाफ अभिकरण ''प्राधिकारी विहीन'' होते हैं। विशेषकर, प्राविधिक स्टाफ के बारे में यह बात सही है कि वह नियंत्रणात्मक शक्ति का प्रयोग करता है। इस संदर्भ में लोक सेवा आयोग का उदाहरण महत्वपूर्ण है। शासन के विभिन्न सूत्र अभिकरणों की भर्ती एवं कर्मचारियों की नियुक्ति के बारे में लोक सेवा आयोग की सिफारिश मानना ही पड़ती है। यह हो सकता है कि मुख्य निष्पादक कुछ अधिकारियों की पदोन्नति को अस्वीक त कर दे तो इस स्थिति में सूत्र विभाग के पास इसके सिवा और कोई चारा नहीं रह जाता कि यह आज्ञा-पालन करे। अतः यह एक मिथ्या धारणा है कि स्टाफ इकाइयाँ निर्देश तथा नियंत्रण की शक्ति जारी नहीं करता।''

यह सोचना गलत है कि स्टाफ अभिकरण ''प्राधिकार विहीन'' होते हैं। विशेषकर, प्राविधिक स्टाफ के बारे में यह बात सही है कि यह नियंत्रणात्मक शक्ति का प्रयोग करता है। इस संदर्भ में लोक सेवा आयोग का उदाहरण महत्वपूर्ण है। शासन के विभिन्न सूत्र अभिकरणों की भर्ती एवं कर्मचारियों की नियुक्ति के बारे में लोक सेवा आयोग की सिफारिश माननी ही पड़ती है। यह हो सकता है कि मुख्य निष्पादक कुछ अधिकारियों की पदोन्नति को अस्वीक त कर दे तो इस स्थिति में सूत्र विभाग के पास इसके सिवा और कोई चारा नहीं रह जाता कि वह आज्ञा-पालन करे। अतः यह एक मिथ्या धारणा है कि स्टाफ इकाइयाँ निर्देश तथा नियंत्रण की शक्ति नहीं रखती।

सिद्धान्तः स्टाफ एवं सूत्र का भेद भले ही हो, किन्तु यह व्यावहारिक नहीं है। दोनों के बीच स्पष्ट विभाजन करना संभव नहीं है। प्रशासन में कुछ सूत्र इकाइयाँ ऐसी भी होती हैं जो सूत्र एवं स्टाफ का कार्य करती हैं। वे वरिष्ठ अधिकारियों के लिए स्टाफ का काम करती हैं, किन्तु अपने से नीचे के लिए सूत्र अभिकरण का शिक्षा, स्वास्थ्य आदि विभाग अपने-अपने विषय में परामर्श देते हैं, यह कार्य स्टाफ अभिकरण का हुआ, किन्तु जब वे शिक्षा अथवा स्वास्थ्य के प्रशासन को संचालित करते हैं, आवश्यक आदेश अधीनस्थों को देते हैं, तब वे सूत्र-सत्ता के अन्तर्गत आते हैं। आर्थर मेकमहान के अनुसार, ''स्टाफ तथा लाइन के उत्तरदायित्वों में विभिन्नता है, परन्तु व्यवहार में दोनों में भेद नहीं किया जा सकता। यह भेद केवल मात्रा में ही हो सकता है।...कोई अधिकारी चोटी के अधिकारी के लिए स्टाफ का कार्य करता है और वही अधिकारी अपने कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में सूत्र का कार्य कर कर सकता है।'' इस प्रकार सूत्र तथा स्टाफ इकाइयों को अलग संगठित नहीं किया जा सकता। केन्द्र, राज्य अथवा स्थानीय - सरकार के ढाँचे में भी यदि हम स्टाफ-इकाई की खोज करें तो हमें इस नाम की कोई इकाई नहीं मिलेगी। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि परामर्श का कार्य होता ही नहीं हैं परामर्श का कार्य होता अवश्य है, किन्तु एक प थक एवं भिन्न इकाइयों के रूप में न होकर सूत्र-इकाइयों और सूत्र अधिकारियों के कर्त्तव्यों का ही अंग मानकर होता है।

आधुनिक द ष्टिकोण यह है कि सूत्र और स्टाफ क्रमशः उच्च और निम्नतर अभिकरण नहीं है अपितु समान स्तर वाली इकाइयाँ हैं। अलबर्ट लेपावस्की के शब्दों में, ''स्टाफ और सूत्र एक-दूसरे के समकक्ष है, स्टाफ का सूत्र से अधीनस्थ तथा उच्च का सम्बन्ध नहीं है, बल्कि दोनों ही सत्ता और उत्तरदायित्व के समान स्तर पर मुख्य निष्पादक की अधीनता में कार्य करते हैं।'' वे आगे चलकर लिखते हैं कि, वस्तुतः ''स्टाफ और सूत्र किसी भी संगठन के परिपूरक होते हैं, न कि विरोधी।'' पल.एच. एपलबी को भारतीय प्रशासन में स्टाफ तथा सूत्र के भेद को स्पष्टतः समझने में अत्यधिक कठिनाई का सामना करना पड़ा। इस संदर्भ में उनका यह कथन प्रसिद्ध है ''यहाँ ऐसी कोई शब्दावली तथा ऐसा कोई ढाँचा नहीं है जो सूत्र तथा स्टाफ के बीच भेद कर सके।...भारत में ये शब्द संगठन के ढाँचे में प्रयुक्त नहीं किये जा सकते।'' प्रतिरक्षा, विदेशी मामलों तथा केन्द्रीय करों के संग्रह को छोड़कर, लगभग सम्पूर्ण केन्द्र एक बड़ा स्टाफ संगठन है। कुछ अन्य अपवादों को छोड़कर नयी दिल्ली में कोई भी सूत्र कार्य नहीं हैं।

पंक्ति अभिकरण-विशेषताएँ
(Features of Line Agencies)

विभागों और निगमों का अध्ययन शुरू करने से पहले हमें पंक्ति अभिकरणों या पंक्ति इकाइयों का अर्थ समझ लेना चाहिए। भारत सरकार में रेल मंत्रालय एक बड़ा विभाग है। इसका बुनियादी काम विभिन्न शहरों और कस्बों के बीच यात्री गाड़ियाँ और मालगाड़ियाँ चलाना है। रेलमंत्री से लेकर इंजन ड्राइवर तक गाड़ियों के संचालन में शामिल हर व्यक्ति पंक्ति अभिकरण का हिस्सा है। किन्तु इस बुनियादी काम को पूरा करने के लिए रेलवे स्टेशनों का निर्माण, कर्मचारियों की भर्ती, पटरियाँ बिछाना और उनकी सुरक्षा, रेल डिब्बे आदि की खरीद का हिसाब-किताब रखना और अन्य अनेक गतिविधियाँ चलाना आवश्यक है। यह गतिविधियाँ द्वितीय कार्यकलापों में आती है और इन्हें रेलवे भर्ती बोर्ड, रेलवे प्रशिक्षण कॉलेज, रेलवे पुलिस सेवा और रेल निर्माण विभाग जैसी कर्मचारी इकाइयाँ पूरा करती हैं। प्राथमिक कार्यकलाप अपने आप में संपूर्ण होते हैं जबकि द्वितीयक कार्यकलाप प्राथमिक उद्देश्यों की पूर्ति के साधन होते हैं। प्राथमिक उद्देश्यों की पूर्ति के साधन होते हैं। प्राथमिक कार्यकलापों की जिम्मेदारी पंक्ति अभिकरणों पर और द्वितीयक कार्यकलापों की ज़िम्मेदारी कर्मचारी अभिकरणों पर होती है।

प्रत्येक प्रशासनिक व्यवस्था में सरकार के प्रमुख प्राथमिक कार्यकलापों को चलाने के लिए कई विभागों या प्रशासनिक अभिकरणों की स्थापना की जाती है। उन्हें पंक्ति अभिकरण कहा जाता है। क्योंकि सरकार के प्राथमिक उद्देश्यों की पूर्ति या क्रियान्वयन के लिए सभी आवश्यक फैसले यही अभिकरण लेते हैं और आदेश जारी करते हैं। प्रशासन के समादेशन, नियंत्रण, नियमन और निर्देशन की ज़िम्मेदारी भी इन्हीं पर होती है। यह अभिकरण जनता के सीधे संपर्क में होते हैं। नागरिकों को बुनियादी सेवाएँ उपलब्ध कराते हैं और उनसे तालमेल रखते हैं। इनके हाथ में सत्ता भी होती है और अधिकार भी। सरकार का कामकाज चलाने की बुनियादी ज़िम्मेदारी इन्हीं अभिकरणों पर होती है इसीलिए इन्हें पंक्ति अभिकरण कहा जाता है। शिक्षा, और स्वास्थ्य विभाग, इंडियन एअर लांइस कार्पोरेशन, जीवन बीमा निगम, और केन्द्रीय उत्पाद तथा सीमा शुल्क बोर्ड, भारत सरकार के पंक्ति अभिकरण हैं। उन्हें अपने-अपने क्षेत्रों में सरकार के विशिष्ट प्राथमिक उद्देश्यों की पूर्ति का दायित्व सौंपा गया है।

पंक्ति अभिकरणों की विशेषताएँ: अब तक हम समझ गए हैं कि पंक्ति अभिकरण वे प्रशासनिक इकाइयाँ या संगठन हैं जो सरकार के प्राथमिक कामकाज को चलाने के लिए सीधे ज़िम्मेदार होते हैं। पंक्ति अभिकरण की संकल्पना को और सही ढंग से समझने के लिए हमें उनकी प्रमुख विशेषताओं का अध्ययन करना चाहिए।

संगठन के प्रमुख या प्राथमिक उद्देश्यों की पूर्ति: पंक्ति अभिकरणों/इकाइयों की पहली विशेषता यह है कि वे संगठन के प्रमुख, प्राथमिक या मूल उद्देश्यों की पूर्ति के लिए काम करते हैं। उदाहरण के लिए शिक्षण के माध्यम से शिक्षा प्रदान करना किसी भी विश्वविद्यालय का मूल उद्देश्य होता है। शिक्षण विभाग सीधे यह उद्देश्य प्राप्त करने के लिए काम करता है इसलिए यह विश्वविद्यालय की पंक्ति इकाई है। लेकिन लेखा विभाग, परीक्षा विभाग या पुस्तकालय सीधे शिक्षण या शिक्षण प्रदान करने का काम नहीं करते इसलिए उन्हें कर्मचारी या सहायक इकाई कहा जाता है।

निर्णय लेने का अधिकार: दूसरी विशेषता यह है कि पंक्ति इकाइयों को निर्णय लेने, आदेश जारी करने और अपने अधीनस्थ प्रशासन पर नियंत्रण, निर्देशन और समादेशन, का अधिकार होता है। उदाहरण के लिए पुलिस महानिरीक्षक से लेकर पुलिस कांस्टेबल तक सारा पुलिस विभाग एक पंक्ति में कानून और व्यवस्था बनाए रखने के काम से सीधे जुड़ा रहता है। यह सब समादेश की एक पंक्ति में संगठनबद्ध होते हैं। लेकिन पुलिस प्रशिक्षण कॉलेज पंक्ति इकाई नहीं है क्योंकि वह समादेश की पंक्ति के आदेश से बाहर है। वास्तव में वह ग ह विभाग की कर्मचारी इकाई है।

सरकारी कार्यक्रमों के संचालन का दायित्वः पंक्ति अभिकरणों की तीसरी विशेषता यह है कि वे सरकारी नीतियों के संचालन और विधायिका या कार्यपालिका द्वारा स्वीक त कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के लिए सीधे ज़िम्मेदार होते हैं। नीति पर अमल की पूरी ज़िम्मेदारी उन्हीं पर होती है। वे निर्णय लेते हैं, आदेश जारी करते हैं और प्रशासन का निर्देशन तथा समादेशन करते हैं।

आम जनता के सीधे संपर्कः चौथी विशेषता यह है कि पंक्ति अभिकरण नागरिकों के सीधे संपर्क में आते हैं और उन्हें सेवाएँ उपलब्ध कराते हैं। उदाहरण के लिए शिक्षक विद्यार्थियों को शिक्षा देते हैं, पुलिस कर्मचारी नागरिकों की सुरक्षा करते हैं, डाक्टर नागरिकों के स्वास्थ्य का ध्यान रखते हैं। इसी तरह सरकार में शिक्षा विभाग, स्वास्थ्य विभाग या क षि विभाग आम जनता को सीधे सेवाएँ उपलब्ध कराते हैं।

मुख्य कार्यकारी का सीधा नियंत्रणः पाँचवीं विशेषता यह है कि पंक्ति अभिकरणों पर मुख्य कार्यकारी का सीधा नियंत्रण होता है और ये उसी की देखरेख में काम करते हैं। यह अभिकरण मुख्य कार्यकारी और विधायिका के प्रति जवाबदेह होते हैं। उदाहरण के लिए सरकारी विभाग का मुखिया एक मंत्री होता है जो सीधे, प्रधानमंत्री और संसद के प्रति जवाबदेह होता है। इसी तरह सार्वजनिक निगम का निदेशक मंडल सीधे सरकार और संसद के प्रति जवाबदेह होता है।

आमतौर पर तीन प्रकार के पंक्ति अभिकरण दुनिया के ज्यादातर देशों में प्रशासन का संचालन करते हैं। ये अभिकरण हैं-सरकारी विभाग, सार्वजनिक निगम, और स्वतंत्र नियमन आयोग (आईआरसी) स्वतंत्र नियमन आयोगों का गठन मुख्य रूप से अमरीका में किया गया क्योंकि वहाँ की विशेष संवैधानिक व्यवस्था और राजनीतिक विचारधारा में ऐसा करना आवश्यक था। भारत, ब्रिटेन और सोवियत संघ सहित दुनिया के लगभग सभी देशों में विभागों और निगमों का गठन किया जाता है। अब आप विभागों और सार्वजनिक निगमों का अध्ययन करेंगे।

सूत्र एजेंसियों के प्रकार
(Kinds of Line Agencies)

सूत्र एजेंसियां निम्नलिखित तीन प्रकार की होती हैं:

1. विभाग (Department)
2. लोक निगम (Public Corporation)
3. स्वतन्त्र नियामक आयोग (Independent Regulatory Commission)

1. **विभाग (Department):** प्रमुख कार्यकारी के अधीन रहने वाले समस्त सरकारी कार्य को अनेक खंडों में विभाजित कर लिया जाता है। इन में प्रत्येक खंड को विभाग कहा जाता है। विभाग संगठन का सब से बड़ा तथा अधिक प्रचलित स्वरूप है। यह सीधा ही मुख्य कार्यपालिक (Chief Executive) के अधीन होता है। यह स्पष्ट रूप से कमान की इकहरी श ंखला (Single Chain of Command) के साथ जुड़ा होता है। इस प्रकार विभाग प्रशासकीय पदसोपान (Administrative Hierarchy) में सब से बड़ी तथा उच्चतम इकाई है। प्रत्येक सरकार का अधिकतम कार्य विभागीय प्रणाली के अन्तर्गत ही चलाया जाता है। प्रतिरक्षा, शिक्षा, स्वास्थ्य, श्रम, ग ह, क षि, रेल, डाक व तार व वित्त आदि सरकार के प्रमुख विभाग होते हैं।

2. **लोक निगम (Public Corporation):** लोक निगम एक नया संगठन साधन है जो लोक प्रशासन में निजी प्रशासन से लिया गया है। लोक निगम व्यावसायिक तथा वाणिज्यिक क्षेत्रों में राज्य के प्रवेश का परिणाम है। प्रत्येक लोक निगम का एक निर्देशक मण्डल (Board of Directors) होता है, जो इस की नीतियों को बनाता है और एक जनरल मैनेजर (General Manager) निगम के आन्तरिक प्रशासन को चलाता है। यह निगम-निकाय (Body Corporate) होती है जो अपने नाम पर सम्पत्ति एवं नकदी (Cash) रखती है। इस को विशाल वित्तीय तथा प्रशासकीय स्वायत्तता (Financial and Administration Autonomy) प्राप्त होती है, परन्तु यह सरकारी नियन्त्रण से पूर्णतया मुक्त नहीं होती है। लोक निगम प्रणाली का प्रयोग उस समय किया जाता है जब सरकार उद्योग, व्यापार एवं वाणिज्य के क्षेत्रों में स्वयं प्रवेश करना चाहती हो। आधुनिक काल में सरकार इन क्षेत्रों में प्रवेश कर चुकी है। इसलिए लोक निगम, लोक प्रशासन का महत्वपूर्ण अंग बन चुके हैं। भारतीय खाद्य निगम (Food Corporation of India), जीवन बीमा निगम (Life Insurance Corporation), इंडियन एयर लाइंस निगम (Indian Air Lines Corporation), एयर इंडिया (Air India), भारतीय उद्योग निगम, केन्द्रीय

भण्डारागार निगम (Central Warehousing Corporation), राजकीय व्यापार निगम (State Trading Corporation) इत्यादि भारत के कुछ प्रमुख लोक निगम हैं।

3. **स्वतन्त्र नियामक आयोग (Independent Regulatory Commission):** सूत्र एजेंसियों की तीसरी प्रकार स्वतन्त्र नियामक आयोग कहलाती है। इसमें कुछ लक्षण विभागी प्रणाली के तथा कुछ लक्षण लोक निगम प्रणाली के होते हैं। शीर्ष पर इसका स्वरूप निगम जैसा परन्तु आन्तरिक कार्य-संचालन विभागीय ढांचे जैसा होता है। ये आयोग मुख्य कार्यकारी के नियन्त्रण से प्रायः मुक्त होते हैं। इनकी उपस्थिति प्रशासन को विश्‍खल (Distintegrated) स्वरूप प्रदान करती है। यह प्रशासकीय, अर्द्ध-विधायी (Semi-Legislative) तथा अर्द्ध-न्यायिक (Semi-Judicial) प्रक ति के कार्य करते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में यह बहुत प्रचलित है तथा सरकारी प्रशासन का महत्वपूर्ण अंग माने जाते हैं।

''स्टाफ'' अभिकरण
(Staff Agency)

किसी भी प्रशासन को चलाने के लिए ''स्टाफ'' की आवश्यकता होती है। सूत्र इकाइयाँ अकेले अपने दम पर विभाग के उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकती। उन्हें ''स्टाफ'' का सहारा लेना ही पड़ता है। अंग्रेजी में ''स्टाफ'' का अर्थ ''छड़ी'' या ''डण्डा'' होता है। ''स्टाफ का अर्थ वह छड़ी है जिस पर चलते समय शरीर का बोझ डाला जा सकता है, परन्तु जो स्वयं यह निर्णय न कर सके कि कब चलना है और किस दिशा में जाना है।'' सूत्र अभिकरण इसी स्टाफ के सहारे अपने विभाग को चलाता है। मून के शब्दों में, ''स्टाफ कार्यपालिका के व्यक्तित्व का ही विस्तार है। उसका अर्थ हैः अधिक आँखे, अधिक कान और अधिक हाथ जो कि उसकी योजना बनाने तथा क्रियान्वित करने में उसे सहायता दे सके। प्रो॰ व्हाइट के अनुसार, ''स्टाफ उच्च श्रेणी के पदाधिकारी को परामर्श देने वाला एक अभिकरण होता है, जिसका कोई क्रियात्मक उत्तरदायित्व नहीं होता।'' हेनरी फेयाल के अनुसार, ''यह एक सहायता है....यह प्रबन्धक के व्यक्तित्व का एक प्रकार से विस्तार है जिससे कि अपने कर्त्तव्यों को पूरा करने में उसे सहायता मिल सके।'' इस प्रकर स्टाफ परामर्श का कार्य करता है तथा सहायता पहुँचाता है जबकि सूत्र अधिकारी आदेश देता है।

स्टाफ के कार्य
(Functions of the Staff)

मूने (Mooney) के अनुसार, ''स्टाफ'' के तीन मुख्य कार्य हैंः

1. **सूचना सम्बन्धीः** स्टाफ का मुख्य कार्य है कि अपने मुख्य कार्यपालिका के लिए सम्पूर्ण सूचनाओं का संग्रह करें। सूचनाओं का अध्ययन करे तथा आवश्यक जाँच करने के पश्चात् उसे संक्षिप्त एवं सुव्यवस्थित करके अपने मुख्य कार्यपालिका के सम्मुख सुविधाजनक रूप में प्रस्तुत करे।
2. **परामर्श सम्बन्धीः** सूचना देने के साथ-साथ स्टाफ अपने मुख्य कार्यपालिका को परामर्श भी देता है कि उसकी राय में कौन सा निर्णय लिया जाना चाहिए। मुख्य कार्यपालिका के लिए यह आवश्यक नही है कि वह सदा ही स्टाफ के निर्णय को स्वीकार कर ले। स्टाफ के द्वारा परामर्श देने से मुख्य कार्यपालिका को निर्णय लेने में सुविधा हो जाती है।
3. **पर्यवेक्षण सम्बन्धीः** स्टाफ का यह भी कार्य है कि वह देखे कि वरिष्ठ श्रेणी के सूत्र अधिकारी जो निर्णय देते हैं, वह अधीनस्थ कर्मचारियों तक पहुँचा दिए गए हैं और उसे क्रियान्वित किया गया है अथवा नहीं। कार्य को पूरा करने में यदि कोई कठिनाइयाँ आती हैं तो उसे दूर करें तथा भ्रमों का निवारण करें। इस प्रकार के कार्य से वह कार्यपालिका के समय की रक्षा करता है।

फिफनर के अनुसार, स्टाफ के कार्यों की सूची निम्नलिखित हैः

1. सूत्र अभिकरण तथा अध्यक्ष को परामर्श देना, सिखाना एवं चर्चा करना।
2. योजनाओं तथा व्यक्ति-सम्पर्क द्वारा समन्वय करना, कठिनाइयों को दूर करना तथा प्रत्येक स्तर पर विरोधियों के निर्णयों के पक्ष में सहमत कराने का प्रयास करना।
3. तथ्य संग्रह तथा शोध करना।

4. योजनाएँ बनाना।
5. अन्य संगठनों तथा व्यक्तियों के विषय में जानकारी रखना तथा उनके साथ सम्पर्क स्थापित करना, जिससे पता चले कि क्या हो रहा है।
6. बिना उसकी सत्ता को छीने, सूत्र के साथ काम करना तथा उसकी सहायता करना।
7. कभी-कभी सूत्र के प्रमुख की ओर से दी गई सत्ता की निश्चित सीमाओं के भीतर स्पष्ट सत्ता का प्रयोग करना।

संक्षेप में कहा जाए तो व्हाइट (White) के अनुसार, ''सिविल स्टाफ का काम है: प्रशासकीय समस्याओं का अध्ययन करना, योजना बनाना, परामर्श देना, अवलोकन करना, परन्तु कार्य का निर्देशन करना नहीं। स्टाफ का मुख्य कार्य है: अपने प्रमुख को परामर्श देना है, आदेश नहीं। स्टाफ जिस वरिष्ठ अधिकारी को परामर्श देता है, उस पर वह आश्रित रहता है। मुख्य कार्यपालिका को भी चाहिए कि वे अपने स्टाफ पर अत्यधिक निर्भर नहीं रहे, अन्यथा उनके हाथों की कठपुतली हो जायेंगे, जैसे-शिवाजी के उत्तराधिकारी पेशबाओं के हाथों की कठपुतली हो गये थे। नेपोलियन, चर्चिल, नेहरू जैसे सशक्त एवं प्रभावशाली व्यक्तियों पर स्टाफ कभी छाया नहीं रहता था।

स्टाफ के विभिन्न रूप
(Various Kinds of Staff)

स्टाफ को तीन वर्गों मे विभाजित किया जाता है:

1. सामान्य स्टाफ
2. सहायक स्टाफ और
3. तकनीकी स्टाफ

1. **सामान्य स्टाफ:** सामान्य स्टाफ प्रायः मुख्य कार्यपालिका के प्रशासकीय कर्त्तव्यों को पूरा करने में उसकी सहायता करता है, उसे परामर्श देता है, तथ्यों का संग्रह करता है तथा महत्वपूर्ण मामलों में निर्णय लेने में सहायता देता है। वह असम्बद्ध तथा अनावश्यक बातों को दूर कर तथ्यपूर्ण बातें मुख्य कार्यपालिका के सम्मुख रखता है तथा उसके समय एवं शक्ति की बचत करता है। फिफनर (Pfiffner) के अनुसार, ''सामान्य स्टाफ का प्रमुख उद्देश्य मुख्य कार्यपालिका अथवा विभागाध्यक्ष के लिए छलनी तथा चाड़ी अर्थात् फिल्टर और फनल का कार्य करना है। किसी गहन जानकारी में बिना लिप्त हुये महत्वपूर्ण विषयों को नियंत्रित करना है।''

   सामान्य स्टाफ अभिकरणों के श्रेष्ठतम उदाहरण हैं: ब्रिटिश राजकोष तथा संयुक्त राज्य अमेरिका का बजट ब्यूरो (Bureau of Budget) उन्हें स्टाफ अभिकरणों की सम्पूर्ण शक्तियाँ प्राप्त हैं तथा ये अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। भारत में मुख्य कार्यपालिका का सामान्य स्टाफ निम्नलिखित है:

   i. मंत्रिपरिषद् सचिवालय
   ii. प्रधानमंत्री का सचिवालय
   iii. मंत्रिपरिषद् समितियाँ
   iv. योजना आयोग
   v. वित्त-मंत्रालय
   vi. ग ह-मंत्रालय
   vii. संगठन तथा प्रणाली सम्भाग
   viii. केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन
   ix. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग

   हमारे देश के सामान्य स्टाफ अभिकरण उतने अधिक विकसित नहीं है जैसे कि इंग्लैण्ड या संयुक्त राज्य अमेरिका में पाये जाते हैं।

सामान्य स्टाफ कर्मचारियों के गुण *(Qualities of General Staff Personnel):* सामान्य स्टाफ में पाये जाने वाले कर्मचारियों में निम्नलिखित गुण होने चाहिए:

i. प्रत्येक चीज के विषय में पर्याप्त ज्ञान एवं सामान्य जानकारी होनी चाहिए।

२. जटिल मामलों का विस्त त ज्ञान हो। यह आवश्यक नहीं है कि वे उन मामलों के विशेषज्ञ हों।

३. उनमें सहयोग एवं समन्वय करने की योग्यता हो। बातचीत चलाने तथा विचार-विमर्श करने की क्षमता हो।

४. उनमें महत्वाकांक्षी अथवा प्रसिद्धि प्राप्त करने की इच्छा नहीं होनी चाहिए।

५. उनके द्वारा दी जाने वाली सहायता अनाम होती है। अतः उन्हें सदा ही प ष्ठभूमि में रहना चाहिए। (remain in the background)

६. उन्हें सहनशील, गम्भीर, धैर्यवान, परिश्रमी, लगन-शील एवं आज्ञाकारी होना चाहिए।

७. वे झगड़ालू तथा सत्ताप्रेमी न हों। वे सूत्र-अधिकारियों के साथ सहयोग करें किन्तु स्वयं सत्ता को प्राप्त न करें।

मूने का कथन है कि प्रशासक को ''सदा ही बहुत-सी बातों के बारे में तथा बहुत से तथ्यों पर विचार करना होता है और समस्याओं को हल करने के लिए विविध प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता होती है। अतः किसी एक व्यक्ति के लिए यह संभव नहीं होता कि वह बिना किसी सहायता के इस सम्पूर्ण कार्य को पूरा कर सके।'' सामान्य स्टाफ प्रशासक को आवश्यक जानकारी प्रदान करता है। स्टाफ प्रशासक को निर्णयों के लिए भूमिका तैयार करता है, किन्तु स्वयं निर्णय नहीं लेता।

2. **सहायक स्टाफ:** प्रत्येक विभाग को कायम रखने के लिए कुछ क्रियायें सम्पन्न करना पड़ती हैं। इनका सम्बन्ध विभाग के मुख्य उद्देश्य से न होकर ऐसी बातों से है जिनके बिना विभाग का काम चल ही नहीं सकता, जैसे-रेलवे विभाग का मुख्य उद्देश्य रेलें चलाना है, किन्तु इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। फिफनर के अनुसार, ''सहायक स्टाफ क्रियायें ऐसी ग ह रक्षक प्रक्रियायें हैं जो प्रत्येक विभाग में सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिए होती हैं।''

3. **तकनीकी स्टाफ:** इस श्रेणी में स्टाफ के वे कर्मचारी आते हैं जिन्हें कुछ विशिष्ट तकनीकी ज्ञान प्राप्त है। मुख्य कार्यपालिका को कुछ तकनीकी अधिकारियों की आवश्यकता होती है, जो तकनीकी मामलों पर उन्हें परामर्श देते हैं। तकनीकी स्टाफ को कोई सत्ता प्राप्त नहीं होती। यह निर्देश नहीं देता। इसका कार्य सेवा करना है, जैसे कि इन्जीनियर, वित्तीय विशेषज्ञ (Financial experts), कानूनी सलाहकार (Legal Advisor)। आज के वैज्ञानिक युग में कई तकनीकी विषयों पर मुख्य कार्यपालिका को वैज्ञानिक समस्याओं के विषय में जानकारी होनी चाहिए। तकनीकी ज्ञान की सलाह मिलने पर ही वह किसी भी नीति को आगे बढ़ा सकता है। तकनीकी स्टाफ का उपयोग संगठन के सभी सूत्र तथा स्टाफ इकाइयों द्वारा किया जाता है। फिफनर के अनुसार ''अपनी विशेष योग्यता के आधार पर इनका चयन होता है। उनका व्यक्तित्व इतना गतिशील होता है कि वह तत्काल क्षेत्र में पहुंचकर नियंत्रण की सत्ता अपने हाथ में ले लेते हैं। इसका यह स्वाभाविक परिणाम होता है कि जब वह सूत्र सम्पर्क में होते हैं, तब सत्ता का आकर्षण स्वाभाविक रूप से इन्हें घेरे रहता है।''

स्टाफ की प्रकृति और कार्य
(Nature and Functions of Staff)

स्टाफ-अधिकारी अथवा स्टाफ-अभिकरण सूत्र अधिकारियों अथवा अभिकरणों की भांति हस्तान्तरित कर्त्तव्यों का निर्वहन नहीं करते। उनका कार्य यह होता है कि प्रमुख अथवा अन्य कार्यकारी अधिकारियों के सामने प्रस्तुत होने से पहले से समस्याओं के बारे में समस्त आवश्यक जानकारी का संग्रह, विश्लेषण तथा संक्षेप में, संभावित समाधानों की ओर संकेत करें, तथा यह परामर्श दें कि उनमें से किसे स्वीकार किया जाए। इस प्रकार कम से कम सैद्धान्तिक द ष्टि से तो स्टाफ को ''कार्यकारी के व्यक्तित्व का विस्तार ही माना जायेगा। इसका अर्थ है अधिक हाथ।'' स्टाफ द्वारा दी जाने वाली सहायता अनाम होती है। स्टाफ सदा प ष्ठभूमि में रहता है। वह कार्यकारी के निर्णयों के लिए भूमिका तैयार करता है, परन्तु स्वयं निर्णय नहीं करता।

स्टाफ की प्रकृति और उसके कार्यों को लोक-प्रशासन के विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से व्यक्त किया है। मूने (Mooney) के मतानुसार स्टाफ मुख्य रूप से तीन प्रकार से कार्य करता है-

1. **सूचना संबंधी (Informatory):** स्टाफ का सूचना संबंधी कार्य यह है कि वह प्रमुख कार्यपालिका अथवा कार्यकारी के लिए उन समस्त सूचनाओं का संग्रह करता है जिनके आधार पर वह निर्णय करेगा। संग्रहीत सूचना को व्यवस्थित और संक्षिप्त रूप देकर उसे एक सुविधाजनक स्वरूप में प्रमुख कार्यपालिका के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।
2. **निरीक्षणात्मक (Supervisory):** स्टाफ का निरीक्षणात्मक कार्य यह है कि वह इस बात की ओर ध्यान दे कि प्रमुख कार्यकारी ने जो निर्णय लिए हैं, वे उपयुक्त सूत्र-अभिकरणों तक पहुंचा दिये गए हैं और उन्हें ठीक ढंग से क्रियान्वित किया जा रहा है। यह भी हो सकता है कि सूत्र-अभिकरणों और विभागों के सामने समय-समय पर नीतियों को स्पष्ट करना पड़े तथा क्रियान्वयन के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को दूर करना पड़े।
3. **परामर्शकारी (Advisory):** स्टाफ का परामर्शकारी कार्य यह है कि वह प्रमुख कार्यकारी को सलाह देता है कि उसकी राय में क्या निर्णय किए जाने चाहिए? यह आवश्यक है कि प्रमुख कार्यकारी स्टाफ की सिफारिशों को सदा स्वीकार ही करे, तथापि स्टाफ का यह कार्य अवश्य है कि वह अपनी सिफारिशें सदैव उसके सामने रखे।

पिफनर तथा प्रिस्थस (Piffner and Presthus) ने स्टाफ कार्य की सूची इस प्रकार प्रस्तुत की है-

1. परामर्श देना (अध्यक्ष एवं सूत्र-विभाग दोनों की), सिखाना, चर्चा करना,
2. समन्वय करना, केवल योजनाओं के द्वारा नहीं, वरन् व्यक्ति-सम्पर्क के द्वारा भी। साथ ही कठिनाई-निवारण तथा प्रत्येक स्तर पर निर्णयों के पक्ष में विरोधियों की सहमति का प्रयत्न करना,
3. नियोजन करना,
4. दूसरे संगठनों तथा व्यक्तियों के बारे में जानकारी रखने के लिए उनके साथ संपर्क स्थापित करना,
5. तथ्य संग्रह तथा शोध कार्य,
6. बिना उसकी सत्ता को छीने हुए सूत्र के साथ काम करके उसकी सहायता करना, तथा
7. कभी-कभी सूत्र अधिकारी की ओर से कुछ स्पष्ट और निश्चित सीमाओं के भीतर विशेष रूप से दी गई सत्ता का प्रयोग करना।

एल.डी. ह्वाइट ने सामान्य स्टाफ के उद्देश्यों के रूप में निम्नलिखित कार्य निर्धारित किए हैं-

1. यह निश्चित करना कि मुख्य कार्यपालिका को समुचित तथा तात्कालिक सूचनाएं प्राप्त होती रहें।
2. समस्याओं का पूर्वानुमान करने तथा भावी कार्यक्रमों की योजना बनाने में उसकी सहायता करना।
3. यह व्याख्या करना कि मुख्य कार्यपालिका के समक्ष मामले तुरन्त अर्थात् अविलम्ब पहुंचते रहें जिससे कि वह उन पर विवेकपूर्ण निर्णय ले सके तथा शीघ्रतापूर्ण एवं बिना सोच-समझे निर्णय लेने से उसे बचाना।
4. उसके समय की बचत करना।
5. निर्धारित नीति तथा कार्यपालिका निर्देशों के अनुरूप अधीनस्थों द्वारा कार्य सम्पादन के लिए साधन जुटाना।
6. ऐसे प्रत्येक मामले को छांटना जिसका निपटारा शासन के अन्य अधिकारियों द्वारा किया जा सकता है।

फिफनर तथा शेरवुड के अनुसार: स्टाफ का उद्देश्य कार्यपालिका को पूर्णता प्रदान करना है। वास्तव में संगठन की समस्त वैचारिक प्रक्रिया स्टाफ का ही कार्य है। पिफनर तथा शेरवुड ने इसी द ष्टि से विश्लेषण करते हुए स्टाफ के तीन प्रमुख तत्व बतलाए हैं, ये हैं- (1) तथ्य निरूपण (Fact finding), (2) नियोजन (Planning), एवं (3) संगठित करना (Organising)। तथ्य निरूपण से तात्पर्य है वस्तुस्थिति का समुचित ज्ञान संचित करना, सांख्यिकीय द ष्टि से तथा संक्षिप्त टिप्पणी द्वारा समस्त तथ्यों को इस प्रकार एकत्रित करना कि इसका अधिकतम उपयोग किया जा सके, दूसरे शब्दों में, प्रशासन से संबंधित महत्वपूर्ण आंकड़ों को सुनियोजित करना क्योंकि इन आंकड़ों के द्वारा ही भावी कार्यों के लिए प्रशासन को नियोजित किया जा सकता है। स्टाफ के कार्यों में नियोजन का तत्व महत्वपूर्ण है क्योंकि नियोजन द्वारा ही उद्देश्य पूर्ति के लिए किसी भी संगठन के कार्यों की कार्यश ंखला बनाई जा सकती है। नियोजन एक तरफ कार्य-विशिष्टीकरण के इंगित करता है और दूसरी तरफ समस्त

संगठन की कार्यवाही को सूत्रबद्ध कर संगठन के प्रयास में एकता लाने का कार्य करता है। एक बौद्धिक प्रक्रिया के रूप में स्टाफ लक्ष्य प्रगति हेतु प्रशासकीय संगठन के लिए भावी कार्यों का चित्र प्रस्तुत करता है। नियोजन अनायास ही कार्यों को संगठित करने का भी अधिकार प्रदान कर देता है। वस्तुतः प्रशासन की समस्त कार्यवाही जब नियोजन के प्रति उन्मुख रहेगी तब यह स्वाभाविक है कि नियोजन की द ष्टि से संगठन में आवश्यक परिवर्तन किए जाएं। प्रशासकीय संगठन एक-दूसरे के अनुरूप हो सकें यह प्रश्न भी नियोजन के साथ सम्मिलित है, अतः प्रत्यक्ष रूप से प्रशासकीय संगठन को परिवर्तन या संशोधन करने का अधिकार न होते हुए भी यह अधिकार स्वतः आ जाता है। तथ्य-निरूपण के अन्तर्गत कहा जा सकता है कि देश की आर्थिक स्थिति का जहां एक तरफ योजना आयोग के पास आंकड़ों में इतिहास मौजूद है वहां दूसरी तरफ विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में उन्हीं आंकड़ों को द ष्टि में रखकर प्रशासकीय संगठन के लिए आर्थिक लक्ष्य प्राप्ति के विभिन्न चरण स्थापित किए गए हैं-नई सेवाओं को संगठित किया गया है। पुरानी सेवाओं में महत्वपूर्ण आवश्यक परिवर्तन किए गए हैं। ये सभी कार्य एक-दूसरे से असम्बद्ध रह कर नहीं किए जा सकते हैं।

स्टाफ का संगठन के स्थानः इसका प्रभाव
(The Place of Staff in Organisation: Its Influence)

स्टाफ-अभिकरण सूत्र-अभिकरण के साथ अथवा स्वतंत्र रहकर कार्य नहीं करते वरन् उनके अनुगामी के रूप में कार्य करते हैं। स्टाफ-इकाइयों के पदसोपान के विभिन्न स्तरों पर सम्बद्ध रहती है, इस प्रकार स्टाफ-अधिकारी लाइन-अधिकारियों के अधीन रहकर कार्य करते हैं। स्टाफ-अभिकरण या अधिकारियों से परामर्श किए जाए या नहीं और प्राप्त परामर्श को माना जाए या नही, यह बात लाइन-अभिकरण की इच्छा पर निर्भर है। व्यवहार में, लाइन और स्टाफ संबंधों का रूप तीन प्रकार का हो सकता है-

क. यह संभव है कि लाइन-अभिकरण स्टाफ पर इतना अधिक निर्भर हो जाए कि वह केवल एक कठपुतली बनक ही रह जाए और शक्ति वास्तव में स्टाफ के ही हाथों में आ जाए।

ख. लाइन-अधिकारी यदि स्वाभिमानी है तथा उसे अपनी योग्यता एवं कुशलता पर विश्वास है तो शायद वह स्टाफ से परामर्श ही न ले और ले भी तो उसे न माने।

ग. तीसरी स्थिति इन दोनों के बीच की हो सकती है। इस स्थिति में ही स्टाफ का पूरा उपयोग हो पाता है।

व्यवहार में स्टाफ-अभिकरण की उपेक्षा करना कठिन है। स्टाफ के प्रभावों का उल्लेख करते हुए अर्नेस्ट डेल ने पांच तरीके सुझाए हैं जिनके द्वारा स्टाफ प्रभावित होता है-

1. अपनी श्रेष्ठ अभिव्यक्ति द्वारा स्टाफ के सदस्य अपने विचारों को दूसरों से मनवाने में लाइन की अपेक्षा अधिक सफल होते हैं। लाइन में अभिव्यक्ति की इस श्रेष्ठता का अभाव रहता है।
2. तकनीकी क्षमता के कारण लाइन की अपेक्षा उनके विचारों को अधिक मान्यता प्राप्त होगी। अपनी तकनीकी क्षमता के कारण वे विशिष्ट स्थिति में रहते हैं और चूंकि यह विशिष्टता ही उनका गुण हैं, इसलिए यही उनके विचारों में अधिक गंभीरता से भी लाती है। उनकी अपेक्षा लाइन में इस प्रकार की विशिष्टता अथवा तकनीकी क्षमता नहीं रहती है।
3. पद की गरिमा के द्वारा भी वे आदेश देने की स्थिति प्राप्त करते हैं। प्रायः स्टाफ के लोगों का वेतन, पद सम्मान आदि में बहुत विशिष्ट स्थान होता है, इसलिए भी उनके विचार मात्र-विचार की कोटि में नही रखे जा सकते, वे अपने आप ही आदेश का प्रभाव ग्रहण कर लेते हैं। पद की गरिमा तथा तकनीकी क्षमता के कारण ही वे प्रबन्धकीय श्रंखला में तथा उसके बाहर भी महत्वपूर्ण वर्ग में स्वभावतः ही अपना स्थान बना लेते हैं, जिसके परिणामस्वरूप उनके विचार अधिक परिपक्व रहते हैं।
4. यदि लाइन अभिकरण उनके प्रस्ताव से असहमत होता है तो स्टाफ उसका कार्यकारिणी के श्रेष्ठ अधिकारी से अपील कर सकता है और इस प्रकार उस श्रं खला के सबसे ऊपरी अधिकारी द्वारा वह लाइन की कार्यकारिणी को स्टाफ की राय मानने के लिए बाध्य कर सकता है।
5. ऐसे महत्वपूर्ण मसलों में, जिनमें लाइन द्वारा कोई भी कार्यवाही न की गई हो, लाइन की निष्क्रियता के कारण ही स्टाफ आदेश देने की स्थिति में स्वतः आ जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संगठन के संचालन में स्टाफ की अहम् भूमिका होती है।

लाइन तथा स्टाफ के संबंधों को सुधारने के उपाय
(Measures for Improving the Line and Staff Relationships)

लाइन एवं स्टाफ व्यक्तियों द्वारा एक-दूसरे के विरुद्ध दर्शाई गई प्रत्येक शिकायत सही हो सकती है और किसी को भी हठधर्मी या मूर्ख नहीं कहा जा सकता। अतः उच्च अधिकारी के समक्ष उनके पारस्परिक संबंधों को सुधारने की समस्या निरन्तर बनी रहती है। लाइन तथा स्टाफ के संबंध सुधारने के लिए उच्च अधिकारी को निम्नलिखित उपाय काम में लाने चाहिए-

1. **लाइन कर्मचारियों के प्रति अधिक सहानुभूति रखना (Line men should receive more sympathy than staff):** उच्च अधिकारी को स्टाफ व्यक्ति की अपेक्षा लाइन कर्मचारी के प्रति अधिक सहानुभूति रखनी चाहिए क्योंकि स्टाफ के प्रस्तावों का प्रभाव अन्त में लाइन पर ही पड़ता है उन्हें सदैव यह सुनना पड़ता है कि वह करो और ऐसे करो। सहयोग करने की शिक्षा उन्हें दे दी जाती है। यदि वे सहायक के किसी परामर्श से सहमत नहीं होते तो उन्हें पुरातनपंथी कहा जाता है। अतः उनका मनोधैर्य बनाए रखने के लिए सहायक की अपेक्षा उन्हें अधिक सहानुभूति की आवश्यकता होती है।

2. **स्टाफ की अनावश्यक आग्रह-व ति पर नियंत्रण रखना (Staff Pushiness should be Controlled):** अपने प्रस्ताव कार्यान्वित कराने के लिए स्टाफ व्यक्तियों को कुछ सीमा तक आग्रही होना पड़ता है। किसी प्रस्ताव को अस्वीक त करने में लाइन कर्मचारियों को कोई श्रम नहीं करना पड़ता। वे प्रायः अपने काम को अपने ही ढंग से करना चाहते हैं। अतः स्टाफ के लिए आग्रही होना अनिवार्य हो जाता है। किन्तु कभी-कभी वे अव्यावहारिक प्रस्ताव भी स्वीकृत कराने का आग्रह कर सकते हैं जिन्हें बाद में निरस्त करना पड़ता है। अतः उच्च अधिकारी को स्टाफ के अव्यावहारिक प्रस्तावों पर आग्रह करने की प्रव त्ति पर नियंत्रण रखना चाहिए।

3. **स्टाफ व्यक्ति को अपील का अधिकार देना (Give staff man right to appeal):** यद्यपि स्टाफ व्यक्ति से यह आशा की जानी चाहिए कि वह लाइन को आदेश न दे, बल्कि अपने प्रस्ताव की स्वीकृति प्राप्त करें। किन्तु लाइन कर्मचारी इस स्थिति का दुरुपयोग भी कर सकते हैं और स्टाफ के लाभकारी प्रस्तावों से भी अकारण असहमत हो सकते हैं क्योंकि प्रत्येक परियोजना के फलस्वरूप कुछ-न-कुछ तो उन्हें अपनी गतिविधियों में परिवर्तन करना ही पड़ता है जिससे वे प्रायः बचना चाहते हैं। अतः स्टाफ व्यक्ति को उच्च अधिकारी के समक्ष अपील का अधिकार अवश्य प्राप्त होना चाहिए।

4. **स्टाफ की प्रव त्ति आदेश देने की नहीं, बल्कि अनुमोदन पाने की होना (Staff should sell, not tell):** उच्च अधिकारी को यह देखना चाहिए कि लाइन कर्मचारी को आदेश देकर अपना प्रस्ताव कार्यान्वित कराने की चेष्टा न करें, बल्कि उनकी स्वेच्छित स्वीकृति प्राप्त करें। इससे स्टाफ व्यक्ति सही मनःस्थिति में बने रहते हैं। उनमें सेवाधाम का विकास होता है और यह स्मरण रहता है कि उनका कार्य अपने विचारों का इस ढंग से स्पष्टीकरण करना है कि लाइन अधिकारी उन्हें समझें और स्वीकार करें। इसके लिए उसे अपने विचारों का औचित्य दर्शाना होगा, उन्हें स्वीकार करने के लाभ बताने होंगे तथा मूल व्यक्तियों की शंकाओं का समाधान करना होगा और यदि आवश्यक हुआ तो अपने विचारों में संशोधन करना होगा। इसका प्रमुख लाभ यह है कि उसे मूल कर्मचारियों का सहयोग, जो कि उसके विचारों को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक है, प्राप्त हो सकेगा।

5. **लाइन कर्मचारी के कार्यक्षेत्र को घटनो की प्रक्रिया दीर्घकालीन, मंद तथा विकासपरक होना (Reduction in line job scope should be a long-term, slow and evolutionary process):** स्टाफ की व्यवस्था से लाइन कर्मचारी के कार्यक्षेत्र में कमी होती है। लाइन व्यक्तियों को अपना कार्यक्षेत्र घटाना प्रायः असह्य होता है। अतः स्टाफ की व्यवस्था द्वारा उनके कार्यक्षेत्र को घटाने की प्रक्रिया दीर्घकालीन, मंद तथा विकासपरक होनी चाहिए ताकि उसकी कटुता का उन्हें अनुभव न हो सके। यदि कोई लाइन कर्मचारी किसी कार्य को ठीक ढंग से करने में असमर्थ हो तो वह कार्य तत्काल हटा लेना चाहिए क्योंकि व्यवसायिक संस्थाओं के लिए अकुशलतापूर्वक कार्य किया जाना बहुत महंगा पड़ता है।

6. **निम्नवर्ती लाइन कर्मचारियों को स्टाफ द्वारा युक्तिपूर्वक निर्देश दिये जाना (Staff direction at bottom levels):** निम्नवर्ती लाइन कर्मचारियों को आदेश-श्रंखला के सिद्धान्त के अनुसार फोरमैन द्वारा ही आदेश दिए जाने चाहिए। किन्तु कभी-कभी स्टाफ अधिकारियों के लिए यह आवश्यक होता है कि वास्तविक कार्यकरण के स्थल पर प्रत्यक्ष उपस्थित होकर लाइन कर्मचारियों को निर्देशित करें। इस प्रकार के निर्देश यथासंभव फोरमैन की अनुपस्थिति में दिये जाने चाहिए

ताकि उसके अधिकार एवं उत्तरदायित्व की भावना का ह्रास न हो। यदि फोरमैन की उपस्थिति में ही लाइन-कर्मचारियों को कोई महत्वपूर्ण निर्देश देना हो तो सर्वप्रथम फोरमैन की सलाह देनी चाहिए। निषोधात्मक अत्यंत महत्वपूर्ण निर्देश फोरमैन की उपस्थिति में भी उससे बगैर पूछे दिए जा सकते हैं, यथा सुरक्षा-इंजीनियर द्वारा किसी खतरा उत्पन्न करने वाली मशीन को बन्द करने का आदेश देना। फोरमैन की अनुपस्थिति में उसके अधीनों को दिये गये निर्देशों की सूचना से, फोरमैन के लौटने पर उसे अवगत कराना चाहिए।

7. **पारस्परिक सम्मान तथा सद्भाव (Mutual respect and recognition):** आदर्श रूप में, लाइन तथा स्टाफ, दोनों को ही एक-दूसरे का सम्मान करना चाहिए तथा सद्भावानापूर्वक कार्य करना चाहिए। ऐसा होने पर ही ये दोनों अपनी कंपनी की संपन्नता में योगदान कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, लागतों पर नियंत्रण रखने के लिए सहायक (औद्योगिक इंजीनियर) तथा मूल (फोरमैन) दोनों का सहयोग अपेक्षित है। स्टाफ को चाहिए कि लाइन द्वारा उत्तम कार्य किये जाने पर स्वयं उसका श्रेय लूटने का प्रयास न करें, भले ही उनका कार्य स्टाफ द्वारा दिये गये सुझाव अपनाने के फलस्वरूप ही उच्च कोटि का क्यों न हुआ हो। दोनों को एक-दूसरे से मिलकर रहने तथा एक-दूसरे के सीखने की भावना से प्रेरित होकर कार्य करना चाहिए।

8. **समस्या सुलझाने में समूह-प्रणाली का उपयोग करना (Make use of group problem solving):** स्टाफ का प्रायः अनुभव है कि वे काफी परिश्रम से किसी समस्या का हल खोजते हैं, किन्तु लाइन कर्मचारी उसे अपनाने में सहयोग नहीं देते। यह कठिनाई कुछ सीमा तक समस्या सुलझाने की समूह-प्रणाली अपना कर दूर की जा सकती है। लाइन तथा स्टाफ व्यक्तियों की एक समिति द्वारा समस्या का हल खोजे जाने पर यद्यपि समस्या का हल खोजने का अधिकांश कार्य स्टाफ व्यक्ति ही करते हैं तथापि वे हल उनके न होकर समिति के कहलायेंगे। अतः वे लाइन कर्मचारियों को अधिक मान्य होते हैं।

सहायक एजेंसियां
(Auxiliary Agencies)

फिफनर स्टाफ तथा सहायक एजेंसियों में कोई अन्तर नहीं समझता। सहायक एजेंसियों को वह 'स्टाफ' में ही सम्मिलित कर लेता है। उसके अनुसार तीन प्रकार की स्टाफ सेवाएं हैं-सामान्य स्टाफ, तकनीकी स्टाफ तथा सहायक स्टाफ। सामान्य स्टाफ वह है जो मुख्य कार्यकारी अधिकारी की सहायता परामर्श देकर, सूचना इकट्ठी करके, अनुसंधान करके तथा आवश्यक तथा अनावश्यक मामलों में अन्तर करके करता है तकनीकी स्टाफ में वे अधिकारी तथा यूनिट शामिल हैं जो विभिन्न प्रशासनिक विभागों के सांझे कार्य जो फुटकर प्रकार के हैं। विलोबाई इन्हें ''संस्थात्मक (Institutional) अथवा ''हाऊस कीपिंग'' कार्य कहता है। गाऊस इन्हें ''सहायक तकनीकी स्टाफ सेवाओं'' (Auxiliary technical staff service) की संज्ञा देता है। एल.डी. ह्वाईट इन्हें 'सहायक सेवाओं' (Auxiliary services) के नाम से पुकारता है। विलोबाई तथा ह्वाईट के अनुसार इन्हें ''स्टाफ'' नहीं करना चाहिए क्योंकि ये उस तरह का कोई कार्य नहीं करती जिस प्रकार का ''स्टाफ'' करता है। वह विभागों के प्रति हाऊस कीपिंग प्रकार की सेवा करता है।

सहायक एजेंसियाँ लोगों की सेवा न करके लाइन एजेंसियों की सेवा करती हैं। वे सभी विभागों के सांझे कार्य करती है। लाइन एजेंसी के पास उन प्राथमिक कार्यों को करने के लिए जिन के लिए यह विद्यमान है, एक संयंत्र (Plant) होना चाहिए, अपने कर्मचारियो की भर्ती के लिए इस एक प्रणाली स्थापित करनी चाहिए, इसे संविदा (Contracting), खरीद, भण्डारण तथा वितरण सम्बन्धी कार्य करना चाहिए। कुछ ही समय पूर्व प्रत्येक विभाग ये कार्य प थक-प थक करते थे अर्थात् अपना लेखा आप रखते थे, अपनी निधि अपने हाथ में रखते थे, अपनी सप्लाई तथा उपस्कर आप खरीदते थे तथा अपने संविदा (Contracts) स्वयं करते थे। किन्तु आज लोक प्रशासन में कार्यों के विशेषीकरण के कारण इन कार्यों को प थक एजेंसियों नामतः सहायक एजेंसियों के अधीन संगठित करना वांछनीय समझा गया है।

सहायक एजेंसियों के लाभ (Advantages of Auxiliary Agencies): सहायक एजेंसियों के रूप में प थक संगठनात्मक यूनिट स्थापित करने से निम्नलिखित लाभ होते हैं:

1. ''लाइन'' एजेंसियों के अधिकारियों को पूरी तरह अपने उस कार्य को करने का समय मिल जाएगा जिसका करना उनकी प्राथमिक जिम्मेदारी तथा उन्हें उन कार्यों से मुक्ति मिल जाएगी जो उनके प्राथमिक दायित्व से संबंधित नहीं हैं।

2. इस प्रणाली से कार्यों की निपुणता सुनिश्चित हो जाती है तथा यह वांछनीय है कि यदि कार्य कुशलतापूर्वक किया जाना है तो उन व्यक्तियों को सौंपा जाए तो उस क्षेत्र में निपुण हों।
3. इससे प्रशासन में मितव्ययता आती है क्योंकि कार्य का दोहराव दूर हो जाता है। एक सहायक एजेंसी सभी विभागों का सांझा कोई विशेष कार्य कर देती है जिससे समय तथा धन बचता है, जैसे छपाई तथा लेखन सामग्री विभाग सभी विभागों का छपाई कार्य करता है।
4. इस प्रणाली से सहायक कार्यों का निकटतर पर्यवेक्षण सुनिश्चित हो जाता है। सुधरे हुए ढंग भी अपनाये जा सकते हैं क्योंकि प्रत्येक एजेंसी केवल एक ही कार्य से सम्बन्धित होती है।
5. इससे कार्यक्षेत्र विस्त त हो जाता है तथा यूनिट लागत कम हो जाती है जैसे कि बड़े पैमाने की खरीद में तथा भण्डार आदि में।

सहायक एजेंसियों के अवगुण
(Disadvantages of Auxiliary Agencies)

सहायक एजेंसियों की निम्नलिखित आधारों पर निंदा की गई है-

1. सहायक एजेंसियों की स्थापना से विभाग बिखर जाते हैं, जिससे लाइन एजेंसियों का उत्तरदायित्व कम हो जाता है।
2. सहायक एजेंसियाँ 'लाइन' एजेंसियों के अधिकार-क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकती हैं जिससे दोनों में तनाव पैदा हो सकता है।
3. सहायक एजेंसियाँ लाइन एजेंसियों के उद्देश्यों को पीछे धकेल कर तथा जनकल्याण आदि प्रश्नों पर ध्यान न देकर मितव्ययता तथा केवल एकरूपता पर अधिक बल देना शुरू कर देती हैं।
4. कई बार सहायक एजेंसियों के साथ लंबे पत्र-व्यवहार के कारण अपेक्षित वसतुएँ अथवा सेवाएँ बड़ी देर से प्राप्त होती हैं, उदाहरणार्थ विद्यार्थियों को लोक सेवा आयोग द्वारा चुने जाने वाले प्राध्यापक का न मिलना अथवा महाविद्यालय के कार्यालय को मुद्रण तथा लेखन-सामग्री विभाग से लेखन-सामग्री का प्राप्त न होना। यह कई बार घटित होता है कि भवन के लिए वित्त विभाग द्वारा स्वीकृत रकम को व्यय करने की तिथि बीत जाती है क्योंकि लोक निर्माण विभाग ने समय पर कार्य को हाथ में नहीं लिया।

सहायक एजेंसियों के अवगुणों पर विलार्ड एन. होगम (Willar N. Hogam) ने अच्छा प्रकाश डाला है। उसने यह तर्क दिया है कि इस प्रणाली से सत्ता तथा उत्तरदायित्व में विभाजन हो गया है; सहायक एजेंसियों ने अपनी उपादेयता के क्षेत्र से बाहर जाना शुरू कर दिया है तथा उन्होंने कार्यकर नीतियों तथा निर्णयों में रुकावट डालनी शुरू कर दी है।

अतः इस सम्बन्ध में कोई पक्का नियम नहीं है। एल.डी. व्हाईट के विचार में, ''सहायक एजेंसियाँ कार्यकारी शाखा में एकता लाने-अंशतः कार्यक्रम तथा नीति के नियंत्रण में तथा अंशतः प्रशासन के क्षेत्र में-का महत्त्वपूर्ण साधन हैं। बड़े उद्यम में ये कार्यकारी नेत त्व तथा प्रशासनिक एकीकरण के लिए आवश्यक बन गई हैं। किसी विशाल कार्यक्षेत्र वाले संगठन के कार्य-व्यापार को इन के बिना चलाना असंभव है। साथ ही मितव्ययता की द ष्टि से बड़े पैमाने पर सांझा कार्य करने से तथा विभिन्न प्रबंध क्षेत्रों में विशेषज्ञों के संचित अनुभव के कारण इनका स्पष्ट लाभ भी है। दूसरी ओर इसमें सन्देह नहीं है कि प्रबन्धकीय सेवाएँ अपना साम्राज्य बना कर लाइन एजेंसी के रास्ते में रुकावट डाल सकती हैं। इस जोखिम से निपटने के लिए न केवल उन पर आन्तरिक नियन्त्रण की आवश्यकता है बल्कि मुख्य कार्यकारी अधिकारी, जिसकी वे सेवा करते हैं, की ओर से भी कड़ा नियंत्रण रखने की आवश्यकता है।''

निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि किसी मामले से संबंधित सहायक एजेंसी स्थापित करते समय परिस्थितियों का निरीक्षण किया जाना चाहिए। ''उचित परिस्थितियों में इन्हें स्थापित किये जाने का पर्याप्त औचित्य होता है, किन्तु सीमान्त उपयोगिता बिन्दु के बाद लाइन विभाग की एकता तथा उत्तरदायित्व की भावना महत्त्वपूर्ण हो जाती है।'' हमें यह नहीं भूलना चाहिए किए सहायक एजेंसी का प्राथमिक कार्य सहायता देना है न कि नियन्त्रण करना।

सहायक एजेंसियों तथा लाइन एजेंसियों में अन्तर
(Distinction between Auxiliary Agencies and Line Agencies)

हमने 'लाइन' तथा सहायक एजेंसियों की परिभाषा पहले ही कर दी है। इस बात पर पुनः बल दिया जाता है कि लाइन एजेंसियाँ वे हैं जो नागरिकों को वे सेवाएँ प्रदान करती हैं जिनके लिए सरकार अवस्थित होती है। ये कार्यकलाप प्राथमिक अथवा प्रकार्यात्मक हैं। सहायक एजेंसियाँ ऐसी सेवाएँ उपलब्ध कराती है। जिनसे लाइन एजेंसियाँ सेवा के रूप में अच्छी प्रकार कार्य कर सकें। अन्तर के बिन्दु निम्नलिखित हैं:

1. लाइन एजेंसियाँ अपने आप में साध्य हैं जबकि सहायक एजेंसियाँ साधन मात्र हैं। वे विभागों की आवश्यकताओं को पूरा करने तथा उन्हें बनाये रखने के लिए जरूरी हैं।
2. सहायक एजेंसियाँ कभी भी लोगों पर विनियम लागू नहीं करती तथा लोगों को सेवा उपलब्ध नहीं कराती। वे विभागों की गौण शाखाएँ हैं। सार्वजनिक नीति को लागू करना विभागों का काम है।
3. लाइन एजेंसियाँ अपने आप में साध्य होने के कारण निष्पादित कार्य उनकी सेवा का प्रतिनिधित्व करता है। वहाँ मितव्ययता का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु सहायक कार्यकलापों में मितव्ययता सबसे प्रमुख बात होती है। ये कार्यकलाप केवल सरकारी खर्च में मितव्ययता लाने के लिए हाथ में लिए जाते हैं।
4. लाइन एजेंसियों की कार्यकुशलता तथा सफलता सहायक एजेंसियों के कार्यों को उचित ढंग से निभाने पर निर्भर है। प्रशासन की सफलता इस बात पर निर्भर है कि लोक सेवा आयोग किस तरह के कर्मचारी चुनता है। इसी प्रकार यदि ये एजेंसियाँ शीघ्रता तथा कुशलता से कार्य नहीं करतीं तो लाइन एजेंसियों द्वारा कार्यनिष्पादन में भी देरी तथा अकुशलता आ जाएगी।
5. लाइन एजेंसियों में संगठन तथा क्रियाविधि की समस्याएँ प्रत्येक केस से भिन्न-भिन्न होती हैं जबकि सहायक एजेंसियों की समस्याएँ यदि एकरूप न हों तो समान होती हैं। विदेशी मामलों के विभाग का संगठन तथा क्रियाविधि शिक्षा विभाग के संगठन तथा क्रियाविधि से भिन्न होती है।

स्टाफ एजेंसियों तथा सहायक एजेंसियों में अन्तर
(Difference between Staff Agencies and Auxiliary Agencies)

स्टाफ एजेंसियाँ, जैसा कि ऊपर कहा गया है, लाइन एजेंसियों की सहायता करती हैं तथा उन्हें परामर्श देती हैं। उनका मुख्य कार्य कार्यकारी अधिकारी को परामर्श देना है। प्राथमिक कार्य करने का इनका कोई उत्तरदायित्व नहीं है। स्टाफ एजेंसियों तथा सहायक एजेंसियों में निम्नलिखित अन्तर देखा जा सकता है:

1. सहायक एजेंसियाँ वे हैं जो आपरेटिंग कार्य करती है, जैसे सामग्री खरीदना, कर्मचारी भर्ती करना, लेखा रखना, भण्डार रखना तथा सप्लाई आदि करना। किन्तु स्टाफ एजेंसियाँ केवल विचार करने, निरीक्षण करने, योजना बनाने तथा परामर्श देने का कार्य करती हैं। वे आपरेटिंग कार्य नहीं करती बल्कि कार्यकारी अधिकारी द्वारा मांगे जाने पर उसे परामर्श देती हैं।
2. द्वितीय, सहायक एजेंसियां विद्यमान विभागों तथा उनकी गतिविधियों के अनुरक्षण से सम्बन्धित हैं। उनका नीतियों से संबंध नहीं होता। दूसरी ओर स्टाफ एजेंसियाँ संगठन में तथा विभाग की विधियों में सुधार लाने से संबंधित हैं। वे वर्तमान नीतियों में सुधार का सुझाव देती हैं तथा भविष्य के लिए योजना बनाती हैं जैसे योजना आयोग भारत की आर्थिक नीति से सम्बन्धित है। यह सरकार की भविष्य की योजना के बारे में परामर्श देता है तथा योजना के खर्च को पूरा करने के लिए सरकार को संसाधनों के बारे में परामर्श देता है। इसी प्रकार केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड सरकार को शैक्षणिक मामलों पर सलाह देता है। सहायक एजेंसियाँ इस प्रकार का परामर्श सम्बन्धी कोई कार्य नहीं करतीं।

   दोनों एजेंसियां इस अर्थ में समान हैं कि दोनों 'लाइन' एजेसियों को प्राथमिक दायित्वों के निष्पादन में सहायता एवं सुविधा प्रदान करती हैं।

अध्याय-16
संगठन : औपचारिक और अनौपचारिक
(Formal & Informal Organization)

निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मनुष्यों तथा सामग्री का उचित संगठन तथा निर्देशन करने को ही प्रशासन कहा जाता है। प्रशासन एक तर्कशील क्रिया है। उद्देश्य की प्राप्ति का यह ऐसा यंत्र है, जिसमें तर्कशील ढंग से साधन जुटाये जाते हैं। प्रशासन में किसी निश्चित ध्येय की पूर्ति के लिए अनेकों व्यक्ति मिलकर प्रयास करते हैं, परन्तु उनका प्रयास यदि एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार होगा तो वे निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति कर सकेंगे, नहीं तो उनका यह प्रयास विफल हो जाएगा। इसलिए यह आवश्यक है कि किसी भी कार्य को आरंभ करने से पहले उसको अच्छी तरह नियोजित कर लिया जाये। इसी को संगठन कहते हैं। संगठन समस्त प्रशासन की पूर्व क्रिया है। इसके बिना किसी प्रकार के प्रशासन का अस्तित्व संभव नहीं है। इसलिए किसी भी देश के प्रशासन को चलाने के लिए संगठन का होना अत्यावश्यक है। प्रशासन की सफलता केवल उसके कर्मचारी वर्ग की दक्षता तथा कार्यकुशलता पर निर्भर नहीं करती, बल्कि उसके समुचित संगठन पर निर्भर करती है। वास्तव में संगठन ही प्रशासन का महत्त्वपूर्ण आधार है।

संगठन के अर्थ
(Meaning of Organization)

संक्षिप्त ऑक्सफोर्ड शब्दकोष (Concise Oxford Dictionary) के अनुसार, किसी चीज का व्यवस्थित ढांचा बनाना अथवा किसी चीज का आकार निश्चित करना तथा उसको कार्य करने की स्थिति में लाना ही संगठन कहलाता है। 'संगठन' शब्द का प्रयोग लोक प्रशासन में तीन विभिन्न अर्थो में किया जाता है-

1. प्रशासकीय ढांचे का प्रारूप (Design) तैयार करने का कार्य;
2. प्रारूप तैयार करने तथा उसका निर्माण करने की क्रियाएं, अर्थात् ढांचे की व्यवस्था की योजना की तैयारी तथा उसके लिए उपयुक्त कर्मचारी वर्ग की नियुक्ति; तथा
3. नियोजन तथा संरचना के फलस्वरूप बनने वाला प्रशासकीय ढांचा।

स्पष्टता तथा सुनिश्चतता की द ष्टि से कुछ एक विचारक 'संगठन' शब्द को केवल पहले अर्थ तक ही सीमित रखना चाहते हैं। उरविक (Urwick) ने कहा है कि संगठन का अर्थ ढांचे का रूपांकन (Designing) मात्र ही होना चाहिए। उसने मोटरकार की उपमा देते हुए यह बताया कि संगठन से तात्पर्य ढांचे के रूपांकन से ही समझा जाना चाहिए तथा उस से संगठन के ढांचे अथवा प्रशासकीय ढांचे का अर्थ लेना ठीक नहीं है। उरविक ने संगठन को, "किसी विशेष प्रयोजन के लिए अपेक्षित क्रियाओं का निर्धारण तथा ऐसे वर्गो में बाँटना कि वे अलग-अलग लोगों को दी जा सके" कहा है।

उरविक (Urwick) संगठन के मानवीय पक्ष का वर्णन नहीं कर सका जो इसका केन्द्रीय तत्त्व है। इसलिए अन्य विचारक उरविक द्वारा संगठन की व्याख्या को नहीं मानते। वे इस शब्द का अधिक व्यापक अर्थ में प्रयोग करते हैं। कुछ अन्य विचारकों द्वारा की गई संगठन की परिभाषाएं निम्नलिखित हैं-

जे० डी० मूने (J.D. Mooney) के अनुसार, "एक सामान्य ध्येय की प्राप्ति के लिए बनाए गए प्रत्येक मानवीय समुदाय का स्वरूप संगठन है।"

ई० एन० ग्लेडन (E.N. Gladden) के मतानुसार, "संगठन का सम्बन्ध किसी उद्यम में लगे हुए व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्धों के उस आकार अथवा रूप से है, जिसका निर्माण इस प्रकार किया जाना चाहिए कि जिससे उस उद्यम के कार्यों को पूरा किया जा सके।"

एल० डी० ह्वाईट (L.D. White) के अनुसार, "किसी निश्चित ध्येय की प्राप्ति के लिए कार्यों तथा दायित्वों के विनिधान (Allocation) के द्वारा कार्मिक को व्यवस्था प्रदान करने का कार्य संगठन कहलाता है।"

लूथर गुलिक (Luther Gullick) के अनुसार, "संगठन सत्ता का वह औपचारिक ढांचा है, जो निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कार्य-उपविभागों को व्यवस्थित, परिभाषित तथा समन्वित करता है।"

फिफनर (Pfiffner) के अनुसार, "व्यक्ति और व्यक्ति तथा समुदायों के उन पारस्परिक सम्बन्धों को संगठन कहते हैं, जिनके द्वारा श्रम का व्यवस्थित विभाजन किया जाता है।"

साइमन (Simon) के अनुसार, "संगठन नामक सूत्र से हमारा अभिप्राय सहकारी कार्यों की उस नियोजित व्यवस्था से है, जिसमें प्रत्येक भागीदार (Participant) का कार्य, उसके कर्त्तव्य तथा दायित्व सुनिश्चित हों।"

प्रो० गॉस (Prof. Gaus) ने संगठन में मानवीय तत्त्व के महत्त्व को विशेष रूप से प्रमुखता देते हुए कहा है, "किसी सामूहिक कार्य में लगे हुए व्यक्तियों तथा वर्गों के प्रयत्नों एवं उनकी क्षमताओं को ऐसे तरीके से परस्पर सम्बन्धित करने का नाम ही संगठन है, जिससे कि कम-से-कम संघर्ष पैदा हुए वांछित उद्देश्य पूरे हो सकें और उन लोगों को, जिन के लिए कि वह कार्य किया जा रहा है तथा उनको जो उस उद्यम अथवा कार्य में लगे हैं, अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो सके।"

उपरोक्त परिभाषाओं के विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि संगठन स्वतन्त्र भागों को प्रणाली-बद्ध ढंग से एकत्रित करने का नाम है, ताकि वे एकीक त रूप धारण कर सकें। यह एक संरचनात्मक (Structural) प्रबन्ध है, जिसके द्वारा किसी निश्चित उद्देश्य के लिए कार्य का विभाजन किया जाता है, उसको क्रमबद्ध किया जाता है, उसको प्रकट किया जाता है तथा उसको समन्वयबद्ध किया जाता है। कर्मचारी वर्ग के कार्य तथा उत्तरदायित्व इस प्रकार व्यवस्थित कर दिए जाएं कि वे उस उद्देश्य को पूरा कर सकें, जिसके लिए वे एक साथ मिलने को सहमत हुए थे। जब कभी भी कुछ व्यक्ति कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एक साथ मिलते हैं तो उन्हें एक आयोजनबद्ध ढंग से कार्य करना होता है। उनके कर्त्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों का प थक्-प थक् निर्धारण कर दिया जाता है तथा उनकी क्रियाओं में समुचित रूप से समन्वय स्थापित कर दिया जाता है। इसी प्रक्रिया को संगठन कहा जाता है।

संगठन के प्रकार
(Kinds of Organization)

संगठन दो प्रकार का होता है-

1. औपचारिक संगठन, तथा
2. अनौपचारिक संगठन।

1. **औपचारिक संगठन (Formal Organization):** औपचारिक संगठन उसे कहते हैं जिसमें संगठन का स्वरूप व्यवस्थित ढंग से नियोजित तथा रूपांकित किया गया हो तथा जिसको प्राधिकारी सत्ता (Competent Authority) द्वारा मान्यता दे दी गई हो। इस में सम्बन्धों का आकार औपचारिक रूप से चार्ट अथवा रेखाचित्र में निर्धारित कर दिया जाता है। ऐसे संगठन का विवरण संगठन-चार्ट तथा नियमावली (Manuals) में कर दिया जाता है। संगठन के ढांचे की योजना औपचारिक रूप से बना ली जाती है। उच्च तथा अधीनस्थ कर्मचारियों के सम्भावित सम्बन्धों का उल्लेख लिखित आचार संहिताओं (Codes of Conduct) में कर दिया जाता है। यह संगठन का वह स्वरूप है जो पर्यवेक्षक (Observer) को बाहर से दिखाई देता है। अमीताई एतजीउनी (Amitai Etzioni) के शब्दानुसार, "औपचारिक संगठन वह है जो साधारण तौर पर उस संगठनात्मक ढांचे को प्रकट करता है, जो प्रबन्ध द्वारा तैयार किया जाता है तथा जिसमें श्रम के विभाजन तथा नियन्त्रण की शक्ति का खाका, श्रम, दंड, आचरण, नियन्त्रण आदि से सम्बन्धित नियम तथा विनियम शामिल होते हैं।"
2. **अनौपचारिक संगठन (Informal Organization):** जो संगठन, उसमें कार्य करने वाले कर्मचारी वर्ग के वास्तविक व्यवहार के नमूने के आधारित होता है, वह अनौपचारिक संगठन कहलाता है। जब कर्मचारी एक साथ कार्य करते हैं

तो उनमें परस्पर एक भावात्मक तथा व्यक्तिगत सम्बन्ध का विकास होता है। यह औपचारिक सम्बन्ध से विपरीत हो सकता है। इसे संगठन में अनौपचारिक सम्बन्ध के नाम से पुकारा जाता है। यह हो सकता है कि उच्च तथा अधीनस्थ कर्मचारियों का वास्तविक सम्बन्ध व्यवहार में वैसा न घटित हो, जैसा कि लिखित आचार-संहिताओं के द्वारा आशा की जाती है। कार्य में लगे हुए कर्मचारी वर्ग का यह वास्तविक सम्बन्ध (Actual Relationship) ही अनौपचारिक संगठन है। व्यक्तिगत समीकरण (Personal Equation), मानवीय प्रक ति के अविवेक-प्रधान तत्त्व (Irrational Element of Human Nature), समूह तथा निहित हितों वाली शक्तियां आदि अनेक तत्त्व मिल कर संगठन को उसकी निर्धारित कार्यविधि से अलग कर देते हैं। चूंकि किसी संगठन में कार्य करने वाले विभिन्न कर्मचारियों के व्यक्तित्व भी भिन्न-भिन्न होते हैं, इसलिए इसी कारण से ही अनौपचारिक संगठन की उत्पत्ति होती है, परन्तु मानवीय स्वभाव के कुछ स्थायी लक्षण भी होते हैं, जिनको वास्तविक संचालन के समय आंख से औझल नहीं किया जा सकता, जब कि मनुष्य के कार्यो के विस्तार का पूर्ण अनुमान नहीं लगाया जा सकता, परन्तु कुछ विशाल उत्तेजनाएं होती है, जो इसके व्यवहार पर विशेष प्रभाव डालती हैं। ऐसे प्रभाव के महत्त्वपूर्ण प्राप्ति, तथा सम्बन्धित तत्त्व इस प्रकार होते हैं-मानवीय सम्मान की भावना, मानवीय प्राप्ति, सुरक्षा तथा एक अच्छा जीवन स्तर व्यतीत करने की भावना आदि। इस प्रकार यह तत्त्व कर्मचारियों को संगठन में एक टीम की भान्ति कार्य करने के लिए प्रेरित करते हैं। इसलिए अनौपचारिक संगठन को उन वास्तविक संगठनात्मक सम्बन्धों का नाम दिया जा सकता है, जो संगठनात्मक ढांचे तथा इस में कार्य करने वालों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों के दबाव में अन्तर्क्रिया के परिणामस्वरूप विकसित होते हैं। साइमन (Simon) के अनुसार अनौपचारिक संगठन से यह आशय है कि, "संगठन में अन्तर्व्यक्तीय सम्बन्ध (Inter-personal Relations) होने चाहिए तथा यह संगठन के आन्तरिक निर्णयों को प्रभावित करते हैं, किन्तु ये बातें औपचारिक योजना में नहीं होती हैं अथवा इस योजना से मेल नहीं खाती है।" संगठन का कर्मचारी-वर्ग यथार्थ में जैसा व्यवहार करता है, उस वास्तविक आचरण का अनौपचारिक संगठन एक पूर्ण नमूना होता है, परन्तु यह तभी तक है जब तक कि वास्तविक व्यवहार औपचारिक योजना से एक मेल नहीं हो जाता।

औपचारिक संगठन (Formal Organisation)

संगठन के सिद्धान्त का विकास करते समय विद्वानों ने औपचारिक और अनौपचारिक संगठन की भूमिका पर भी पर्याप्त ध्यान दिया है। औपचारिक संगठन जानबूझकर सोच-समझकर बनाया जाता है और इसे सक्षम अधिकारियों की मंजूरी प्राप्त होती है। इस संगठन के ढाँचे को सूचीबद्ध किया जा सकता है या नियम पुस्तिकाओं और नियमों से स्पष्ट किया जा सकता है। यह संगठन बाहर से जैसा दिखाई देता है वैसा ही होता है। हर संगठन में ढाँचे की एक सूची होती है। एक उदाहरण देखिए:

खाद्य और क षि विभाग

मंत्री
↓
सचिव
↓
संयुक्त सचिव
↓
उप सचिव
↓
सहायक/अवर सचिव
↓
अनुभाग अधिकारी/अधीक्षक
↓
वरिष्ठ सहायक
↓
कनिष्ठ सहायक

चेस्टर बर्नार्ड के अनुसार संगठन दो या दो से अधिक व्यक्तियों की गतिविधियों या शक्तियों में सोचे-समझे तालमेल की एक व्यवस्था है। बर्नार्ड की राय में व्यक्ति एक संगठन में काम करने को इसलिए राजी हो जाते हैं क्योंकि वे अपनी सेवाएँ देने और बदले में कुछ लाभ प्राप्त करने को तैयार होते हैं। डाक विभाग की कार्यप्रणाली इसका एक अच्छा उदाहरण है। आप तक डाक पहुँचाने के लिए कई परस्पर निर्भर गतिविधियाँ एक साथ काम करती है जैसे पत्रों की छंटाई, डाकियों का वितरण और फिर सम्बद्ध व्यक्ति के घर-दफ्तर तक डाक पहुँचाना। लुई एलन के अनुसार औपचारिक संगठन "हर व्यक्ति के लिए निश्चित कार्यो की ऐसी व्यवस्था है जिसमें हर व्यक्ति के अधिकार, जिम्मेदारी और जवाबदेही स्पष्ट होती है। यह सारी व्यवस्था ऐसी होती है कि इसमें कार्यरत व्यक्ति अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सबसे कारगर ढंग से मिलकर काम करते हैं।"

अतः औपचारिक संगठन में संगठन का एक निश्चित स्वरूप होता है, निर्णय लेने क विभिन्न स्तर स्पष्ट होते हैं, कार्यो और दायित्वों का बँटवारा होता है और कार्यानिष्पादन व्यवस्थित ढंग से होता है।

औपचारिक संगठन की विशेषताएँ (Features of Formal Organization)

औपचारिक संगठन के जरिए निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सुनियोजित प्रयास किए जाते हैं। इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं:

- कानूनी दर्जा
- कार्य के विभाजन
- ढाँचे की प्रधानता
- स्थायित्व
- नियम और व्यवस्थाएँ

इन विशेषताओं के अध्ययन से आप औपचारिक संगठनों के स्वरूप को भली प्रकार समझ सकेंगे।

कानूनी दर्जा (Legal Status)

औपचारिक संगठन की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसे कानूनी मान्यता प्राप्त होती है। सरकारी स्तर पर कोई संगठन बनाने के लिए संसद या विधान सभा को कानून बनाना पड़ता है। आयकर विभाग का गठन आयकर अधिनियम द्वारा किया गया। बम्बई, दिल्ली या हैदराबाद के नगर निगमों के गठन के लिए संबद्ध राज्यों के विधानमंडलों ने कानून बनाए। जीवन बीमा निगम, खाद्य निगम जैसे सार्वजनिक क्षेत्र के संगठनों का गठन संसद द्वारा पारित कानूनों के आधार पर किया गया।

जो कानून किसी संगठन को बनाने की अनुमति देना है वह उसे कुछ अधिकार भी देता है। विभिन्न विभागों के कर्मचारियों को अपने सरकारी कार्य के निष्पादन हेतु कुछ कानूनी अधिकार मिले होते हैं। उदाहरण के लिए व्यक्तियों या संगठनों की गतिविधियों पर नजर रखने वाली विभिन्न परिपालन एजेंसियाँ अपने अधिकारों के तहत की कार्रवाई करती है। अतः कानूनी दर्जा औपचारिक संगठन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

कार्य का विभाजन (Division of Work)

कार्य के विभाजन की बुनियाद पर ही संगठन का निर्माण होता है। यह विभाजन औपचारिक संगठन के जरिए होता है। औपचारिक संगठन में प्रबन्ध के स्तर, अधिकारियों के पद और उनके कार्यक्षेत्र स्पष्ट रूप से निर्धारित होते हैं अतः इसमें कार्य का विभाजन बहुत आसानी से हो जाता है। इससे संगठन कुछ कार्यो या गतिविधियों में विशेषज्ञता हासिल करके अपने लक्ष्यों को कारगर ढंग से हासिल करता है। इसके बारे में विस्तार से अगली इकाई में चर्चा की जाएगी। उदाहरण के लिए किसी संगठन का प्रबन्ध निदेशक उसके सभी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जिम्मेदार होता है। किन्तु अपने साथियों में काम बाँटे बिना अपनी जिम्मेदारी निभा पाना उसके लिए असम्भव है। काम का विभाजन होने पर विशेषज्ञता भी बढ़ती है क्योंकि हर इकाई का एक निश्चित कार्य होता है और अधिकारी उसमें विशेषज्ञता हासिल कर लेते हैं।

ढाँच की प्रधानता (Primacy of Structure)

औपचारिक संगठन में डिजाइन और ढाँचे को प्रधानता मिलती है। उर्विक के अनुसार ढाँचे का अभाव असंगति, क्रूरता, बर्बादी और अकर्मण्यता का प्रतीक है। ढाँचा बहुत स्पष्ट होता है और संगठन में कार्यरत व्यक्तियों की भूमिका भी निश्चित होती है। ढाँचे से सूचनाओं के आदान-प्रदान की व्यवस्था और सदस्यों के बीच संबंधों का भी पता चलता है।

स्थायित्व (Permanence)

औपचारिक संगठन अन्य संगठनों की अपेक्षा अधिक स्थाई होती है। यद्यपि वे परिस्थितियों के अनुसार अपना ढाँचा और उद्देश्य भी बदल लेते हैं किन्तु सामान्यतः उनका गठन लम्बे समय के लिए ही किया जाता है। औपचारिक संगठन स्थाई होने के अलावा समय के साथ-साथ विकसित भी होते जाते हैं।

नियम और व्यवस्थाएँ (Rules and Regulations)

औपचारिक संगठन की एक ओर महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इस प्रकार के संगठन सुविचारित नियमों और व्यवस्थाओं के अनुसार कार्य करते हैं। औपचारिक संगठनों में कार्यरत अधिकारी अपनी पसंद-नापसंद से फैसले नहीं कर सकते बल्कि व निर्धारित नियमों और व्यवस्थाओं के ढाँचे के भीतर ही काम करते हैं। उदाहरण के लिए यदि किसी बैंक को एक उद्यमी को ऋण देना है तो ऋण की स्वीक ति से संबद्ध नियमों और व्यवस्थाओं का पालन होना चाहिए और उद्यमियों को हर शर्त पूरी करनी चाहिए। ऋण स्वीक त करने वाले अधिकारी इन नियमों और व्यवस्थाओं का सख्ती से पालन करते हैं। नियमों और व्यवस्थाओं से अधिकारियों का अधिकार क्षेत्र सीमित हो जाता है।

औपचारिक संगठन के क्रियाकलाप (Functions of Formal Organisation)

औपचारिक संगठन अनेक कार्य करते हैं। सबसे पहले तो वे लक्ष्यों और उद्देश्यों के निर्धारण में सहायता करते हैं। इसके बिना लोगों की शक्ति और योग्यता का कार्य विशेष के लिए उपयोग करना कठिन होगा। उदाहरण के लिए डाक विभाग का उद्देश्य देश के नागरिकों तक जल्दी और कारगर ढंग से डाक, पहुँचना है। रक्षा मंत्रालय का उद्देश्य हर तरह के बाहरी आक्रमण से देश की प्रभुसत्ता और अखंडता की रक्षा करना है।

औपचारिक संगठन में संगठन के भीतर विभिन्न इकाइयों की गतिविधियों का स्वरूप और विस्तार निश्चित होता है। रक्षा मंत्रालय के अन्तर्गत सेना, नौसेना और वायुसेना को क्रमशः जमीन, समुद्र और हवा में देश की सीमा की रक्षा की भूमिका सौंपी गई है।

औपचारिक संगठनों का एक और महत्त्वपूर्ण कार्य है तालमेल या समन्वय रखना। उदाहरण के लिए थाने का सब-इंस्पेक्टर कई हैडकांस्टेबलों की गतिविधियों में तालमेल रखता है। हर थाना एक सब-इंस्पेक्टर के सुपुर्द होता है। ऊँचे स्तर का प्रत्येक अधिकारी अपने एकदम अधीनस्थ अधिकारियों की गतिविधियों में तालमेल रखता है।

एलन के अनुसार औपचारिक संगठन सीमाएँ, दिशा निर्देश और नियम बनाते हैं जिनका पालन करना आवश्यक होता है। वे ऐसा बुनियादी ढाँचा सुलभ कराते हैं जिसके जरिए सरकार या कोई और उद्यम कार्य करता है। औपचारिक संगठन की उल्लेखनीय विशेषता है अवैयक्तिक संबंध। अर्थात् इसके सदस्यों के सम्बन्धों में कोई लगाव या भावनात्मक एकता नहीं होती। इन संबंधों के कारण विभिन्न मसलों की जाँच तटस्थ तथा निष्पक्ष भाव से होती है और मामले के गुण-दोष के आधार पर फैसले लिए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए अदालत में न्यायाधीश के सामने रखे गए सबूतों के आधार पर फैसले दिए जाते हैं किसी और आधार पर नहीं वित्तीय मामलों में जमा-खर्च की जाँच करने वाले ऑडिटर को वित्तीय नियमों, रसीदों, बाउचर और दस्तावेजी सबूतों के आधार पर सही-गलत का फैसला करना चाहिए।

अनौपचारिक संगठन (Informal Organisation)

किसी भी संगठन को पूरे तौर पर समझने के लिए हमें उसके अनौपचारिक ढाँचे पर भी ध्यान देना चाहिए। अनौपचारिक ढाँचे को कोई औपचारिक मान्यता तो नहीं मिलती लेकिन यह औपचारिक ढाँचे का पूरक होता है। चेस्टर बर्नार्ड ने औपचारिक संगठन की तरह अनौपचारिक संगठन के महत्त्व पर भी प्रकाश डाला है। उसके अनुसार अनौपचारिक संगठन व्यक्तिगत सम्पर्को, परस्पर क्रियाओं और लोगों के सामूहिक संघों का समूह होता है। अनौपचारिक संगठन को किसी संगठन में कार्यरत लोगों के वास्तविक व्यवहार का प्रारूप भी बताया गया है। औपचारिक संगठन में जहाँ ढाँचे को महत्त्व दिया गया है, वही अनौपचारिक संगठन में व्यक्तिगत और मानवीय भावनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। प्रमुख अधिकारियों के बीच वरिष्ठ अधीनस्थ के संबंधों पर अधीनस्थ कर्मचारियों के प्रभावशाली व्यक्तित्व या शक्तिशाली सम्पर्को का असर पड़ सकता है।

अधिकांश प्रशासक अनौपचारिक ढाँचे की अनिवार्यता के प्रति पूर्णतः सचेत हैं। सभी स्तरों के प्रशासक सामान्यतः संगठनों के भीतर या बाहर के एक या अधिक अनौपचारिक समूहों से जुड़े रहते हैं। राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री अपनी सहायता के लिए किचन

कैबिनेट बनाकर रखते हैं। इस समूह के सदस्य अक्सर प्रत्यक्ष और औपचारिक मंत्रिमंडलों और उनकी समितियों से अधिक प्रभावशाली होते हैं। हरेक संगठन में सूचना के आदान-प्रदान के औपचारिक माध्यमों के साथ-साथ, अधिकारी वर्ग, अनौपचारिक सम्पर्क माध्यमों पर भी भरोसा करते हैं। इन माध्यमों के जरिए प्रशासकों को इस बारे में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती है कि विभिन्न कार्यो और दायित्वों के बारे में अधिकारी वास्तव में क्या सोचते हैं। इसी तरह अधिकारियों को भी प्रशासकों के द ष्टिकोण की जानकारी मिलती रहती है।

अतः अनौपचारिक संगठनों को अक्सर प्रतिरूप संगठन और औपचारिक संगठनों की छाया माना जाता है। उनकी कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं है और ऐसा करना बहुत कठिन भी है। उनके कोई निश्चित संगठनात्मक लक्ष्य भी नहीं होते। अतः सदस्यों के परस्पर संबंध भी निश्चित नहीं होते। स्वतः स्फूर्त, गैर सरकारी और आकारहीन संबंधों से अनुकूल भावनाएँ उत्पन्न होती है। जिनसे परस्पर संपर्क बढ़ता है और जान-पहचान के बंधन मजबूत होते हैं। अनौपचारिक स्वरूप, लक्ष्यों के अभाव और आकारहीन संबंधों के कारण अनौपचारिक संगठनों में औपचारिक व्यवस्था के कानून कायदे काम नहीं आते।

अनौपचारिक संगठन क्यों? (Why Informal Organisation)

खण्ड 2 में हम चर्चा कर चुके हैं कि व्यक्तियों की अपनी जरूरतें और इच्छाएँ होती है जिन्हें वे पूरा करना चाहते हैं। औपचारिक संगठन अपने प्रत्येक सदस्य की सभी जरूरतों को पूरा नहीं कर पाते। अतः सदस्य अन्य साधनों से अपनी जरूरतों को पूरा करना चाहते हैं। इसी इच्छा से अनौपचारिक संगठनों का उद्‌भव होता है।

हिक्स और गुल्लेट ने अनौपचारिक संगठनों के गठन के अनेक कारणों का पता लगाया है। अब हम इन कारणों पर विचार करेंगे। पहला कारण यह है कि व्यक्ति अपनी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अनौपचारिक संगठनों में शामिल होते हैं। इकाई 13 में हम देख चुके हैं कि व्यक्ति को रिश्ते-नातों, संबंधों और साथ की चाह होती है। अगर ये इच्छाएँ पूरी न हों तो वह अकेलापन महसूस करता है और निराश हो जाता है। इसी तरह इकाई 10 में हमने मेयो (Mayo) की उस व्याख्या का भी अध्ययन किया जिसके अनुसार समूहों में काम करने वाले व्यक्ति अधिक संतुष्टि महसूस करते हैं। अतः अनौपचारिक संगठन व्यक्तियों की सामाजिक जरूरतों को पूरा करने के लिए बनाए जाते हैं।

जैसा कि चेस्टर बर्नार्ड ने कहा है, दूसरा कारण यह है कि व्यक्ति को सामाजिक संबंधों में व्यक्तिगत सुख मिलता है। इसे एकता, सामाजिक, अखण्डता या सामाजिक सुरक्षा कहते हैं। सामाजिक सम्पर्क के जरिए व्यक्ति अपनी पहचान और अपनत्व की चाह को सन्तुष्ट करता है। अनौपचारिक संगठनों में व्यक्ति को औपचारिक संगठनों की अपेक्षा अपनी क्षमताएँ साबित करने के अधिक अवसर मिलते हैं।

तीसरा कारण यह है कि हर व्यक्ति संगठनों में अपना काम करते-करते कुछ तनाव, कुछ निराशा अनुभव करता है। इससे छुटकारा पाने के लिए वह कुछ दया, कुछ सद्‌भावना चाहता है। यह सब उसे अनौपचारिक संगठनों से मिलता है। इनमें व्यक्ति अपनी निराशा, कुंठा को खुलकर अभिव्यक्त कर लेता है और उसे ऐसे मित्रों की सहानुभूति भी मिलती है जो पहले इस दौर से गुजर चुके होते हैं।

चौथा कारण यह है कि अनौपचारिक संगठनों में सदस्यों को अपने संगठनात्मक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भी सहायता मिल जाती है। विद्यार्थी को अपने साथी विद्यार्थियों की मदद मिल जाती है, संगठनों के सदस्यों को अपनी जिम्मेदारियाँ निभाने में अपने ही साथियों का सहयोग और मार्गदर्शन मिल जाता है।

पाँचवाँ कारण यह है कि अनौपचारिक संगठनों में व्यक्ति को अपनी रचनात्मक प्रतिभाओं की अभिव्यक्ति का अवसर मिलता है। ये संगठन स्वतःस्फूर्त प्रतिभा को बढ़ावा ही नहीं देते उसकी सुरक्षा भी करते हैं।

छठा कारण यह है कि प्रत्येक संगठन के कुछ मूल्य, कुछ आदर्श होते हैं जिनकी रक्षा प्रत्येक समूह को प्रिय होती है। इन मूल्यों को विकसित करके उनका प्रसार करना होता है। औपचारिक व्यवस्था में ऐसा कर पाना संभव नहीं है क्योंकि हो सकता हे कि व्यक्ति के मूल्य या आदर्श संगठन के मूल्यों के अनुरूप न हों। किन्तु अनौपचारिक संगठन में इसका पूरा अवसर मिलता है।

अन्तिम कारण यह है कि संगठन के सदस्य सदैव यह जानने को उत्सुक रहते हैं कि उनके संगठन में क्या कुछ घट रहा है। सूचना के औपचारिक माध्यम बहुत सुस्त होते हैं, कभी-कभी बहुत कम सूचना मिलती है या नहीं भी मिलती। अनौपचारिक

संगठन में विकसित सूचना माध्यम बहुत फुर्ती से काम करते हैं। इससे संगठन के सदस्यों को भावी घटनाओं की जानकारी पहले ही मिल जाती है और वे उसी के अनुसार खुद को ढाल लेते हैं।

अनौपचारिक संगठन की विशेषताएँ (Features of Informal Organisation)

अनौपचारिक संगठन की अनेक अनूठी विशेषताएँ हैं। सबसे पहली विशेषता तो यह है कि इन संगठनों के सदस्यों के सोचने-समझने और काम करने का तरीका एक सा है। लगातार सम्पर्क के कारण इनकी मान्यताएँ समान हो जाती है। इन समान मान्यताओं का जरा सा भी उल्लंघन करने वाले सदस्य को सामूहिक दबावों का सामना करना पड़ता है। और बिरादरी से बाहर किए जाने का खतरा रहता है। अतः अनौपचारिक संगठनों में व्यवहार के मानदण्डों को सख्ती से लागू किया जाता है।

दूसरे, अनौपचारिक संगठन में सदस्यों के लिए समूह द्वारा स्वीकार व्यवहार के मानदण्डों का पालन करना अनिवार्य होता है। चूंकि सदस्यों को उनके सम्पर्क से अपनापन मिलता है इसलिए वे समूह के नियमों का भी पालन करते हैं। इन नियमों के उल्लंघन पर दण्ड दिया जाता है, कभी-कभी बिरादरी से बाहर भी कर दिया जाता है।

अनौपचारिक संगठन की एक और विशेषता है, नेत त्व की भिन्न शैली। औपचारिक संगठनों में सदस्य अपने नेता का सम्मान उसके पद और अधिकारों के कारण करते हैं। जबकि अनौपचारिक संगठनों में सदस्य नेता के प्रभाव के कारण उसका साथ देते हैं। जैसा कि मेरी पार्कर फॉलेट ने कहा भी है, नेता परिस्थिति की देन होते हैं और तभी तक नेत त्व करते हैं, जब कि परिस्थिति की माँग होती है। किन्तु अनौपचारिक संगठनों में नेता को समूह की अपेक्षाओं के अनुरूप बनना पड़ता है। इसमें असफल रहने पर उसे नेता के पद से हटा दिया जाता है। औपचारिक संगठनों में यह संभव नहीं है।

अनौपचारिक संगठनों की कमियाँ (Dysfunctions of Informal Organisation)

इसमें संदेह नहीं कि अनौपचारिक संगठन कई तरह से औपचारिक संगठन की मदद करता है। औपचारिक संगठनों के सदस्यों को अपने संगठन से कुछ नहीं मिलता उसे वे अनौपचारिक संगठनों से पाते हैं। किन्तु इन संगठनों की अपनी समस्याएँ और कमियाँ भी हैं।

हम पहले बता चुके हैं कि अनौपचारिक संगठन में सूचना का आदान-प्रदान बहुत तेजी से होता है जो निस्संदेह एक रचनात्मक भूमिका है। किन्तु यह सूचना-व्यवस्था अक्सर, गलत, अधूरी और उल्टी-सीधी खबरें फैलाने लगती है। ऐसी अफवाहें फैलने से अनिश्चितता और संगठन के लिए कई समस्याएँ उत्पन्न हो जाती है।

दूसरे, हम देख चुके हैं कि अनौपचारिक संगठन कुछ मूल्यों-मान्यताओं के प्रसार के लिए बनाए जाते हैं। अर्थात् इनसे यथास्थिति का बढ़ावा मिलता है। आमतौर पर यह माना जाता है कि औपचारिक संगठन सदैव परिवर्तन का विरोध करते हैं। रीति-रिवाजों और परम्पराओं के नाम पर अक्सर ऐसे सुधारों का भी विरोध किया जाता है जो औपचारिक संगठन के लिए लाभप्रद होते हैं। तीसरे, समूह के मानदण्डों का पालन जबर्दस्ती कराने के भी कुछ नुकसान है। इसके कारण अक्सर व्यक्तियों पर अपनी उत्पादकता सीमित करने के लिए दबाव डाला जा सकता है। टेलर ने इसे "व्यवस्थागत बन्धन" कहा है। यह दोष संगठनों के हित में नहीं है।

औपचारिक और अनौपचारिक संगठन का पारस्परिक संबंध

(Interdependence between Formal and Informal Organisation)

संगठनों की कार्यप्रणाली का सही ढंग से समझने और औपचारिक तथा अनौपचारिक संगठनों की पूरी जानकारी के लिए उनके आपसी संबंधों और पूरक भूमिकाओं को सही तरह समझना जरूरी है। औपचारिक और अनौपचारिक संगठन एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। औपचारिक संगठन समाज को सुव्यवस्थित ढाँचा प्रदान करते हैं और अनौपचारिक संगठन ने उन्हें स्फूर्त और प्राणवान बनाते हैं। असली बात तो यह है कि एक के बिना दूसरे का कोई अस्तित्व नहीं है। सिर्फ औपचारिक ढाँचे के आधार पर किसी संगठन को पूरी तरह नहीं समझा जा सकता। किसी सक्रिय संगठन के गतिशील ढाँचे को समझने के लिए उसके प्रमुख व्यक्तियों के व्यक्तित्वों और भूमिकाओं पर सार्थक नजर डालना आवश्यक है। भावी प्रबन्धकों को व्यक्तियों के लक्ष्यों और आकांक्षाओं, सामूहिक व्यवस्थाओं और अनौपचारिक भूमिकाओं आदि को समझना चाहिए। सूचना के अनौपचारिक माध्यमों से किसी भी संगठन के प्रमुख अधिकारी को ऐसी महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है जिससे वह परिस्थिति के अनुसार सही

फैसला कर सकता है। सफलता चाहने वाली प्रत्येक प्रशासनिक व्यवस्था के कारगर संचालन के लिए संगठन के औपचारिक और अनौपचारिक पहलुओं के बीच सही संतुलन आवश्यक है।

औपचारिक तथा अनौपचारिक संगठन में अन्तर
(Difference between Formal and Informal Organisation)

अन्तरों का उल्लेख करते हुए एल.डी. ह्वाइट ने कहा है कि अनौपचारिक संगठन अधिक उग्र होता है तथा सामाजिक एवं आर्थिक अन्तर, जाति या भाषा का अन्तर, शिक्षा का स्तर, वैयक्तिक रूचियां एवं अरूचियां उस संगठन पर प्रभाव डालती हैं और एक प्रकार से वह इन सबका प्रतिबिम्ब होता है। यह रिवाजों पर आधारित होता है, यह न तो लिखित होता है, न निर्मित और न ही इसमें स्वच्छ रेखाचित्रों की आवश्यकता होती है। औपचारिक संगठन विवेकशील तथा अवैयक्तिक बनना चाहता है जबकि अनौपचारिक संगठन भावना-प्रधान एवं व्यक्तिगत बनना चाहता है। दोनों एक-दूसरे को प्रायः समेट लेते हैं व एक-दूसरे से संयुक्त भी हो सकते हैं और दूर-दूर भी। मेसफील्ड तथा मार्क्स का विचार है कि औपचारिक संगठन एक नियोजित संगठन होता है जबकि अनौपचारिक संगठन एक प्राक तिक विकास है। औपचारिक संगठनों में मुख्य अन्तर सत्ता एवं प्रभाव का होता है। सत्ता का अर्थ दूसरों के व्यवहार को संचालित करने के लिए आज्ञा देने की वैधानिक शक्ति से है और प्रभाव का अर्थ मनुष्य की उस सामर्थ्य से है जिसके अनुसार संगठन के दूसरे व्यक्ति भी चीजों को उसी रूप में देखने लगते हैं तथा उसी के अनुसार वे कार्य करते और करना चाहते हैं।

साइमन का विचार है कि अनौपचारिक संगठन से तात्पर्य उस संगठन से है जिसमें अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध पाए जाते हैं तथा वे इसके निर्णयों को प्रभावित करते हैं। ये सम्बन्ध संगठन की औपचारिक योजना के बाहर हैं और उस योजना से मेल नहीं खाते। प्रत्येक संगठन के नये सदस्यों को अपने साथियों के साथ उनके व्यावहारिक संगठन के सदस्य बनने के पूर्व ही साइमन ने तो यहां तक कह दिया है कि कोई भी औपचारिक संगठन उस समय तक प्रभावशाली रूप से कार्य नहीं कर सकता जब तक कि उसे एक अनौपचारिक संगठन का सहयोग प्राप्त न हो। इसका कारण यह है कि औपचारिक संगठन उन सभी बातों का विस्तार से वर्णन नहीं कर सकता जो अनौपचारिक रूप से करनी होती है फिर भी यदि अनौपचारिक संगठन प्रभावपूर्ण रूप से कार्य करना चाहता है तो उसे अनौपचारिक सम्बन्धों को सीमित करना होगा। उसे संगठन में राजनीति के विकास को रोकना होगा। प्रभाव एवं सत्ता के लिए होने वाले संघर्ष पर रोक लगानी होगी यदि वह संघर्ष संगठन के सुचारू रूप से संचालन में बाधक हो। औपचारिक संगठन को यह चाहिए कि वह अनौपचारिक सम्बन्धों के विकास की दिशा रचनात्मकता की ओर मोड़ दे। इसके द्वारा संगठन के कार्य के दोहराव को रोका जा सकता है।

अनौपचारिक सम्बन्ध संचार साधन के रूप में बहुत लाभदायक कार्य करते हैं। यह तो एक मानी हुई बात है कि अनौपचारिक सम्बन्ध बढ़ेंगे, संगठन में इनके विकास पर रोक नहीं लगाई जा सकती। इस स्थिति में विकल्प यही रह जाता है कि संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए इस विकास का प्रयोग किया जाए। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, औपचारिक संगठन एक अनौपचारिक संगठन के अनुरूप भी हो सकता है तथा प्रतिकूल भी। हम एक आदर्श संगठन उसको कहेंगे जिसमें औपचारिक एवं अनौपचारिक रूप से रेखाएं परस्पर मेल खाती हैं। हमारे सामने मुख्य समस्या यही है कि इस आधार पर संगठन में जो दोहराव पाया जाता है वह न रहे और उसमें एकता आ जाए। डिमॉक का कहना है कि वर्तमान सन्तति के सामने यह चुनौती है कि वह संगठन का एक ऐसा सिद्धांत निरूपित करे जिसमें एकता स्थापित हो जबकि इस समय दो संगठन स्थित हैं।

इस प्रकार संगठन के संबंध में अनेक सिद्धांत एवं विचारधाराएं हैं। इन सिद्धान्तों एवं विचारधाराओं के संदर्भ में हमें संगठन के स्वरूप एवं उत्तरदायित्वों को पहचानना होगा। किसी भी संगठन को किस आधार पर संगठित किया जाए, उसे कैसा बनाया जाए तथा कौन-सा मॉडल उसके लिए ठीक रहेगा, आदि बातों का निर्णय हम तभी कर पाते हैं जब संगठन के विभिन्न विचारों से हम स्वयं को परिचित रखें।

आर्जिनस ने चार क्षेत्रों का निरूपण किया है, जहां औपचारिक संगठन और अनौपचारिक संगठन के अंतर किया जा सकता है:

1. **अन्तर्वैयक्तिक संबंध:** औपचारिक संगठनों में सदस्यों के बीच सम्बन्ध पहले से ही निर्धारित रहते हैं और अनौपचारिक संगठनों में संबंध व्यक्ति की आवश्यकताओं के ऊपर ही आधारित रहते हैं।

2. **नेत त्वः** औपचारिक संगठनों के नेता निर्दिष्ट होते हैं और अनौपचारिक संगठनों में नेत त्व अपने आप उमड़ आता है।
3. **व्यावहारिक नियंत्रणः** औपचारिक संगठनों में कर्मचारियों के व्यवहारों का नियंत्रण पुरस्कार एवं दण्ड के द्वारा नियंत्रण होता है और अनौपचारिक समूहों में आवश्यकताओं की पूर्ति के आधार पर सदस्यों के व्यवहारों का नियंत्रण होता है।
4. **आश्रयताः** औपचारिक नेताओं की पुरस्कार एवं दण्डमूलक क्षमताओं के कारण उनके अधीनस्थ अभिकर्मी अनौपचारिक समूहों के अभिकर्मियों की अपेक्षा अपने नेताओं पर अधिक आश्रित रहते हैं।

औपचारिक तथा अनौपचारिक संगठन में अन्तर
(Differences between Formal & Informal Organization)

औपचारिक संगठन	अनौपचारिक संगठन
1. यह अधिकार के प्रत्यायोजन के कारण निर्मित होता है।	1. यह लोगों की सामाजिक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उदय होता है।
2. इसके अन्तर्गत अधिकार एवं कार्यो पर बल दिया जाता है।	2. इसके अन्तर्गत लोगों व उनके सम्बन्धों पर बल दिया जाता है।
3. यह जान-बूझकर निर्मित किया जाता है।	3. यह स्वतः एवं स्वाभाविक रूप से निर्मित होता है।
4. औपचारिक अधिकार किसी एक पद से सम्बन्धित होते हैं।	4. अनौपचारिक अधिकार किसी एक व्यक्ति से सम्बन्धित होते हैं।
5. औपचारिक संगठन का आकार बहुत बड़ा हो सकता है।	5. अनौपचारिक संगठन का आकार छोटा होता है।
6. नियम, कर्त्तव्य तथा उत्तरदायित्व लिखित रूप में निर्धारित किए जाते हैं।	6. इसमें नियम तथा परम्पराएं अलिखित होती हैं।
7. यह उन बाहरी व्यक्तियों से प्रभावित होता है जो कि रेखीय स्तर के वरिष्ठ अधिकारी होते हैं।	7. यह उन व्यक्तियों से प्रभावित होता है, जो समूह के नियन्त्रण में होते हैं।
8. औपचारिक अधिकार ऊपर से नीचे की ओर प्रवाहित होता है।	8. अनौपचारिक अधिकार ऊपर से अथवा समतल के रूप में प्रवाहित होता है।
9. यह तकनीकी उद्देश्यों के लिए निर्मित किया जाता है।	9. यह मनुष्य की सामाजिक तुष्टि की खोज के परिणामस्वरूप उदय होता है।
10. यह अधिक स्थायी होता है।	10. यह अपेक्षाक त कम स्थायी होता है।

उपर्युक्त भिन्नताओं के बावजूद औपचारिक एवं अनौपचारिक संगठन स्पष्ट रूप से एक दूसरे से भिन्न नहीं होते हैं, दोनों का सह अस्तित्व होता है और दोनों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। प्रत्येक औपचारिक संगठन के अन्तर्गत एक अनौपचारिक संगठन होता है और प्रत्येक औपचारिक संगठन के अन्तर्गत कम से कुछ संगठनात्मक औपचारिकता विद्यमान रहती है।

संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि औपचारिक तथा अनौपचारिक संगठनों में घनिष्ठ संबंध है। एक बार औपचारिक संगठन के बन जाने के बाद वे स्वतः अनौपचारिक संगठनों का निर्माण करते हैं, जो न केवल उसको प्रभावित ही करते हैं बल्कि उसको शक्ति भी प्रदान करते हैं। एक के बिना दूसरा शायद ही जीवित रह सके। अतः दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

निष्कर्ष (Conclusion)

औपचारिक तथा अनौपचारिक संगठन के अध्ययन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि केवल सिद्धांतों के आधार पर संगठनों को पूर्ण तथा नियोजित नहीं किया जा सकता। औपचारिक संगठन के सूत्र तथा सिद्धान्त मार्गदर्शक सिद्ध हो सकते

हैं, तथापि उनका प्रयोग परिस्थिति के व्यावहारिक संदर्भ में ही किया जा सकता है। केवल इस प्रकार से ही एक व्यावहारिक संगठन का निर्माण किया जा सकता है। किसी संगठन को पूरी तरह समझने के लिए उसके औपचारिक स्वरूप का अध्ययन ही पर्याप्त नहीं होगा। उसके वास्तविक कार्य-संचालन के विषय में तथ्यात्मक ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह अनिवार्य है कि उस संगठन के अधिकारियों तथा कर्मचारियों के व्यक्तित्व तथा उनके पारस्परिक संबंधों का भी अध्ययन करना होगा। हमें औपचारिक संगठन के मूल्यों (Values) को कायम रखना चाहिए तथा उनके स्थान पर अनौपचारिक संगठन को ही स्थापित करने पर जोर नहीं देना चाहिए। आवश्यकता तो इस बात की है कि हम इन दोनों के अच्छे तत्त्वों का मिश्रण कर लें और उनके अनुसार प्रशासन का निर्माण तथा संचालन करें। इसलिए औपचारिक संगठन के सिद्धान्तों को आधार मान कर, मानवीय सम्बन्धों को भी योग्य स्थान तथा महत्त्व देना चाहिए। इस प्रकार का मिश्रित संगठन बहुत प्रभावशाली होगा। फिफनर (Pfiffner) के अनुसार, "कोई भी प्रबन्धकीय संस्था, जिसमें औपचारिक तथा अनौपचारिक संगठन की प्रधान रूप रेखाएं समान एवं अनुरूप होती हैं, स्वस्थ तथा सुखद संस्था होती है।"

अध्याय-17
विभाग
(Department)

विभाग शब्द का शाब्दिक अर्थ किसी संपूर्ण वस्तु का एक हिस्सा या अंग होता है। प्रशासन में सरकार का सारा काम अलग-अलग हिस्सों में बँटा होता है और प्रशासन की बड़ी-बड़ी इकाइयाँ इसे पूरा करती है। इन इकाइयों को विभाग कहते हैं। उदाहरण के लिए शिक्षा विभाग, रक्षा विभाग, और स्वास्थ्य विभाग आदि। सरकार का अधिकांश काम यही विभाग करते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि विभाग देश की प्रशासनिक व्यवस्था के सबसे महत्त्वपूर्ण और बुनियादी इकाई है। आमतौर पर विभाग बड़े होते हैं जो सीधे मुख्य कार्यकारी के प्रत्यक्ष नियंत्रण में काम करते हैं।

दुनिया के सभी देशों में सरकार का मुख्य कामकाज विभागों के माध्यम से ही होता है। सरकार के कामकाज चलाने का यह सबसे पुराना तरीका है। प्राचीन और मध्यकाल में भी राजा अपना काम अलग-अलग विभागों में बाँट देते थे और प्रत्येक विभाग की जिम्मेदारी अलग-अलग अधिकारियों को सौंप दी जाती थी। उदाहरण के लिए रक्षा सेनाओं की जिम्मेदारी सेनापति पर, पुलिस की जिम्मेदारी फौजदार पर, खजाने या कोषागार की जिम्मेदारी खजांची पर और भंडार (भंडारण और आपूर्ति) की जिम्मेदारी भंडारपाल पर होती थी। सरकार का सारा कामकाज कारगर ढंग से चलाने के लिए जरूरी है कि उसे अलग-अलग हिस्सों में बाँट दिया जाए। इससे फायदा यह होता है कि अलग-अलग काम के लिए अलग-अलग अभिकरण जिम्मेदार होते हैं और विभागीय व्यवस्था स्वतः ही स्वरूप ले लेती है। आधुनिक युग में सरकार का काम दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है इसलिए प्रशासनिक व्यवस्था में विभागों का महत्त्व भी इसी गति से बढ़ रहा है।

विभाग : अर्थ
(Department : Meaning)

शाब्दिक द ष्टि से **विभाग** का अर्थ किसी बड़े संगठन अथवा इकाई का भाग (Part) है। कभी-कभी विभाग शब्द का प्रयोग प्रशासकीय संगठन के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी किया जाता है। उदाहरण के लिए, फ्रांस में देश के निवासी प्रशासकीय 'जिलों' के लिए 'विभाग' शब्द का प्रयोग करते हैं। विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में अध्यापन का कार्य 'विभागों' में बांटा दिया जाता है। इन विभागों का प्रमुख कार्य प्रशासन नहीं, शिक्षण होता है। प्रशासन की तकनीकी शब्दावली में 'विभाग' शब्द का एक विशेष अर्थ होता है। मुख्य कार्यपालिका के अधीन रहने वाले समस्त सरकारी कार्य को अनेक खण्डों में विभाजित कर लिया जाता है। इनके प्रत्येक खण्ड को '**विभाग**' कहा जाता है। विभाग सरकारी कार्यो का विभाजन तथा सम्पादन करने का परम्परागत तथा महत्त्वपूर्ण प्रकार है। **डिमॉक** तथा **कोइंग** के अनुसार, "प्रशासन में श्रम-विभाजन की आवश्यकता विभागीय प्रणाली के जन्म का स्वाभाविक कारण है।" आजकल विभाग के लिए **प्रशासन, अभिकरण, समिति, परिषद्,** आदि अनेक नाम प्रचलित हुए हैं। इन अनेक नामों में हम 'विभाग' को कैसे पहचानें, यह प्रश्न हमारे सामने हैं। **डॉ. एम. पी. शर्मा** के अनुसार, विभाग की दो प्रमुख पहचानें हैं:

1. इकाई का नाम चाहे कुछ भी हो, यदि वह प्रशासकीय सोपान के शीर्ष के समीप हो तथा उसके एवं प्रमुख कार्यकारी के बीच कोई अन्य इकाई न हो तो हम उसे '**विभाग**' कहेंगे।
2. यदि वह इकाई प्रमुख कार्यकारी के अधीन तथा उसके प्रति उत्तरदायी हो तो इकाई को 'विभाग' कहा जाएगा।

'**विभाग**' मुख्य कार्यपालिका के एकदम नीचे अवश्यक होते हैं किन्तु उसके संगठन एवं पुनर्गठन के सम्बन्ध में यह आवश्यक नहीं है कि वह स्वतन्त्र हों। विभागों के संगठन का अधिकार संविधान, संसद या कार्यपालिका में सन्निहित हो सकता है। भारत में किसी मंत्रालय अथवा विभाग को संगठित, पुनर्गठित या समाप्त करने की शक्ति केन्द्रीय कार्यपालिका के हाथों में है।

विभाग का गठन कौन करता है?

हम पढ़ चुके हैं कि विभाग सीधे मुख्य कार्यकारी के नीचे काम करते हैं और उसी के प्रति जवाबदेह होते हैं। लेकिन विभागों के गठन और पुनर्गठन की जिम्मेदारी हमेशा मुख्य कार्यकारी की नहीं होती। उदाहरण के लिए अमरीका में विधायिका विभागों का गठन करती है। रूस में विभागों के गठन या पुनर्गठन के लिए संविधान में संशोधन जरूरी होता है। लेकिन इंग्लैंड और भारत में मुख्य कार्यकारी अर्थात् प्रधानमंत्री अपनी इच्छा और सुविधा के अनुसार विभागों के गठन और पुनर्गठन कर सकते हैं।

विभागों के प्रकार (Types of Department)

प्रशासनिक व्यवस्था में सभी विभागों का महत्त्व समान होता है। लेकिन उनके आकार-प्रकार और आंतरिक ढाँचे के अनुसार उन्हें अलग-अलग वर्गों में बाँटा जा सकता है।

1. **बड़े और छोटे विभागः** विभागों के आकार के आधार पर हम उन्हें बड़ा या छोटा कह सकते हैं, रेल, वित्त या रक्षा विभाग बड़े आकार वाले विभाग हैं। जबकि परमाणु ऊर्जा विभाग एक छोटा विभाग है।
2. **पुराने और नए विभागः** हर सरकार में कुछ विभाग बहुत पुराने होते हैं अर्थात् कुछ विभाग ऐसे होते हैं जिनका गठन बहुत पहले किया गया था। जैसे ब्रिटेन का खजाना विभाग या भारत का वित्त विभाग। लेकिन सरकार की कुछ नई या अतिरिक्त गतिविधियों के लिए कुछ नए विभाग भी बनाए जाते हैं। जैसे ब्रिटेन का प्रशासनिक सेवा विभाग या भारत का मानव संसाधन विकास विभाग।
3. **एककार्यी या बहुकार्यी विभागः** कुछ विभाग ऐसे होते हैं जिनके कार्य-कलाप का एक ही निश्चित स्वरूप होता है। जैसे रक्षा या शिक्षा विभाग। जबकि कुछ विभागों के अनेक उप-विभाग अलग-अलग तरह से काम करते हैं। जैसे ग ह विभाग, खाद्य, क षि और सहकारिता विभाग।
4. **परिपालन या समन्वयक विभागः** जो विभाग वास्तव में कार्य के परिपालन के लिए जिम्मेदार होते हैं उन्हें परिपालन विभाग कहा जाता है जैसे डाक विभाग, इसी प्रकार जिनका काम सिर्फ समन्वय या तालमेल रखना होता है उन्हें समन्वयक विभाग कहा जाता है। जैसे पंचायती राज विभाग या सामान्य प्रशासन विभाग।

इसी तरह वित्त विभाग जैसे कुछ विभागों में सारा काम मुख्यालय में ही केंद्रित होता है जबकि डाक तार विभाग जैसे विभागों को देश भर में फैले अधीनस्थ और क्षेत्रीय कार्यालयों के जरिए काम करना पड़ता है।

विभाग की विशेषताएँ

सरकार का कामकाज चलाने की सबसे पुरानी और महत्त्वपूर्ण व्यवस्था विभागीय व्यवस्था ही है। हजारों वर्षों से सरकारें विभागों के जरिए ही काम करती आई है। सरकारी विभागों की कुछ प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं।

- सामान्यतः विभाग प्रशासन की सबसे बड़ी इकाई होते हैं।
- विभाग प्रशासन की सबसे पुरानी और सबसे पारंपरिक इकाई है।
- प्रशासनिक व्यवस्था में विभागों का स्थान मुख्य कार्यकारी के एकदम नीचे होता है।
- विभाग मुख्य कार्यकारी के सबसे नजदीक होते हैं और सीधे उसी के प्रति जवाबदेह होते हैं।

प्रत्येक विभाग विभागाध्यक्ष के सीधे नियंत्रण और निरीक्षण में काम करता है। विभाग के दैनिक प्रशासन की जिम्मेदारी विभागाध्यक्ष पर होती है। भारत में प्रत्येक विभाग एक मंत्री के नियंत्रण में काम करता है जिसे प्रधानमंत्री नियुक्त करते हैं और जो उन्हीं के प्रति जवाबदेह होता है। विभाग कार्यपालिका और विधायिका दोनों के प्रति जिम्मेदार होते हैं। उनका दैनिक प्रशासन मंत्री के नियंत्रण में होता है और मंत्रिमंडल तथा संसद नीतियाँ निर्धारित करते हैं। अतः संसद के माध्यम से विभागीय प्रशासन आम जनता के प्रति जिम्मेदार और जवाबदेह होता है।

विभागों के अध्यक्ष का पद मंत्री या राजनीतिक के हाथ में होता है जो जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। उसके नीचे प्रशासनिक अधिकारी होते हैं जो अपने-अपने क्षेत्र में विशेषज्ञ और अनुभवी होते हैं। निर्णयों और आदेशों का पालन ये अधिकारी ही कराते हैं। अतः विभागों में राजनीतिज्ञ और प्रशासनिक अधिकारी मिलकर देश का प्रशासन चलाते हैं। विभाग में प्रशासन पर जनता का नियंत्रण भी होता है और प्रशिक्षित कुशल और विशेषज्ञ अधिकारी प्रशासन भी चलाते हैं। विभाग में इन दोनों ही तत्वों का सही तालमेल होता है।

विभागीय व्यवस्था सरल, सुविधाजनक तथा आसान होती है, जिसे आम जनता भी समझ सकती है। इसके जरिए प्रशासन पर जनता का नियंत्रण भी रहता है। इसलिए अधिकांश देश प्रशासन की विभागीय व्यवस्था को ही अपनाते हैं।

विभागीकरण के आधार (Bases of Departmentation)

हम पढ़ चुके हैं कि विभाग प्रशासन की सबसे पुरानी, सबसे महत्त्वपूर्ण और सबसे बड़ी इकाई होते हैं जिनके जरिए सरकार का अधिकांश कामकाज चलता है। अब हम यह अध्ययन करेंगे कि विभाग कैसे बनाया जाता है और विभाग के गठन के सिद्धान्त या आधार क्या है।

सुचारू रूप से प्रशासन चलाने के लिए सरकार के काम को बाँटना जरूरी है। यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने काम के इस बँटवारे के लिए दो आधार सुझाए थे। एक व्यक्तियों या वर्गो के अनुसार, दूसरा सेवाओं के अनुसार।

लूथर गुलिक (Luther Gulick) के अनुसार आधुनिक युग में विभागों के गठन के लिए चार सिद्धांतों के आधार अपनाए जाते हैं। इनके बारे में आप इससे पहले की इकाइयों में पढ़ चुके हैं। ये आधार हैं: उद्देश्य, प्रक्रिया, व्यक्ति और स्थान। लूथर गुलिक ने इसे 4-पी का फार्मूला कहा। अब हम इनमें से प्रत्येक पर संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

उद्देश्यः अधिकांश देशों में सत्ता के किसी खास काम या उद्देश्य के लिए एक विभाग बनाया जाता है। सरकार को नई तरह के काम करने होते हैं। इन कामों का निर्धारण करके प्रत्येक काम के लिए अलग विभाग बनाया जाता है। उदाहरण के लिए: देश की रक्षा के लिए रक्षा विभाग बनाया गया, लोगों की स्वास्थ्य की देखभाल के लिए स्वास्थ्य विभाग और उन्हें शिक्षित करने के लिए शिक्षा विभाग का गठन किया गया। ज्यादातर देशों में अधिकतर विभाग उद्देश्य पर ही आधारित होते हैं। विभागों के गठन का यह बहुत आसान, बहुत आम और बहुत कारगर सिद्धान्त है। इससे काम में दुहरापन नहीं आता और इसे समझना भी आसान है। यदि विभागों का गठन विशेष उद्देश्य या विशेष काम को पूरा करने के लिए किया जाए तो आम आदमी से बता सकता है कि कौन सा काम किस विभाग के जिम्मे है।

प्रक्रियाः प्रक्रिया का अर्थ किसी तकनीक, किसी दक्षता या विशेष प्रकार के किसी पेशे से है। उदाहरण के लिए लेखांकन, आशुलिपि, इंजीनियरी, और कानूनी सलाह आदि एक ऐसी प्रक्रियाएँ हैं जिनकी आमतौर पर सभी सरकारी संगठनों में जरूरत पड़ती है। सभी संगठनों को टंकण, आशुलेखन, भवन, कानूनी सलाह या लेखांकन की आवश्यकता होती है। अतः कुछ देशों में अलग-अलग प्रक्रियाओं के आधार पर अलग-अलग विभाग बनाये जाते हैं। उदाहरण के लिए विधि विभाग, लोक निर्माण विभाग या लेखा विभाग बनाए जाते हैं। जो अन्य सभी विभागों की मदद करते हैं और उनकी विशेष जरूरतों को पूरा करते हैं। लेकिन प्रक्रिया पर आधारित विभागों की संख्या गिनी-चूनी होती है। यदि विभागों का गठन प्रक्रिया के आधार पर किया जाए तो विशेषज्ञता और नवीनतम तकनीकी दक्षता सबको उपलब्ध करायी जा सकेगी। प्रशासन में अधिकतम किफायत, बेहतर तालमेल और एकरूपता आयेगी। इसके साथ ही साथ प्रक्रिया पर आधारित विभागों के कर्मचारियों में घमंड, संकीर्णता और श्रेष्ठता की भावना पैदा हो जाएगी। फिर भी सभी देशों में कुछ विभाग प्रक्रिया के आधार पर बनाए जाते हैं।

व्यक्तिः प्रत्येक समाज में कुछ व्यक्ति या समूह ऐसे होते हैं जिनकी समस्याएँ, विशेष और सबसे अलग होती है और जिन्हें विशेष सेवाओं की जरूरत होती है। उदाहरण के लिए शरणार्थी, आदिवासी, अनुसूचित जातियों, और पिछड़े वर्गो के लोग, विकलांग और पेंशनभोगी आदि। कुछ देशों में कुछ सरकारी विभाग विशेष तौर पर कुछ विशेष समूहों या व्यक्तियों की सभी समस्याओं से निपटने के लिए बनाए जाते हैं। पुनर्वास विभाग, आदिवासी कल्याण विभाग, पेंशनर विभाग, समाज कल्याण विभाग या श्रम विभाग आदि उन विभागों के उदाहरण है जिनका गठन व्यक्तियों के आधार पर किया जाता है। संबद्ध समूह या व्यक्ति इन विभागों से आसानी से संपर्क कर सकते हैं। और यह विभाग भी व्यवस्थित और समन्वित रूप में सभी प्रकार की सेवाएँ उन्हें कारगर ढंग से उपलब्ध करा सकते हैं। लेकिन विशेष समूहों के लिए विशेष विभागों की स्थापना से उन विभागों

में इन समूहों के निहित स्वार्थ विकसित हो जाते हैं और वे प्रशासन पर दबाव डालने की कोशिश करते हैं। फिर भी अनेक देशों में समूहों या व्यक्तियों के आधार पर कुछ विभागों का गठन किया ही जाता है।

स्थानः प्रत्येक देश में कुछ इलाका, प्रदेश या क्षेत्र ऐसा होता है जिसकी अपनी विशेष समस्याएँ होती है, जिनके कारण उसे विशेष ध्यान और विशेष सेवाओं की जरूरत होती है। अतः उस क्षेत्र विशेष के लिए अलग विभाग का गठन किया जाता है। इस तरह के विभाग का सबसे बढ़िया उदाहरण आजादी से पहले अंग्रेज सरकार द्वारा भारतीय मामलों के विभाग का गठन था। आज भी ब्रिटेन में स्काटलैंड और आयरलैंड के मामलों के लिए अलग-अलग विभाग हैं। भारत सरकार का विदेश मंत्रालय भी ऐसे विभागों का एक उदाहरण है। कई विभागों को अलग-अलग प्रभागों में बाँट दिया जाता है। जो अलग-अलग भौगोलिक क्षेत्रों की देखभाल करते हैं। उदाहरण के लिए रेल विभाग के कई क्षेत्रीय मंडल हैं, जैसे पश्चिम रेलवे, मध्य रेलवे, दक्षिण रेलवे, या दक्षिण मध्य रेलवे इत्यादि। भारत में क्षेत्र या स्थान विशेष के लिए गठित विभागों की संख्या बहुत कम है।

विभाग के 'चारों' आधार एक दूसरे में आच्छादित हैं

कभी विभागों के सिद्धान्त परस्पर इतने अधिक गुंथ जाते हैं कि उनको एक दूसरे से प थक करना असंभव हो जाता है। कभी कोई विभाग दिखने में तो ऐसा लगता है कि वह कार्य के आधार पर संगठित किया गया है, किंतु दूसरी ओर से वह प्रक्रिया के आधार पर बना हुआ प्रतीत होता है। कभी वह प्रभावित हितों पर अथवा भौगोलिक आधार पर गठित मालूम पड़ता है। ऐसा इसलिए होता है कि प्रत्येक कार्य में कुछ प्रक्रिया निहित होती है तथा वह किसी क्षेत्र में रहने वाले लोगों की भलाई के लिए कार्य करता है, जैसे-क षि विभाग का आधार कार्य है अर्थात् वह क षि सम्बन्धी समस्याओं को हल करने के लिए बनाया गया है, किंतु इसका प्रत्यक्ष लाभ किसानों को मिलता है, तब यह अनुभव होता है कि क षि विभाग सेवा किये जाने वाले व्यक्ति के आधार पर बना है। इसी तरह भारत के विदेश विभाग का मूल कार्य देश की वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन करना है, किन्तु उसका मुख्य कार्य राष्ट्रीय सीमा के बाहर होता है। अतः ऐसा भ्रम होता है कि उसका आधार भौगोलिक है।

कोई भी विभाग एक आधार पर आधारित नहीं है
(No Department is based on Single Principle)

किसी भी विभाग के गठन का यदि अध्ययन करें तो हमें पता चल जायेगा कि वह ऊपर से नीचे तक किसी एक सिद्धान्त के आधार पर गठित नहीं किया गया है। संभागीय स्तर पर विभाग का आधार कार्य दिखता है, किंतु जैसे-जैसे हम नीचे उतरते जाते हैं हमें सुविधा तथा कार्यकुशलता की द ष्टि से अन्य आधारों को स्वीकार करना पड़ता है। व्यवहार में सभी आधारों को विभाग-निर्माण करते समय, विभिन्न स्तरों पर ग्रहण करना पड़ता है। उदाहरण के लिए, वैदेशिक विभाग का संगठन प्रारम्भ में कार्य के आधार पर होता है, किन्तु उसे विभिन्न प्रदेशों से संबंध स्थापित करना पड़ता है तो उसकी कुछ शाखायें भौगोलिक आधार पर बनायी जाती है। व्यवहार में कुछ सूचनायें, संधियाँ, परामर्श आदि गोपनीय रखना पड़ती हैं और इसके लिए विशेषज्ञ की आवश्यकता पड़ती है तब विभाग में प्रक्रिया प्रभाग भी बनाना पड़ते हैं।

लंका में भारतीय मूल की समस्या हल करने के लिए विदेश विभाग को विशेष जनता की सेवा करने के आधार पर एक प्रभाग का निर्माण करना होता है।

संक्षेप में वालेस के शब्दों में, कहा जाए तो हमें, "विभाग संगठन का निर्माण करते समय विभागीयकरण के चारों आधारों का तुलनात्मक द ष्टि से मूल्यांकन करना चाहिए। पिछले अनुभवों और वर्तमान प्रचलित प्रथा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विभागीय संगठन एक नहीं, अनेक आधारों पर बनाया जाता है, और उसमें एकीकरण की चारों रीतियों का पूर्ण योग रहता है।" इस सम्बन्ध में थीओ हेमेन का कहना है, "चूंकि विभागीकरण के प्रत्येक सिद्धांत के अपने कुछ लाभ तथा हानियाँ हैं। इसलिए प्रबंधक को चाहिए कि वह एक आधार की हानियों को कम करने के लिए किसी दूसरे आधारों के लाभों का सहारा ले। अतः व्यवहार में अधिकतम उद्यमों में सम्मिश्रित विभागीय ढाँचा पाया जाता है।"

यद्यपि प्रत्येक आधारों के विभागों में गुण दोष पाये जाते हैं और इसलिए यह कहना कठिन है कि कौन सा आधार सर्वोत्तम है? फिर भी विद्वानों ने कार्यात्मक आधार को सबसे अधिक उचित माना है। इसमें कार्यों का दोहरापन, अतिच्छादन

(Overlapping) कम होता है तथा भ्रम (Confusion) भी कम से कम होता है। विभाग का उद्देश्य सभी लोगों के लिए स्पष्ट होता है। इसी कारण से 1949 में प्रथम हूवर आयोग ने भी इसी आधार पर विभागों को बनाने की सिफारिश की थी।

प्रथम हूवर आयोग के अनुसार, "कार्यपालिका शाखा के असंख्य अभिकरणों को मुख्य-मुख्य प्रयोजनों के आधार पर विभागों में जितना निकट हो सके उतना निकट संगठित किया जाना चाहिए ताकि प्रत्येक विभाग की ओर समान रूप से ध्यान दे सके। आयोग की द ष्टि में इससे अतिच्छादन कम होगा और समन्वित नीतियों का विकास सुविधापूर्वक हो सकेगा।" प्रशासकीय सुधार आयोग की अध्ययन मण्डली ने कहा है कि "विभागीयकरण के अन्य आधारों को तभी अपनाया जाय, जब कुछ परिस्थितियाँ ऐसा करने के लिए बाध्य कर दें। अतः दूसरे शब्दों में, कार्यों में परिवर्तन तभी करना चाहिए जब इसके लिए पर्याप्त कारण हों।"

भारत में सरकारी विभाग का संगठन
(Organization of Government Department in India)

सभी देशों में सरकार के कार्य को कुशलता से चलाने के लिए इसे विभिन्न विभागों अथवा मंत्रालयों में विभाजित किया जाता है और प्रत्येक विभाग या मंत्रालय अपने कार्य के लिए उत्तरदायी होता है। इस विभाजन का एक कारण यह भी है कि राज्य के उत्तरदायित्व के बहुमुखी होने के कारण से इसे विभिन्न क्षेत्रों की प्रक ति में भिन्नता के कारण विभिन्न विभागों या मंत्रालयों की स्थापना की जाती है और प्रत्येक विभाग के अधीन किसी-न-किसी विषय को रखा जाता है।

भारत में केन्द्रीय सरकार का कार्य विभिन्न मंत्रालयों में बांट दिया गया है। एक मंत्रालय में एक अथवा एक से अधिक विभाग हो सकते हैं। प्रत्येक मंत्रालय एक मंत्री के अधीन होता है जो केन्द्रीय मंत्रि परिषद् का सदस्य होता है। इस प्रकार प्रत्येक विभाग एक राजनीतिक कार्यकारी (Political Executive) अर्थात् मंत्री के अधीन रखा जाता है। मंत्री की सहायता के लिए राज्य मंत्री (Minister of State) तथा उप मन्त्री (Deputy Minister) भी होते हैं। प्रायः मंत्रालयों का अध्यक्ष कैबिनेट मंत्री होते परन्तु कभी-कभी राज्य मन्त्री के अधीन भी मन्त्रालय को रखा जाता है। इन मंत्रियों को यह पद सत्तारूढ़ राजनीतिक दल में इनकी स्थिति के कारण मिलते हैं। वे राजनीतिक नेता होने के कारण प्रशासन तथा जनता की प्रतिनिधि व्यवस्थापिका (Legislature) के बीच एक कड़ी का कार्य करते हैं। मन्त्री जो विभाग के राजनीतिक मुखिया के रूप में कार्य करता है तथा अपने विभाग के आधार पर व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होता है।

मन्त्री के ठीक नीचे विभाग का संचिवीय संगठन (Secretariat Organization) होता है। सचितीय संगठन का सर्वोच्च अधिकारी सचिव (Secretary) होता है। वह भारतीय प्रशासकीय सेवा (I.A.S.) का सदस्य होता है। सचिव विभाग की नीतियों को निर्धारित करता है। वह विभाग पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है। विभाग के सचिवालय स्टाफ में दो वर्गो के कार्मिक होते हैं-

1. उच्चतर अथवा अधिकारी वर्ग तथा
2. अधीन वर्ग अथवा अधीनस्थ कर्मचारी।

अधिकारी वर्ग की तीन नियमित श्रेणियां होती हैं-विभाग का प्रशासकीय अध्यक्ष अथवा सचिव, उपसचिव (Deputy Secretary) तथा अधीन-सचिव (Under Secretary)। बड़े विभागों में सचिव तथा उप-सचिव के मध्य एक संयुक्त अथवा अतिरिक्त सचिव (Joint or Additional Secretary) की भी नियुक्ति की जा सकती है और उसे कुछ विशेष विंगस (Wings) का दायित्व सौंपा जा सकता है। इससे सचिव का कार्यभार कुछ हल्का हो जाता है। संयुक्त अथवा अतिरिक्त सचिव न्यूनाधिक मात्रा में लगभग सचिव के समान स्तर अथवा श्रेणी का अधिकारी होता है तथा उसे जो कार्य सौंपे जाते हैं उनके विषय में वह सीधे मन्त्री के साथ सम्पर्क स्थापित कर सकता है, परन्तु अधिक जटिल अथवा कठिन मामलों में उससे यह आशा की जाती है कि वह विभाग के सचिव से परामर्श करेगा। उप-सचिव तथा अधीन सचिव, सचिव के अधीन होते हैं तथा उनके पद क्रमशः छोटे माने जाते हैं।

अधीनस्थ श्रेणी के कर्मचारियों में प्रभाग अधिकारी (Section Officer), सहायक (Assistants), प्रवर लिपिक (Upper Division Clerks) तथा अवर लिपिक (Lower Division Clerks) (अब Lower Division Clerk की असामियों को समाप्त करके Upper Division Clerk की असामियों में परिवर्तित किया जा रहा है।) तथा टाईपिस्ट (Typists) आदि होते हैं। इसके अतिरिक्त चपड़ासी एवं दफ्तरी आदि चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी भी विभाग में होते हैं।

प्रत्येक विभाग को पद-सोपान के सिद्धान्त के अनुसार संगठित किया जाता है। कार्य को कुशलतापूर्वक करने के लिए प्रत्येक विभाग को उपविभागों (Wings), संभागों (Divisions), शाखाओं (Branches), प्रभागों (Sections) तथा उप-प्रभागों में विभाजित किया जाता है। एक विभाग के सचिवालय संगठन का ढांचा निम्नलिखित प्रकार का होता है-

Secretary
(Incharge of the Department)
↓
Joint or Additional Secretary
(Incharge of a Wing consisting usually of 8 Sections)
↓
Deputy Secretary
(Incharge of a Division with usually 4 Sections)
↓
Under-Secretary
(Incharge of a Branch with 2 Sections)
↓
Section Officer
(Incharge of 1 Sections)
↓
Clerical and inferior Staff

यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक विभाग में उपरोक्त चार्ट के अनुसार समस्त इकाइयां हों और उनमें सभी श्रेणियों के कर्मचारी पाए जाएं, परन्तु भारत सरकार के प्रशासकीय संगठन में बड़े विभागों का सचिवालय संगठन प्रायः इसी आधार पर होता है।

संलग्न कार्यालय
(Attached Offices)

सचिवालय के अतिरिक्त भारत सरकार के प्रधान कार्यालय में अनेक संलग्न कार्यालय (Attached Offices) भी होते हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं-संघ लोक सेवा आयोग, मुद्रण नियन्त्रण (Controller of Printing), आयात एवं निर्यात का मुख्य नियन्त्रक (Chief Controller of Exports and Imports), मुख्य श्रम आयुक्त (Chief Labour Commissioner) आदि। यह कार्यालय मिश्रित प्रकार के होते हैं। इनमें से अधिकांश स्वयं पूर्ण संगठित होते हैं जो किसी विभाग के निकटतम नियन्त्रण (Immediate Control) में कार्य करते हैं। इनके कार्य प्रायः परामर्शदात्री (Advisory) ही होते हैं। संलग्न कार्यालयों का दर्जा सचिवालय कार्यालयों के दर्जे से नीचा होता है। कुछ अन्य कार्यालय कार्यकारी शाखा के समान होते हैं और विभागाध्यक्षों के अधीन रहते हैं।

विभाग का कार्यकारी संगठन
(Executive Organization of the Department)

भारत में सचिवालय विभागीय संगठन का नीति निर्धारण सम्बन्धी अंग होता है तथा उसके नीचे अधिकांश विभागों में कार्यकारी संगठन होता है, जिसका अध्यक्ष अलग होता है। सचिवालय संगठन का अध्यक्ष अर्थात् सचिव प्राविधिक द ष्टि से (Technically) विभागाध्यक्ष नहीं होता। वह नीतियों के निर्माण में सरकार को परामर्श तथा सहायता देने वाला अधिकारी होता है। उसके कार्य स्टाफ प्रक ति के होते हैं। विभाग का कार्यकारी अथवा सूत्र संगठन (Line Machinery) अलग होता है तथा उसका अपना अध्यक्ष होता है, जिसे वैधानिक द ष्टि से 'विभागाध्यक्ष' कहा जाता है। विभाग के कार्यकारी अध्यक्ष को विभिन्न विभागों में अलग-अलग नामों से पुकारा जाता है। प्रायः उसे निर्देशक अथवा महानिर्देशक (Director or Director General) कहा जाता है। इसके अतिरिक्त उसे महानिरीक्षक (Inspector General), आयुक्त (Commissioner) आदि भी कहा जाता है। इसका प्रमुख कार्य सरकारी नीति को लागू करवाना होता है। इसलिए वह सरकारी नीतियों को लागू करवाने के लिए अधीनस्थ अधिकारियों को आदेश तथा निर्देश जारी करता है तथा उनपर नियंत्रण एवं पर्यवेक्षण भी रखता है। इसके अतिरिक्त वह अपने विभाग से सम्बन्धित मामलों में सचिवालय तथा सरकार को प्राविधिक परामर्श (Technical Advice) भी देता है। इसकी सहायता के

लिए इसके अधीन कई और अधिकारी एवं कर्मचारी होते हैं, जो उसके निर्देशन में विभाग की नीतियों को कुशलतापूर्वक लागू करते हैं।

राज्य के विभागों का प्रशासकीय संगठन
(Administrative Set-up of State Departments)

भारत के राज्यों में भी राज्य सचिवालय स्थापित किये गये हैं जिनमें राज्य सरकार के विभिन्न प्रकार के विभाग होते हैं। विभिन्न राज्यों में विभागों की संख्या अलग-अलग है। इन में ग ह, सामान्य प्रशासन, वित्त, उद्योग, क षि, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा नियोजन आदि प्रमुख विभाग होते हैं। इन विभागों को भी केन्द्रीय सरकार के विभागों की तरह ही संगठित किया जाता है। प्रत्येक विभाग को किसी-न-किसी मंत्री के अधीन रखा जाता है, जो विभाग के राजनीतिक मुखिय के रूप में कार्य करता है तथा अपने विभाग के आधार पर राज्य के विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी होता है। उसकी सहायता के लिए राज्य मंत्री तथा उपमंत्री भी नियुक्त किए जाते हैं। एक मंत्री के अधीन एक से अधिक विभाग भी रखे जाते हैं। विभाग का प्रशासकीय मुखिया सचित होता है, जो भारतीय प्रशासनिक सेवा (I.A.S.) का सदस्य होता है। उसकी सहायता के लिए संयुक्त, उप-सचित, अवर सचिव, प्रभाग अधिकारी तथा लिपिक वर्ग होता है। प्रत्येक विभाग को उपविभागों, संभागों, शाखाओं तथा सैक्शनों तथा उप-सैक्शनों में विभाजित कर दिया जाता है।

सचिवालय के अतिरिक्त विभिन्न विभागों के निदेशालय (Directorates) भी स्थापित किए गए हैं जिनके अध्यक्ष तकनीकी अधिकारी होते हैं। ये निदेशालय सरकारी नीतियों को लागू करने का महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं।

भारत सरकार की शक्तियाँ तथा कार्य मंत्रालयों/विभागों में बँटे होते हैं। 2001 में इनकी संख्या 80 है। इनकी संख्या 1962 में 35, 1966 में 41, 1969 में 46, 1970 में 47, 1972 में 50, 1979 में 53, 1983 में 56, 1985 में 57, 1988 में 71 थी। 1994 में यह संख्या 74 और 2000 में 83 थी।

अध्याय-18
सार्वजनिक निगम
(Public Corporation)

सार्वजनिक निगम पंक्ति अभिकरणों का दूसरा प्रकार है। हम देख चुके हैं कि दुनिया भर में विभाग प्रशासन की सबसे पुरानी, सबसे बड़ी और लोकप्रिय इकाई है। लेकिन जब आधुनिक सरकारों के कई नए कामों को पूरा करने में विभाग उपयोगी नहीं रहते तब निगमों का गठन किया जाता है। हाल के वर्षों में आधुनिक सरकारों को अनेक आर्थिक, वित्तीय और वाणिज्य कार्यकलाप शुरू करने पड़े हैं। विभाग इन नए कार्यकलापों को चलाने के लिए उपयुक्त नहीं हैं। इसलिए अनेक देशों में सार्वजनिक निगम बनाए गए हैं। सार्वजनिक निगम 20वीं शताब्दी की संस्थागत देन हैं। आधुनिक युग की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए सार्वजनिक निगमों का जन्म हुआ। अब हम देखेंगे कि सार्वजनिक निगमों की आवश्यकता क्यों पड़ी।

परिभाषा
(Definition)

विभिन्न विद्वानों ने लोक निगम की परिभाषा के विषय में अपने-अपने विचार प्रकट किए हैं। इन में से कुछ परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं-

मार्शल ई. डीमॉक (Marshall E. Dimock) के अनुसार, "लोक निगम वह सरकारी उद्यम है जिस की स्थापना किसी निश्चित व्यापार को चलाने अथवा वित्तीय उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए किसी संघीय, राज्य या स्थानीय कानून द्वारा की गई हो" इस परिभाषा के अनुसार लोक निगम पर सरकारी स्वामित्व होता है। इस की रचना संघ, राज्य अथवा स्थानीय सरकारें द्वारा बनाए गए कानून के अनुसार की जाती है और अस का लक्ष्य किसी विशेष व्यापारिक या वित्तीय कार्य को करना होता है। परन्तु इस परिभाषा को पूर्ण नहीं माना जा सकता क्योंकि इस द्वारा निगम की कानूनी स्थिति का स्पष्टीकरण नहीं होता। यदि कानूनी द ष्टि से देखा जाए तो इसे संगठित बोर्ड के रूप में नहीं माना जा सकता क्योंकि इसके सभी कार्यकारी बोर्ड के सदस्य मिलकर वैधानिक व्यक्ति के रूप में कार्य करते हैं। इस का अपना कानूनी व्यक्तित्व होता है।

लोक निगम के वैधानिक व्यक्तित्व को स्वीकार करते हुए फिफनर (Pfinfner) ने निगम की व्याख्या करते हुए कहा है, "निगम एक ऐसा निकाय है जिसकी रचना अनेक व्यक्तियों को एक व्यक्ति के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए की जाती हैं इस प्रकार एक निगम को बनावटी व्यक्ति के रूप में देखा जा सकता है जिसे कानून कुछ विशेष क्रियाओं एवं कार्य करने योग्य बनाने के लिए की जाती है। इस प्रकार एक निगम बनावटी व्यक्ति के रूप में देखा जा सकता है जिसे कानून कुछ विशेष क्रियाओं एवं कार्य करने की सत्ता प्रदान की जाती है।"

इस विचार को सम्मुख रखते हुए अर्नेस्ट डेवीज़ (Earnest Davies) ने लोक निगम की परिभाषा कानून द ष्टि से करते हुए कहा है, "लोक निगम सरकारी सत्ता द्वारा निर्मित एक संयुक्त निकाय है जिसकी शक्तियां एवं कार्य निश्चित होते हैं और जो वित्तीय रूप में स्वतंत्र होती है।"

सभी विचारों को सम्मुख रखते हुए लोक निगम की विस्तारपूर्वक परिभाषा प्रो. एम. सी. शुक्ला (M.C. Shukla) ने की है। प्रो. शुक्ला के शब्दों में, "लोक निगम व्यवस्थापिका द्वारा स्थापित निकाय है, जिसकी शक्तियां तथा कार्य निर्धारित होती हैं, जो वित्तीय द ष्टि से स्वतंत्र होती हैं। एक निर्दिष्ट क्षेत्र अथवा एक विशेष प्रकार की व्यापारिक गतिविधि पर उसके अधिकार-क्षेत्र में होता है।"

फिफनर (Pfiffner) के अनुसार, "निगम एक ऐसा निकाय है जिसे अनेक व्यक्तियों के 'एक व्यक्ति' के रूप में कार्य करने के लिए स्थापित किया जाता है।"

अर्नेस्ट डेविस (Earnest Davis) के अनुसार, "निश्चित शक्तियों तथा कार्यों और वित्तीय स्वतंत्रता सहित सार्वजनिक शक्ति द्वारा उत्पन्न निगम संयुक्त मण्डल है।"

हर्बर्ट मौरिसन (Herbert Morrison) ने लोक निगम की परिभाषा इस प्रकार दी है: "वह सार्वजनिक स्वामित्व, सार्वजनिक उत्तरदायित्व तथा लक्ष्यों की पूर्ति के लिए व्यापारिक प्रबन्ध का समन्वय है।"

विलियम जे. ग्रेन्ज (William J. Grange) के अनुसार, "निगम एक कृत्रिम व्यक्ति है जिसका कानून द्वारा किन्हीं विशेष्ज्ञ गतिविधियों तथा कार्यों को करने के अधिकार है।"

हैरल्ड सीडमैन के अनुसार, "सरकारी निगम को इसलिए संगठित किया जाता है कि वह कानून द्वारा स्वीकृत उद्देश्य की पूर्ति करे।"

स्व. प्रेसीडेण्ट रूजवेल्ट के अनुसार, **"लोक निगम व्यवसाय का एकता आदर्श स्वरूप है जिसके पास सरकार के अधिकार तथा निजी उद्योग का लचीलापन एवं स्वतः प्रेरणा होती है।"**

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि लोक निगम एक ऐसा निकाय है जिसे विधान सभा द्वारा बनाए गए कानून द्वारा स्थापित किया जाता है जिसमें उसकी शक्तियां, उद्देश्य, कर्त्तव्य तथा विशेषाधिकारों की व्याख्या की जाती हैं वह वित्तीय द ष्टि से स्वतंत्र होता है तथा उसका कार्यक्षेत्र किसी एक प्रकार के व्यापार से ही सम्बन्धित होता है। इस प्रकार लोक निगम एक कृत्रिम व्यक्ति है। जिसे विशेष प्रकार के कार्य करने की कानून द्वारा अनुमति दी जाती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि लोक निगम एक विधानपालिका द्वारा स्थापित की गई एक ऐसी कानूनी संस्था है; जिसका कार्यक्षेत्र तथा शक्तियां निश्चित होती हैं और वह वित्तीय तथा प्रशासकीय द ष्टि से स्वतंत्र होती है।

सार्वजनिक निगमों के गठन के कारण
(Reasons behind the Rise of Public Corporation)

शासन के जनकल्याणकारी कार्यों में व द्धि आधुनिक युग में शासन का स्वरूप जनकल्याणकारी हो गया है। उसे सर्वसाधारण के हितों का ध्यान रखना होता है और मानव जीवन के हर पहलू अर्थात् राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन से जुड़े रहना होता है। इसी कारण आधुनिक शासन के जनकल्याणकारी दायित्व बेहद बढ़ गए हैं। ये सारे काम विभागों के जरिए कराना संभव नहीं है। इन नए कामों के लिए नई प्रशासनिक संस्थाओं की आवश्यकता है। अतः कुछ विशेष उद्देश्यों के लिए, सार्वजनिक निगमों की स्थापना की जाती है।

औद्योगीकरण के कारण आधुनिक युग में औद्योगीकरण और शहरीकरण तेजी से हो रहा है। हमारे देश में भी चारों तरफ नए-नए उद्योग लग रहे हैं। और शहर बहुत तेज रफ्तार से बढ़ते चले आ रहे हैं। ऐसी स्थिति में उद्योग और व्यवसाय पर नियंत्रण रखना सरकार के लिए जरूरी है। कभी-कभी इनमें से कुछ की बागडोर शासन को सीधे अपने हाथों में लेनी पड़ती है। इसका उद्देश्य लोगों को उचित मूल्य पर बेहतर सेवाएँ उपलब्ध कराना होता है। ऐसी व्यावसायिक और औद्योगिक गतिविधियों के लिए सार्वजनिक निगमों का गठन किया जाता है। उद्योगों के विकास और सरकारी उद्योगों के चलाने के लिए औद्योगिक वित्त निगम या औद्योगिक विकास निगम जैसे सार्वजनिक निगमों की स्थापना की जाती है।

जनता को बुनियादी सेवाएँ उपलब्ध कराना सभी देशों में आम जनता को उचित मूल्य पर कुछ बुनियादी सेवाएँ उपलब्ध कराने की ज़िम्मेदारी सरकार पर होती है। इसका एक उदाहरण बस सेवा है। सरकार जनता के फायदे के लिए इस बुनियादी परिवहन सेवा की ज़िम्मेदारी अपने हाथ में ले लेती है। परिवहन व्यवस्था के सुचारू संचालन के लिए व्यावसायिक दक्षता, लचीलेपन और तुरंत फैसले करने की क्षमता की आवश्यकता होती हैं इसके लिए सार्वजनिक निगम बनाए जाते है। हमारे यहाँ सभी राज्यों में सड़क परिवहन निगम बनाए गए हैं: जैसे महाराष्ट्र राज्य सड़क परिवहन निगम या आँध्र प्रदेश राज्य सड़क परिवहन निगम आदि। अनेक राज्यों में विद्युत आपूर्ति निगम भी बनाए गए हैं।

राष्ट्रीयकरण यदि कोई उद्योग या व्यावसाय जनहित में काम नहीं करता तो सरकार उसका स्वामित्व अपने हाथ में ले लेती है। इसी को राष्ट्रीयकरण को समाजवाद की दिशा में एक कदम माना जाता है। हमारा उद्देश्य समाजवादी सामाजिक व्यवस्था

स्थापित करना है। बीमा व्यवसाय और विमान सेवाओं आदि का राष्ट्रीयकरण प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने किया था और बैंकों का राष्ट्रीयकरण प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने किया था। राष्ट्रीयकृत उद्योगों या व्यावसायों को चलाने के लिए जीवन बीमा निगम, एअर इंडिया और इंडियान एअर लाइंस कार्पोरेशन जैसे सार्वजनिक निगमों की स्थापना की गयी। और हम देख चुके हैं कि आधुनिक सरकारों को आम जनता की सेवा और कल्याण के लिए नए आर्थिक, वाणिज्यिक या औद्योगिक दायित्व निभाने पड़ते हैं। कई बार उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करके उनका प्रबंध सरकार अपने हाथ में ले लेती है। इन कामों के लिए विभाग उपयुक्त नहीं रहते। क्योंकि इन कामों को वैसे ही चलाना होता है जैसे कोई व्यापारी या उद्योगपति चलाता है। इसके लिए व्यावसायिक दक्षता, तुरंत निर्णय लेने की क्षमता, लचीला द ष्टिकोण और स्वायत्तता आवश्यक है। विभागीय व्यवस्था में यह सब बातें संभव नहीं हैं इसीलिए सार्वजनिक निगमों की स्थापना की जाती है यह निगम इन कार्यों को बेहतर ढंग से चला सकते हैं। क्योंकि इनका ढाँचा विभागों से बिल्कुल भिन्न होता है। विभागों की तुलना में इन्हें निर्णय लेने की अधिक आजादी होती है और उसके दैनिक कामकाज में अधिक लचीलापन होता है। अब हम सार्वजनिक निगमों के जन्म और विशेषताओं का अध्ययन करेंगे।

सार्वजनिक निगमों का जन्म सामान्यतः सार्वजनिक निगमों की स्थापना तब की जाती है जब सरकार व्यापार, उद्योग या वाणिज्यिक गतिविधियाँ अपने हाथ में ले लेती है। सार्वजनिक निगम पर सरकार का स्वामित्व होता है। इसका प्रबंध किसी निजी निगम की तरह ही चलता है। इनमें केवल एक ही अंतर है कि निजी निगम का स्वामित्व निजी शेयर धारकों के हाथ में होता है। जबकि सार्वजनिक निगम का स्वामित्व सरकार के हाथ में होता है। असलियत तो यह है कि सार्वजनिक निगमों का जन्म ही निजी निगमों के सफल संचालन से हुआ है। निजी निगम में धन का निवेश शेयर धारक और अन्य व्यक्ति करते हें जबकि प्रबंध निदेशक-मंडल के हाथ में होता है। इस निदेशक मंडल का चुनाव शेयर धारक करते हैं। निदेशक मंडल की ज़िम्मेदारी यह होती है कि निगम का प्रबंध कुशलता से हो। दैनिक फैसले सही समय पर किए जाएँ और शेयर धारकों को मुनाफा हो। यह निदेशक मंडल शेयर धारकों के प्रति जवाबदेह होता है और उसे उन्हें सालाना रिपोर्ट देनी होती है। लेकिन निगम के रोजमर्रा के प्रशासन में निदेशक मंडल को बहुत आजादी होती है। शेयरधारी उसके दैनिक कामकाज में हस्तक्षेप नहीं करते। इसे ही निदेशक मंडल की स्वायत्तता कहते हैं। पश्चिमी देशों में निजी निगम बहुत सफलता के साथ अपना कारोबार चला रहे हैं। इसीलिए पश्चिमी देशों की सरकारों ने व्यापारिक गतिविधियाँ चलाने का निश्चय किया तो निजी निगमों की प्रबंध प्रणाली अपनायी। सार्वजनिक निगम सबसे पहले इंग्लैण्ड में बनाए गए और उसके बाद अन्य यूरोपीय देशों ने अपने-अपने यहाँ ऐसे निगम बनाए। भारत सरकार ने जीवन बीमा व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण करके भारतीय जीवन बीमा निगम बनाा। इसी तरह इंडियन एअर लाइंस कार्पोरेशन, भारतीय खाद्य निगम, दामोदर घाटी निगम, औद्योगिक वित्त निगम, केंद्रीय भंडारण निगम और अन्य अनेक निगमों की स्थापना की गयी। राज्य सरकारों ने भी अनेक गतिविधियों के लिए निगमों की स्थापना की। जैसे सड़क परिवहन, औद्योगिक विकास, विद्युत आपूर्ति, आदिवासियों और पिछड़े वर्गों तथा पिछड़े क्षेत्रों का विकास इत्यादि। उदाहरण के लिए महाराष्ट्र में राज्य सरकार ने करीब 27 सार्वजनिक निगम बनाए हैं।

निगमों की विशेषताएँ
(Features of Corporations)

हमारे देश में केन्द्र और राज्य सरकारों ने अनेक सार्वजनिक निगम स्थापित किए हैं। अब हमें यह समझना चाहिए कि इन निगमों में ऐसी कौन सी विशेषताएँ हैं जिनके कारण सरकार की व्यावसायिक गतिविधियों के लिए यह इतने उपयोगी हैं।

सरकार का स्वामित्वः सार्वजनिक निगमों पर सरकार का स्वामित्व होता है और वह विशेष कार्यों के लिए इनका गठन करती है और इनमें सार्वजनिक धन का निवेश करती है। इसीलिए इन्हें सार्वजनिक निगम कहा जाता है।

निदेशक मंडल द्वारा प्रबंधः प्रत्येक सार्वजनिक निगम के प्रबंध के लिए एक निदेशक मंडल बनाया जाता है। इसके अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्ति सरकार करती है। निगम के दैनिक प्रबंध की ज़िम्मेदारी निदेशक मंडल पर होती है। वह रोजमर्रा के फैसले करता है और उन पर अमल कराता है। रोजमर्रा के प्रशासन में उसे पूरी स्वायत्तता होती है लेकिन नीति सम्बन्धी व्यापक दिशा निर्देश समय-समय पर सरकार ही देतीहै। इन व्यापक नीति निर्देशों के दायरे में काम करने के लिए निदेशक मंडल को पूरी आजादी होती है। वह सरकार को वार्षिक रिपोर्ट और परीक्षित लेखा-जोखा देता है। इस प्रकार निदेशक मंडल सरकार और संसद के प्रति भी जवाबदेह होता है। हम कह सकते हैं कि प्रबंध मंडल अप्रत्यक्ष रूप से आम जनता के प्रति भी

जवाबदेह होता है। क्योंकि उसमें सार्वजनिक धन लगा होता है। लेकिन देश के आम नागरिक या सरकार सार्वजनिक निगम के दैनिक कामकाज में हस्तक्षेप नहीं करती। यह ज़िम्मेदारी सिर्फ निदेशक मंडल की होती है।

विधि द्वारा स्थापितः सार्वजनिक निगमों की स्थापना विधि पूर्वक या सांसद अथवा विधानमंडल द्वारा पारित कानूनों के जरिए की जाती है। निगम का उद्देश्य निदेशक मंडल की संरचना, सदस्यों की संख्या, सेवा काल, अधिकारों और दायित्वों का निर्णय विधि सम्मत तरीके से किया जाता है। उनमें कोई भी परिवर्तन करने के लिए कानून में संशोधन आवश्यक हैं प्रत्येक निगम का अलग कूानन होता है और उसका संचालन उसी कानून की व्यवस्थाओं के अनुसार किया जाता है।

निगमित दर्जाः प्रत्येक सार्वजनिक निगम को निगमित दर्जा मिला होता है अर्थात् कानून की नजर में निगम का दर्जा एक व्यक्ति की तरह होता है। वह संपत्ति रख सकता है और उसे बेच सकता है। किसी अन्य एजेंसी या व्यक्ति से अनुबंध कर सकता है। वह किसी के भी खिलाफ मुकदमा कर सकता है या कोई भी उसके खिलाफ मुकदमा कर सकता है। वैसे तो सार्वजनिक मुकदमा कर सकता है या कोई भी उसके खिलाफ मुकदमा कर सकता है। वैसे तो सार्वजनिक निगम सरकार का प्रशासनिक अभिकरण होता है लेकिन कानून की नजर में उसका एक नागरिक की तरह ही स्वतंत्र दर्जा होता है। इसे ही सार्वजनिक निगम का निगमित दर्जा कहते हैं। इसीलिए निगम संपत्ति अपने नाम से खरीदता है, सरकार के नाम से नहीं। अदालतों में निगम के खिलाफ मुकदमा किया जाता है, सरकार के खिलाफ नहीं।

विशेष उद्देश्य के लिए गठनः प्रत्येक सार्वजनिक निगम का गठन किसी विशेष उद्देश्य के लिए अलग कानून बनाकर किया जाता है। कोई निगम इसके सिवाय कोई और काम नहीं कर सकता और अपने कानून से बंधा होता है। उदाहरण के लिए जीवन बीमा निगम किसी व्यक्ति के जीवन का बीमा कर सकता है, संपत्ति या वाहन आदि का नहीं। जीवन बीमा निगम अधिनियम उसे ऐसा करने से रोकता है।

वित्तीय स्वायत्तताः स्वायतत्तता का अर्थ है सीमित दायरे में स्वतंत्रता। सार्वजनिक निगम को वित्तीय मामलों में स्वायत्तता होती है। वह धन इकट्ठा कर सकता है। मनचाहे ढंग से निवेश कर सकता है। माल और संपत्ति की खरीद और बिक्री कर सकता है तथा अनुबंध आदि कर सकता है। सरकार के कड़े नियम और व्यवस्थाएँ सार्वजनिक निगमों पर लागू नहीं होतें खर्च, लेखांकन, बजट, लेखा परीक्षा आदि मामलों में भी सार्वजनिक निगमों में भी स्वायत्तता प्राप्त होती है। सामान्यतः सरकारी नियम और कानून उन पर लागू नहीं होते लेकिन इस मामले में सरकार की व्यापक नीतियों को मानना आवश्यक होता है।

कर्मचारियों के मामलों में स्वायत्तताः सामान्यतः सार्वजनिक निगम के कर्मचारी प्रशासनिक कर्मचारी नहीं होते। उनकी भर्ती निगम करता हैं लोक सेवा आयोग नहीं। उनके वेतनमान और सेवा शर्तें भी सरकारी कर्मचारियों से भिन्न होती हैं। लेकिन उन्हें सरकार द्वारा जारी कुछ व्यापक नीतिगत दिशा निर्देशों का पालन करना होता है। (जैसे आरक्षण नीति) इसके सिवाय सार्वजनिक निगमों को कर्मचारियों के मामलें में पूरी आजादी होती है।

दैनिक स्वायत्तता हम देख चुके हैं कि सार्वजनिक निगमों का प्रबंध निदेशक मंडल के हाथ में होता है। दैनिक प्रबंध में उसे पूरी स्वायत्तता होती है। सरकार केवल नीति संबंधी दिशा निर्देश जारी करती है। वह प्रबंध के दैनिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करती। निगमों के सफल संचालन के लिए कामकाज की आजादी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इनके दैनिक कामकाज पर सरकार के कड़े और बसिर-पैर के नियम और नियंत्रण लागू नहीं होते। व्यावसायिक गतिविधियाँ चलाने के लिए ये आजादी जरूरी है।

सरकार के प्रति जवाबदेहः यह सच है कि सार्वजनिक निगम वित्तीय, कार्मिक और प्रबंधकीय द ष्टि से स्वायत्त होते हैं लेकिन साथ ही वे सरकार के प्रति ज़िम्मेदार और जवाबदेह भी होते हैं। उन्हें समय-समय पर सरकार द्वारा जारी नीति-निर्देशों के अनुसार काम करना होता है। अपनी वार्षिक रिपोर्ट और अन्य दस्तावेज सरकार के सामने पेश करने होते हैं। निदेशक मंडल के सदस्यों की नियुक्ति सरकार करती है और उन्हें हटा भी सकती है। कुछ मामलों में सरकार की अनुमति भी आवश्यक है। अतः हम कह सकते हैं कि सार्वजनिक निगम अपने काम के लिए सरकार के प्रति जवाबदेह होते हैं।

संसद/विधान मंडल के प्रति जवाबदेहः सार्वजनिक निगमों की स्थापना एक कानून के अन्तर्गत की जाती है और उन्हें इसकी व्यवस्थाओं के अनुरूप काम करना होता है। संसद में इनके कामकाज पर बहस होती है, संसद सदस्य प्रश्न पूछते हैं और संबद्ध मंत्री को उनके उत्तर देने होते हैं। निगमों की वार्षिक रिपोर्ट संसद में पेश की जाती है। सार्वजनिक उपक्रमों के बारे में संसदीय समिति इन निगमों के कामकाज के बारे में पूछताछ कर सकती है। अतः यह कहा जा सकता है कि सार्वजनिक निगम संसद/विधान मंडल के प्रति भी जवाबदेह होते हैं।

अंत में हम कह सकते हैं कि सार्वजनिक निगमों का जन्म निजी व्यापारिक निगमों की सफलता से प्रेरित है। एकमात्र अंतर यही है कि निजी निगमों के शेयरधारक निवेश करते हैं जबकि सार्वजनिक निगमों में निवेश सरकार करती है। और इनका स्वामित्व भी सरकार के ही हाथ में होता है। सार्वजनिक निगमों का प्रबंध किसी मंत्री या राजनीतिज्ञ द्वारा नहीं किया जाता। इसके लिए अलग से निदेश मंडल की नियुक्ति होती है। इस मंडल में एक अध्यक्ष, प्रबंध निदेशक और कुछ पूर्णकालिक तथा अंशकालिक तथा सदस्य होते हैं जिन्हें उस क्षेत्र में विशेषज्ञ जानकारी अनुभव होती है। निदेशक मंडल का स्वरूप गैर राजनीतिक होता है निगम के अधिकार कर्तव्य और दायित्वों का निर्धारण कानून द्वारा किया जाता है। उन्हें वित्तीय, कार्मिक, और दैनिक प्रबंध की स्वायत्तता प्राप्त होती है। इसके साथ ही वे सरकार और संसद के प्रति जिम्मेवार और जवाबदेह होते हैं। अमरीकी राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी रूजवेल्ट के शब्दों में, "सार्वजनिक निगम में ताकत सरकार की होती है लेकिन लचीला द ष्टिकोण और पहल करने की क्षमता निजी उद्यम की होती है"। अतः सार्वजनिक निगम में व्यावसायिक लचीलेपन और सार्वजनिक दायित्व का मिश्रण होता है। सरकार जब व्यावसायिक क्षेत्र में उतरे तो यही व्यवस्था अपनाना सर्वोत्तम होता है।

सार्वजनिक निगमों की कुछ समस्याएँ: सरकार की व्यावसायिक गतिविधियों को चलाने के लिए सार्वजनिक निगम सर्वोत्तम अभिकरण हैं क्योंकि उनके पास वित्तीय, कार्मिक, और प्रबंधकीय आजादी होती है। व्यावसायिक लचीलापन और कुशलता होती है। तथा वह प्रत्यक्ष राजनीतिक नियंत्रण और हस्तक्षेप से मुक्त होते हैं। लेकिन साथ ही साथ सरकार की नीति निर्देशन और कानून द्वारा उन पर कुछ सीमाएँ भी आरोपित की जती हैं। ये सीमाएँ इस प्रकार हैं:

1. संगठनों के संचालन में यह अंतर करना बड़ा मुश्किल है कि सामान्य नीति क्या है और रोजमर्रा के लिए कौन सी नीतियाँ अपनायी जाएँ। इस कारण निगमों के दैनिक कामकाज में सरकारी हस्तक्षेप बहुत बढ़ जाता है जिससे सरकार और इन निगमों के बीच टकराव की स्थिति आ जाती है।
2. एक अन्य समस्या यह है कि स्वायत्तता और दायित्वों के बीच संतुलन कैसे रखा जाए। यदि निगमों को बहुत अधिक आजादी दे दी जाए तो वे काबू से बाहर हो सकते हैं और अगर उन पर बहुत अधिक नियंत्रण रखा जाए तो वे कारगर ढंग से काम नहीं कर सकते। इसलिए आजादी और नियंत्रण के बीच सही संतुलन ज़रूरी है।
3. सार्वजनिक निगम केवल व्यावसाय, बैंकिंग, परिवहन, ऋण, और वित्तीय व्यवस्था जैस मामलों के लिए ही उपयोगी है। लेकिन रक्षा, कानून और व्यवस्था तथा न्याय जैसे सरकारी कामों के लिए ये उपयोगी नहीं हैं। इन कामों के लिए तो विभागीय व्यवस्था ही कारगर है।
4. सार्वजनिक निगमों में प्रोत्साहन देने और हतोत्साहित करने की कोई निश्चित व्यवस्था नहीं है इसलिए प्रबंधकों को सही ढंग से प्रेरणा नहीं मिल पातीं इससे निगम के कामकाज पर विपरीत असर पड़ता है।

विभाग और निगम में अंतर
(Distinction Between Dept & Corp.)

इस इकाई में अब तक हमने सरकारी विभागों औ सार्वजनिक निगमों का अध्ययन किया हैं अब हम उनके बीच के अंतर देखेंगे। दोनों ही सरकार के पंक्ति अभिकरण हैं लेकिन फिर भी एक दूसरे से काफी भिन्न हैं।

आन्तरिक संगठन की द ष्टि से निगमों और विभागों में कोई महत्वपूर्ण अन्तर नहीं होता। उनके भीतर भी कार्य का विभाजन विभागों, मण्डलों, प्रभागों, खण्डों तथा पदसोपानात्मक इकाइयों से किया जाता है और यह ठीक वैसा ही होता है जैसा कि विभागों में। इस पर भी निगमों और विभागों में कुछ अन्तर होता है, जो निम्नलिखित हैं:

1. **स्वायत्तता की मात्रा में अंतर:** सरकारी निगमों को आन्तरिक मामलों में पर्याप्त स्वायत्तता प्राप्त रहती है। वे विभागों के विपरीत सरकारी अंकुश के मुक्त रहते हैं। वैसे विभागों को भी कार्य करने की पर्याप्त स्वतंत्रता रहती है परन्तु वे कानूनी रूप से निगमों की भांति उसकी मांग नहीं कर सकते। निगमों पर सरकार का नियंत्रण विभागों की अपेक्षा बहुत कम रहता है ।
2. **निगमों पर कार्यपालिका का सीमित नियंत्रण:** निगमों पर कार्यपालिका का नियंत्रण सीमित रहता है। विभाग का अध्यक्ष मन्त्री होता है परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि निगम का अध्यक्ष भी मन्त्री ही हो। विभाग मुख्य प्रशासक के ठीक नीचे

रहता है तथा पदसोपान की श ंखला में बंधा रहता है। निगम पदसोपान से प थक एक स्वतंत्र निकाय होता है। वैसे निगमों पर मन्त्रिमण्डलीय नियंत्रण तीन प्रकार से स्थापित किया जाता है-

(i) संचालकों की नियुक्ति करके एवं उन्हें अलग करके,

(ii) सामान्य नीति के सम्बन्ध में निर्देभ देकर,

(iii) निगमों से सूचनाएं एवं प्रतिवेदन प्राप्त करके।

3. **निगमों पर व्यवस्थापिका का भी सीमित नियंत्रण:** निगमों पर व्यवस्थापिका का भी सीमित नियंत्रण रहता है। विभागों पर संसद का कड़ा वित्तीय नियंत्रण रहता है। वे उसकी स्वीकृति के बिना एक पैसा भी खर्च नहीं कर सकते। उनकी तुलना में सरकारी निगमों पर संसद का वित्तीय नियंत्रण काफी कम रहता है। अपने प्रारम्भिक वर्षों में निगम संसद के अनुदानों पर आश्रित रहते हैं। परन्तु जैसे-जैसे वे आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होते जाते हैं, वैसे-वैसे उनके कार्यों में संसदीय हस्तक्षेप घटता जाता है।

4. **वित्तीय प्रक्रियाओं में अन्तर:** निगम और विभाग की वित्तीय प्रक्रियाओं में भी अन्तर होता है। चूंकि निगमों से यह आशा की जाती है कि कुछ वर्षों के पश्चात् वे आत्मनिर्भर हो जायेंगे, इसलिए उन्हें कुछ ऐसी वित्तीय शक्तियां दी जाती हैं जो विभागों को प्राप्त नहीं होतीं, जैसे कि धन उधार लेना तथा देना, अपना बजट स्वयं बनाना, सुरक्षित निधि की व्यवस्था, आदि।

5. **कानूनी स्थिति (Legal Status) में अन्तर:** निगम की कानूनी या वैधानिक स्थिति विभागों से काफी भिन्न होती है जबकि विभागों को राज्य का संरक्षण प्राप्त होता है और विभागों के विरुद्ध सारे अभियोग सरकार या राज्य के विरुद्ध अभियोग समझे जाते हैं, निगम के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता है। निगम का अपना स्वतंत्र कानूनी व्यक्तित्व होता है। वह दूसरों पर हानि के लिए अभियोग चला सकता है और इसके विरुद्ध भी हानि की पूर्ति के लिए नागरिक मुकदमे चला सकते हैं।

6. **क्रय-विक्रय के नियम:** निगम के क्रय-विक्रय सम्बन्धी नियम भी विभाग से भिन्न होते हैं। विभाग को इस हेतु टेण्डर (Tender) आमन्त्रित करने पड़ते हैं तथा इस तरीके से कई बार अच्छी वस्तुएं भी प्राप्त नहीं होती हैं। निगम इस समस्या को वार्ता द्वारा हल कर लेता है और औपचारिकताओं (formalities) में कम-से-कम फंसता है।

7. **कर्मचारियों के सम्बन्ध में अन्तर:** सरकारी निगमों तथा विभागों में कर्मचारियों के सम्बन्ध में भी अन्तर रहता है। विभागों में कर्मचारियों की पदोन्नति वरिष्ठता (Seniority) के आधार पर की जाती है, जबकि निगमों में योग्यता (Merit) के आधार पर। इसके अतिरिक्त, निगम, अपने अयोग्य कर्मचारियों को नौकरी से अलग कर सकता है। विभागीय कर्मचारी सरकारी कर्मचारी होते हैं, उन्हें सरलता से अलग नहीं किया जा सकता।

8. **लेखा परीक्षण की विधियों में अन्तर:** सरकारी विभागों में लेखा परीक्षण करते समय इस बात की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है कि उनमें संसद के नियम और कानूनों के अनुसार धन खर्च हुआ है अथवा नहीं जबकि निगम का लेखा परीक्षण इस द ष्टि से किया जाता है कि इसको कितना घाटा या मुनाफा रहा और कोई अपव्यय तो नहीं हुआ।

9. **राजनीतिक दबाव में अन्तर:** विभागों पर समय-समय पर खूब राजनीतिक दबाव पड़ता है जबकि निगमों पर राजनीतिक दबाव बहुत कम होता है।

विभाग और निगम के अन्तर की तुलनात्मक द ष्टि नीचे दर्शाया गया है:

	विभाग (Dept.)		**निगम (Corpn.)**
1.	विभाग का मुखिया मंत्री होता है। जो एक राजनीतिक व्यक्ति होती है। उसकी सहायता के लिए एक या अनेक उपमंत्री होते हैं।	1.	निगम का नेत त्व निदेशक मंडल करता है जिसके सदस्य अपने क्षेत्र के विशेषज्ञ होते हैं।
2.	विभाग की नीतियों और दैनिक प्रशासन दोनों की ज़िम्मेदारी मंत्री पर होती है।	2.	निगम में सामान्य नीतियाँ सरकार तय करती है और दैनिक प्रशासन निदेशक मंडल देखता है।

3. विभागों पर कड़ा वित्तीय नियंत्रण होता है।	3. निगमों को वित्तीय स्वायत्तता होती है।
4. विभागीय कर्मचारियों की भर्ती लोक सेवा आयोग करता है। और वे सरकारी नियमों तथा व्यवस्थाओं संचालित होते हैं	4. निगमों को कार्मिक मामलों में स्वायत्तता होती है और कर्मचारियों के लिए उनके अपने नियम तथा व्यवस्थाएँ होती हैं।
5. विभागीय व्यवस्था में प्रशासन के सामान्य तरीके अपनाए जाते हैं। न प्रयोग की गुंजाइश होती है न लचीलेपन की।	5. निगमों में प्रयोग की गंजाइश होती है और लचीलापन भी होता है।
6. विभाग सरकार के आम कामकाज के लिए उपयोगी, बड़े और पारंपरिक संगठन हैं।	6. निगम सरकार के नए, आर्थिक और वाणिज्यिक कार्यकलापों के लिए उपयोगी हैं।
7. विभागों पर मंत्री के जरिए सीधे राजनीतिक नियंत्रण होता है।	7. सार्वजनिक निगमों में राजनीतिक नियंत्रण नहीं के बराबर होता है और राजनीतिक हस्तक्षेप कम होता है।

अतः हम कह सकते हैं कि सरकारी विभागों और सार्वजनिक निगमों के बीच कुछ भिन्नताएँ हैं। दोनों सरकार के पंक्ति अभिकरण हैं। यह सही है कि सरकार के अधिकांश क्रियाकलाप विभागों द्वारा चलाए जाते हैं और सार्वजनिक निगमों को वही काम सौंपे जाते हैं जिनके लिए व्यावसायिक दक्षता, वाणिज्यिक कार्यकुशलता और राजनीतिक हस्तक्षेप की छूट आवश्यक होती है। लेकिन आधुनिक युग में सार्वजनिक निगमों की संख्या तेजी से बढ़ रही हैं

लोक निगमों के लाभ
(Advantages of Public Corporations)

आजकल सरकारें लोक निगम को अन्य संगठनों की अपेक्षा अधिक मात्रा में अपना रही हैं, क्योंकि इस व्यवस्था में कुछ बड़े लाभ हैं जो इस प्रकार हैं:

1. **स्वायत्तता एवं स्वतंत्र:** लोक निगमों से पहला लाभ इसकी स्वायत्तता और स्वतंत्रता है। यह अपने कार्य संचालन में सरकारी विभागों के नियमों, जटिल प्रक्रियाओं और लालफीताशाही से नहीं बंधे होते हैं, अतः अपने कार्य अधिक तेजी से कर सकते हैं इनकी वित्तीय व्यवस्था सरकारी बजट से प थक रहती है। ये अपने दैनिक कार्यों में मन्त्रियों और सचिवों के नियंत्रण से मुक्त रहते हैं। अतः शीघ्र गति से स्वतंत्रतापूर्वक कार्य कर सकते हैं।
2. **राजनीतिक दबाव से मुक्त होना:** लोक निगम राजनीति के दुष्प्रभावों से मुक्त होते हैं क्योंकि इनके संचालन और प्रबन्ध की व्यवस्था सरकारी प्रबन्ध से प थक होती है। मन्त्री अपने विभागों के कार्य संचालन में जैसा राजनीतिक दबाव डाल सकते हैं, वैसा स्वतंत्र रूप से कार्य करने वाले निगमों में नहीं डाल जा सकता है।
3. **निजी उद्योगों की भांति संचालन:** निगमों का संचालन निजी उद्योगों की भांति किया जाता है। इनमें दक्ष कर्मचारियों को बड़ा प्रोत्साहन दिया जाता है, अच्छा काम करने पर उनकी सरकारी कर्मचारियों की तुलना में शीघ्र पदोन्नति और वेतन में व द्धि की जाती है। ऐसे कर्मचारियों से निगमों की कार्यकुशलता बहुत बढ़ जाती है।
4. **दक्षता तथा मितव्ययिता:** निगमों के कारण आर्थिक क्षेत्र में दक्षता तथा मितव्ययिता उत्पन्न होती है।
5. **सरकार को अपने आर्थिक कार्यक्रमों को पूरा करना आसान:** लोक निगमों का यह भी एक महत्वपूर्ण लाभ है कि सरकार को व्यापारिक क्षेत्र में प्रत्यक्ष रूप से प्रविष्ट हुए बिना अपनी आर्थिक नीतियों को क्रियान्वित करने का अवसर प्राप्त हो जाता है।

लोक निगमों की हानियाँ
(Disadvantages of Public Corporations)

1. लोक निगम तथा सरकार में कई बार क्षेत्राधिकार की समस्या बनी रहती है।
2. लोक निगमों का प्रयोग औद्योगिक व व्यापारिक कार्यों तक ही सीमित है।

3. निगम की धन सम्बन्धी स्वतंत्रता के कारण भी आलोचना होती है। धन के व्यय पर किसी न किसी प्रकार का नियंत्रण अवश्य होना चाहिए।
4. लोक निगमों के संचालक मण्डलों में सरकारी अधिकारियों की उपस्थिति से कार्यपालिका का हस्तक्षेप बढ़ने लगता है।
5. यद्यपि लोक निगम अपने दैनिक व आन्तरिक प्रशासन में मन्त्रियों के नियंत्रण से मुक्त रहते हैं परन्तु उनकी नीतियों का निर्धारण मन्त्रियों के द्वारा किया जाता है। दैनिक प्रशासन और नीति निर्धारण में स्पष्ट रेखा खींचना कठिन है। इसलिए कई बार मन्त्री तथा निगम के बीच संघर्ष चलता रहता है।

भारत में महत्वपूर्ण लोक निगमों में निम्नलिखित शामिल हैं-

1. भारतीय रिजर्व बैंक
2. दामोदर घाटी निगम
3. जीवन बीमा निगम
4. औद्योगिक वित्त निगम
5. औद्योगिक कर्मचारी राज्य बीमा निगम
6. इण्डियन एयरलाइन्स कारपोरेशन
7. केन्द्रीय वेयर हाउसिंग निगम
8. एयर इण्डिया इण्टरनेशलन आदि।

सारांश

यह एक तथ्य है कि लोक निगमों का कार्य तथा संचालन सन्तोषजनक नहीं है परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि संगठन का यह स्वरूप बहुत लाभदायक है और बहुत लोकप्रिय हो रहा है। आज जबकि उद्योग तथा वाणिज्य के क्षेत्र में राज्य अधिक-से-अधिक सक्रिय हो रहा है, प्रशासकीय संगठन में यह रूप ही उपयुक्त मालूम देता है। फिर भी एक विशिष्ट प्रकार के प्रशासकीय अभिकरण के रूप में निगम की उपादेयता तीन तत्वों पर निर्भर करती है: **प्रथम,** निगम का उपयोग व्यावसायिक, वाणिजियक या औद्योगिक प्रबन्ध के लिए ही हो। **द्वितीय,** निगम को तुलनात्मक द ष्टि से सरकारी विभाग की अपेक्षा प्रबन्ध का अधिक स्वतंत्र क्षेत्र मिलना चाहिए। यदि सार्वजनिक दायित्व के नाम पर उसे भी विभणीय ढांचे में ही सम्मिलित कर लिया गया तो उसके अस्तित्व का मूल आधार ही लुप्त हो जायेगा। **त तीय,** संसदीय नियंत्रण तथा शासकीय नियंत्रण का उपयोग बहुत बुद्धिमानी से किया जाये। निगमों की छोटी-छोटी बातों की आलोचना संसदीय समितियों को नहीं करनी चाहिए। इससे अधिकारियों का मनोबल गिरता है।

ब्यूरो तथा बोर्ड अथवा आयोग
(The Bureau and Board or Commission)

विभागों के संगठन के आधार पर विचार करने के पश्चात दूसरा प्रश्न विभाग की अध्यक्षता का है। प्रश्न यह है कि क्या विभाग का अध्यक्ष एक व्यक्ति होना चाहिए अथवा एक से अधिक। यदि विभाग का नेत त्व एक व्यक्ति के हाथ में हो इसे ब्यूरो प्रकार का संगठन कहा जाता है, किन्तु यदि विभाग की अध्यक्षता कई व्यक्तियों के हाथ में साँझा रूप से हो तो उसे 'बोर्ड' प्रकार का संगठन कहा जाता है। भारत में ब्यूरो तथा बोर्ड दोनों विद्यमान हैं। मंत्री प्रायः कई विभागों के अध्यक्ष होते हैं, जैसे- शिक्षा, विदेशी मामले, ग ह-विभाग, कृषि आदि। किन्तु हमारे कुछ विभागों का प्रशासन बोर्डों अथवा आयोगों के अधीन है, उदाहरणार्थ प्रत्यक्ष कर बोर्ड (The Board of Direct Taxes) सीमाशुल्क, केन्द्रीय उत्पादन कर एवं आयकर विभागों की अध्यक्षता एवं उन पर नियंत्रण करता है। रेलवे बोर्ड रेलवे विभाग का प्रशासकीय अध्यक्ष है। राज्यों में भी राजस्व तथा बिजली बोर्ड अवस्थिति हैं। ब्रिटेन में भी अन्तर्देशीय राजस्व, सीमाशुल्क एवं उत्पादन कर, व्यापार, उद्योग तथा परिवहन विभागों के अध्यक्ष बोर्ड हैं। संयुक्त राज्य में भी स्कूल बोर्ड, सार्वजनिक स्वास्थ्य बोर्ड आदि अन्य बोर्ड हैं। इस प्रकार देशों ने विभागीय संगठनों के बारे में ब्यूरो तथा बोर्ड दोनों प्रकार की प्रणालियों को अपनाया हुआ है।

बोर्डों के प्रकार
(Kinds of Boards)

बोर्डों को कई बार 'आयोग' भी कहते हैं। 'बोर्ड' तथा 'आयोग' दोनों शब्द एक दूसरे के लिए प्रयोग कर लिए जाते हैं। विलोबी ने दोनों में महत्वपूर्ण अंतर बतलाया है। उनके कथनानुसार, "बोर्ड व्यक्तियों का समूह है जो अपने क्षेत्राधिकार में आने वाले सभी मामलों पर सामूहिक रूप से कार्रवाई करते हैं। हो सकता है कि वे व्यक्तिगत रूप से आंकड़े इकट्ठे करें तथा प्राथमिक सुनवाई आदि करें किन्तु कार्रवाई वे सामूहिक रूप से ही करते हैं। आयोग ऐसे सदस्यों का समूह है जो न केवल बोर्ड की तरह सामूहिक रूप से कार्य करते हैं बल्कि वे किए जाने वाले कार्य के लिए स्थापित किये गये यूनिटों के अध्यक्ष रूप में व्यकितगत रूप से भी कार्य करते हैं।" फिर भी जैसा कि ऊपर कहा गया है, इन दोनों शब्दों को प्रशासनिक संगठन में एक दूसरे के लिए प्रयोग किया जाता है।

बोर्ड अथवा आयोग निम्न प्रकार के होते हैं-

1. **प्रशासकीय बोर्ड (Admiminstrative Boards):** जहाँ किसी विभाग का अध्यक्ष बोर्ड हो, उसे प्रशासकीय बोर्ड कहा जाता है है जैसे- रेलवे बोर्ड, राजस्व के लिए केन्द्रीय बोर्ड।
2. **सलाहकार बोर्ड (Advisory Boards):** इसे प्रायः विभाग के अघ्यक्ष के साथ सम्बद्ध किया जाता है ताकि उसे सामान्य अथवा विशिष्ट मामलों पर सलाह दे सके। यह सलाह उस पर बन्धनकारी नहीं होती। सलाहकार बोर्डों में प्रायः तकनीकी विशेषज्ञ सम्मिलित किए जाते हैं। वे विभाग के पदक्रम संगठन (Hiearchical Organisation) से बाहर होते हैं तथा विभाग का कार्य करने अथवा नीति बनाने का उनका कोई उत्तरदायित्व नहीं होता। इन बोर्डों को समितियाँ भी कहा जाता है। भारत में केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड, रेलवे सलाहकार बोर्ड, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, लोक सेवा आयोग आदि।
3. **पदक्रम में व्यवस्थित बोर्ड (Board tied into Hiearchy):** कई बार कोई बोर्ड अथवा आयोग मध्यवर्ती स्तर पर पदक्रम में व्यवस्थित होता है। इसे विभाग चलाने की शक्ति तो नहीं दी जाती किन्तु इसे सौंपे गए विशिष्ट क्षेत्र में अर्धविधायी तथा अर्ध-न्यायिक कार्य सुपुर्द किये जाते हैं; उदाहरणार्थ हरियाणा स्कूल शिक्षा बोर्ड, राज्य बिजली बोर्ड। स्कूल बोर्ड आंगिक रूप से शिक्षा विभाग के साथ सम्बन्धित है किन्तु इसे स्कूल श्रेणियों के लिए पाठ्यक्रम निर्धारित करने तथा उच्च्तर माध्यमिक परीक्षा लेने का कार्य सौंपा जाता है। बिजली बोर्ड बिजली वितरण का कार्य करता है।
4. **विनियामक आयोग (Regulatory Commission):** संयुक्त राज्य में सामान्य कल्याण के लिए गैर-सरकारी व्यक्तियों तथा सम्पत्ति को विनियमित तथा नियंत्रित करने के लिए कुछ आयोग स्थापित किए जाते हैं। इन आयोगों को अर्ध-विधायी तथा अर्ध-न्यायिक कार्य सौंपे जाते हैं।
5. **द्वि-दलीय बोर्ड (Bi-partisan Boards):** कई बार दलीय राजनीति से छुटकारा पाने के लिए प्रमुख दलों के प्रतिनिधियों को सम्मिलित करके बार्ड बना दिये जाते हैं।

ब्यूरो तथा बोर्ड के गुण तथा अवगुण
(Advantages and Disadvantages of Bureau and Board Types)

बोर्डों के गुण

बोर्ड निम्नलिखित परिस्थितियों में उपयुक्त समझे जाते हैं-

1. जहाँ कर्त्तव्य अर्ध-विधायी अथवा अर्ध-न्यायिक प्रकार के होते हैं,
2. जहाँ पर कर्त्तव्य विस्त त विवेक की माँग करते हों अथवा सामान्य नियंत्रण की माँग करते हों,
3. जहां पर विभिन्न प्रकार के हितों को प्रतिनिधित्व देना हो,
4. जहाँ किन्हीं विशेष सेवाओं के संचालन में दलगत राजनीति का उन्मूलन करना हो अथवा इससे बहुत कम करना हो,
5. जहाँ प्रशासन को बाह्य दबाव से बचाना हो, तथा
6. जहाँ नीतियाँ अभी निश्चित न हुई हों तथा कार्रवाई का उचित ढंग खोजने के लिए विचार-विमर्श की आवश्यकता हो।

एल. डी. ह्वाईट बोर्ड अथवा आयोग को तभी अच्छा समझता है-

1. यदि नीति के निर्धारण एवं खोज की आवश्यकता हो,
2. यदि सम्पत्ति से संबंधित गैर सरकारी हितों अथवा शक्तियों को प्रभावित करने वाली व्यापक स्वविवेक अथवा नियंत्रक शक्तियों के प्रयोग का प्रश्न निहित हो,
3. यदि विवादास्पद क्षेत्रों में बाध्यकारी शक्ति के प्रयोग की अपेक्षा है, तथा
4. यदि बाह्य दबाव से प्रशासनिक सत्यनिष्ठा की रक्षा करनी हो।

बोर्डों के अवगुण

बोर्ड के अवगुण निम्नलिखित हैं-

1. इससे छिन्न-भिन्नता आ जाती है तथा उत्तरदायी निर्देश प्राप्त नहीं होता।
2. यदि बहुत से व्यक्ति संयुक्त रूप से कार्य करते हैं तो व्यक्तिगत उत्तरदायित्व निश्चित नहीं किया जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति का उत्तरदायित्व किसी का भी उत्तरदायित्व नहीं होता।
3. बोर्ड के निर्णय प्रायः विभिन्न हितों में समझौते पर आधारित होते हैं। समझौते पर आधारित निर्णय सदा तर्क-संगत नहीं होते। हो सकता है कि यह भी सदस्यों के स्वार्थ का समझौता हो।
4. इससे विलम्ब होता है। यह शीघ्र कार्य नहीं कर सकता। सलाह तथा विवाद में समय नष्ट होता है।
5. इससे कर्मचारियों में भी दलगत राजनीति की भावना आ जाती है।
6. बोर्ड के सदस्यों में विचारभेद तथा टीम भावना के अभाव से संगठन में अनुशासनहीनता आ जाती है।
7. बोर्ड प्रायः साधारण स्तर के व्यक्तियों से निर्मित होता है अथवा इसमें 'चहेते' व्यक्ति रखे जाते हैं।

अलैगजेंडर हैमिलटन लिखता है, "बोर्डों में बड़ी सभाओं जैसी असुविधा होती है। उनके निर्णय धीरे होते हैं, उनकी शक्ति कम होती है तथा उनका उत्तरदायित्व बिखरा हुआ होता है। उनके पास एक व्यक्ति द्वारा प्रशासन जैसी योग्यताएँ तथा ज्ञान नहीं होता। उच्च योग्यता वाले व्यक्ति उनमें खुशी से नहीं आएँगे क्योंकि वे प्रकाश में नहीं रहते, उनका महत्त्व कम होता है तथा उन्हें विशिष्टता प्राप्त करने का कम अवसर मिलता है। बोर्ड के सदस्य स्वयं को सूचित रखने एवं अच्छे निर्णय करने का कम यत्न करेंगे क्योंकि इसके लिए उन्हें कम प्रोत्साहन मिलता है।"

भारत में आयोग तथा बोर्ड
(Commissions and Boards in India)

भारत में आयोगों तथा बोर्डों का विस्त त उपयोग किया गया है, यद्यपि ये अमरीका के स्वतंत्र विनियामक आयोग की तरह संरचित नहीं कहे जा सकते। जैसे कि ऊपर कहा गया है, अमरीकी आयोग मुख्य कार्यकारी अधिकारी के नियंत्रण से स्वतंत्र होते हें तथा वे किसी भी कार्यकारी अधिकारी के प्रति उत्तरदायी नहीं होते। अमरीका के आयोगों के जन्म का एक प्रमुख कारण यह है कि कांग्रेस राष्ट्रपति की शक्तियों में अविश्वास रखती है। किन्तु भारत में यह स्थिति नहीं है क्योंकि यहां संसदीय प्रणाली अपनाई गई है, जिसका मूल तत्व यह है कि विधान मण्डल कार्यकारिणी में विश्वास रखता है।

भारत के आयोगों को उनकी उत्पत्ति के आधार पर तीन वर्गों में बांटा जा सकता हैः

(क) **संवैधानिक आयोग (Constitutional Commissions):** हमारा संविधान कई आयोगों का उल्लेख करता है जिन्हें स्थापित करना पड़ता है। ये आयोग हैंः वित्त आयोग, संघीय लोक सेवा आयोग, चुनाव आयोग, पिछड़ी जातियों सम्बन्धी आयोग, सरकारी भाषा सम्बन्धी आयोग। संवैधानिक पवित्रता प्राप्त होने के कारण इन आयोगों को सर्वाधिक स्वायत्तता प्राप्त है। ये भारत के राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किये जाते हैं तथा इन पर किसी अन्य कार्यकारी अधिकारी का नियंत्रण नहीं होता। इनके सदस्यों को राष्ट्रपति नियुक्त करता है तथा उन्हें एक विशेष क्रियाविधि के अतिरिक्त हटाया नहीं जा सकता। उनके वेतन भारत की संचित निधि पर प्रभारित होते हैं तथा उन्हें उनके सेवाकाल में नहीं घटाया जा सकता।

(ख) **अधिनियमों द्वारा स्थापित आयोग/बोर्ड (Statutory Commissions/Boards):** दूसरे वर्ग में वे आयोग तथा बोर्ड आते हैं जिन्हें संसद के अधिनियमों द्वारा स्थापित किया जाता है। इनके उदाहरण हैं: विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, अणु शक्ति आयोग, रेलवे बोर्ड, तेल तथा प्राकृतिक गैस आयोग, बाढ़ नियंत्रण आयोग तथा विभिन्न सार्वजनिक निगम। ये बोर्ड अथवा आयोग प्रायः भारत सरकार के किसी मन्त्रालय के नियंत्रणाधीन कार्य करते हैं तथा अपने प्रशासकीय कार्य में स्वतंत्र होते हैं। अपने कार्य-संचालन में वे विभागीय कार्यविधियों को लागू नहीं करते जब तक कि वे स्वेच्छा से इन्हें लागू न करना चाहें। ऐसे बोर्ड तथा आयोग राज्य सरकारों के अधीन भी कार्य करते हैं।

(ग) **कार्यकारी आदेशों द्वारा स्थापित बोर्ड/आयोग (Boards/Commissions set up by Executive Orders):** ऐसे भी बोर्ड तथा आयोग होते हैं जो कार्यकारी अर्थात सरकार के आदेश द्वारा स्थापित किये जाते हैं। इनके उदाहरण हैं दस्तकारी सम्बन्धी बोर्ड (Handicrafts Board)] हथकरघा बोर्ड (Handloom Board)] केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड, केन्द्रीय जल तथा विद्युत आयोग आदि। ये उपर्युक्त (क) तथा (ख) में उल्लिखित बोर्डों, केन्द्रीय जल तथा आयोगों से बहुत कम शक्तियाँ रखते हैं। ये प्रायः मंत्री के साथ सम्बद्ध होते हैं जो इनके कार्यसंचालन की शक्ति रखता है तथा इनको समाप्त भी कर सकता है।

संवैधानिक आयोग देश में विशेष महत्व रखते हैं, इसलिए उनके कार्यों का वर्णन करना वांछनीय है। इससे हमें अमरीका के स्वतंत्र विनियामक आयोगों तथा भारतीय आयोगों का तुलनात्मक अध्ययन करने में सहायता मिलेगी।

1. **वित्त आयोग (The Finance Commissions):** भारतीय संविधान के अनुच्छेद 280 में यह व्यवस्था की गई है कि पाँच वर्ष के बाद अथवा यदि भारत का राष्ट्रपति इससे पहले आवश्यक समझे तो इससे पहले एक वित्त आयोग का गठन करेगा। आयोग में एक अध्यक्ष तथा चार सदस्य होंगे जो राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किए जाएँगे। अनुच्छदे 281 राष्ट्रपति के लिए यह आवश्यक बनाता है कि वह "इस संविधान के उपबन्धों के अधीन वित्त आयोग द्वारा की गई प्रत्येक सिफारिश को तथा उस सम्बन्धी की गई कार्रवाई के व्याख्यात्मक ज्ञापन को संसद के प्रत्येक सदन के सम्मुख पेश करवाए।" इस आयोग के कार्य निम्नलिखित हैं:
   (i) संघ तथा राज्यों में बाँटे जाने वाले करों का वितरण तथा ऐसी निवल वसूली का राज्यों में आवंटन,
   (ii) भारत की संचित निधि में से राजयों को सहायता-अनुदान के बारे में सिद्धान्त,
   (iii) वित्त को सुधारने के हित में राष्ट्रपति द्वारा निर्दिष्ट कोई मामला।
2. **लोक सेवा आयोग (Public Service Commission):** भारतीय संविधान के 315-323 अनुच्छेद संघ के लिये तथा प्रतयेक राज्य के लिये लोक सेवा आयोग का उपबन्ध करते हैं। संघीय लोक सेवा आयोग के सदस्य राष्ट्रपति द्वारा तथा राज्यों के लोक सेवा आयोगों के सदस्य राज्यपालों द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। इन आयोगों के कार्यों का अध्ययन कर्मचारियों की भर्ती सम्बन्धी अध्याय में किया गया है।
3. **चुनाव आयोग (The Election Commission):** भारतीय संविधान का अनुच्छेद 324 एक चुनाव आयोग का उपबन्ध करता है, जिसका अध्यक्ष मुख्य चुनाव आयुक्त होगा। इस आयोग के कार्य हैं "संसद तथा प्रत्येक राज्य के विधान मण्डल तथा राष्ट्रपति तथा उप-राष्ट्रपति के चुनाव करवाना, मतदाता सूचियाँ तैयार करवाना, उनका अधीक्षण, निदेशन तथा नियंत्रण करना तथा संसद और राज्यों के विधान मण्डलों के चुनाव सम्बन्धी झगड़ों के लिए चुनाव ट्रिब्यूनल स्थापित करना।"
4. **पिछड़ी जातियों सम्बन्धी आयोग (The Backward Classes Commissions):** संविधान के अनुच्छेद 340 में यह उपबन्ध है कि राष्ट्रपति पिछड़ी जातियों सम्बन्धी एक आयोग की नियुक्ति कर सकता है ताकि "भारत में रहने वाली सामाजिक तथा शैक्षिक द ष्टि से पिछड़ी श्रेणियों की दशा की छानबीन की जा सके तथा उनकी कठिनाइयों का ज्ञात किया जा सके तथा उन उपायों का सुझाव दिया जा सके जो संघीय तथा राज्य सरकारों को ऐसी कठिनाइयाँ दूर करने के लिए करने चाहिएं। साथ ही यह सुझाव भी दिया जाये कि इस उद्देश्य के लिए कितने अनुदान दिये जाएँ तथा ये किन शर्तों के अधीन दिए जाएँ।" आयोग की रिपोर्ट संसद के प्रत्येक सदन के सम्मुख प्रस्तुत की जाती है।

5. **सरकारी भाषा सम्बन्धी आयोग (The Official Language Commissions):** भारतीय संविधान का अनुच्छेद 344 संविधान के लागू होने के 10 वर्ष पश्चात् एक सरकारी भाषा सम्बन्धी आयोग की नियुक्ति का उपबंध करता है। यह आयोग राष्ट्रपति को निम्नलिखित बातों के सम्बन्ध में सिफारिश करता है:

   (i) संघीय सरकार के संचालन में हिन्दी भाषा का अधिकाधिक प्रयोग,

   (ii) संघीय सरकार के संचालन में अंग्रेजी भाषा पर पूर्ण अथवा आंशिक प्रतिबंध,

   (iii) उच्चतम तथा उच्चतर न्यायालयों आदि में सभी अथवा किसी उद्देश्य के लिए प्रयोग में लाई जाने वाली भाषा,

   (iv) संघीय सरकार के किसी एक अथवा अधिक उद्देश्यों के लिये प्रयोग में लाये जाने वाले अंकों का प्रकार, तथा

   (v) संघीय सरकार की सरकारी भाषा तथा संघ तथा राज्य के बीच तथा एक राज्य तथा दूसरे राज्यों के बीच पत्र-व्यवहार के लिए प्रयोग में लाई जाने वाली भाषा के सम्बन्ध में राष्ट्रपति द्वारा आयोग को निर्दिष्ट कोई अन्य मामला।

आयोगों के उपर्युक्त कार्यों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये अमरीका के स्वतंत्र विनियामक आयोग की तरह राष्ट्रपति को उस मात्रा तक निष्कासित नहीं करते जिस तक अमेरिका का राष्ट्रपति निष्कासित है। ये अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति के माध्यम से ही संसद के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं जिसे समेकित प्रशासकीय ढाँचा स्थापित करने में सहायता मिलती है।

सारांश

उपर्युक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि दोनों में से कोई भी प्रणाली पूर्णतः दोषमुक्त नहीं है। प्रत्येक दशा में प्रशासकीय परिस्थितियों को देखकर ही निश्चित किया जाना चाहिये कि किस प्रणाली का उपयोग किया जाय। जान ए. फेयरली का कहना है, "प्रशासकीय सेवाएँ संचालित करने के लिए कोई एक उत्तरदायी निष्पादक होना चाहिए। फिर भी जाँच करने में तथा नये उद्यमों की योजना बनाने में, और साथ ही संकटकालीन या अस्थायी कार्यों का प्रबन्ध करने के लिए मण्डलों का स्थान बना रहेगा। इसके अतिरिक्त जहाँ प्रशासन का वास्तविक कार्य अकेला एक उत्तरदायी कार्यपालक संभालता रहेगा, वहाँ भी उन्हें मंत्रणादाताओं तथा सामान्य नीति के नियामकों के रूप में काम मिल जायेगा।"

उपर्युक्त मान्यतायें भले ही सही हों, किन्तु भारत में विभागों में एक अध्यक्षीय प्रणाली अपनायी गई है। जहाँ विभागों को मुख्य नीतियाँ तथा उद्देश्य स्पष्ट एवं सुनिश्चित हों तथा टेक्नीक एवं मानदण्ड विकसित हों, जहाँ कार्य एक नियमित प्रकार का हो ओर शान्ति तथा व्यवस्था जैसे महत्वपूर्ण हितों के मामलों को निपटाना हो वहाँ मण्डल की अपेक्ष ब्यूरों प्रणाली श्रेष्ठ होती है। यही कारण है कि भारत में अधिकतर ब्यूरो प्रणाली ही पायी जाती है। मण्डल प्रणाली का कुछ अपवादों में ही प्रयोग किया गया है। जहाँ संगठन मण्डल अथवा आयोग प्रणाली का है, वहाँ कार्यकारी विषयों में सत्ता एक ही व्यक्ति को प्रदान की गयी है, जैसे- रेलवे-मण्डल के कई सदस्य हैं, किन्तु कार्यकारी शक्ति एक व्यक्ति के पास दी गई है।

अध्याय-19
प्रमुख कार्यपालिका
(The Chief Executive)

प्रमुख कार्यपालिका से हमारा अभिप्राय उस व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह से है जो किसी देश की प्रशासनिक व्यवस्था का अध्यक्ष होता है। किसी भी देश की प्रशासनिक व्यवस्था की तुलना पिरमिड (Pyramid) से की जा सकती है। उसका आधार चौड़ा होता है तथा वह भिखर की ओर तंग होता जाता है- यहाँ तक कि अंत में वह एक बिन्दु मात्र रह जाता है जिसे शीर्ष कहते हैं। प्रमुख कार्यपालिका प्रशासनिक पिरामिड का शीर्ष है। भारत में राष्ट्रपति अथवा मंत्रिमंडल संघ की प्रमुख कार्यपालिका है। राज्यों राज्यपाल है। ब्रिटेन में राजा अथवा रानी, संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति और स्विटजरलैंड में संघ-परिषद प्रमुख कार्यपालिका होते हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारत अथवा संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे संघात्मक देशों में राष्ट्रीय सरकार के प्रमुख कार्यपालक के अतिरिक्त विभिन्न राज्यों के भी प्रमुख कार्यपालक होते हैं इसी प्रकार स्थानीय सरकार के विभिन्न स्तरों पर महापौर (Mayor), अध्यक्ष, सभापति, नगर-प्रबन्धक और बर्गोमास्टर्स होते हैं। ये लोग अपने-अपने क्षेत्रों में प्रमुख कार्यपालिका का कार्य करते हैं। निःसंदेह राष्ट्रीय सरकार का प्रमुख कार्यपालक इन सबमें सर्वोच्च और सर्वश्रेष्ठ प्रमुख कार्यपालक माना जाता है। इसी प्रकार शासन के विभिन्न स्तरों पर प्रमुख कार्यपालक अन्य कार्यकारी अधिकारियों की अपेक्षा उच्च होता है।

मुख्य कार्यपालक का अर्थ
(Meaning of Chief Executive)

कार्यपालिका सरकार की वह शाखा है, जिसे कानूनों को लागू करने की ज़िम्मेदारी दी जाती है। यह कानूनों के कार्यान्वयन में लगे हुए विभिन्न प्रशासनिक अभिकरणों से मिलकर बनती है। एफ. ए. नीग्रो (F.A. Nigro) के अनुसार, "लोक प्रशासन में सरकार की कार्यपालिका शाखा एक वास्तविक रूप में दिखाई देने वाला रूप है।" सरकार की कार्यपालिका शाखा में मुख्य कार्यपालिका और सभी सिविल कर्मचारी आते हैं, जो विधानपालिका द्वारा बनाए गए कानूनों को लागू करते हैं। अतः कार्यपालिका की भूमिका सर्वोच्च महत्व ही है।

मुख्य कार्यपालिका से हमारा अर्थ उस व्यक्तियों के निकाय से है, जो देश के प्रशासनिक तंत्र से शीर्ष पर होता है। किसी देश का प्रशासनिक उत्क्रम परिमिड से मिलता-जुलता होता है, जो आधार पर चौड़ा होता है और शीर्ष की ओर शुंडाकार होता है तथा चोटी पर पहुंचकर यह एक बिंदु में समाप्त हो जाता है। मुख्य कार्यपालक प्रशासनिक पिरामिड के शीर्ष पर होता है। यह आधिकारिक रूप में कार्यपालिका शक्ति निहित होती है। एक राजनीतिक तंत्र में, वह व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह जिनमें संविधान, सरकार की कार्यपालिका शक्ति निहित करता है, मुख्य कार्यपालक कहलाता है। निजी संगठन में, वह व्यक्ति मुख्य कार्यपालक कहलाता है। जिसकी संगठनों के कामों को करने की मुख्य ज़िम्मेदारी होती है।

मुख्य कार्यपालक को विधि राजनीति और प्रशासनिक कार्य करने होते हैं। लोक प्रशासन में उसकी केंद्रीय स्थिति होती है। वह संगठन के लक्ष्य निर्धारित करता है, योजनाएँ बनाता है, कार्य निर्धारित करता है, प्राथमिकताएँ स्थिर करता है, कठिन निर्णय लेता है, साधन जुटाता है, कर्मचारियों की नियुक्ति करता है, अपने नीचे के सभी विभागों के कार्य में समन्वय करता है। कर्मचारियों को अभिप्रेरित करता है, नेत त्व प्रदान करता है और योजनाओं के कार्यान्वयन का निरीक्षण करता है। वह देखता है कि संगठन के लक्ष्य अधिकतम दक्षता के साथ प्राप्त किए जाएँ और साधनों का इष्टतम उपयोग हो। इसलिए किसी संगठन की सफलता मुख्य कार्यपालक की गत्यात्मक प्रकृतिक और चरित्र पर निर्भर करती है।

विभिन्न प्रकार की प्रमुख कार्यपालिका
(Different Types of the Chief Executives)

नाममात्र की प्रमुख कार्यपालिका तथा वास्तविक प्रमुख कार्यपालिका
(The Titular and the Real Chief Executives)

जिन देशों में संसदीय (Parliamentary) शासन-व्यवस्था होती है, उनमें औपचारिक अथवा नाममात्र की प्रमुख कार्यपालिका के बीच भेद होता है। इन देशों में विधि के अनुसार समस्त कार्यकारी सत्ता नाममात्र के प्रमुख कार्यपालक अर्थात् राजा अथवा राष्ट्रपति में निहित होती है। परन्तु वह अपनी सत्ता का प्रयोग स्वतंत्र रूप से न कर, अपने मंत्रियों, के परामर्श के अनुसार करता है। व्यवहारिक द ष्टि से मंत्रि-मंडल वास्तविक प्रमुख कार्यपालक की समस्त सत्ता मंत्रिमंडल के हाथों में चली जाती है और मंत्रिमंडल वास्तविक प्रमुख कार्यपालक का स्थान ग्रहण कर लेता है। इंग्लैण्ड में रानी और भारत में गणराज्य के राष्ट्रपति इसी प्रकार के औपचारिक अथवा नाममात्र के प्रमुख हैं तथा इन दोनों देशों में वास्तविक कार्यकारी सत्ता मन्त्रिमण्डल के हाथों में चली गई है जिसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता है। भारत कार्यकारी सत्ता मन्त्रिमण्डल के हाथों में चली गई है जिसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता है। भारत में राज्यों के राज्यपालों के साथ भी यही हुआ है। यह सत्य है कि इंग्लैण्ड की रानी और भारत का राष्ट्रपति एकदम ही सत्ता से रहित नहीं है। यह मानना एक भूल होगी की वे केवल शून्य मात्र है, क्योंकि उनके पास राजनीतिक संकट अथवा गतिरोध के समय अपने विवेक के अनुसार कार्य करने की अवशिष्ट शक्ति होती है। परन्तु सामान्यतया अनेक कार्य औपचारिक अथवा परामर्शकारी होते हैं, कार्यपालिका नहीं। वर्तमान संदर्भ में यदि हम उन्हें छोड़ दें तो हमारी चर्चा सुगम हो जाएगी।

संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशों में जहाँ राष्ट्रपतिमूलक या अध्यक्षात्मक (Presidential) शासन है, वहाँ स्थिति भिन्न है। उन देशों में कोई औपचारिक अथवा नाममात्र का कार्यपालक नहीं होता। वहाँ केवल एक राष्ट्रपति होता है जो वास्तविक प्रमुख कार्यपालक है। वैधानिक द ष्टि से उसे जो शक्तियाँ दी गई हैं, उनका प्रयोग वह स्वयं स्वतंत्रतापूर्वक करता है। उस पर इस बात का कोई वैधानिक दायित्व नहीं है कि वह किसी के परामर्श के अनुसार कार्य करे।

संसदीय अध्यक्षात्मक प्रमुख कार्यपालिका/पालकों का यह भेद बहुत मौलिक है तथा वह दोनों की प्रशासनिक व्यवस्थाओं के संगठन और कार्य-प्रणाली को बहुत हद तक प्रभावित करता है। अतः इस अन्तर को स्पष्ट रूप में और विस्तार के साथ समझ लेना आवश्यक होगा।

संसदीय तथा अध्यक्षात्मक प्रमुख कार्यपालिका
(The Parliamentary and Presidental Chief Executives)

संसदीय तथा अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्थाओं में वास्तविक प्रमुख कार्यपालिका के पद का अध्ययन करने पर हमें उनके बीच कुछ महत्वपूर्ण अन्तर दिखाई देते हैं।

प्रथम, संसदीय देशों में वास्तविक प्रमुख कार्यपालिका का एक बहुल संस्था होती है। मंत्रिमंडल में प्रधानमंत्री और अन्य अनेक मंत्री होते हैं। दूसरी ओर अध्यक्षात्मक देशों में राष्ट्रपति प्रमुख कार्यपालिका होता है तथा वह एक अकेला व्यक्ति होता है। यह सच है कि संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति के साथ उसके 12 सचिव भी होते हैं। जो बारह प्रमुख प्रशासनिक विभागों के अध्यक्ष होते हैं। परन्तु, उनका पद मंत्रिमण्डल के सदस्यों से मौलिक रूप से भिन्न होता है। राष्ट्रपति के सचिव राष्ट्रपति के अधीन तथा उसके प्रति व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी होते हैं राष्ट्रपति जब चाहे अपनी इच्छा के अनुसार उन्हें पदच्युत कर सकता है। इसके विपरीत, मंत्रिमंडल के सदस्य प्रधानमंत्री के सहयोगी होते हैं। वे संसद के भीतर सत्ताधरी दल के प्रभावशाली सदस्य प्रधानमंत्री के सहयोगी होते हैं। वे संसद के भीतर सत्ताधारी दल के प्रभावशाली सदस्य होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि प्रधानमंत्री उनको अप्रसन्न तथा उनकी उपेक्षा करने से पहले इस सम्भावना पर विचार कर लेता है कि उसका यह कार्य दल में फूट तो नहीं डाल देगा; और, कहीं उसे स्वयं अपने पद से ही हाथ तो नहीं धोना पड़ेगा। आधुनिक काल में इंग्लैण्ड और भारत जैसे देशों में प्रधामंत्रियों की शक्तियों में बहुत अधिक व द्धि हो गई है। इसके दो प्रमुख कारण हैं- पहला तो यह कि राजनीतिक शकितयों में बहुत अधिक व द्धि हो गई है। इसके दो प्रमुख कारण हैं- पहला तो यह है कि नेहरू और चर्चिल

जैसे विशेष प्रतिभा और प्रभाव वाले व्यक्ति सहज ही अपने साथ मंत्रियों पर अपना प्रभाव जमा लेते रहे हैं। तथापि, उनकी और संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति की स्थिति में इस मामले में वास्तविक भेद है।

प्रशासन की द ष्टि से इस भेद का क्या महत्व है? इस बारे में दो बातें कही जा सकती हैं। बहुल रचना होने के कारण मंत्रिमंडल के सामने नियंत्रण-क्षेत्र (span of control) की समस्या इतनी अधिक विकट नहीं होती जितनी की एक राष्ट्रपति के सामने, क्योंकि वह एक अकेला व्यक्ति होता है। प्रधानमंत्री के साथ उसके अपने ही दल के 20-22 अथवा उससे भी अधिक विश्वस्त साथी होते हैं। वह उनके बीच उच्चतर स्तरों के विषय के सम्बन्ध कम समस्याएँ रह जाती है। प्रशासन के प्रति जनता के मनोवैज्ञानिक द ष्टिकोण में भी इससे अन्तर आता है। संसदीय देश के भीतर अधिनायकवाद की संभावनाओं का नारा इस प्रकार उठाया जा सकता जिस प्रकार अध्यक्षात्मक शासन में। जनता यह जानना चाहती है कि अत्यधिक शक्तिशाली राष्ट्र का राष्ट्रपति भी मनमाने ढंग से काम नहीं कर सकता।

दोनों प्रणालियों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण अन्तर कार्यपालिका-विधानमंडल संदर्भ में उत्पन्न होता हैं संसदीय प्रणाली में प्रमुख कार्यपालिका अर्थात् मंत्रिमंडल के सदस्य संसद के भीतर बहुमत दल से लिये जाते हैं। वे संसद में बैठते हैं, उनका मार्गदर्शन करते हैं, विधायको को प्रस्तुत और उनका समर्थन करते हैं, बजट रखते हैं तथा संसद के समक्ष समूचे प्रशासन के लिए उत्तरदायी होते हैं। वैधानिक द ष्टि से संसद किसी भी समय उनमें विश्वास न रखने पर उन्हें पदच्युत कर सकती हैं। इस प्रकार संसदीय प्रणाली में विधानमंडल और कार्यपालिका के मध्य बहुत निकट सम्बन्ध और सहयोग रहता है तथा कार्यपालिका अर्थात् प्रमुख कार्यपालिका विधानमंडल का नेता होने के नाते जिन विधायी, वित्तीय अथवा प्रशासनिक नीतियों को आवश्यक समझे, उन्हें पारित कर सकता है। अध्यक्षातम्क देश में शक्ति-प थक्करण (seperation of Powers) होता है और अवरोध और संतुलन (checks and balances) की व्यवस्था का सहारा लिया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति का निर्वाचन जनता 4 वर्ष के लिए करती है। इस अवधि में उसको महाभियोग चलाए बिना उसके पद से नहीं हटाया जा सकता। वह स्वयं अथवा उसके सचिव विधानमंडल की कार्यवाही में भाग नहीं ले सकते। वे कांग्रेस के प्रति उत्तरदायी नहीं होते। इसका परिणाम यह हुआ कि वहाँ विधानमंडल और कार्य के मध्य मधुर सम्बन्ध नहीं रह पाते थे उनमें तनाव आ जाता है। समय-समय पर प्रमुख कार्यपालक के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह अपनी नीतियों के बारे में विधि बनवाने और धन प्राप्त करने के लिए कांग्रेस पर परोक्ष नीति से प्रभाव और दबाव डाले। वैसा करने पर भी अनेक बार वह विफल हो जाता है।

दोनों प्रणालियों में तीसरा प्रमुख अंतर यह है कि संसदीय प्रमुख कार्यपालिका अपनी समस्त नीतियों और क्रियाओं के लिए निरंतर तथा प्रायः प्रभावकारी रीति से विधानमंडल के प्रति इस प्रकार से उत्तरदायी नहीं होता। सैद्धान्तिक द ष्टि से वह जनता के प्रति उत्तरदायी होता है, परन्तु इस उत्तरदायित्व को लागू करने की कोई प्रभावशाली रीति नहीं होती। परिणाम होता है कि विधानमंडल और जनता दोनों ही प्रमुख कार्यपालिका में कुछ सीमा तक अविश्वास करने लगते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर उसको नये कार्य और शक्तियाँ नहीं देना चाहते। संयुक्त राज्य अमरीका में इसी कारण स्वतंत्र नियामक आयोगों, जैसे अभिकरणों का निर्माण किया गया है। इन पर राष्ट्रपति का नियंत्रण नहीं होता। इसी कारण कांग्रेस ने राष्ट्रपति को यह शक्ति नहीं दी कि अस्थायी तौर पर तथा सीमित मामलों को छोड़कर वह सरकार के कार्य और प्रशासन का पुनर्गठन कर सके। 1939 और 1945 के पुनर्गठन अधिनियमों में अनेक रोको और प्रतिबंधों की व्यवस्था की गई है। इसके विपरीत इंग्लैंड में 1946 में मिनिस्टर्स ऑफ क्राउन ऐक्ट के द्वारा प्रमुख कार्यपालिका को यह अधिकार दिया गया है कि वह किसी विभाग को भंग कर सकती है तथा उससे कार्यों को किसी दूसरे विभाग को सुपुर्द कर सकती है। भारत में मंत्रालयों तथा विभागों का पुनर्गठन पूर्णतया उन नियमों के अनुसार होता है जिनका निर्माण केन्द्र में राष्ट्रपति और राज्यों में राज्यपाल करते हैं। इन तथा अन्य अनेक मामलों में संसदीय कार्यपालिका को अधिक स्वतंत्रता होती है। इसका कारण यह है कि संसद और जनता यह जानते हें कि प्रमुख कार्यपालिका पर उनका सतत नियंत्रण है तथा वह स्वेच्छाकारी नहीं हो सकता।

यह सोचना सही नहीं होगा कि अध्याक्षात्मक देशों में कार्यपालिका पर कोई नियंत्रण नहीं होता है। यह सोचना भी उचित नहीं होगा कि संसदीय देशों में मंत्रिमंडल प्रत्येक विषय के विस्तार पर संसद के नियंत्रण में होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका का राष्ट्रपति काफी मात्रा में कांग्रेस के दबाव में रहता है। विधियों, वित्तीयों, नियुक्तियों की स्वीकृति, संधियों की पुष्टि तथा सिनेट और प्रतिनिधि सदन की प थक्-प थक् समितियों द्वारा निरंतर की जाने वाली खोज और जाँच के द्वारा कांग्रेस राष्ट्रपति पर नियंत्रण रखती है, तथापित नियंत्रण की ये रीतियाँ उन रीतियों से भिन्न हैं जिनके द्वारा संसदीय देशों में विधानमंडल

कार्यपालिाक को नियंत्रित करता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि संयुक्त राज्य अमेरिका में कांग्रेस प्रशासनिक संगठन प्रक्रियाओं तथा व्यय की बारीक से बारीक बातों पर विधायी नियमन करके राष्ट्रपति को अपने नियंत्रण में रखता है जबकि दूसरी ओर संसदीय देशों में विधानमंडल के पास कार्यपालिका को पदच्युत करने की शक्ति होती है और वह अपनी इस अन्तिम शक्ति के बारे में इतना सचेत रहता है कि निभ्रय होकर कार्यपालिका का नेत त्व स्वीकर कर लेता है और ब्यौरे की बातों में उसको स्वतंत्र छोड देता है। जहाँ तक ब्यौरे पर विधानमंडल का नियमन होने के कारण प्रबन्धों में जड़ता आ जाने तथा कार्यकारिणी की सविवेक शक्ति पर जो इसको प्राप्त होनी चाहिए, बिना कारण विधानमंडल के हस्तक्षेप करने का प्रश्न है, हम यह कह सकते हैं कि अध्यक्षात्मक कार्यपालिका की अपेक्षा संसदीय कार्यपालिका अपने उत्तरदायित्वों को पूरा करने में अधिक दक्ष होती है। इसके विपरीत, संसदीय प्रणाली की कार्यपालिका अपने दायित्वों को अधिक क्षमता के साथ निर्वाह करने में समर्थ होती है।

यह नहीं समझना चाहिए कि संसदीय कार्यपालिका में ही सारे गुण हैं, अध्यक्षात्मक कार्यपालिका के भी अपने गुण हैं। वह एक अकेला व्यक्ति होने के कारण निर्देशन तथा आदेश में अपेक्षाकृत अधिक एकता की स्थापना कर सकता है। उसे इस बात की आवश्यकता नहीं है कि वह विधानमंडल को प्रसन्न करने के लिए निरन्तर उसके सामने उपस्थित हो और अपना समय बर्बाद करे। वह अस्थिरता तथा बार-बार होने वाले परिवर्तनों के उन दोषों से भी मुक्त है जो फ्रांस जैसे देशों में संसदीय शासन के सफल संचालन में बाधा डालते रहे हैं। राष्ट्रपति का कार्यकाल निश्चित होता है और व्यवहारिक द ष्टि से उसे पदच्युत नहीं किया जा सकता। वह उस मंत्रिमंडल की अपेक्षा अधिक शक्ति और आत्मविश्वास के साथ कार्य कर सकता है जिसे निरंतर विधानमंडल के बहुमत की दया पर जीवित रहना पड़ता है। तथापि, यह भी नहीं मानना चाहिए कि संसदीय शासन तथा मंत्रिमंडलीय कार्यपालिका के भीतर का दोष अवश्यम्भावी होता है। इसमें अस्थिरता केवल तभी उत्पन्न होती है जब यह व्यवस्था अस्वस्थ दिशाओं में कार्य करने के लिए विवश हो, जैसे बहुदलीय व्यवस्था के अस्तित्व अथवा दलीय अनुशासन की परम्परा के अभाव की स्थिति में।

दोनों प्रकार के कार्यपालिका अधिकारियों के गुणों की तुलना करने पर यह सिद्ध होता है कि संसदीय व्यवस्था अधिक लाभदायक है। संयुक्त राज्य अमरीका में भी भूतपूर्व राष्ट्रपति विल्सन जैसे विचारवान् आलोचकों ने इस बात की सिफारिश की है कि अध्यक्षात्मक व्यवस्था को संसदीय सिद्धान्तों के आधार पर संशोधित किया जाना चाहिए। 1922 में बजट और लेखा अधिनियम के द्वारा बजट-प्रक्रिया में जा परिवर्तन किये गये थे, उनका उद्देश्य लगभग वैसी प्रक्रिया का निर्माण करना था जैसी कि ब्रिटेन में है। 1936 में प्रशसकीय प्रबन्ध-सम्बन्धी राष्ट्रपति-समिति तथा 1949 में हूवर आयोग ने सरकार की कार्यपालिका शाखा के पुनर्गठन की जो योजनाएँ प्रस्तुत कीं, उनमें इस बात पर बल दिया गया कि संघीय प्रशासनिक व्यवस्था को राष्ट्रपति के सर्वोच्च निर्देशन एवं नियन्त्रण के अधीन एकीकृत किया जाए, तथापि कांग्रेस इस कार्य के लिए राष्ट्रपति को आवश्यक शक्तियाँ देने को तैयार नहीं हुई। इन सबसे यह सिद्ध होता है कि राष्ट्रपति-प्रणाली की कार्यपालिका व्यवस्था में क्या स्वाभाविक कठिनाइयाँ हैं।

स्विट्जरलैण्ड की बहुल कार्यपालिका
(The Executive of Switzerland)

संसदीय तथा अध्यक्षात्मक प्रणालियों के अतिरिक्त अन्य प्रकार की कार्यपालिका भी होती है। उदाहरण के लिए, स्वीट्जरलैण्ड की बहुल प्रणाली, भूतपूर्व सोवियत संघ की सोवियत प्रणाली तथा निरंकुशों राजतंत्रों और अधिनायक तंत्रों में पाई जाने वाली स्वेच्छाचारी प्रणाली।

स्विट्जरलैंड की बहुल कार्यपालिका संसदीय तथा अध्यक्षात्मक प्रणालियों के कुछ मौलिक सिद्धान्तों के मिश्रण का प्रतिनिधित्व करती है। संसदीय प्रणाली की भांति वह एक बहुत संगठन है जिसमें सात सदस्य होते हैं। यह सही अर्थों में बहुल होती है, क्योंकि इसके भीतर प्रधानमंत्री की भाँति कोई अधिकारी नहीं होता जिसको प्रमुख पद प्राप्त हो। इसके सब सदस्य पद की द ष्टि से एकदम समान होते हैं। ये मंत्री विधानमंडल के सदस्य होते हैं, उसकी कार्यवाही में भाग लेते हैं, उसका नेत त्व करते हैं, तथापि उन्हें मतदान में भाग लेने का अधिकार नहीं होता। वे विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी होते हैं। स्विस कार्यपालिका तथा ब्रिटिश मंत्रिमण्डल में ये समानताएँ हैं। परन्तु, मंत्रिमण्डल के सदस्यों के विपरीत तथा संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति की भाँति स्विस कार्यपालिका अर्थात् संघ-परिषद् का निर्वाचन विधानमण्डल के दोनों सदनों की संयुक्त सभा में

एक निश्चित अवधि के लिए होता है। उस अवधि में उसको पदच्युत नहीं किया जा सकता। विधानमंडल के प्रति स्विस कार्यपालिका के उत्तरदायित्व का यह अर्थ नहीं है कि जब विधानमण्डल उसकी नीतियों को अस्वीकृत कर दे तो वे त्यागपत्र दे दें। स्विस कार्यपालिका विधानमण्डल की इच्छा के अनुसार अपनी नीतियों में परिवर्तन कर लेती है तथा उसके सदस्य अनेक अवधियों तक कार्य करते रहते हैं। अध्यक्षात्मक कार्यपालिका की भाँति स्विस संघ-परिषद् को विधानमंडल भंग करके जनता से अपील करने की शक्ति नहीं दी गई है। स्विस पद्धति के अन्तर्गत संसदीय प्रणाली का यह गुण विद्यमान है कि कार्यपालिका और विधानमण्डल के मध्य गहरा सम्बन्ध रहता है, कार्यपालिका विधानमण्डल के प्रति उ त्तरदायी रहती है। उसमें अध्यक्षात्मक प्रणाली का यह गुण भी है कि उसका कार्यकाल निश्चित होता है। स्विस-प्रणाली में संसदीय और अध्यक्षात्मक प्रणाली दोनों के दोषों को छोड़ दिया जाता है। देखने में यह एक आदर्श व्यवस्था प्रतीत होती है, परन्तु उन देशों में जहाँ स्विट्जरलैंड के समान राजनीतिक स्थितियाँ नहीं हैं, यह कार्यपालिका व्यवस्था अव्यवहारिक सिद्ध होगी।

मुख्य कार्यपालिक के गुण
(Qualities of a Chief Executive)

एक मुख्य कार्यपालिक में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है-

1. उसका स्वास्थ्य अच्छा होना चाहिए। उसमें निजी शक्ति तथा शारीरिक सहनशक्ति होनी चाहिए।
2. उसका चरित्र उच्च तथा दोषरहित हो।
3. उसे समय का पाबन्द होना चाहिए।
4. उसमें आत्मविश्वास, उत्साह, सेवा-भाव, मित्रता की भावना, ईमानदारी, निष्ठा तथा न्यायिक भावना जैसे गुणों का होना अनिवार्य है।
5. वह संगठन के उद्देश्य के प्रतिपूर्ण निष्ठा का प्रदर्शन करके अन्य कर्मचारियों का विश्वास प्राप्त करने की क्षमता होनी चाहिए।
6. उसमें राजनीतिक विवेक (Poitical Sense) का होना भी आवश्यक है तथा उस में देश के राजनीतिक वातावरण को परखने की क्षमता होनी चाहिए।
7. संगठन के लक्ष्यों तथा उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए सही तथा समय पर निर्णय लेने की क्षमता उस में होनी चाहिए।
8. वह कर्त्तव्य परायण हो।
9. उसमें दूरदर्शिता हो। उसे अपने निर्णयों के सम्भावित परिणामों का भी अनुमान होना चाहिए।
10. आवश्यकता पड़ने पर प्राधिकार (Authority) को उचित मात्रा में दूसरों को हस्तान्तरित (Delegate) कर सकने की क्षमता उसमें होनी चाहिए।
11. उस में दूसरों को प्रेरणा देने तथा उनके मन को जीतने और उनका सहयोग प्राप्त करने की क्षमता होनी चाहिए।
12. उसमें पहल-कदमी (Initiative) करने के गुण का होना भी आवश्यक है।
13. जिन व्यक्तियों के साथ मिलकर उसे कार्य करना है अथवा जिन से उसने कार्य करवाना है, उन व्यक्तियों के गुणों तथा अवगुणों को परखने की क्षमता उसमें होनी चाहिए। उसमें यह भी क्षमता होनी चाहिए कि दूसरों की शक्ति का प्रयोग किस ढंग से करवाया जाए कि संगठन को अधिक-से-अधिक लाभ हो सके।
14. उसे अपने उद्देश्य के प्रति श्रद्धा रखनी चाहिए तथा अपने समूह को बाहरी आलोचना से बचाना चाहिए।
15. आकर्षक व्यक्तित्व, अच्छा स्वभाव, बुद्धिमानी कार्य के प्रति रुचि तथा अनुशासन का पालन करना आदि गुणों का एक सफल मुख्य कार्यपालिक में होना अति आवश्यक है।

चक्रवती राजगोपालाचार्य (C. Rajagopalachari) जी ने एक अच्छे प्रशासक के मौलिक गुणों की चर्चा करते हुए कहा है।

प्रथम वह व्यक्ति चरित्रवान् होना चाहिए। जिस प्रकार सभी के जीवन के लिए सूर्य प्रकाश का होना आवश्यक है उसी प्रकार से मुख्य सचिव से लेकर निम्न वर्ग के कर्मचारी तक प्रत्येक स्तर के प्रशासक के लिए चरित्र का होना आवश्यक है।

द्वितीय मुख्य प्रशासक में यह योग्यता आवश्यक है कि वह उपयुक्त सलाह को जान सके तथा समझ के अनुसार शीघ्र ही निर्णय ले सके।

त तीय मुख्य प्रशासक इस बात के योग्य होना चाहिए कि वह अपने निर्णयों को लागू करने वाले अपने अधीनस्थ कर्मचारियों में विश्वास पैदा कर सके। अधीनस्थ कर्मचारियों को यह विश्वास होना चाहिए कि किसी भी कठिन और कठोर परिस्थिति में उनका उच्च अधिकारी, उनका समर्थन करेगा तथा किसी भी दबाव की स्थिति में वह उनका साथ नहीं छोड़ेगा। राजा जी के अनुसार लोकतन्त्र में किसी भी प्रशासकीय विभाग के सफल होने के लिए इस बात का होना अनिवार्य है।

चौथे मुख्य प्रशासक जब कोई निर्णय ले ले तो लोगों को यह विश्वास होना चाहिए कि वह अपने निर्णय को नहीं बदलेगा। मुख्य प्रशासक को अपने निर्णय पर अटल रहना चाहिए।

पांचवें मुख्य प्रशासक को संतुलित स्वभाव वाला होना चाहिए। बुरा स्वभाव द ढ़ता का स्थान नहीं ले सकता। इसका लाभ नही होता।

छठे अथवा अन्तिम प्रशासक में अपने अधीन कार्य करने वाले कर्मचारियों में सामाजिक उद्देश्यों की भावना उत्पन्न करने की योग्यता चाहिए। उसे यह देखना चाहिए कि उसके कर्मचारी यह समझ लें कि वे क्या काम कर रहे हैं तथा वह कार्य कैसे अच्छा तथा सराहनीय है।

मुख्य कार्यपालिका के कार्य
(Function of Chief Executive)

उत्तर-मुख्य कार्यपालिका के उत्तरदायित्व की प्रकृति लाइन अभिकरणों से मिलती-जुलती है। उसका सबसे प्रमुख लक्ष्य प्रशासन में यथासम्भव एकता की स्थापना करना है। उसके द्वारा सम्पन्न किए जाने वाले सभी कार्य इस लक्ष्य के चारों ओर ही चक्कर लगाते हैं। मुख्य कार्यपालिका की सफलता इस लक्ष्य की प्राप्ति के आधार पर ही निश्चित की जाती है।

मुख्य कार्यपालिका के कार्यों की प्रो॰ एल॰डी॰ ह्वाइट ने आठ भागों में विभाजित किया है-

1. **अनुकूल वातावरण की रचना:** मुख्य कार्यपालिका संगठन के अनुकूल वातावरण का निर्माण करती है जिसमें प्रशासन सुचारू रूप से चलता हुआ अपने लक्ष्यों को प्राप्त कर सके। एक संगठन शक्तिशाली है या कमजोर, ऊँचे मनोबल वाला या नीचे मनोबल वाला, ईमानदारी का स्तर अच्छा है या गिरा हुआ, नागरिकों के प्रति सौजन्यपूर्ण है अथवा नहीं, आदि विषय उसके नेत त्व के चरित्र पर निर्भर करते हैं।
2. **नीति-निर्माण:** मुख्य कार्यपालिका प्रशासकीय नीति का निश्चय करती है। प्रबन्ध-नीति के बड़े प्रश्नों पर मुख्य कार्यपालिका द्वारा ही निर्णय लिया जाता है। प्रतिवर्ष बजट पर होने वाले वाद-विवाद के समय अन्य समस्याओं के बारे में विचार करते समय मुख्य कार्यपालिका के विचार प्रकट होते रहते हैं। कार्यपालिका को अपनी नीतियों में एकरूपता रखनी चाहिए तभी वह अपनी प्रत्येक कार्य में एकता रख पाएगी।
3. **बजट बनाना:** मुख्य कार्यपालिका बजट स्वीकार करती है। प्रतिवर्ष जो अनुमान तैयार किए जाते हैं उनकी ओर वह व्यक्तिगत रूप से ध्यान देती है। बजट की महत्वपूर्ण मदों पर उसे विशेष ध्यान रखना होता है।
4. **निर्देश जारी करना:** मुख्य कार्यपालिका समय-समय पर आज्ञाएं एवं निर्देश जारी करती रहती है। किसी भी संगठन में कार्य तभी प्रारम्भ होता है जब ऊपर से आज्ञाएं प्रसारित की जाएं। इन आज्ञाओं पर मुख्य कार्यपालिका की स्वीकृति होनी चाहिए। कार्यपालिका की आज्ञाएं, निर्देशन, अनौपचारिक पत्र, मौखिक निर्देश आदि प्रसारित होते रहते हैं।
5. **सेवीवर्ग का चयन:** सेवीवर्ग का चुनाव मुख्य कार्यपालिका द्वारा किया जाता है। यह एक कठिन कार्य है, किन्तु इसका उपयोग करने में वे पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नहीं रहती। उन्हें राजनीतिक, भौगोलिक, व्यक्तिगत, वर्गगत एवं संगठित हित आदि के अनेक पहलुओं की ओर ध्यान देना पड़ता है।
6. **पद-विमुक्ति:** मुख्य कार्यपालिका को यह अधिकार होता है कि जिन अधिकारियों की वह नियुक्ति करे उन्हें हटा भी सके। इसी शक्ति के कारण यह सम्भव होता है कि सभी अधिकारी मुख्य कार्यपालिका की नीतियों एवं लक्ष्यों को क्रियान्वित करने में पूरे उत्साह से कार्य करें तथा उसकी आज्ञाओं, निर्देशों एवं विशेष पत्रों की अवहेलना न करें।

7. **निरीक्षण एवं नियन्त्रणः** मुख्य कार्यपालिका सरकारी अभिकरणों का निरीक्षण एवं नियन्त्रण (Supervision and Control): करती हे। जितना ऊँचा अधिकारी होता है वह दिन-प्रतिदिन के कार्यों पर उतनी ही कम नजर रख सकता है। कार्यपालिका के अधिकारियों का यह उत्तदायित्व है कि वे अपने से अधीनस्थ अधिकारियों के प्रत्येक कार्य की देख-रेख करते रहें।

8. **जन-संपर्कः** मुख्य कार्यपालिका जन-संपर्क के विस्तार तथा उसे नियन्त्रित करने में भाग लेते हैं। इस प्रकार वह प्रशासन को व्यवस्था के बाहर से प्रभावित करने की शक्ति भी रखती है। जन-सम्पर्क-स्थापना के कार्यों द्वारा वह जनता में प्रशासन का प्रतिनिधित्व करती है तथा उसके समर्थन में लोकमत का निर्माण करती है। प्रेस-सम्मेलनों एवं अन्य साधनों द्वारा वह अपने इस उत्तदायित्व का पूरा कर पाती है।

इन सभी उत्तदायित्वों को पूरा करने के लिए अमेरिकी राष्ट्रपति नागरिकों एवं अधिकारियों से वार्ता करता है, मुख्य प्रशसकों की नियुक्ति करता है, राजदूतों एवं हजारों निम्नतर पदों के अधिकारियों की भर्ती करता है, उनके कार्यों की राजनीतिक क्षमता देखता है, कार्यालय प्रपत्रों को स्वीकार या अस्वीकार करता है तथा सैकड़ों कागजों पर प्रतिदिन हस्ताक्षर करता है-यह उसकी दिनचर्या का क्रम है।

मुख्य कार्यपालिका के कार्यों पर प्रो॰ वीग (John A. Vieg) के वर्णन में कुद अधिक स्पष्टता एवं विस्तार है-

1. **प्रशासकीय नियोजन एवं निर्देशनः** राष्ट्रपति की सर्वप्रथम यह निर्णय करना पड़ता है कि उसके तथा व्यवस्थापिका के बीच किस प्रकार के सम्बन्ध विकसित होने चाहिए, उसके प्रशासन की प्रमुख नीतियां क्या होनी चाहिए तथा उनकी पूर्ति के लिए क्या कार्यक्रम अपनाना चाहिए। मुख्य कार्यपालिका कार्यक्रम एवं नीतियां निश्चित करने के बाद उनकी पूर्ति के लिए उपर्युक्त संगठनात्मक ढांचे पर विचार करती है।

   मुख्य कार्यपालिका अभिकरणों के अध्यक्षों की नियुक्ति भी करती है जो संगठन के माध्यम से प्रमुख कार्यपालिका का कार्य कर सकें। जो मुख्य अधिकारी मुख्य कार्यपालिका द्वारा नियुक्त किए जाते हैं उनके कार्यों का निर्देशन भी उसी के द्वारा किया जाता है। मुख्य कार्यपालिका की इन अधिकारियों को यह बताती है कि उनका लक्ष्य क्या है?

   प्रत्येक अभिकरण के प्रतिवर्ष व्यवस्थित कार्य का कार्यक्रम तथा व्यय की व्यवस्था करने के लिए मुख्य कार्यपालिका द्वारा बजट पर विचार किया जाता है तथा विभिन्न अभिकरणों के कार्यक्रमों के बीच अभिकरण स्थापित किया जाता है।

2. **समन्वय एवं प्रशासकीय प्रतिवेदनः** यह कहा जाता है कि यदि मुख्य कार्यपालिका द्वारा स्पष्ट नीतियां एवं योजनाएं निर्धारित कर दी जाएं, संगठन की एक सन्तोषजनक योजना बना ली जाए, योग्य अच्च सेवीवर्ग नियुक्त कर दिया जाए, व्यक्तिगत अभिकरणों को जागरूक निर्देशन दिया जाए, प्रशासनिक प्रक्रियाओं का सावधानीपूर्वक कार्यक्रम बनाया जाए, तो भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सब कार्य अपेक्षित रूप मे होता रहेगा; अतः प्रत्येक अभिकरण को कार्य करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाना चाहिए।

   मुख्य कार्यपालिका को प्रशासन पर द ष्टि रखनी चाहिए। यह प्रतिवेदनों के प्रसारण का केन्द्र बिन्दु होना चाहिए। उसे अनेक साधनों एवं स्रोतों द्वारा आवश्यक सूचनाएं प्राप्त होती रहनी चाहिए। इसके साथ ही उसे भी एक अभिकरण की सूचना दूसरे अभिकरण तक पहुँचानी चाहिए। प्रो0 वीग के शब्दों में राष्ट्र प्रशासकीय व्यस्था से सम्बन्धित सूचना के केन्द्रीय स्रोत के रूप में मुख्य कार्यपालिका एक ऐसा माध्यम है जो जनता एवं कांग्रेस को प्रतिवेदन होता है।

   प्रशासकीय प्रतिवेदनों के माध्यम से ही मुख्य कार्यपालिका यह जान सकती है। कि उनकी सम्पूर्ण प्रशासकीय व्यवस्था में क्या हो रहा है। इसकी जानकारी भी राष्ट्रपति को मिलती रहनी चाहिए कि सम्पूर्ण देश में करोंड़ों कर्मचारियों द्वारा उसके नाम पर क्या किया जा रहा है? यदि स्टाफ के कार्यों की व हद् सूचना उसके पास तक न पहुंचे तो प्रशासन का प्रबन्ध-प्रशासन खराब हो सकता है। मुख्य कार्यपालिका को तथ्यों, सुझावों एवं आंकड़ों की सूचना लगातार पहुंख्ती रहनी चाहिए ताकि वह अपने नियन्त्रण के लक्ष्य हो पूरा कर सके।

   लोक प्रशासन के प्रसिद्ध लूथर गुलिक ने मुख्य कार्यपालिका को कार्यों को एक ही शब्द 'पोस्डकर्ब (POSDCORB) में संग्रहित कर दिया है। तदनुसार उसके कार्य ये हैं—(1) योजना बनाना (Planning), (2) संगठन करना (Organising), (3) कर्मचारियों की व्यवस्था करना (Staffing), (4) निर्देशन Directing), (5) समन्वय करना (Co-ordinating), (6) प्रतिवेदना देना (Reporting) एवं (7) बजट बनाना (Budgeting)।

सांराशः

प्रमुख कार्यपालक के कार्यों और उसकी शक्तियों के सम्बन्ध में उपर्युक्त चर्चा से यह बात स्पष्ट हो जाती है। कि वह एक अधिनायक के समान हाता है जिसके हाथों में शासन की समूची सत्ता केन्द्रित होती है जो मनमाने ढंग से आदेश जारी कर सका है तथा अपने अधीन कर्मचारियों से अपनी आज्ञा का पालन करा सकता है। परन्तु कार्यपालक के वास्तविक कार्यों का चित्र इससे बहुत भिन्न है। वह अपनी समस्त कानूनी सत्ता का प्रयो गउसी प्रकार अकेला नहीं कर सकता जिस प्रकार किसी टीम का कप्तान अकेले ही सारा खेल नही खेल सकता। प्रमुख कार्यपालक के विषय मे मौलिक तथ्य यह है। कि प्रायः सभी विषयों में उसे संगठन के विभाजिक कार्यों के लिए उत्तरदायी अपने सहायकों पर बहुत बड़ी हद तक निर्भर रहना पड़ता है। पोस्टकोर्ब कार्य भी अनेक अधीन अधीक्षकों के द्वारा किए जाते हैं। प्रशासनिक पदसोपान में प्रत्येक स्तर पर इस प्रकार के अधिकारी अथवा अधीक्षक होते हैं। ये अधिकारी संगठन के कार्य के प्रसंग में छलनी और कीप (Filter and Funnel) का कार्य करते हैं। उनका कार्य प्रत्येक स्तर पर उठने वाली समस्याओं की इस प्रकार जाँच करता है कि उनमें से अधिकांश का समाधान निम्न स्तरों पर ही हो जाए। प्रमुख कार्यपालिका को सामने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न ही प्रस्तुत किए जाएँ। इस प्रकार अधिकांश समस्याएँ निम्न स्तरों पर ही हल कर ली जाती हैं और प्रमुख कार्यपालक को उनका बोध भी नहीं होता। जो कुछ थोड़ी-बहुत समस्याएँ उसके व्यक्तिगत निर्णय के लिए नीचे से भेजी जाती हैं, वे भी इस प्रकार तैयार हो कर जाती हैं अथवा यों कहें कि उन्हें इस प्रकार पका कर भेजा जाता है कि प्रमुख कार्यपालक को 'हाँ' ही कहता है। यदि कभी वह उसमें कोई परिवर्तन करना चाहें, अथवा अपनी स्वतन्त्र दिशा अपनाना चाहे, तो समयाभाव के कारण वह ऐसा करने मे असमर्थ रहता है। उसके इस कार्य से निर्णय में देरी तो लग ही सकती है। इससे स्थापित कार्य-प्रणाली के अस्त-व्यस्त होने पर भय भी उत्पन्न हो जाता है। परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना सही नहीं होगा कि प्रमुख कार्यपालिका एक निष्क्रिय यंत्र मात्र है जिसका कार्य नीचे के स्तरों पर किये गये निर्णयों पर हस्ताक्षर करना मात्र है। विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण अथवा असाधारण विषयों पर नीचे से एक ही समाधान भेजे जाने के बजाय अनेक विकल्प सुझाए जा सकते है और प्रमुख कार्यपालक उनमें से किसी एक को स्वीकार कर सकता है। परन्तु, बहुधा ऐसा नहीं होता। अधिकांश मामलों में उसे अपने स्टाफ की सिफारिशों को स्वीकार करना होता है। औपचरिक द ष्टि से निर्णय प्रमुख कार्यपालिका के होते हैं, परन्तु वास्तव में निर्णय विकास की एक दीर्घ प्रक्रिया के परिणाम होते है। और इस विकास में प्रशासकीय पदसोपान के अनेक अधिकारी योगदान करते है। जैसा कि मिस फोले (Miss Follet) ने कहा है, कोई भी निर्णय "प्रक्रिया का एक विशेष क्षण" मात्र होता है। वह आकस्मिक अथवा एकांत घटना नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक निर्णय के पीछे समूचे संगठन की शक्ति होती है और उनके लिए एक प्रकार से समूचा संगठन उत्तरदायी भी होता है।

इस तथ्यपरक द ष्टिकोण के आधार पर प्रमुख कार्यपालिका के कार्य का मूल्यांकन करते समय एफ0 सी0 बिर्ने (F.G. Birrne) जैसे लेखक यहाँ तक कह देते हैं कि प्रमुख कार्यपालक को इसके सिवाय और कुछ भी नहीं करना पड़ता कि "वह यह निर्णय करें कि क्या काम किया जाना है, वह उस काम को किसी के सुपुर्द कर दे, वह उस काम के लिये जाने के विरूद्ध अथवा भिन्न प्रकार से किये जाने के पक्ष में दिये जाने वाले तर्को को सुने, वह यह देखे कि वह काम किया जा रहा है या नहीं, वह कार्य करने के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों से कार्य के न किये जाने के कारण सुने, वह निर्णय करे कि बहाने बनाने वाले व्यक्ति को हटा दिया जाए या नहीं, वह यह सोचे कि यदि वह स्वयं ही उस काम को कर लेता तो कितना अच्छा होता तथा वह अन्ततः इस दुःखद निर्णय पर पहुँचे उसके लिए ऐसा करना अव्यवहारिक होगा। इस विवरण से स्वयं ही यह पता चलता है कि यदि प्रमुख कार्यपालिका को इतने सारे कार्य करने पड़ते हों तो यह नहीं कहा जा सकता कि वह कुछ भी नहीं करता, उल्टे स्वीकार यह करना होगा कि उसका कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक है।

अध्याय-20
भर्ती
(Recruitment)

भर्ती का वर्णन करने से पहले कार्मिक प्रशासन की मूलभूत बातों के बारे में जानना आवश्यक होगा।

कार्मिक प्रशासन

(Personnel Administration)

सभ्यता और संस्क ति की अनवरत् विकास यात्रा मानव के बौद्धिक चातुर्य तथा उत्कट इच्छाओं का सुपरिणाम है जिसे विविध प्रकार क संसाधनों से पर्याप्त सहायता मिली है। विश्व इतिहास के पन्नों में वर्णित तथा अवर्णित शासन व्यवस्थाओं ने मानव सभ्यता को विकसित करने में यथासंभव योगदान दिया है। विकास की यह शताब्दियों पुरानी प्रक्रिया संगठनात्मक प्रयासों तथा संसाधनों पर अत्यधिक निर्भर करती है। विकास के लिए आवश्यक संसाधनों ने मशीन, प्राक तिक सामग्री, तकनीक, वित्त तथा श्रमशक्ति अर्थात् कर्मचारी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि शेष संसाधनों का सदुपयोग मानवीय कुशलताओं तथा प्रतिबद्धता पर ही निर्भर करता है अतः वर्तमान प्रशासनिक परिद श्य में सर्वाधिक ध्यान '**मानव संसाधन विकास**' (Human Resource Development) पर दिया जा रहा है। प्रशासन तथा प्रबन्ध से संलग्न इकाइयों में 'कार्मिक प्रशासन' को अब 'एच.आर.डी.' के नाम से भी पुकारा जाने लगा है क्योंकि संगठनात्मक लक्ष्यों की सम्पूर्ति तथा उस संगठन की छवि उसमें कार्यरत कार्मिकों पर ही निर्भर करती है।

संगठन में कार्यरत कर्मचारियों को ही 'सेवावर्ग' या 'मानव श्रमशक्ति' अथवा 'मानव संसाधन' कहा जाता है। यह सेवीवर्ग निजी या सरकारी दोनों ही प्रकार की प्रशासनिक व्यवस्थाओं में समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। अब, जबकि जनकल्याण के लगभग सभी कार्य कल्याणकारी राज्य के उत्तरदायित्व हैं, ऐसे में लोक प्रशासन में कार्यरत कर्मचारियों का विकास करना सरकार का नैतिक दायित्व है, क्योंकि-

1. कर्मचारी सरकार के संरक्षण में कार्यरत हैं;
2. कर्मचारी होने के साथ-साथ वे राज्य के नागरिक भी हैं;
3. नियोक्ता होने के नाते सरकार द्वारा कर्मचारी का कल्याण करना आवश्यक है;
4. कुशल तथा संतुष्ट कर्मचारियों के बिना संगठनात्मक लक्ष्यों की प्राप्ति असंभव है;
5. सरकार की छवि कार्मिकों की कार्यशैली से प्रत्यक्षतः जुड़ी हुई है;
6. राज्य के दायित्वों की पूर्ति तथा क्रियान्वित करने में कर्मचारी वर्ग ही एकमात्र विश्वव्यापी रास्ता है।

इस संबंध में **हरमन फाईनर** का कहना है-"लोक प्रशासन में सेवावर्ग को ही सर्वोच्च तत्त्व माना जाता है।" इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि सुगठित तथा सेवीवर्ग प्रशासन ही किसी प्रशासनिक संगठन की सफलता का मुख्य आधार है। **फेलिक्स निग्रो** का मानना है कि कार्मिकों की कुशलता तथा योग्यता ही संगठन की सफलता को निर्धारित करती है। योग्य तथा प्रतिबद्ध कर्मचारी कमजोर प्रशासनिक व्यवस्था की कमियों को दूर कर उद्देश्यों की प्राप्ति में सफल रहते हैं जबकि अयोग्य तथा निक ष्ट कर्मचारी सर्वोत्क ष्ट प्रशासनिक व्यवस्था को भी असफल सिद्ध कर सकते हैं।

कार्मिक प्रशासन : अर्थ (Personnel Administration : Meaning)

वर्तमान में जटिल होती सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्थाओं तथा प्रतिस्पर्द्धात्मक आर्थिक वातावरण में कुशल प्रशासनिक प्रक्रियाओं तथा संसाधनों की महती आवश्यकता है। इसी संदर्भ में कार्मिक प्रशासन, समग्र लोक प्रशासन का केन्द्र बिन्दु बन

गया है। **कार्मिक प्रशासन** (पर्सोनेल एडमिनिस्ट्रेशन) को **सेवावर्गीय या स्टॉफ प्रबन्ध, जनशक्ति प्रबन्ध** के नाम से भी जान जाता है। औद्योगिक संस्थानों में कार्मिक प्रशासन से सम्बन्धित प्रकरण 'कर्मचारी प्रबन्ध', या 'श्रम सम्बन्ध', या 'औद्योगिक सम्बन्ध' के नाम से भी समझे जाते हैं। कार्मिक प्रशासन को चाहे किसी भी नाम से पुकारें लेकिन सभी स्थानों पर कार्मिकों की भर्ती, प्रशिक्षण, वर्गीकरण, पदोन्नति, वेतन-भत्ते, अनुशासनात्मक कार्यवाही, अवकाश, आनुषंगिक लाभ, परिवेदना निवारण, पेंशन, सेवानिव त्ति इत्यादि आयामों को ही समाहित किया जाता है।

पीगर्स एवं मायर्स के अनुसार-"सेवीवर्गीय प्रशासन, कार्मिकों की सम्भावित क्षमता को विकसित करने की विधि है, जिससे उन्हें अपने कार्य से अधिकतम संतुष्टि प्राप्त हो तथा संस्था को उनके परिश्रम का लाभ मिले।"

सामान्यतः सरकारी विभागों का कार्यालयों में निजी प्रतिष्ठानों की भाँति प थक् से 'कार्मिक प्रशासन' या 'एच. आर. डी.' इकाई नहीं होती है। औद्योगिक प्रतिष्ठानों में चूँकि कार्यो की प्रक ति, उत्पादन, वितरण, विनियोजन तथा कार्मिक प्रकरणों के अनुसार भिन्न-भिन्न होती हैं अतः वहाँ कार्मिक कार्यो को सम्पादित करने के लिए प थक् से कार्मिक शाखा या विभाग होता है जो एक वरिष्ठ प्रबंधक द्वारा नियंत्रित किया जाता है। सरकारी विभागों या लोक सेवा में प्रायः प थक् से कार्मिक प्रशासन इकाई नहीं होती है बल्कि सम्बन्धित रूप से कार्मिक प्रशासन कहलाती है। सम्बन्धित कार्यालय का प्राधिकारी ही कार्मिक अधिकारी होता है। लोक उपक्रमों में उनकी औद्योगिक एवं वाणिज्यिक प्रक ति के कारण 'कार्मिक प्रशासन' विभाग स्थापित किए जाते हैं। सरकारी कार्यालयों में सामान्यतः दो शाखाएँ अवश्य होती हैं-

1. संस्थापन शाखा (Establishment)
2. लेखा शाखा (Accounts Section)

कर्मचारियों की भर्ती, नियुक्ति, प्रशिक्षण, वेतनव द्धि तथा पदोन्नति इत्यादि का कार्य संस्थापन शाखा द्वारा होती है। यही कार्मिक प्रशासन का लघु रूप है। सरकारी पैसे को राजकोष से निकालने, व्यय करने, बिल तैयार करने तथा वेतन इत्यादि का समस्त कार्य लेखा शाखा द्वारा सम्पादित होता है। व्यंग्यात्मक शैली में इसे 'ले' और 'खा' शाखा कहा जाता है। कार्मिक प्रकरणों के वित्तीय मामले यही शाखा निपटाती है। इन दो शाखाओं के अतिरिक्त अन्य प्रशासनिक शाखाएँ सम्बन्धित कार्यालय की कार्य प्रक ति के अनुसार गठित की जाती है। कार्मिकों से सम्बन्धित विभिन्न कार्य एवं उनका क्रियान्वयन 'कार्मिक प्रशासन' कहला सकता है फिर चाहे वह किसी भी शाखा से संपादित किया जाए।

कार्मिक प्रशासन के उद्देश्य (Objectives of Personnel Administration)

कार्मिक प्रशासन का सम्बन्ध कर्मचारियों की उन गतिविधियों से है जो संगठन के लक्ष्यों की प्राप्ति में आवश्यक है। संक्षिप्त रूप से कार्मिक प्रशासन के निम्नांकित उद्देश्य हैं-

1. किसी संगठन के लिए कार्मिक नीति-निरूपण तथा नियोजन करना;
2. कार्मिकों की भर्ती, प्रशिक्षण, पदोन्नति तथा अन्य आवश्यक सेवा शर्तो का नियमन करना;
3. सरकार की नीतियों एवं कार्यक्रमों का निरूपण करना;
4. कार्मिकों का मनोबल उच्च बनाए रखना;
5. परिवर्तित परिस्थितियों में कार्मिक नीतियों का पुनरीक्षण करना;
6. संगठन में कार्यकुशलता बढ़ाना तथा अनुशासन को बनाए रखना;
7. संगठन के लक्ष्यों की सामाजिक उपदेयता के रूप में ढालना;
8. कर्मचारियों में अपनत्व तथा उत्तरदायित्व की भावना विकसित करना;
9. कार्मिक परिवेदनाओं के निवारण की व्यवस्था करना;
10. संगठन की प्रतिष्ठा को बढ़ाने वाले प्रयास करना;
11. अनुसंधान तथा नवाचार प्रयासों को बढ़ाना देना;
12. संगठनात्मक कुशलता तथा विकास में सहायक सिद्ध होने वाला कोई भी कदम उठाना;

कार्मिक प्रशासन का क्षेत्र (Scope of Personnel Administration)

कार्मिक प्रशासन का कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक तथा गंभीर प्रक ति का है क्योंकि कार्मिक प्रशासन के माध्यम से ही योग्य (या अयोग्य) कार्मिक संगठन में भर्ती होते हैं तथा कार्मिक प्रशासन से सम्बद्ध नीतियों या नियमों से उनकी संतुष्टि एवं कार्यक्षमता प्रभावित होती है जो अंततः संगठन की कार्यकुशलता तथा छवि को प्रभावित करती है। कार्मिक प्रशासन के विस्त त क्षेत्र में निम्नलिखित पक्ष समाहित किए जा सकते हैं-(इन्हें कार्मिक प्रशासन के तत्त्व या विषयवस्तु भी कह सकते हैं)

1. **कार्मिक नीति का निर्माण:** नीति वह आधार होती है जिस पर किसी भी कार्य या कार्यक्रम का भविष्य एवं कुशलता निर्भर करती है। नीति न कवल मार्गदर्शक का काम करती है बल्कि सम्बन्ध कार्य को नियंत्रित भी रखती है। कार्मिक प्रशासन की कुशलता भी एक स्वस्थ कार्मिक या सेवीवर्गीय नीति पर निर्भर करती है। यह कार्मिक प्रशासन का प्राथमिक दायित्व है कि वह संगठन के लक्ष्यों, आवश्यकताओं तथा देशकाल की परिस्थितियों के अनुरूप कार्मिक नीति का निर्माण करे। यद्यपि लोक सेवाओं में कार्मिक नीति का निर्माण प्रायः नहीं होता है तथापि संवैधानिक प्रावधान, सेवा नियम तथा राज्यादेश ही नीति की तरह कार्य करते हैं। कार्मिक नीति में कर्मचारियों के वर्गीकरण, भर्ती, प्रशिक्षण, पदोन्नति, व त्तिका विकास, वेतन एवं भत्ते, पेंशन तथा अनुशासनात्मक कार्यवाही इत्यादि को समाहित किया जाता है। एक अच्छी तथा व्यावहारिक कार्मिक नीति उद्देश्यपरक, गतिशील, समानता की समर्थक, स्पष्ट, निष्पक्ष, समन्वयकारी, सर्वपक्ष-स्वीकार्य, समायानुकूल तथा संतुलन के गुणों से भरपूर होनी चाहिए।

   कार्मिक-माँग एवं आपूर्ति का अनुमान तथा कार्मिक नियोजन को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने के लिए भी गंभीर तथा चिन्तनशील प्रयासों की आवश्यकता होती है जो निस्संदेह कार्मिक प्रशासन के अधिकारियों द्वारा ही संभव है।

2. **पद वर्गीकरण:** कार्मिक प्रशासन का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य पदों को विभाजित एवं वर्गीक त करने का है। एक समान, योग्यता, वेतन तथा वेतन तथा दायित्वों के अनुरूप पदों को विभाजित करने से वेतन, प्रशिक्षण तथा पदोन्नति इत्यादि से सम्बन्धित कार्य सरलतापूर्वक सम्पन्न हो जाते हैं। पद वर्गीकरण की प्रक्रिया मुख्यतः केन्द्रीय स्तर का कार्य है अथवा कार्मिक, विधि या वित्त विभाग जैसे संगठन इस कार्य को संपादित करते हैं। संगठन के प्रत्येक स्तर पर चाहे पद वर्गीकरण का कार्य व हत् रूप से नहीं होता हो फिर भी पद वर्गीकरण का कार्य कार्मिक प्रशासन से सम्बद्ध माना जाता है क्योंकि कार्मिक से सम्बन्धित अधिकांश क त्य कार्मिक प्रशासन से ही सम्बद्ध है।

3. **भर्ती:** योग्य या उपयुक्त व्यक्ति को संगठन में लाने की प्रक्रिया भर्ती कहलाती है। वस्तुतः किसी भी संगठन की कार्यकुशलता इस बात पर अत्यधिक निर्भर करती है कि वहाँ भर्ती का आधार कितना निष्पक्ष तथा प्रभावी है। योग्यता आधारित तथा निष्पक्ष भर्ती व्यवस्था से ही कर्मठ तथा प्रतिभावान व्यक्ति संगठन को प्राप्त हो सकते हैं। संभवतः विश्व के अधिकांश प्रशासकीय संगठनों में कार्मिक प्रशासन का प्रमुख कार्य 'भर्ती' करना ही है। भर्ती के लिए योग्यता निर्धारण, पदों के विज्ञापन, प्राप्त आवेदनों की छंटनी, भर्ती हेतु परीक्षा आयोजन, साक्षात्कार तथा अन्य आवश्यक औपचारिकताएँ पूरी करवाना कार्मिक प्रशासन का कार्य है।

4. **प्रशिक्षण:** प्रशिक्षण वह प्रक्रिया है जो कार्मिकों के ज्ञान, कौशल, अभिव त्ति, मनोबल तथा समन्वय में सामयिक अभिव द्धि करती है। वर्तमान प्रशासनिक तथा औपचारिक संगठन में विशेषज्ञता या विशेष कौशल युक्त कार्मिकों का विशिष्ट स्थान है। यह भी कार्मिक प्रशासन का मुख्य कार्य है कि वह संगठन में कार्यरत विभिन्न पदों के कार्मिकों को यथावश्यक प्रशिक्षण दे अथवा इसकी समुचित व्यवस्था करे। आधुनिक मानव संसाधन विकास की अवधारणा में 'सेवाकालीन प्रशिक्षण' को बहुत महत्त्व प्रदान किया जा रहा है जो कार्य की प्रक ति, तकनीक तथा कार्मिक की कमियों के अनुसार किसी भी प्रणाली पर आधारित हो सकता है। इसी प्रकार अब प्रशिक्षण व्यवस्था करने से पूर्व कार्मिक प्रशासन के द्वारा 'कार्मिकों की प्रशिक्षण आवश्यकताओं का अध्ययन' (Training Needs Assessment) का अध्ययन भी करवाया जाता है।

5. **पदोन्नति:** योग्य तथा श्रेष्ठ कार्मिकों को किसी संगठन या विभाग में भर्ती करने के पश्चात् उन्हें संगठन में बनाए रखने अथवा अभिप्रेरित करने के लिए पदोन्नति की व्यवस्था प्राचीन काल से चली आ रही है। आधुनिक लोक प्रशासन में कर्मचारियों को पदोन्नति के माध्यम से संतुष्टि तथा अच्छे काल का पुरस्कार प्राप्त होता है। निम्न पद से उच्च पद पर जाने की प्रक्रिया आन्तरिक भर्ती भी कहलाती है। पदोन्नति का आधार योग्यता, वरिष्ठता अथवा योग्यता एवं वरिष्ठता का संयुक्तिकरण हो सकता है जो सम्बन्धित विभाग के सेवा नियमों तथा पदों की प्रक ति पर निर्भर करता है। कार्मिक

प्रशासन में पदोन्नति बहुत ही अहम् तथा संवेदनशील मुद्दा बना रहता है क्योंकि पदोन्नति प्रक्रिया की कमियाँ की संतुष्टि तथा कार्यशैली को प्रभावित करती है।

6. **वेतन, भत्ते एवं आनुषंगिक लाभ:** प्रत्येक कार्मिक को कार्य निष्पादन के पश्चात् नियमानुसार पारिश्रमिक दिया जाना एक सामान्य सिद्धान्त है। प्रत्येक कार्मिक को उसकी योग्यता, पद के दायित्व, स्तर, सेवा की अवधि, कार्य की प्रक ति तथा सेवा नियमों के अनुसार वेतन दिया जाता है। निर्धारित वेतन के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के भत्ते यथा-ओवर टाइम भत्ता, रिस्क भत्ता तथा यात्रा व्यय भत्ता इत्यादि भी देय होते हैं। आनुषंगिक लाभों में वर्दी, अवकाश, ऋण, चिकित्सा व्यय पुनर्भरण, आवास तथा एल.टी.सी. जैसी सुविधाएँ भी कार्मिकों को नियमानुसार दी जाती हैं। इन सभी प्रकरणों का नियमन कार्मिक प्रशासन के कार्य क्षेत्र में सम्मिलित है।

7. **निष्पादन मूल्यांकन तथा सेवा अभिलेख संधारण:** कर्मचारियों द्वारा सम्पादित किए जाने वाले कार्य का निर्धारित अन्तराल पर मूल्यांकन करना संगठन तथा कर्मचारी दोनों के हितों में है। सामान्य भाषा में इसे वार्षिक गोपनीय प्रतिवेदन (A.C.R.) कहा जाता है जो पदोन्नति में सहायक दस्तावेज सिद्ध होता है। इसी प्रकार प्रत्येक कर्मचारी की एक निजी सेवा पुस्तिका प्रशासन द्वारा संधारित की जाती है। इस पुस्तिका में कर्मचारी की नियुक्ति, वेतन, अवकाश, पदोन्नति तथा प्रशिक्षण इत्यादि का सम्पूर्ण ब्यौरा रखा जाता है।

   व हत् निजी प्रतिष्ठानों में 'पर्सनेल मैनेजमेन्ट इन्फोरमेशन सिस्टम' (P.M.I.S.) भी कार्य करता है जिसमें प्रत्येक कर्मचारी का विस्त त वर्णन एक कम्प्यूटरीक त प्रपत्र में दर्ज होता है जो आवश्यकता पड़ने पर काम आता है। भारत में पी.एम.आई. एस. को स्वास्थ्य सेवाओं में भी कुछ जगह क्रियान्वित किया गया है। पश्चिमी देशों में तो यह एक आवश्यक कार्य है जो कार्मिक प्रशासन द्वारा किया जाता है।

8. **अनुशासनात्मक कार्यवाही एवं आचार संहिता:** अनुशासन तथा नियंत्रण किसी भी संगठन की जीवंतता तथा व्यवस्था के लिए नितांत आवश्यक है। इसी क्रम में लोक सेवाओं में अनुशासन बनाए रखने हेतु कतिपय कानून एवं नियम निर्मित किए गए हैं तथा प्रत्येक कार्मिक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह उन नियमों का पालन करे। नियमों के उल्लंघन या अनुशासनहीनता की स्थिति उत्पन्न होने पर सम्बन्धित कर्मचारी के विरूद्ध नियमानुसार अनुशासनात्मक कार्यवाही की जाती है। संगठन में व्यवस्था बनाये रखने हेतु दोषी कार्मिक को दण्डित भी किया जाता है। यह कार्यवाही कार्मिक प्रशासन का महत्त्वपूर्ण कार्य है। लोक सेवाओं में कर्मचारियों के व्यवहार को नियंत्रित करने तथा उनमें नैतिकता का स्तर बनाए रखने के लिए आचरण संहिता भी निर्मित की जाती है।

9. **विविध:** कार्मिक प्रशासन का कार्यक्षेत्र कार्मिकों की गतिविधियों से जुड़ा हुआ है। उपर्युक्त वर्णित कार्यो के अतिरिक्त कार्मिक प्रशासन का क्षेत्र निम्नलिखित गतिविधियों से भी सम्बद्ध है-

   i. कर्मचारियों की **शिकायतों का निवारण** करना;

   ii. प्रशंसा, **पुरस्कार** तथा प्रोत्साहन प्रदान करना;

   iii. कर्मचारियों को कैरियर या **व त्तिका विकास** के अवसर उपलब्ध करवाना (जैसे-उच्च अध्ययन हेतु भेजना);

   iv. कार्मिक संगठनों या संघों से **वार्ता** कर सौहार्द्र स्थापित करना;

   v. कार्मिक पक्ष पर **अनुसंधान** तथा नवाचार के प्रयास करना;

   vi. कर्मचारियों का **स्थानान्तरण** करना; तथा

   vii. पेंशन तथा सेवानिव त्ति।

भर्ती
(Recruitment)

लोक सेवा में कर्मचारियों की भर्ती की समस्या अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि प्रशासन की स्थिरता तथा कार्यकुशलता इन्हीं कर्मचारियों की योग्यता, ईमानदारी और लगन पर निर्भर है। शासन की सफलता और असफलता इन कर्मचारियों पर ही निर्भर है। प्रत्येक प्रजातन्त्र में अत्यंत कुशल, योग्य और ईमानदार कर्मचारी प्राप्त करना कठिन समस्या है। वस्तुतः भर्ती ही शक्तिशाली

लोक सेवा की कुंजी है, जैसा कि मि. स्टाल का कथन है, "यह लोक कर्मचारियों के सम्पूर्ण ढांचे की आधारशिला है।" जब से राज्य लोककल्याणकारी संस्था बनी है, तब से लोक सेवाओं में भर्ती का प्रश्न और भी अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया है। प्रो. जिंक ने भर्ती के महत्त्व के संबंध में लिखा है, "भर्ती के अतिरिक्त लोक प्रशासन का कोई भाग अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि जिस समय तक आधारभूत सामग्री उपयुक्त नहीं होगी, उस समय तक प्रशिक्षण, निरीक्षण, सेवायापन (Rating), वर्गीकरण, खोज कितनी ही व्यापक क्यों न हो, सार्वजनिक कर्मचारियों की पूर्ति नहीं हो सकेगी।"

भर्ती का अर्थ
(Meaning of Recruitment)

भर्ती का सीधा-सादा अर्थ है विभिन्न सरकारी नौकरियों के लिए उपयुक्त प्रकार के व्यक्तियों को खोजना। सामान्यतः 'भर्ती' शब्द का प्रयोग 'नियुक्ति' शब्द के समानार्थी रूप में ही प्रयुक्त किया जाता है। कुछ लोग भर्ती के लिए ली जाने वाली परीक्षाओं को भी भर्ती कहते हैं, कुछ शिक्षा या ट्रेनिंग में प्रवेश की भर्ती कहते हैं लेकिन वास्तव में यह भर्ती के संकुचित अर्थ हैं। लोक प्रशासन के व्यापक अर्थों में भर्ती से हमारा तात्पर्य नियुक्ति, परीक्षण साक्षात्कार का सामूहिक नाम है।

प्रो. एल. डी. ह्वाइट ने भर्ती की परिभाषा करते हुए लिखा है कि, "प्रतियोगिता परीक्षाओं, रिक्त स्थानों एवं पदों के लिए व्यक्तियों को आकर्षित करना ही भर्ती है।"

डी. ई. क्लिंगर के अनुसार, "भर्ती योग्यता प्राप्त आवेदकों को आकर्षित करने की प्रक्रिया है।"

स्टाल के अनुसार, "यह संपूर्ण लोक कर्मचारियों के ढाँचे की आधारशिला है।

डिमॉक के अनुसार, "विशिष्ट कार्यो के लिए उचित व्यक्तियों को प्राप्त करना और कर्मचारियों के बड़े समूह के विज्ञापन निकालना या विशेष कार्य के लिए किसी उच्च दक्षता प्राप्त व्यक्ति की खोज ही भर्ती है।"

किंग्सले के अनुसार, "सार्वजनिक भर्ती को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है कि यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा लोक सेवा में नियुक्ति के लिए उचित प्रत्याशियों को प्रतियोगिता के लिए प्रवर्त्त किया जाता है। इस तरह यह अत्यधिक व्यापक प्रक्रिया (Inclusive Process Selection) का अभिन्न अंग है। जिसमें परीक्षा एवं प्रमाणीकरण की प्रक्रियाएं भी सम्मिलित हैं।"

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भर्ती एक व्यापक प्रक्रिया है जिसके द्वारा लोक प्रशासन में योग्य कर्मचारियों के संगठन, उनका चयन किया जाता है और उन्हें अपने पदों पर नियुक्त कर प्रशासन में निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति की जाती है।

नकारात्मक और सकारात्मक भर्ती की विचारधारा
(The Concept of Negative and Positive Recruitment)

भर्ती के संबंध में लूट प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिए लोक सेवा आयोगों का निर्माण किया गया। लोक सेवा आयोग बनाने का उद्देश्य नकारात्मक था। मूलतः इसका मुख्य कार्य शासकीय सेवाओं में से 'धूर्तो का बाहर रखन तक सीमित' (Keeping the rascals out) था। यह धारणा बलवती थी कि यदि एक बार लोक सेवाओं में नौकरी के लिए व्यक्ति आने लगेंगे तो ऐसा क्रम बना रहेगा, किंतु यह केवल भ्रम मात्र था। इसके परिणामस्वरूप कई बार बहुत ही साधारण योग्यता (Mediocre) रखने वाले व्यक्ति उसमें प्रवेश पा गये। भर्ती के इस निषेधात्मक प्रयत्न का परिणाम यह हुआ कि लोक सेवाएं उदासीनता का आश्रय स्थल बन गयी। लोक सेवा आयोग बड़े समूह में से उच्च पदक्रम से प्रत्याशियों को छांटने के लिए औसत के नियम (Law of Average) को लागू पर विश्वस करते थे। जे. डोनाल्ड किंग्सले ने इस स्थिति के बुद्धिमान व्यक्ति भी बाहर रह जाते हैं।" अतः आवश्यकता इस बात की है कि योग्य व्यक्तियों को लोक सेवाओं की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया जाये।

भर्ती की सकारात्मक अवधारणा से तात्पर्य यह है कि विभिन्न सरकारी पदों के लिए उचित प्रकार के व्यक्तियों की खोज के प्रयास किये जाएं। चयन करते समय चयनकर्ता का लक्ष्य केवल कुशल और योग्यतम व्यक्तियों को चुनना चाहिए। सकारात्मक भर्ती में इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि केवल योग्य पात्र व्यक्तियों को ही प्रतियोगिता में सम्मिलित होने की अनुमति

दी जाये। एल.डी. ह्वाइट के अनुसार, "भर्ती की समस्या इस ढंग से उठती है कि एक ओर समानता तथा मानवता का ध्यान होना चाहिए, तो दूसरी ओर विशेष योग्यता का।" किंग्सले के अनुसार, सकारात्मक भर्ती की निम्न विशेषताएं हैं:

1. **पद तथा पदोन्नति क्रम पर बल** (Emphasis on job and promotion ladder);
2. **योग्य व्यक्तियों की व्यापक खोज पर बल** (Emphasis on the aggressive search for best qualified candidates);
3. **योग्य व्यक्तियों को हटाने के लिए नियुक्ति पूर्व परीक्षा पर बल** (Emphasis on the pre-test elimination of the unfit);
4. **विभागों के ही पारस्परिक सहयोग तथा शान्तिमय सम्बन्धों पर बल** (Emphasis on the mutual co-operation and peaceful relation of the department)।

फिफनर तथा प्रस्थस लिखते हैं, "बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के लिए सेविवर्ग की भर्ती मानव समस्याओं के समाधान के लिए अत्यन्त मानवयी कुशलता की मांग करने वाले परमाणविक (nuclear) भौतिकी जगत् के अनुरूप होनी चाहिए। केवल उनके खोजने पर ही बल नहीं दिया जाना चाहिए बल्कि ऐसे आदमियों के निर्माण पर बल दिया जाना चाहिए जो अधिकाधिक जटिल होने वाली संस्थाओं में समन्वय के जटिल कार्यों को सम्पादित करने में समर्थ हों। स्पष्टतः ऐसे जगत में, धूर्तों को बाहर रखने पर इतना बल नहीं दिया जायेगा जितना इन बातों पर कि राज्य की सेवा करने के लिए सर्वोत्तम व्यक्तियों को कैसे प्रोत्साहित किया जाय, कैसे उनकी योग्यताओं को इस ढंग से निर्धारित किया जाये कि यह निश्चय हो सके कि प्रत्येक व्यक्ति उस स्थान को प्राप्त कर सकेगा जिसके वह योग्य है।

भारत में बढ़ती हुई बेरोजगारी के कारण भर्ती की समस्या उतनी जटिल नहीं है। कई बात तो इतनी अधिक संख्या में उम्मीदवार मिल जाते हैं कि भर्ती करने वाली एजेन्सी को कठिनाई का सामना करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में जबकि उम्मीदवार आसानी से मिल जाते हैं और भर्ती करने वाली एजेन्सी को विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता, नकारात्मक भर्ती (Negative Recruitment) से काम चल जाता है। एक बार एक अमरीकन विशेषज्ञ ने हमारे सरकारी विज्ञापनों को देखकर कहा था कि ऐसा प्रतीत होता है कि ये विज्ञापन जन-संपर्क के विशेषज्ञों द्वारा न लिखे जाकर वकीलों द्वारा लिखे गये हैं। उन्हें आश्चर्य इस कारण हुआ कि इन विज्ञापनों में उन्हें ऐसी कोई चीज नहीं मिली जिससे कि उम्मीदवार को प्रार्थना-पत्र देने में प्रोत्साहन मिले।

आज सभी देशों में लोक सेवाओं की भर्ती हेतु सकारात्मक नीति के विकास की आवश्यकता पर जोर दिया जाता है। इस नीति के मूल तत्व हैं:

1. लोक कर्मचारियों के पदों के लिए रोजगार बाजार की खोज तथा उसका संवर्धन किया जाना चाहिए;
2. भर्ती सम्बन्धी आकर्षित साहित्य तथा उसके प्रकाशन का प्रयोग किया जाना चाहिए;
3. प्रत्याशियों की योग्यता को निश्चित करने के लिए वैधानिक तरीकों तथा परीक्षणों का प्रयोग किया जाना चाहिए;
4. सेवाओं में से ही योग्य एवं समर्थ प्रत्याशियों को लेना चाहिए;
5. सुनिश्चित स्थापन (Placement) कार्यक्रम होना चाहिए जिससे ठीक व्यक्ति को उचित क त्य सौंपे जायें; तथा
6. भर्ती की प्रक्रिया के अविच्छिन्न अंग के रूप में प्रशिक्षण कार्यक्रम होना चाहिए।

भर्ती की समस्याएं
(Problems of Recruitment)

प्रो. विलोबी ने कर्मचारियों की भर्ती की समस्या में निम्नलिखित बातें बतायी हैं:

1. भर्ती का अधिकार किसे प्राप्त होना चाहिए?
2. सरकारी कर्मचारियों की भर्ती कहां से की जाये-भीतर से भर्ती या बाहर से भर्ती।
3. भिन्न-भिन्न पदों की पूर्ति के लिए क्या योग्यताएं हों?
4. उम्मीदवारों की योग्यता का निर्धारण किस प्रकार किया जाना चाहिए-परीक्षाओं से, व्यक्ति द्वारा, साक्षात्कार द्वारा।
5. योग्यता का निर्धारण करने के लिए प्रशासकीय संगठन क्या हो?

1. **भर्ती का अधिकार किसे प्राप्त होना चाहिए? अथवा भर्ती करने वाली सत्ता का निश्चयन (Location of the Appointing Power):** लोक सेवाओं में भर्ती का अधिकार किस व्यक्ति को दिया जाये, यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विलोबी के अनुसार भर्ती करने वाली सत्ता का निश्चयन केवल सेविवर्ग प्रणाली का ही नहीं, बल्कि देश की राजनीतिक व्यवस्था का एक अनिवार्य लक्षण होता है। यह समस्या इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इसका समाधान स्पष्ट रूप से प्रत्येक लोकतन्त्रीय देश के संविधान में कर दिया जाता है या संसद के अधिनियम द्वारा तय कर दिया जाता है।

   मोटे रूप से इस समस्या के सम्बन्ध में दो मत हैं-**प्रथम**, यह सत्ता प्रत्यक्षतः जनता में रखी जानी चाहिए; **द्वितीय**, यह सत्ता सरकार के किसी अंग में निहित की जानी चाहिए। **प्रथम मत** के पक्ष में यह दलील दी जाती है कि सच्चा लोकतंत्र तभी सम्भव है जब देश के सभी सर्वोच्च अधिकारी प्रत्यक्षतः जनता द्वारा चुने जायें, अर्थात् उनका निर्वाचन हो। इस पद्धति में पदाधिकारियों को अल्प अवधि के लिए चुना जायेगा और उन्हें मतदाताओं द्वारा 'वापस बुलाने' (Recall) की प्रथा भी रहेगी। किंतु इस प्रणाली की अनेक लेखकों ने आलोचना की। पहली बात तो यह है कि साधारण जनता बहुत बड़ी संख्या में अधिकारियों को चुनने के लिए सक्षम (Competent) नहीं होतीं। दूसरा, अनुभव यह बतलाता है कि पदाधिकारियों का चुनाव करते समय लोग व्यक्तिगत स्वार्थो के प्रवाह में बह जाते हैं। तीसरा, यह प्रणाली निश्चित रूप से निर्वाचन प्रणाली है न कि भर्ती प्रणाली। **द्वितीय मत** यह है कि केवल विधानमण्डल तथा मुख्य कार्यपालिका के सदस्य ही लोगों द्वारा चुने जाने चाहिए, और अन्य पदाधिकारियों की भर्ती एक निश्चित प्रणाली द्वारा की जानी चाहिए। उन्हें भर्ती करने की शक्ति सरकार के किसी अंग में निहित कर देनी चाहिए अथवा लोक सेवा आयोग में।

भर्ती की पद्धतियाँ (Methods of Recruitment)

लोक सेवाओं में भर्ती की तीन पद्धतियाँ (मैथड्स) प्रचलित हैं-

1. बाहरी या प्रत्यक्ष भर्ती (Direct Recruitment)
2. भीतरी या अप्रत्यक्ष भर्ती (Indirect Recruitment)
3. प्रतिनियुक्ति से भर्ती (Recruitment on Deputation)

जब किसी पद के लिए खुले बाजार में योग्य प्रत्याशियों से आवेदन माँगे जाते हैं तथा भर्ती की जाती है तो वह योग्यता आधारित बाहरी या प्रत्यक्ष भर्ती होती है। अधिकांश पदों पर बाहरी भर्ती ही होती है। लेकिन जब किसी विभाग में उच्च पद पर निम्न पदधारक कार्मिकों का पदोन्नत किया जाता है तो यह भीतरी या अप्रत्यक्ष भर्ती कहलाती है। कई बार किसी पद विशेष पर कुछ कर्मचारी बाहरी भर्ती से तथा कुछ भीतरी भर्ती से भरे जाते हैं जैसे-सब इंस्पेक्टर पुलिस का पद वरिष्ठ पुलिसकर्मियों की पदोन्नति से भी भरा जाता है तथा लोक सेवा आयोग द्वारा आयोजित प्रतियोगी परीक्षाओं के माध्यम से होने वाली भर्ती से भी भरा जाता है। स्पष्ट है किसी भी विभाग में निम्नतम पद पूर्णतया बाहरी भर्ती से ही भरा जा सकता है। इस सम्बन्ध में प्रत्येक विभाग द्वारा विनिर्मित सेवा नियमों के अनुसार पदों की भर्ती प्रक्रिया निर्धारित होती है।

बाहरी तथा भीतरी दोनों ही प्रकार की भर्ती पद्धतियों में गुण-दोष व्याप्त हैं जिनका वर्णन संलग्न सारणियों के माध्यम से किया गया हैं। सारणियों के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि दोनों पद्धतियों में से किसी एक को श्रेष्ठ घोषित करना मुश्किल है। हाँ, इतना अवश्य है कि किसी पद विशेष की प्रक ति एवं आवश्यकता के आधार पर कोई एक पद्धति विशेष अधिक उपयुक्त सिद्ध हो सकती है जबकि दूसरी नहीं।

बाहरी भर्ती के लाभ एवं हानियाँ

लाभ (गुण)	हानियाँ (दोष)
1. प्रत्याशियों के चयन हेतु व्यापक क्षेत्र उपलब्ध रहता है।	1. उच्च पदों पर अनुभवहीन व्यक्ति आते हैं तो पूर्ण दक्षता से कार्य नहीं कर पाते हैं।
2. प्रत्येक स्तर पर नए एवं प्रतिभावान उम्मीदवार उपलब्ध हो सकते हैं।	2. निम्न कर्मचारियों को विभाग में पदोन्नति न मिलने से कुंठा होती है।
3. सबके लिए समान अवसर की मान्यता की पोषक है।	3. पदोन्नति प्रकरणों में नवागन्तुक युवा अधिकारी तथा अधीनस्थ प्रौढ़ कर्मचारी का तनाव हो जाता है।

contd.....

4. संगठन में किसी भी पद पर आने वाला व्यक्ति नया होता है अतः उत्साह से कार्य करता है।	4. नवागुन्तक अधिकारियों को विभागीय प्रक्रियाएँ समझाने तथा प्रशिक्षण पर व्यय करना पड़ता है।
5. योग्यता के सिद्धान्त के अधिक समीप है।	5. आर्थिक रूप से महँगी पद्धति है।
6. नौजवान व्यक्तियों को सेवा के अवसर प्राप्त होते हैं।	

भीतरी भर्ती के लाभ एवं हानियाँ

लाभ (Merits)	**हानियाँ** (Demerits)
1. कम खर्चीली है।	1. सीमित व्यक्तियों में से ही योग्य को चुनना होता है। अतः क्षेत्र सीमित होता है।
2. अनुभवी व्यक्ति स्वतः ही प्राप्त होते हैं।	2. पदोन्नति व्यवस्था के प्रचलन के कारण बहुत से कर्मचारी अर्कमण्य तथा परम्परावादी बन जाते हैं।
3. सेवारत कार्मिकों को पदोन्नति के अवसर मिलते हैं।	3. बहुधा अकुशल तथा साधारण योग्यता वाला कार्मिक भी उच्च पद तक पहुँच जाता है।
4. योग्यता का निर्धारण करना सरल है क्योंकि पहले से ही कार्यरत कार्मिक की निष्पादन क्षमता सामने रहती है।	4. भीतरी भर्ती अर्थात् पदोन्नति से उच्च पद पर पहुँचे व्यक्ति तथा बाहरी भर्ती से नवागन्तुक व्यक्ति के बीच अहं का टकराव होता है क्योंकि सेवारत कार्मिक नवाचार विरोधी तथा दकियानूसरी विचारों के हो जाते हैं।
5. कार्मिकों को अभिप्रेरणा तथा संतुष्टि मिलती है।	5. पदोन्नति प्राप्त कार्मिकों में उत्साह नहीं रहता क्योंकि यह पूर्व अपेक्षित रहता है कि पदोन्नति होनी है।
6. कुछ कार्मिक पदोन्नति के लालच में अच्छा कार्य करते रहते हैं। योग्य तथा मेधावी कार्मिक अच्छे पदोन्नति अवसरों के कारण संगठन को छोड़ना नहीं चाहेंगे।	6. यह अप्रजातांत्रिक विधि है तथा नए ज्ञान का स्वागत नहीं करती है।
7. यह विधि नौकरी को व त्तिका (कैरियर) के रूप में अपनाने में सहायता प्रदान करती है।	

भर्ती की तीसरी पद्धति प्रतिनियुक्ति के आधार पर होने वाली भर्ती है जो एक प्रकार से आन्तरिक भर्ती का एक रूप है। बहुत से व्यक्ति इसे भर्ती नहीं मानते हैं। इस पद्धति में पहले से ही सेवारत कर्मचारी को उसी विभाग अथवा अन्य विभाग में एक निश्चित अवधि तक अन्य पद पर नियुक्ति किया जाता है। उस अवधि को प्रनियुक्ति की अवधि कहा जाता है जो कुछ माह से लेकर पाँच वर्ष तक हो सकती है। प्रनियुक्ति पर कार्मिक लेने हेतु भर्ती का विज्ञापन जारी होता है तथा योग्य कार्मिकों का चयन कर लिया जाता है। इसे स्थानान्तरण पर भर्ती भी कहते हैं। सामान्यतः उच्च पद, अधिक सुविधा या अधिक वेतनमान के कारण निम्न स्तरीय पदधारक (कार्मिक) प्रतिनियुक्ति पर दूसरे पद पर जाना पसंद करते हैं। निश्चित अवधि समाप्त होने पर प्रतिनियुक्त कार्मिक पुनः अपने वास्तविक पद पर लौट आता है। प्रतिनियुक्ति के दौरान प्रतिनियुक्त कार्मिक को नियमानुसार उच्च वेतनमान देय होता है अथवा समकक्ष पद पर ही प्रतिनियुक्ति हो तो प्रतिनियुक्ति भत्ता दिया जाता है। प्रतिनियुक्ति की निम्नलिखित परिस्थितियाँ हो सकती है-

1. विभाग से विभाग में ही उच्च पद पर प्रतिनियुक्ति
2. एक विभाग से दूसरे विभाग में प्रतिनियुक्ति
3. एक राज्य से दूसरे राज्य में प्रतिनियुक्ति
4. देश से विदेश में प्रतिनियुक्ति

एक अन्य द ष्टिकोण के अनुसार भर्ती के दो प्रकार और हैं-

1. अस्थायी भर्ती
2. स्थायी भर्ती

जब किसी पद की अवधि कुछ माह या कुछ वर्ष ही होती है तो वह अस्थाई भर्ती कहलाती है। ऐसी भर्तियाँ परियोजनाओं के पदों पर अधिक होती हैं। अस्थायी पद होने के कारण प्रायः नियोक्ति तथा कार्मिक द्वारा संविद (Contract) भी किया जा सकता है। लोक सेवाओं में अधिकांशतः स्थायी भर्ती होती है। कुछ पदों पर तदर्थ (Adhoc) नियुक्तियाँ भी की जाती हैं।

भर्ती की शर्तें/अर्हताएँ (Qualifications)

बाहरी (प्रत्यक्ष) तथा भीतरी (अप्रत्यक्ष) दोनों ही प्रकार की भर्ती प्रणालियाँ में कतिपय नियम एवं शर्तें निर्धारित कर दी जाती हैं जिनका पालन करना अनिवार्य होता है। भीतरी अर्थात् पदोन्नति द्वारा भर्ती के लिए निर्धारित शर्तें विभागीय आवश्यकताओं के अनुरूप होती हैं जबकि बाहरी या खुली भर्ती के लिए शर्तें अधिक व्यापक तथा बहुआयामी होती हैं। लोक सेवाओं में प्रवेश के लिए प्रायः निम्नांकित अर्हताएँ पूरी की जानी अपेक्षित हैं-

1. नागरिकता
2. अधिवास
3. लिंग
4. आयु
5. शैक्षिक योग्यताएँ
6. शारीरिक एवं मानसिक योग्यताएँ
7. अनुभव तथा विशिष्ट योग्यताएँ
8. चरित्र

1. **नागरिकता (Citizenship):** अधिकांश देश अपने नागरिकों को ही लोक सेवाओं में भर्ती करते हैं। दूसरे देशों के नागरिकों को प्रायः कम वरीयता दी जाती है। यदि किसी पद पर विदेशी नियुक्त भी किए जाते हैं तो वे अल्पकाल के लिए होते हैं। हाँ, कई बार नियुक्तिकर्ता देश लोक सेवक को नागरिकता प्रदान कर देते हैं। अमेरिका तथा कनाड़ा में लाखों भारतीय वहाँ के नागरिक बन चुके हैं। भारत में भारतीय प्रशासनिक सेवा तथा भारतीय पुलिस सेवा में भर्ती हेतु भारतीय नागरिकता आवश्यक है जबकि अन्य बहुत से पदों पर नेपाल तथा भूटान की प्रजा एवं तिब्बती शरणार्थी तथा कई अफ्रीकी देशों से प्रवजन कर आए भारतीय व्यक्ति योग्य पात्र माने गए हैं।
2. **अधिवास (Domicile):** भारत सहित अधिकांश भौगोलिक रूप से विस्त त देशों में अधिवास अर्थात् स्थानीय निवास भी लोक सेवकों के लिए अर्हता माना गया है। स्थानीय भाषा, संस्क ति तथा क्षेत्र की जानकारी होना अच्छे लोक सेवक के लिए बहुत आवश्यक है। सन् 1957 से पूर्व तक अधिकांश पदों पर भर्ती हेतु अधिवास संबंधी नियम लागू थे, अर्थात् स्थानीय नागरिक ही भर्ती के लिए पात्र थे किन्तु **राज्य पुनर्गठन आयोग** ने अधिवास सम्बन्धी अर्हता को समानता के अधिकार-विरोधी बताया। आयोग की टिप्पणी थी-"हमें यह देखकर बहुत दुःख हुआ है कि एक राज्य में अधिवास सम्बन्धी नियम, लोक सेवाओं में ही नहीं अपितु मछली मारने, नदी-घाटों, चुँगी-पुलों, वनों तथा आबकारी की दुकानों के ठेके देने में भी लागू हैं। हमारी राय में ऐसी व्यवस्थाएँ संविधान के **अनुच्छेद**-15, 16, **तथा** 19 से असंगत ही नहीं बल्कि भारतीय नागरिकता की अवधारणा के भी विरूद्ध हैं। आयोग की इस रिपोर्ट के पश्चात् भारत सरकार ने **जन रोजगार (निवास सम्बन्धी आवश्यकता) अधिनियम,** 1957 पारित किया तथा अधिकांश पदों पर अधिवास की शर्त समाप्त कर दी गई किन्तु जैसा कि संविधान के **अनुच्छेद**-16 (3) में यह व्यवस्था है कि उचित कारणों के आधार राज्य के निवासियों को ही अधिवास के आधार पर किन्हीं पदों पर नियुक्त किया जा सकता है। इस हेतु व्यवस्थापिका द्वारा कानून बनाया जाना अपेक्षित है।
3. **लिंग (Sex):** पुरूष प्रधान समाजों में प्रायः स्त्रियों को लोक सेवा के योग्य नहीं समझा जाता था। भारत का संविधान लिंग भेद को मान्यता नहीं देता है। वर्तमान में लगभग सभी प्रकार की सेवाओं में महिलाओं को पुरूषों के समान ही अवसर

प्रदान किए गए हैं। भारत में महिलाएँ अब सैन्य सेवाओं, पुलिस सेवाओं, वैमानिक सेवाओं सहित वाहनचालक जैसे पदों पर नियुक्त होने लगी हैं।

लिंग की भांति वैवाहित स्तर की अर्हता भी अब प्रचलित नहीं है। पूर्व में कई पदों पर अविवाहित उम्मीदवार को ही वरीयता दी जाती थी।

4. **आयु (Age):** भारत में आयु का स्तर भी एक महत्त्वपूर्ण आयाम है क्योंकि संगठन में आने वाले व्यक्ति की आयु का ज्ञान, अभिव त्ति तथा मानसिकता से सीधा सम्बन्ध है। अमेरिका की लोक सेवाओं की भर्ती में वरिष्ठ व्यक्तियों को भी स्थान दिया जाता है जबकि भारत तथा ब्रिटेन में अधिकांश पदों पर नवयुवकों को अधिक स्थान दिया जाता है जो स्कूल या कॉलेज से सीधे सरकारी नौकरियों में आते हैं। आयु-सीमा का निर्धारण पद की योग्यता एवं आवश्यकता के अनुसार किया जाता है। भारत में उच्च सिविल सेवाओं में भर्ती होने हेतु 21 से 30 वर्ष की आयु सीमा निर्धारित है जबकि राजस्थान में 18 से 33 वर्ष विभिन्न पदों में भर्ती हेतु निर्धारित है। विशिष्ट परिस्थितियों में न्यूनतम आयु 16 वर्ष तथा उच्च पद पर भर्ती के समय आयु सीमा तदनुसार अधिक भी हो सकती है।

5. **शैक्षिक योग्यताएँ (Academic Qualifications):** सामान्यतः उच्च पदों पर किसी भी विषय में स्नातक डिग्री तथा अधीनस्थ पदों हेतु सैकण्डरी या सीनियर सैकण्डरी की शैक्षिक योग्यता निर्धारित की हुई है। पद की आवश्यकतानुसार शैक्षिक योग्यताएँ कम या ज्यादा हो सकती है।

6. **शारीरिक एवं मानसिक योग्यताएँ (Physical and Mental Abilities):** लोक सेवाओं में प्रवेश पाने हेतु अभ्यर्थी का शारीरिक एवं मानसिक रूप से स्वस्थ होना आवश्यक है। पुलिस विभाग या इसी तरह के अन्य विभाग में भर्ती हेतु लम्बाई, वजन, सीना-माप तथा अन्य शारीरिक क्षमताएँ निर्धारित की जाती हैं जबकि अन्य विभागों के अधिकांश पदों पर सामान्य शारीरिक संरचना वाला उम्मीदवार उपयुक्त समझा जाता है। इसी प्रकार लोक सेवाओं में भर्ती होते समय प्राधिक त चिकित्सक के परीक्षण करवा के 'स्वास्थ्य प्रमाण पत्र' प्राप्त कर नियोक्ता को प्रस्तुत करना आवश्यक है। विकलांग व्यक्तियों (निःशक्तजनों) को पद या कार्य की प्रक ति के आधार पर भर्ती किया जाता है।

7. **अनुभव एवं विशिष्ट योग्यताएँ (Experience and Special Qualifications):** बाहरी भर्ती में बहुत पदों पर भर्ती के समय अनुभव की आवश्यकता नहीं होती है लेकिन उच्च तथा तकनीकी प्रक ति के पद पर भर्ती के समय कुछ वर्षो का अनुभव अपेक्षित होता है। चिकित्सा, इंजीनियरिंग, शिक्षा, विधि तथा वैज्ञानिक इत्यादि से सम्बन्धित पदों पर भर्ती के लिए सम्बन्धित क्षेत्र की मान्यता प्राप्त एवं विशिष्ट योग्यता होना भी अपेक्षित है।

8. **चरित्र (Character):** लोक सेवाओं में भर्ती होने वाले प्रत्येक व्यक्ति का चरित्र उज्ज्वल तथा विश्वसनीय होना चाहिए। इस सम्बन्ध में कई बार आवेदन पत्र के साथ ही राजपत्रित अधिकारियों द्वारा प्रदत्त चरित्र प्रमाण पत्र संलग्न करने की परंपरा ब्रिटिशकाल से चली आ रही है। सरकारी सेवाओं में नियुक्त होने वाले व्यक्तियों का प्रशासन द्वारा चली आ रही है। सरकारी सेवाओं में नियुक्त होने वाली व्यक्तियों का प्रशासन द्वारा पुलिस-सत्यापन (Police Verification) भी करवाया जाता है ताकि अच्छे चरित्र की पुष्टि हो सके।

भर्ती प्रक्रिया (Recruitment Process)

लोक सेवाओं में न्याय एवं समानता के आधार पर तथा योग्यता के उचित मापदण्डों को अपनाते हुए भर्ती की जाती है। भर्ती प्रक्रिया को पूरा करने में कई चरणों पर विविध कार्य सम्पादित किए जाते हैं। भर्ती प्रक्रिया में विभिन्न संगठनों की आवश्यकता तथा नियमों के अनुकूल कुछ परिवर्तन हो सकते हैं। भर्ती प्रक्रिया में सामान्यतः निम्नलिखित चरण सम्मिलित हैं-

1. सर्वप्रथम किसी विभाग के पद के स जन, से नियमों का निर्माण, वर्गीकरण तथा वेतन श्ंखला इत्यादि के निर्माण सहित पदों की संख्या निर्धारित की जाती है।
2. नियमानुसार सम्बन्धित विभाग स्वयं अथवा किसी भर्ती अभिकरण जैसे-लोक सेवा आयोग से भर्ती करने का आग्रह करता है।
3. जन संचार के माध्यमों से सम्बन्धित पदों की भर्ती का विज्ञापन दिया जाता है।
4. प्राप्त आवेदन पत्रों की वैधता की जाँच तथा छंटनी कार्य किया जाता है।

5. आवश्यकता होती है तो प्रतियोगी परीक्षा आयोजित की जाती है।
6. परीक्षा में उत्तीर्ण उम्मीदवारों का योग्यता क्रम निर्धारित करते हुए उन्हें साक्षात्कार हेतु बुलाया जाता है। (कुछ संस्थाएँ आवेदन पत्र सहित उम्मीदवारों को सीधे ही साक्षात्कार में भी बुलाती हैं। यह 'वाक-इन-इंटरव्यू' कहलाता है।)
7. साक्षात्कार से पूर्व प्रमाण पत्रों की जाँच तथा सामूहिक परिचर्चा इत्यादि करवाई जाती है।
8. साक्षात्कार के दौरान उम्मीदवार का व्यक्तित्व परीक्षण होता है।
9. योग्यता के आधार पर सफल उम्मीदवारों की सूची क्रमवार बनाई जाती है।
10. सफल उम्मीदवारों को सूचना तथा परिणाम प्रकाशित करने की औपचारिकता पूरी की जाती है।
11. चयनित उम्मीदवारों की सूची नियुक्तिकर्ता अधिकारी तक प्रेषित की जाती है। जहाँ से नियुक्ति पत्र जारी होता है। साथ ही उम्मीदवार के चरित्र सत्यापन हेतु पुलिस विभाग से जाँच करवाई जाती है।
12. उम्मीदवार को स्वास्थ्य परीक्षण करवा के प्रमाण पत्र सहित नियुक्ति अधिकारी से प्राप्त निर्देशानुसार कार्यस्थल पर उपस्थित होना पड़ता है। प्रत्येक कार्मिक को प्रारंभ में 6 माह से लेकर 2 वर्ष तक की परिवीक्षा अवधि में अस्थायी रूप से नियुक्त किया है। कार्य निष्पादन का स्तर संतोषजनक होने पर स्थायीकरण के आदेश जारी होते हैं।

भारत में उच्च लोक सेवाओं की भर्ती
(Recruitment of Higher Civil Services in India)

भारत में उच्च लोक सेवाओं में भर्ती का कार्य संघ लोक सेवा आयोग, नई दिल्ली द्वारा सम्पादित होता है। आयोग प्रतिवर्ष 'सिविल सेवा परीक्षा' आयोजित करता है जिसके माध्यम से अखिल भारतीय सेवाओं तथा केन्द्रीय सेवाओं के विभिन्न पद भरे जाते हैं। भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय वन सेवा तथा भारतीय पुलिस सेवा में आयोग द्वारा सिविल सेवा परीक्षा के माध्यम से खुली भर्ती होती है वहीं इन सेवाओं में राज्य सेवाओं के अधिकारी पदोन्नति से भी प्रवेश पाते हैं।

सिविल सेवा परीक्षा में स्वतंत्रता के पश्चात् कुछ आवश्यक परिवर्तन किए गए थे। इसी प्रकार सन् 1974 में **कोठारी समिति** (कमेटी ऑन रिक्रूटमेन्ट पॉलिसी एण्ड सलैक्शन मैथड) का गठन हुआ। कमेटी ने सन् 1976 में अपना विस्त त प्रतिवेदन सरकार को प्रस्तुत किया था जिसमें सभी सेवाओं के लिए एक समान परीक्षा आयोजित करने, प्रतियोगी परीक्षा को प्रारम्भिक तथा मुख्य दो चरणों में बाँटने तथा बहुविकल्पात्मक प्रश्न पद्धति को सम्मिलित करने जैसे महत्त्वपूर्ण सुझाव सम्मिलित थे। ज्ञात रहे कि सन् 1979 में कोठारी समिति द्वारा सुझाए गए मॉडल से पूर्व भारतीय विदेश सेवा, भारतीय प्रशासनिक सेवा एवं केन्द्रीय सेवाओं में भर्ती के लिए अलग-अलग पद्धतियाँ काम में ली जाती थी। कोठारी समिति की अनुशंसा लगभग स्वीकार कर क्रियान्वित की गई। इस तरह सन् 1979 से सिविल सेवा परीक्षा तीन चरणों यथा-प्रारम्भिक परीक्षा, मुख्य परीक्षा तथा साक्षात्कार में विभक्त हो गई। प्रारम्भिक परीक्षा के माध्यम से अधिकांश उम्मीदवारों की छँटनी हो जाती है। संघ लोक सेवा आयोग के पूर्व अध्यक्ष **श्री सतीश चन्द्र** की अध्यक्षता में 'कमेटी ऑन दी सिस्टम ऑफ एक्जामिनेशन टू द हायर सिविल सर्विसेज' गठित की गई, जिसकी रिपोर्ट सन् 1989 में सरकार को सौंपी गई तथा कुछ अनुशंसाएँ सरकार ने सन 1993 की सिविल सेवा परीक्षा से क्रियान्वित की हैं। कोठारी समिति तथा सतीश चन्द्र समिति दोनों ने आयु सीमा 21-26 वर्ष को सिफारिश की थी जो सरकार द्वारा स्वीकार नहीं की गई। सन् 2000 में **वाई. के. अलघ** की अध्यक्षता में सिविल सेवा परीक्षा समीक्षा पर एक समिति बनाई गई थी जिसने सन् 2001 में अपनी रिपोर्ट सरकार को दी।

कार्मिक, लोक शिकायत तथा पेंशन मंत्रालय एवं अन्य केन्द्रीय विभागों से रिक्त पदों का अनुमान प्राप्त होने पर संघ लोक सेवा आयोग प्रायः दिसम्बर माह में 'रोजगार समाचार' तथा अन्य प्रमुख समाचार पत्रों में सिविल सेवा परीक्षा का नोटिस प्रकाशित करवाता है। अखिल भारतीय सेवाओं तथा केन्द्रीय सेवाओं ग्रुप 'क' तथा 'ख' में प्रायः 300 से 500 उम्मीदवार प्रतिवर्ष भर्ती किए जाते हैं। प्रारम्भिक परीक्षा प्रायः मई माह में तथा मुख्य परीक्षाएँ अक्टूबर में आयोजित होती हैं। सिविल सेवा परीक्षा में प्रमुख बिन्दु निम्नलिखित हैं-

परीक्षा केन्द्र

देश के 41 शहरों में स्थिति परीक्षा केन्द्रों के माध्यम से प्रतियोगी परीक्षा आयोजित होती है।

पात्रता

1. **राष्ट्रीयता:** भारतीय प्रशासनिक सेवा और भारतीय पुलिस सेवा के उम्मीदवार को भारत का नागरिक अवश्य होना चाहिए। शेष सेवाओं हेतु उम्मीदवार भारत का नागरिक हो या नेपाल की प्रजा हो या भूटान की प्रजा हो या ऐसा तिब्बती शरणार्थी जो भारत में स्थायी रूप से रहने के इरादे से 1 जनवरी, 1992 से पहले भारत आ गया हो या कोई भारत-मूल का व्यक्ति जो भारत में स्थायी रूप से रहने से पाकिस्तान, बर्मा, श्रीलंका, उगांडा, संयुक्त गणराज्य तंजानिया के पूर्वी अफ्रीकी देशों, जाम्बिया, मलावी, जैरे, इथोपिया तथा वियतनाम से प्रवजन कर आया हो किंतु इन सभी (भारतीयों के अतिरिक्त) के पास भारत सरकार द्वारा जारी किया पात्रता प्रमाण पत्र होना चाहिए। भारतीय विदेश सेवा हेतु नेपाली, भूटानी तथा तिब्बती व्यक्ति पात्र नहीं है।
2. **आयु सीमा:** 21 से 30 वर्ष निर्धारित है जो प्रायः परीक्षा आयोजित होने वाले वर्ष के 1 अगस्त को आधार मानकर गिनी जाती है। अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के उम्मीदवारों को अधिकतम आयु सीमा से 5 वर्ष की अन्य पिछड़े वर्गों को 3 वर्ष की तथा विस्थापितों, सशस्सत्र सेना के कमीशन प्राप्त अधिकारियों तथा कुछ अन्य सीमा में छूट प्राप्त है।
3. **न्यूनतम शैक्षिक योग्यता:** उम्मीदवार के पास भारत के केन्द्र या राज्य विधान मंडल द्वारा निर्गमित किसी विश्वविद्यालय की या संसद के अधिनियम द्वारा स्थापित या विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अधिनियम, 1956 के खण्ड III के अधीन विश्वविद्यालय के रूप में मानी गई किसी अन्य शिक्षा संस्था की स्नातक डिग्री या समकक्ष योग्यता होनी चाहिए।
4. **अवसरों की संख्या:** सामान्य वर्ग के उम्मीदवारों हेतु चार अवसर निर्धारित हैं जबकि अन्य पिछड़ा वर्ग (OBC) हेतु सात अवसर दिए गए हैं। किंतु यह बाध्यता अनुसूचित जाति तथा अनूसूचित जनजाति के उम्मीदवारों पर लागू नहीं है। प्रारंभिक परीक्षा में बैठने (वस्तुतः चाहे एक प्रश्न-पत्र में बैठा हो) को एक अवसर गिना जाता है।

शुल्क

वर्ष 2002 की सिविल सेवा परीक्षा के प्रारंभिक चरण हेतु 50 रूपए शुल्क तथा मुख्य परीक्षा हेतु 100 रूपए निर्धारित था। अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के उम्मीदवारों को शूल्क से छूट प्राप्त है।

परीक्षा की रूपरेखा

1. **प्रारम्भिक परीक्षा:** उक्त परीक्षा में दो प्रश्न पत्र होते हैं-(प्रत्येक के लिए समय 2 घंटे निश्चित है)

प्रश्न पत्र 1	सामान्य अध्ययन	150 अंक
प्रश्न पत्र 2	निम्नांकित ऐच्छिक विषयों में से चुना गया एक विषय	300 अंक कुल 450 अंक

प्रारम्भिक परीक्षा हेतु ऐच्छिक विषय

1. क षि विज्ञान	8. विद्युत इंजीनियरिंग	16. भौतिकी
2. पशुपालन तथा पशु चिकित्सा विज्ञान	9. भूगोल	17. राजनीति विज्ञान
	10. भू-विज्ञान	18. दर्शनशास्त्र
3. वनस्पति विज्ञान	11. भारतीय इतिहास	19. मनोविज्ञान
4. रसायन विज्ञान	12. विधि	20. लोक प्रशासन
5. सिविल इंजीनियरिंग	13. गणित	21. समाजशास्त्र
6. वाणिज्यशास्त्र	14. यांत्रिकी इंजीनियरिंग	22. सांख्यिकी
7. अर्थशास्त्र	15. चिकित्सा विज्ञान	23. प्राणी शास्त्र

प्रारम्भिक परीक्षा के दोनों प्रश्न पत्र बहुविकल्पात्मक (Objectives) प्रश्नों में से युक्त होते हैं। सामान्य अध्ययन में संविधान, समाज, सामान्य शिक्षा, सामान्य ज्ञान, इतिहास, राजनीति, पर्यावरण तथा समसामयिक घटनाओं से सम्बन्धित प्रश्न पूछे जाते हैं। ऐच्छिक विषय के प्रश्न पत्र में स्नातक स्तर का पाठ्यक्रम होता है।

2. **मुख्य परीक्षा:** प्रारम्भिक परीक्षा में उत्तीर्ण घोषित उम्मीदवार ही मुख्य परीक्षा में बैठते हैं। परीक्षा की योजना निम्नानुसार होती है।

प्रश्न पत्र 1	संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित भाषाओं में से उम्मीदवार द्वारा चुनी गई कोई एक भारतीय भाषा	300 अंक
प्रश्न पत्र 2	अंग्रेजी	300 अंक
प्रश्न पत्र 3	निबंध	200 अंक
प्रश्न पत्र 4 तथा 5	सामान्य अध्ययन	प्रत्येक के 300 अंक
प्रश्न पत्र 6 से 9	ऐच्छिक विषयों की सूची में चुने गए कोई दो विषय, प्रत्येक विषय के दो प्रश्न पत्र	प्रत्येक प्रश्न पत्र के 300 अंक

मुख्य परीक्षा में निबंधात्मक शैली के प्रश्न पत्र होते हैं। समयावधि 3 घंटे की हैं। भारतीय भाषाओं और अंग्रेजी का प्रश्न पत्र सैकण्डरी या समकक्ष स्तर का होता है। इन प्रश्न पत्रों में प्राप्त अंक योग्यता क्रम निर्धारण में नहीं गिने जाते हैं लेकिन इन भाषाओं के प्रश्न पत्रों का अर्हक अंक प्राप्त करने पर ही सामान्य अध्ययन, निबंध तथा ऐच्छिक विषयों के प्रश्न पत्रों की जाँच होती है। भारतीय भाषाओं का प्रथम प्रश्न पत्र उन उम्मीदवारों के लिए अनिवार्य नहीं है जो अरूणाचल प्रदेश, मणिपुर, मेघालम, मिजोरम, नागालैण्ड तथा सिक्किम राज्यों के हैं।

भाषाओं के प्रश्न पत्र के साथ लिपि का निर्धारण इस प्रकार किया गया है-

भाषा		लिपि	भाषा		लिपि
असमिया	-	असमिया	मराठी	-	देवनागरी
बंगला	-	बंगला	नेपाली	-	देवनागरी
गुजराती	-	गुजराती	उड़िया	-	उड़िया
हिन्दी	-	देवनागरी	पंजाबी	-	गुरमुखी
कन्नड़	-	कन्नड़	संस्कृत	-	देवनागरी
कश्मीरी	-	फारसी	सिंधी	-	देवनागरी या अरबी
कोंकणी	-	देवनागरी	तमिल	-	तमिल
मलयालम	-	मलयालम	तेलुगु	-	तेलुगु
मणिपुरी	-	बंगला	उर्दू	-	फारसी

मुख्य परीक्षा हेतु एच्छिक विषयों की सूची इस प्रकार हैं-

1. कृषि विज्ञान
2. पशुपालन तथा पशु चिकित्सा विज्ञान
3. वनविज्ञान
4. वनस्पति शास्त्र
5. रसायन विज्ञान
6. सिविल इंजीनियरिंग
7. वाणिज्य शास्त्र एवं लेखा विधि
8. अर्थ शास्त्र
9. विद्युत इंजीनियरिंग
10. भूगोल
11. भू-विज्ञान
12. भारतीय इतिहास

13. विधि
14. प्रबन्ध
15. यांत्रिकी इंजीनियरिंग
16. चिकित्सा विज्ञान
17. दर्शन शास्त्र
18. भौतिकी
19. राजनीति विज्ञान तथा अर्न्तराष्ट्रीय सम्बन्ध
20. मनोविज्ञान
21. लोक प्रशासन
22. समाज शास्त्र
23. सांख्यिकी
24. प्राणी विज्ञान
25. गणित

भाषा का इतिहास

26. अरबी
27. असमिया
28. बंगला
29. चीनी
30. अंग्रेजी
31. फ्रेंच
32. जर्मन
33. गुजराती
34. हिन्दी
35. कन्नड़
36. कश्मीरी
37. कोंकणी
38. मराठी
39. मलयालय
40. मणिपुरी
41. नेपाली
42. उड़िया
43. पाली
44. फारसी
45. पंजाबी
46. रूसी
47. संस्कत
48. सिंधी
49. तमिल
50. तेलुगु
51. उर्दू

उपर्युक्त वर्णित विषयों में निम्नलिखित विषय एक साथ नहीं लिए जा सकते हैं-

1. राजनीति विज्ञान तथा अर्न्तराष्ट्रीय सम्बन्ध एवं लोक प्रशासन
2. वाणिज्य शास्त्र तथा लेखा विधि एवं प्रबंध
3. न विज्ञान एवं समाजशास्त्र
4. गणित एवं सांख्यिकी
5. क षि विज्ञान एवं पशुपालन तथा पशु चिकित्सा विज्ञान
6. प्रबन्ध तथा लोक प्रशासन
7. इंजीनियरिंग के कोई दो विषय एक साथ नहीं
8. पशुपालन तथा पशु चिकित्सा विज्ञान एवं चिकित्सा विज्ञान।

40 प्रतिशत से अधिक द ष्टिकोण वाले उम्मीदवारों की लेखन सहायक (Scribe) की अनुमति आयोग की शर्तें पूरी करने पर दी जाती है।

कुल रिक्तियां की दुगुनी संख्या में उम्मीदवारों को साक्षात्कार में बुलाया जाता है। साक्षात्कार 300 अंकों का होता है। मुख्य परीक्षा तथा साक्षात्कार के अंकों को जोड़कर अंतिम योग्यता क्रम का निर्धारण किया जाता है एवं तदनुसार उम्मीदवार को विभिन्न सेवाओं में भर्ती किया जाता है।

भर्ती की कमियाँ

भारत में प्रतियोगी परीक्षाओं के माध्यम से होने वाली भर्तियाँ विवादों से घिरी रही हैं। यदि वर्तमान भारतीय प्रशासन तंत्र न्यूनाधिक मात्रा में सुस्त तथा उत्तरदायित्वविहीन दिखाई देता है तो इसके लिए एक सीमा तक भर्ती व्यवस्था की **कमियाँ** भी जिम्मेदार हैं-

1. आए दिन न्यायालयों में दायर होने वाली रिट याचिकाओं से स्पष्ट होता है कि भारत में भर्ती प्रक्रिया **निष्पक्ष** नहीं है। कई बार प्रश्न पत्र भी आउट हुए हैं।
2. प्रतियोगी परीक्षाएँ मूलतः **विश्वविद्यालयी पाठ्यक्रम पर आधारित** हैं। इन परीक्षाओं का सम्बन्धित पद हेतु आवश्यक ज्ञान, अभिव त्ति, या कौशल से सम्बन्ध नहीं है।

3. परम्पराओं का पालन अधिक किया जाता है अर्थात् **नवाचार विरोधी** प्रव त्ति व्याप्त हैं।
4. पॉल एच. एपलबी ने भारतीय भर्ती प्रणाली को कल्पना शक्ति तथा सुधारात्मक प्रयासों से दूर पाया है।
5. वर्तमान भर्ती प्रणाली विश्वविद्यालयी डिग्री लेने तथा **रटकर** पढ़ने की प्रव त्ति बढ़ाती है।
6. स्वार्थ एवं संकीर्णता के कारण **राजनीतिक हस्तक्षेप** भी होता है।
7. **साक्षात्कार प्रणाली दोषपूर्ण** है क्योंकि यह चयन मंडल की व्यक्तिगत मान्यताओं से प्रभावित है।
8. प्रतियोगी परीक्षाएँ यहाँ के उम्मीदवारों में **कुंठा तथा नैराश्य** पैदा करती है। ऐसा भी देखा जाता है कि कई बार अति सामान्य-सा विद्यार्थी भाग्य के सहारे चयनित हो जाता है।
9. उम्मीदवारों की मनोवैज्ञानिक परीक्षा की विश्वसनीय प्रणाली विकसित नहीं हुई है।
10. निर्धन उम्मीदवार के लिए प्रतियोगी परीक्षाएँ **बहुत महँगी** सिद्ध होती है।
11. अलग-अलग विभागों या पदों हेतु बार-बार परीक्षाएँ देनी पड़ती हैं।

भर्ती की इन कमियों को दूर करने हेतु यह सुझाव दिया जाता रहा है कि सभी विभागों एवं पदों की एक समान परीक्षा एक ही समय राष्ट्रीय स्तर पर आयोजित की जाए। उच्च योग्यता वाले अभ्यर्थी उच्च पदों पर तथा निम्न योग्यता क्रम वाले निम्न पदों पर चयनित किए जाएँ। भर्ती प्रणाली की विश्वसनीयता को बनाने के लिए मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पद्धति को लागू किया जाए तथा राजनीतिक हस्तक्षेप कम हो। दूसरा उपाय यह हो सकता है कि **भर्ती हेतु डिग्री की आवश्यकता समाप्त कर दी जाए** तथा प्रत्येक पद की भर्ती में उस पद से सम्बन्धित योग्यताओं के आकलन हेतु परीक्षा हो। इससे वही उम्मीदवार परीक्षा देगा जो सचमुच उस पद विशेष की व्यावसायिक योग्यता रखता हो या उसकी जानकारी रखता हो तथा उस पद पर कार्य करने का इच्छुक हो।

अध्याय-21
प्रशिक्षण
(Training)

विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के प्रसार के उपरांत प्रशासन सहित अधिकांश क्षेत्रों में विशेषज्ञता का वर्चस्व बढ़ा है। आज स्थूल से सूक्ष्म तथा सामान्य से विशेषीकरण की ओर झुकाव है। लोक सेवाएँ भी समसायमिक परिवेश तथा आवश्यकताओं से अछूती नहीं रह सकती हैं। शासन की नीतियाँ, कार्यक्रमों तथा दायित्व की सम्पूर्ति हेतु कार्यरत विशाल कार्मिक समूह का प्रशिक्षित होना नितांत आवश्यक है।

मानव-जीवन निरंतर सीखने की प्रक्रिया से गुजरता है। माँ-बाप, परिजन, पड़ोस, तथा समुदाय हम सबके लिए सुलभ अनौपचारिक पाठशाला है जहाँ हम जीवन की अधिकांश बातें सीखते हैं। पाठशाला तथा अध्यापक शिक्षण के औपचारिक माध्यम हैं। शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा अध्यात्मिक रूप से श्रेष्ठता प्राप्त करना शिक्षा है। शिक्षा मनुष्य को चेतनायुक्त तथा संवेदनशील बनाती है। शिक्षा सामान्य अनुभवों, प्रवचनों, संस्कारों तथा पुस्तकों से भी प्राप्त की जा सकती है। वस्तुतः शिक्षण तथा प्रशिक्षण में अन्तर है। शिक्षण से तात्पर्य 'व्यक्ति का बाल्यकाल से लेकर अंत तक पूरा पोषण, चरित्र, आदतों, तरीकों तथा बौद्धिक एवं शारीरिक क्षमता के निर्माण से है। शिक्षा मुख्यतः ज्ञान देती है जबकि प्रशिक्षण एक विशिष्ट प्रकार का शिक्षण है। उदाहरणस्वरूप बाबर के युद्धों के बारे में बताना, केवल ज्ञान देना है अर्थात् यह शिक्षण है जबकि किसी व्यक्ति को युद्ध कला सिखाना 'प्रशिक्षण' है। **प्रशिक्षण** में निम्नलिखित तत्त्व सम्मिलित हैं-

1. प्रशिक्षण से **ज्ञान** (Knowledge) प्राप्त होता है।
2. प्रशिक्षण से विशिष्ट **कौशल** (Skill) पैदा होता है।
3. प्रशिक्षण से किसी कार्य को करने की **अभिव त्ति** (Attitude) पैदा होती है।
4. प्रशिक्षण से उस कार्य को **व्यवहार** (Practice) में करने की क्षमता आती है।

लोक सेवाओं में कार्यरत कार्मिकों में उनके कार्य के ज्ञान, कौशल, अभिव त्ति तथा उस कार्य को व्यवहार में सफलतापूर्वक सम्पादित करने की क्षमताएँ प्रशिक्षण के माध्यम से पैदा की जाती है।

प्रशिक्षण : अर्थ एवं उद्देश्य (Training : Meaning and Objectives)

विलियम जी. टोर्पे ने प्रशिक्षण को परिभाषित करते हुए कहा है-"यह कर्मचारियों में चतुरता, आदतें, ज्ञान तथा द ष्टिकोण विकसित करने की एक प्रक्रिया है जिससे कर्मचारियों की वर्तमान शासकीय स्थिति प्रभावशाली हो जाए और कर्मचारियों को भावी सरकारी स्थिति (पद) के लिए तैयार किया जा सके।"

मैण्डल के अनुसार-"प्रशिक्षण का अर्थ नए काम के लिए किसी को उन्मुख करना, वर्तमान कार्य के लिए ज्ञान तथा कौशल विकसित करना तथा भविष्य की जिम्मेदारियों के लिए तैयार करना है।"

ऐशेटन समिति के अनुसार-"प्रशिक्षण का मुख्य कार्य किसी व्यक्ति की प्राविधिक कुशलता बढ़ाने तथा संगठन में कार्य करने हेतु उत्साह पैदा करना है।"

1. प्रशिक्षण से कार्मिक के कार्य में स्पष्टता आती है।
2. कार्मिक में नए उत्तरदायित्व वहन करने की क्षमता पैदा होती है।
3. वह समाजोन्मुख व्यवहार करने के योग्य बनता है।

4. वह उच्च स्तरीय दायित्व पूरे कर सकता है।
5. कार्मिक का नैतिक चरित्र ऊँचा उठाया जा सकता है।

स्पष्ट है कि प्रशिक्षण का कार्य किसी संगठन में कार्यरत कार्मिकों के वर्तमान ज्ञान तथा कौशल को बढ़ाना है ताकि वे कार्य या व्यवसाय को कुशलतापूर्वक कर सकें तथा भविष्य में आने वाले उच्च दायित्वों के प्रति तैयार भी रह सकें। प्रशिक्षण के माध्यम से कार्मिकों के व्यवहार तथा मानसिकता में भी परिवर्तन लाया जा सकता है।

प्रशिक्षण का महत्त्व (Importance of Training)

कल्याणकारी राज्य क अस्तित्व में आने के पश्चात् मानव के सर्वांगीण विकास का उत्तरदायित्व शासन के कंधों पर आ टिका है। अतः समग्र विकास गतिविधियों को प्रशासन की विभिन्न शाखाओं द्वारा क्रियान्वित किया जाता है। निर्विवाद रूप से किसी भी संगठन की कार्यकुशलता तथा उपादेयता उसमें कार्यरत कर्मचारियों की क्षमताओं से प्रभावित होती है। इसलिए कर्मचारियों को समयानुसार प्रशिक्षण दिया जाना अनिवार्य है। लोक सेवाओं में प्रशिक्षण के महत्त्व को निम्नांकित बिन्दुओं के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है-

1. **लोक सेवाओं की उद्देश्यपूर्ति में आवश्यकः** लोक सेवाओं का गठन शासन की नीतियों, योजनाओं तथा कार्यक्रमों के क्रियान्वयन तथा संवैधानिक प्रावधानों की अनुपालना सुनिश्चित करवाने हेतु किया जाता है। राजशाही व्यवस्था तथा अहस्तक्षेपवादी राज्य की मान्यताओं को ठुकरा देने के पश्चात् मानव सभ्यता ने कल्याणकारी राज्य के ढाँचे तथा दर्शन को मान्यता दी है। जनसाधारण की सुरक्षा, विकास तथा कल्याण का गुरूतर दायित्व लोक सेवाओं पर है। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि प्रत्येक छोटे-बड़े कर्मचारी को उसके पद-दायित्वों के अनुरूप समुचित प्रशिक्षण प्रदान किया जाए। प्रशिक्षण के माध्यम से किसी कार्य या उद्देश्य, सामाजिक उपादेयता तथा शासन का द ष्टिकोण कर्मचारी की समझ में आता है साथ ही आत्मविश्वासपूर्वक उस कार्य को पूरा करने का कौशल तथा अभिव त्ति भी पैदा होती है।
2. **विकास कार्यों को गति देने में सहायकः** आज का युग मशीनी युग है जिसमें विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी का प्रवेश जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हो चुका है। अभावों तथा सामाजिक-आर्थिक विषमताओं से जूझती मानव जाति का कल्याण शासन के सतत् प्रयासों से ही संभव है। बाँधों, सड़कों, भवनों, पुलों का निर्माण हो या स्वास्थ्य तथा शिक्षा सेवाओं का विस्तार, सभी जगह उच्च तकनीक तथा क्षमतायुक्त मानव संसाधन की आवश्यकता है। विकास कार्यो को गति देने के लिए प्राक तिक तथा मशीनी संसाधनों की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता तो है किंतु इन सबसे महत्त्वपूर्ण है मानव संसाधन अर्थात् श्रमशक्ति, जो अन्य संसाधनों का सफलतापूर्वक दोहन तथा उपयोग कर सके। शासकीय कर्मचारियों के अतिरिक्त आम जनता को भी छोटे-छोटे कार्यो में प्रशिक्षित किया जाना आवश्यक है। बढ़ती बेरोजगार तथा चरमराती अर्थव्यवस्था को सहारा देने हेतु देश के प्रत्येक नागरिक को तकनीकी शिक्षा अर्थात् प्रशिक्षण की आवश्यकता है ताकि स्वरोजगार को बढ़ावा मिले।

   एक कहावत है-"**आप किसी व्यक्ति को एक मछली देंगे तो वह उसे खाकर स्वयं का पेट भर लेगा; किन्तु उसे मछली पकड़ने के कार्य में प्रशिक्षित करेंगे तो वह पूरे परिवार का पेट भर लेगा।**" समाज के सभी वर्गो का समान विकास करने के लिए निस्संदेह निर्धन लोगों को सरकारी सहायता प्राप्त होनी चाहिए किन्तु इस सहायता के साथ-साथ यदि इन लोगों को व्यावसायिक प्रशिक्षण भी दिए जाएँ तो विकास कार्यो को एक नई दिशा प्राप्त हो सकती है। वर्तमान में सभी सरकारें अपने लोक सेवकों के साथ-साथ आम जनता को भी आवश्यकतानुसार प्रशिक्षण उपलब्ध करवाती हैं।
3. **मानव संसाधन विकास की अवधारणा से सम्बद्धः** आज किसी भी संगठन में कार्यरत मानवीय सम्पदा को पर्याप्त महत्त्व दिया जाता है। मानव संसाधन विकास (H.R.D.) की नवीन अवधारणा यह मानकर चलती है कि किसी भी संगठन की कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए सर्वप्रथम उस संगठन में कार्यरत कर्मचारियों का विकास करना आवश्यक है। मानव संसाधन का यह विकास कई प्रकार के संगठनात्मक प्रयासों पर निर्भर है जिसमें समुचित, वेतन, भत्ते, कार्य निष्पादन मूल्यांकन, पुरस्कार, पर्याप्त अभिप्रेरणा तथा मनोबल, सकारात्मक पर्यवेक्षण एवं प्रशिक्षण प्रमुख है। मानव संसाधन में अपार क्षमताएँ विद्यमान हैं जिनका दोहन समुचित प्रशिक्षण के माध्यम से तथा कर्मचारियों का संतुष्टि प्रदान करके किया जा सकता है। इसीलिए अब सरकारी, औद्योगिक तथा निजी प्रतिष्ठानों में कार्यरत कार्मिकों को समय-समय पर सेवाकालीन प्रशिक्षण प्रदान किए जाते हैं।

4. **नए ज्ञान के विस्तार में जरूरी:** मानव सभ्यता तथा संस्क ति की विकास यात्रा मुख्यतः उसके बौद्धिक चातुर्य तथा श्रेष्ठ शारीरिक संरचना पर निर्भर करती रही है। सदियों से चली आय रही यह यात्रा 'ज्ञान' के नित्य नए आयाम तय करती आई है। ज्ञान में अभिव द्धि होने से ही मानव जीवन निरन्तर सुखी तथा सम द्ध हुआ है। ज्ञान के क्षेत्र को विस्तारित करने तथा उसे सभी इच्छुक व्यक्तियों तक बाँटने का कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। तकनीकी विकास के कारण प्रत्येक विभाग तथा कर्मचारी को नूतन जानकारी रखना आवश्यक हो गया है वरना आज विज्ञान की गति इतनी तीव्र है कि जरा-सी चूक करने वाला बरसों पीछे छूट जाता है। बीसवीं सदी के अन्तिम दशक में संचार के क्षेत्र में अभूतपूर्व परिवर्तन आए हैं जो प्रशासन के कार्यो को प्रत्यक्षतः प्रभावित करते रहे हैं क्योंकि संचार तो किसी भी संगठन का मूल सिद्धांत है। भारत में नई आर्थिक नीति (1991) से शुरू हुआ वैश्वीकरण का दौर यह अपेक्षा करता है कि लोक सेवकों को अद्यतन जानकारियाँ शीघ्र उपलब्ध होनी चाहिए वरना सरकारी क्षेत्र इस प्रतिस्पर्द्धात्मक युग में पिछड़ा जाएगा।

   आज के युग में **ज्ञान को उत्पादक बनाया जाना तात्कालिक आवश्यकता है** क्योंकि बरसों पुरानी यह मान्यता दम तोड़ चुकी है कि शारीरिक क्षमताएँ ही उत्पादक बन सकती हैं क्योंकि अब खेल हो या युद्ध वह हकीकत से पहले दिमाग में लड़ा जाता है। प्रबन्ध दर्शन के पितामह **पीटर एफ. ड्रकर** का कथन था-"**ज्ञान एक महामंदिर के समान है जो शताब्दियों में शनैः शनैः निर्मित होता है जिसमें प्रत्येक पीढ़ी किसी अतिरिक्त गलियारे, सीढ़ी या मीनार के रूप में अपना योगदान देती है। यह (ज्ञान) कोई कागज का बना ढाँचा नहीं है जिसकी नींव को दशक में उखाड़ा जा सके।**"

5. **परिवर्तित परिस्थितियों से सामंजस्य में सहायक:** परिवर्तन स ष्टि का शास्वत नियम है। हमारे आस-पास का सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्क तिक तथा भौगोलिक परिवेश निरन्तर परिवर्तित होता रहता है। प्रशासन स्वयं इन सब आयामों से प्रभावित होता है तथा प्रशासनिक कार्यकलाप, सिद्धान्त, कार्यक्रम तथा इसकी कार्यशैली इन सब आयामों को प्रभावित करती है। प्रशासन के इसी परिस्थितिकीय द ष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए कार्यरत तथा भविष्य में आने वाले कार्मिकों हेतु नवीन प्रकार के प्रशिक्षण पाठ्यक्रम संरचित तथा क्रियान्वित किए जाते हैं। अंग्रेजी शासनकाल में प्रशासन का मुख्य कार्य राजस्व एकत्रण तथा शांति एवं व्यवस्था बनाए रखना होता था जिन्हें हम **नियामकीय कार्य** कह सकते हैं लेकिन वर्तमान संदर्भो में प्रशासन का स्वरूप पूर्णतया **विकासपरक** हो चुका है अर्थात् आज सम्पूर्ण समाज के सर्वांगीण विकास कार्यो का उत्तरदायित्व सरकार अपने कार्मिकों के माध्यम से वहन करती है। संक्षेप में कहें तो प्रशासन के माध्यम से विकास करना ही **विकास प्रशासन** है। शिक्षा का प्रसार, बढ़ती चेतना, मानवाधिकार की माँग, सूचना का अधिकार, महिलाओं की सहभागिता, न्यायिक सक्रियता, खुली अर्थव्यवस्था, बढ़ती जनसंख्या, आतंकवादी की समस्या तथा उपभोक्ता संरक्षण इत्यादि कारणों से प्रशासनिक अधिकारियों के समक्ष नवीन चुनौतियाँ पैदा हुई है। इन चुनौतियों या समस्याओं का सामना केवल समुचित प्रशिक्षण प्राप्त कार्मिक ही कर सकते हैं। उदाहरणस्वरूप भारत में पुलिस प्रशिक्षण की परम्परागत शैली दर्शकों से चली आ रही थी किन्तु बीसवीं सदी में नब्बे के दशक में उभरे आतंकवाद ने पुलिस को प्रशिक्षण, कार्यशैली तथा हथियारों को आधुनिक स्वरूप धारण करने के लिए विवश किया। इस प्रकार परिवर्तित होता पर्यावरण, प्रशासन को तदनुरूप सामंजस्य पैदा करने को बाध्य करता है और यह सामंजस्य निस्संदेह प्रशिक्षण से ही संभव हो पाता है।

6. **आत्मविश्वास-व द्धि में सहायक:** किसी भी कार्य को सफलतापूर्वक सम्पादित करने में कर्ता का आत्मविश्वास बहुत निर्णायक भूमिका निर्वाहित करता है। **नेपोलियन बोनापार्ट** का मानना था कि आधी लड़ाई तो आत्मविश्वास से ही जीती जाती है शेष लड़ाई व्यूहरचना तथा हथियारों पर निर्भर करती है। वस्तुतः प्रशिक्षण के द्वारा व्यक्ति में ज्ञान, कौशल तथा सकारात्मक अभिव त्ति का उदय होता है। जब हम साइकिल चलाना सीखते हैं तो शुरू में साइकिल एक ही ओर मुड़ती चली जाती है किन्तु ज्यों-ज्यों हमारा प्रशिक्षण पूरा होता है हमारे अन्दर आत्मविश्वास बढ़ता चला जाता है और एक दिन हम यह कहने की स्थिति में आ जाते हैं कि साइकिल चलाना कौन सी बड़ी बात है? वस्तुतः आत्मविश्वास तथा निरन्तर अभ्यास किसी भी व्यक्ति को निपुणता प्रदान करता है। आज 'प्रशासन' का चलाना भी एक कला है जो समुचित प्रशिक्षण तथा आत्मविश्वास से परिष्क त होती है। वर्तमान की जटिल प्रशासनिक संस्थाओं तथा गुरूतर किस्म के दायित्वों के दौर में कार्मिक का प्रशिक्षित होना बहुत ही आवश्यक है।

कहा जाता है कि किसी व्यक्ति के हाथों में बंदूक थमा देने से वह साहसी नहीं बन सकता बल्कि बन्दूक से निशाना लगाना सीखने के पश्चात् ही औचित्य सिद्ध होता है क्योंकि प्रशिक्षण आत्मविश्वास बढ़ाता है। लोक सेवकों को दिया जाने वाला प्रशिक्षण न केवल वर्तमान पद दायित्वों बल्कि भावी दायित्वों को सफलतापूर्वक पूरा करने का आत्मविश्वास भी बढ़ाता है।

7. **संगठन की छवि तथा कार्यकुशलता में व द्धिः** किसी भी संस्थान या संगठन की सामाजिक प्रतिष्ठा उसमें कार्यरत कार्मिकों की कुशलता, कार्यशैली, व्यवहार तथा प्रतिबद्धता से प्रत्यक्षतः प्रभावित होती है। भारत में निजी तथा सरकारी संगठनों के कर्मचारियों के व्यवहार में दिन-रात का अंतर पाया जाता है क्योंकि निजी संगठन अपनी छवि के प्रति बहुत संवेदनशील होते हैं तथा इसी कारण वे अपने कार्मिकों को प्रशिक्षित करते हैं। भारतीय लोक प्रशासन में लोक सेवकों को केवल कार्य से संबंधित प्रशिक्षण दिया जाता है, मानव व्यवहार का नहीं। आज भी अधिकांश पढ़े-लिखे तथा अनपढ़ नागरिक पुलिस थाने में जाने से कतराते हैं क्योंकि आम भारतीय के मनोमस्तिष्क में पुलिस की छवि अच्छी नहीं है। इस समस्या का निराकरण केवल 'संवेदनशील प्रशिक्षण' से संभव है। भारत में डाकघरों तथा बैंकों दोनों में धन जमा कराने तथा निकलवाने का कार्य दैनन्दिन गतिविधि के रूप में होता है किन्तु इन दोनों संगठनों के कार्मिकों की कार्यशैली तथा कुशलता में व्यापक अंतर केवल इसीलिए दिखाई देता है कि बैंकों में प्रशिक्षण को अधिक महत्त्व दिया जाता है।

इस प्रकार लोक सेवाओं सहित प्रत्येक प्रकार के संगठनों में समयानुकूल प्रशिक्षण का अत्यन्त महत्त्व है।

प्रशिक्षण के प्रकार (Varieties of Training)

कार्य करने के ढंग के अनुसार प्रशिक्षण के अनेक प्रकार होते हैं। प्रशिक्षण की कलाविधि, प्रशिक्षण का काल, प्रशिक्षण कब दिया जाता है-सेवा के आरंभ में या मध्य में, कर्मचारी के सेवाकाल के किस स्तर पर प्रशिक्षण दिया गया, संगठन के किसी अभिकरण ने प्रशिक्षण दिया, तथा प्रशिक्षण उद्देश्य, इन सभी के अनुसार प्रशिक्षण में भिन्नता होती है। इसको हम निम्नलिखित पाँच प्रकारो में रखते हैं-

1. औपचारिक अथवा अनौपचारिक प्रशिक्षण;
2. अल्पकालीन अथवा दीर्घकालीन प्रशिक्षण;
3. सेवा-प्रवेश के पूर्व या उत्तरकालीन प्रशिक्षण;
4. विभागीय अथवा केन्द्रीय प्रशिक्षण; तथा
5. कौशल प्रशिक्षण अथवा सामान्य प्रशिक्षण।

1. **औपचारिक अथवा अनौपचारिक प्रशिक्षण (Formal and Informal Training):** कार्य-सम्पादन करते-करते जो अनुभव कर्मचारी को प्राप्त होता है, उसको 'अनौपचारिक प्रशिक्षण' कहते हैं। लोक प्रशासन में यही परम्परागत प्रशिक्षण होता चला आया है और अब भी अधिकतर क्षेत्रों में यही प्रशिक्षण-विधि चालू है। डॉ० ग्लैडेन के शब्दों में, सामान्य परिपाटी और विशेषकर लेखकवर्गीय कर्मचारियों के मामलों में यह है कि नवागंतुक को ऐसे कार्य पर लगाया जाता है जिसमें न्यूनतम परामर्श की आवश्यकता हो। साथ ही उसको अन्य सहयोगियों की क पा पर छोड़ दिया जाता है जो उदार व्यवहार भी करते हैं और कठोर भी। व्यवहारिक कार्य और अनुभव से इस प्रकार शिक्षा प्राप्त करना बड़ा उपयोगी होता है। व्यवहारिक द ष्टि वाला प्रशासक इसकी बड़ी बड़ाई करता है, परंतु शाही कोष से सम्बद्ध प्रशिक्षण तथा शिक्षण के निर्देशक (Director of Training and Education, His Majesty's Treasury) श्री टिकनर (Mr. Trickner) इस संबंध में लिखते हैं-"सीखने का यह कठोर मार्ग है और पूर्णतया सफल होने के लिए आवश्यक है कि सीखने वाला सीखने पर तुला रहे। यों औसत कर्मचारी अनिष्ट स्वभाव को हो सकता है और निराशा एवं उत्साहहीनता के भाव लोगों में भर सकता है। सफल होने की दशा में भी प्रक्रिया धीमी और दीर्घकालीन होती है। उसके सामने जो उदाहरण आते हैं, वे कालान्तर से आते हैं और वह उनसे समन्वित विधि से कुछ सीख नहीं पाता। औपचारिक प्रशासन में ये दोष नहीं होते। कारण यह है कि उनकी पूर्वयोजना होती है और योजना कुशल शिक्षकों के नेत त्व में चलायी जाती है।

2. **अल्प और दीर्घकालीन प्रशिक्षणः** अल्प तथा दीर्घकालीन प्रशिक्षण कालावधि का विषय मात्र है। इसके ऊपर अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। केवल इतना कह देना पर्याप्त होगा कि समय की अवधि इष्ट कौशल की सरलता अथवा

कठिनता पर अवलम्बिर होती है। यह भी विचार में रखा जाता है कि सेवा कैसी है, स्थायी है अथवा अस्थायी। उदाहरण के लिए, युद्धकाल में सैनिक तथा असैनिक दोनों प्रकार के सेवकों को अल्पकालीन प्रशिक्षण देने की बात होती है।

3. **प्रवेश के पूर्व तथा उत्तर का प्रशिक्षण:** सेवा में प्रविष्ट होने के पूर्व जो प्रशिक्षण दिया जाता है, उससे भर्ती के लोग भावी सेवाकार्य के लिए तैयार होते हैं। एक अर्थ में स्कूल-कालेजों की सभी शिक्षायें पूर्व प्रवेशीय प्रशिक्षण हैं, क्योंकि इस प्रकार भी लोग प्रायः राजकीय सेवाओं के लिए तैयार किये जाते हैं। परंतु, विशिष्ट अर्थ में पूर्व-प्रवेशीय किसी व्यवसाय या व त्ति के लिए किसी विद्यालय में दिया जाता है, जैसे धंधी विद्यालयों में या मेडिकल अथवा इंजीनियरिंग कॉलेजों में। इस संस्थाओं से निचले स्नातक शीघ्र ही उचित कामों में लगा दिये जाते हैं। उधर, विशेषतः अमेरिका में, यह प्रयत्न किया गया है कि प्रशासकीय तथा प्रबन्धकीय पदों के लिए पूर्व-प्रवेशीय प्रशिक्षण का आयोजन हो। मोटे तौर पर ऐसा प्रशिक्षण दो प्रकार का होता है। एक प्रशिक्षण-ग हों में प्रवेश ले लेने पर और दूसरा, विभागों में अभ्यर्थी कर्मचारी बन जाने पर। वाशिंगटन-स्थित लोककार्य का राष्ट्रीय संस्थान (National Institute of Public Affairs, Washington) प्रविष्ट प्रशिक्षण का सर्वोत्तम एवं सुविख्यात उदाहरण है। यह संस्थान 1934 ई० में स्थापित किया गया। इस योजना के संबंध में दो उद्देश्य सामने रखे गये। पहला उद्देश्य था-महाविद्यालयों की शिक्षा को व्यवहारिक स्वरूप प्रदान करना जिससे राजनीति, प्रशासन तथा लोकसेवा में स्नातकों की रूचि बढ़े। इसके लिए विद्यालयों के स्नातकों में से पचास को चुन लिया जाता है और उनको वाशिंगटन में प्रशिक्षित किया जाता है। अनुभवी पदाधिकारियों के व्याख्यान दिलवाये जाते हैं और स्नातकों को कार्यालयों में प्रशासकों के पास रखा जाता है कि वे प्रशासकीय चक्र को चलता हुआ देख सकें।

इस प्रकार के प्रविष्ट का संयुक्त राज्य अमेरिका में खूब प्रचार हुआ है। जिन-जिन महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में लोकविषय और स्थानीय शासन विषयों का शिक्षण होता है, वे सभी इस विधि का प्रयोग करते हैं और अपने शिक्षार्थियों को उक्त विषयों की व्यवहारिक शिक्षा देते हैं। इस व्यवहारिक विधि का उक्त विषयों के अध्यापकों पर भी बड़ा प्रभाव पड़ा है। अब यह प्रभाव ब्रिटेन, भारत पैलेस्टाइन, फिलीपीन्स आदि सभी देशों में द ष्टिगोचर होता है। इन पंक्तियों का लेखक स्वयं स्थानीय शासन और लोक-प्रशासन विषयों की ऐसी शिक्षा का संगठन और कार्य इलाहाबाद और नागपुर विश्वविद्यालयों में कर चुका है। इस व्यवहारिक शिक्षण-विधि की मुख्य कठिनाई यह है कि लोक-प्रशासकों का व्यवहारिक व्याख्यानों के लिए पर्याप्त संख्या में तैयार नहीं किया जा सकता। उसका भरपूर सहयोग कठिनाई से ही मिलता है। यह भी है कि यदि बहुत से प्रशिक्षणार्थी कार्यालयों में अधिकारियों के पास भेजे जाते हैं तो वहीं भीड़ की भावना उत्पन्न हो जाती है और कार्य में लगे कर्मचारियों के कार्य में बाधा पड़ती है।

प्रशिक्षण के काल में प्रशिक्षणार्थी को थोड़े समय के बाद किसी एक अधिकारी के साथ लगा दिया जाता है जहाँ वह सहायक का काम करता है। प्रशिक्षण के क्रम में वह उन सभी पत्रों और विचार्य विषयों को भी देखता-समझता है जो उसके प्रशिक्षक अधिकारी की मेज पर आते हैं। वह यह भी सोचता है कि उन पर क्या आज्ञा या आदेश किया गया। कभी-कभी उससे कुछ पत्रों पर टिप्पणी लिखने और निर्णय लेने को भी कहा जाता है। उसको कभी-कभी पूरा विवरण तैयार करने को भी कहा जाता है जिसको उसका प्रशिक्षण अधिकारी देखता है और दोष या त्रुटियों की ओर ध्यान आकर्षित करता है। न्यूयार्क नगरपालिका की शोध-संस्था में इस प्रकार की शिष्यता-योजना बहुत सालों तक चलती रही है। शिष्यों को प्रशासन-कार्यों एवं समस्याओं का वास्तविक और व्यवहारिक रूप दिखाना इसका उद्देश्य है। जिस प्रकार, किसी पदार्थ के पूर्ण ज्ञान के लिए उसके रूप, रस, गंध, स्पर्श और ध्वनि को देखा जाता है। उसी प्रकार शिष्यों को कार्य के सभी स्वरूपों का प्रत्यक्ष ज्ञान कराना उक्त संस्था का प्रधान विषय है। अमेरिका के अनेक महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों ने इस प्रकार की शिष्यता-योजनायें चलायी है जिनमें शिष्यों को नागरिक संस्थाओं की सेवा के लिए तैयार किया जाता है।

प्रशासन की प्रवेश से पूर्व प्रशिक्षण-सम्बन्धी सबसे बड़ी समस्या यह है कि प्रशिक्षितों को किस प्रकार और कहाँ काम में लगाया जाये। लोकसेवाओं के लिए प्रतिस्पर्धी परीक्षायें होती हैं। विश्वविद्यालयों में जो विषय पढ़ाये जाते हैं, वे प्रायः सभी उन परीक्षाओं में आते हैं। उन परीक्षार्थियों में इन प्रशिक्षितों को कोई विशेषता या सुविधा नहीं दी जाती। हम यह भी नहीं कह सकते कि लोकसेवाओं में प्रवेश के लिए जो यह प्रतिस्पर्धी परीक्षा विधि है, वह अनावश्यक या अनुचित है। यदि उनमें प्रवेश पाने के लिए इन प्रशासन-प्रशिक्षित उम्मीदवारों को विशेषता दी जाये तो वह उचित नहीं होगा, क्योंकि सार्वजनिक सेवाओं के अभ्यर्थियों का क्षेत्र संकुचित हो जायेगा। फिर, अनेक ऐसे व्यक्ति उन सेवाओं से वंचित हो जायेंगे,

जो योग्य है; परन्तु, जिनको वह प्रशासन-प्रशिक्षण नहीं प्राप्त हो सका है। यह भी विचारणीय है कि प्रशिक्षण का पाठ्यक्रम संकुचित ही रहेगा। वह ऐसा व्यापक नहीं बनाया जा सकता कि उसमें प्रशासन में काम आने वाले सभी विषयों का समावेश हो जाये और उनके स्नातक धड़ाधड़ राजकीय सेवाओं में भर्ती कर लिए जायें, जैसे मेडिकल या इंजीनियरिंग महाविद्यालयों से निकले छात्र तत्काल कामों में लगा दिये जाते हैं। राजकीय सेवा क्षेत्रों के बाहर बहुत कम जगहें ऐसी होती है जहाँ इन प्रशिक्षितों को लगाया जा सके।

इन कठिनाइयों का अनुभव करने वाले अनेक विचारवानों का मत है कि ये प्रशिक्षण संस्थायें बहुत उपयोगी नहीं है और उन्हें उतने ही प्रशिक्षितों की भर्ती करना चाहिए जितने को पद दिलाये जा सके। ऐसे क्षेत्र मुख्यताया दो हैं-एक है कर्मचारी-समूह-प्रशासन; और दूसरा है नगरपालिकाओं का प्रशासन। अमेरिका और अन्य देशों में प्राप्त प्रवेश-प्रशिक्षण संस्थानों से निकले सेवार्थी इन्हीं दोनों में से लिये जाते हैं।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि सार्वजनिक प्रशासन-विषयक शिक्षण विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में नहीं होना चाहिए। अन्य विषयों की भाँति इसके अध्ययन से भी बुद्धि प्रशिक्षित होती है; और जिन अनेक मानवीय संस्थाओं में लोक-प्रशासन एक महत्त्वपूर्ण विषय है, उनसे छात्रों को अवगत होना चाहिए। प्रतिस्पर्धीय परीक्षाओं के विषयों में यह भी सम्मिलित है। अतः, इसके विश्वविद्यालयों में पाठन के पक्ष में बहुत-सी बातें कही जा सकती है। इसका पक्ष सबल है। परन्तु, इसको ऐसा विषय कदापि नहीं समझना चाहिए जिसके जानने वाले के लिए अनेक स्थान रिक्त पड़े हुए हैं। इसका सैद्धांतिक मूल्य बहुत अधिक है, भले ही लोक-व्यवहार से इसके पंडितों की माँग अल्प हो।

इनको छोड़कर अन्य स्नातकों का प्रशिक्षण नियुक्ति के बाद ही होना चाहिए, नियुक्ति के पूर्व नहीं।

4. **विभागीय तथा केन्द्रीय प्रशिक्षणः** जब स्वतः कार्यालय या विभाग में ही प्रशिक्षण का प्रबन्ध होता है, तब इसको विभागीय प्रशिक्षण कहते हैं। अनेक प्रचलित प्रशिक्षण-विधियाँ इसी वर्ग की है। प्रत्येक विभाग अपनी विशेष आवश्यकताओं के अनुसार प्रशिक्षण का आयोजन करता है। प्रशिक्षक प्रायः विभाग के अनुभवी अधिकारी होते हैं। परन्तु, अधिक सामान्य तथा उच्च पदों के लिए प्रशिक्षण की केन्द्रीय योजना होती है। इसके लिए केन्द्रीय संस्थायें है, जैसे ब्रिटिश कोष का प्रशिक्षण तथा शिक्षण-विभाग। यह विभाग आये हुए व्यक्तियों को वहाँ के कार्यो की प्रावेशिक शिक्षा देता है। वह उनके मानस की प ष्ठभूमि बना देता है जिसके प्रभाव में कर्मचारी अपना कर्त्तव्य करते जा सकते हैं। इसी प्रकार, भारतीय सेवा के लिए प्रशिक्षण संस्था पहले नई दिल्ली में खोली गयी थी। अब यह मंसूरी में है। कभी-कभी अलग-अलग विभाग भी अपने केन्द्रीय अथवा मण्डलीय प्रशिक्षणालय चलाते हैं, जैसे भारत के अनेक राज्यों में पुलिस-प्रशिक्षण-स्कूल एवं कॉलेज है।

5. **कौशल तथा आधारभूत प्रशिक्षण** (Skill and Background Training): कौशल प्रशिक्षण का उद्देश्य कर्मचारियों में उस विशेष योग्यता को उत्पन्न करना है, अथवा ऐसा कानूनी या विधि-सम्बन्धी ज्ञान देना है, जो विशेष विभागों में सहायक हो सकता है। उदाहरण के लिए, शिक्षकों का प्रशिक्षण लें। इसका उद्देश्य अध्यापन-प्रणाली सिखाना है। दूसरी पुलिस-अधिकारियों की प्रशिक्षण संस्था है जिसमें अपराध-सम्बन्धी खोज और निवारण की विधियों का प्रशिक्षण होता है। तीसरा उदाहरण, आयकर-अधिकारियों के प्रशिक्षण केन्द्र का है जहाँ तत्संबंधी कानून और कर निश्चित करने, लगाने तथा वसूल करने की विधियों का व्यवहारिक ज्ञान कराया जाता है। इसी प्रकार की अनेक कलाओं के प्रशिक्षण को कौशल-प्रशिक्षण कहते हैं। इसमें अनेक प्रकार के हस्त-कौशल भी सम्मिलित है। इसके विपरीत, आधारभूत प्रशिक्षण (background training) है। इसमें ऐसे विषय सिखाये जाते हैं जिनसे राजनैतिक, प्रशासकीय, आर्थिक तथा सामाजिक प ष्ठभूमि की जानकारी हो और शिक्षणार्थी यह भी समझ सकें कि किन कार्यो के क्या-क्या फल हो सकते हैं। इसका उद्देश्य शिष्य में किसी कौशल की स ष्टि नहीं है; इसमें किसी कार्य को विशेष विधि से करना भी नहीं बतलाया जाता, बल्कि उसके मन को विस्त त किया जाता है जिससे वह किसी भी विषय का सरलता से ग्रहण कर सके। कोष विभाग के प्रशासकीय वर्ग के अधिकारियों को अथवा भारतीय प्रशासन सेवा में प्रविष्टि व्यक्तियों को जो प्रारम्भिक प्रशिक्षण दिया जाता है, वह आधारभूत प्रशिक्षण का एक उदाहरण है। इस प्रशिक्षण के विषयों में लोक-प्रशासन, देश की संवैधानिक स्थिति, कानून आर्थिक समस्यायें तथा लोक-सम्पर्क होते हैं।

कर्मचारियों की पुरस्सरीय शिक्षा (Further Education of Employees)

कर्मचारियों में अनेक ऐसे होते हैं जो प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण अपनी शिक्षा बीच में ही छोड़कर सेवायें स्वीकार कर लेते हैं। वे अपने भविष्य को सुधारने के लिए उच्चतर शिक्षा के इच्छुक होते हैं। वे या तो व्यक्तिगत परीक्षार्थियों की तरह या खाली समय में विद्यालयों में जाकर आगे की पढ़ाई करने वालों की तरह पढ़ाई करना चाहते हैं। मालिकों (employers) में उनके प्रति उत्साह, उदासीनता और कभी-कभी विरोध तक की भावना होती है। जहाँ वे उत्साहित किये जाते हैं। वहाँ उनकी खाली समय में विद्यालयों में जाने की आज्ञा दी जाती है। उनको अध्ययन-शुल्क की राशि प्रदान की जाती है, पुस्तकें दी जाती है, परीक्षोत्तीर्ण होने पर उनके नाम विज्ञापित किये जाते हैं और उनकी वेतन-व द्धि की जाती है, अथवा शीघ्र पदोन्नति कर दी जाती है। जो मालिक उदासीन होता है, वह इनमें से किसी तरह की कोई सहायता नहीं करता। वह केवल यह देखता है कि कर्मचारी अपने अध्ययन के साथ निश्चित कर्त्तव्य का पालन उसी तत्परता से करता रहे। यदि उसको विश्वास होता है कि कर्त्तव्य में कोई ढील नहीं पड़ रही, तो वह उसको अपने व्यय और अपने ढंग से आगे की पढ़ाई करने देता है, कोई बाधा या आपत्ति नहीं करता। किंतु, विरोधी मालिक यह मानकर चलता है कि आगे पढ़ाई से नियत कर्त्तव्य को निश्चित हानि होगी, इसीलिए वह कर्मचारी के उस प्रस्ताव को रद्ध कर देता है।

इस विषय में उदार नीति अपनाने की आवश्यकता है। यह सच है कि आगे शिक्षा से प्रत्यक्ष लाभ कर्मचारी का होता है; पर, अप्रत्यक्ष रूप से सेवायें भी उससे लाभान्वित होती है। कर्मचारी की शिक्षा जितनी ही बढ़ती है, उसके कार्य में उतनी ही कुशलता आती है। अतः उच्च अधिकारियों का इस प्रकार की अग्रसरीय शिक्षा को प्रोत्साहित करना चाहिए, इसके मार्ग में बाधा तो डालनी ही नहीं चाहिए।

प्रशिक्षण : तरीके एवं तकनीकें (Training : Methods & Techniques)

पद से हटकर प्रशिक्षण देने प्रशिक्षाणार्थी पद कार्य के दबाव और दैनिक क्रम से दूर चला जाता है ताकि वह अपना ध्यान प्रशिक्षण पर केन्द्रित कर सके। आमतौर पर इसे श्रेणी-कक्ष (Classroom) प्रशिक्षण कहते हैं। इस प्रशिक्षण का मुख्य उद्देश्य आदमी को उसके कार्य-पर्यावरण से दूर ले जाकर उस जैसी स्थिति के ही आदमियों से मिलने-जुलने देना और इसके परिणामस्वरूप उसकी अभिरूचियों और द ष्टिकोण में परिवर्तन लाना है ताकि समस्याओं के प्रति भिन्न द ष्टिकोण अपनाने में सक्षम हो सके। इस श्रेणी के अंतर्गत कुछ लोकप्रिय प्रशिक्षण तरीके ये हैं-

1. **व्याख्यान (Lectures):** व्याख्यान सर्वाधिक व्यापक रूप से प्रयुक्त तरीका है क्योंकि व्याख्यानों पर कोई खर्च नहीं होता और यह बड़ा सरल तरीका है। इस तरीके द्वारा अपेक्षाक त कम समय में एक बड़े ग्रुप को पर्याप्त मात्रा में सामग्री जा सकती है। प्रशिक्षण अधिकारी कुछ अवधारणाएं, तथ्य और विचार प्रस्तुत कर सकता है तथा उसके बाद भागीदारों को स्पष्टीकरण मांगने तथा टिप्पणियां करने के लिए आमंत्रित कर सकता है यदि प्रशिक्षणार्थी उत्प्रेरित हैं और व्याख्यान अच्छी तरह से तैयार किया गया है तथा प्रभावशाली ढंग से दिया गया है तो वह लाभप्रद रहता है। मार्टिन एम० ब्रॉडवैल (Martin M. Broadwell) ने सफल श्रेणी-कक्ष परिक्षण के लिए 3 बुनियादी आवश्यकताएं गिनाई हैं। वह हैं: अंतर्ग्रस्तता (Involvement) जवाबदेही (Accountability) और पुनर्निवेशन (Feedback)। लेकिन इस तरीके से मोटे तौर पर इस आधार पर आलोचना की गई है कि ज्ञान प्राप्ति की इस प्रक्रिया को प्रशिक्षणार्थी केवल ज्ञान प्राप्त करने वाले निष्क्रिय व्यक्ति की तरह आचरण करता है कि सक्रिया व्यक्ति की तरह। इस प्रकार प्रशिक्षाणार्थी की भागीदारी का अभाव निवेशन में बाधक बनता है। इसी प्रकार यह प्रणाली प्रशिक्षणार्थियों में निष्क्रिय लाती है।

   इन कमियों के बावजूद व्याख्यान के तरीके का निम्न परिस्थितियों का लाभप्रद रूप से प्रयोग किया जा सकता है-

   i. जब एक ग्रुप के समक्ष पूर्णतया नई सामग्री/जानकारी प्रस्तुत की जाए।
   ii. जब एक बड़े ग्रुप के साथ काम करना हो।
   iii. जब शिक्षण का कोई और तरीका पेश करना हो।
   iv. जब किसी अन्य शिक्षण-तरीके द्वारा विकसित सामग्री का सारांश देना हो।
   v. जब श्रेणी-कक्ष का समय सीमित हो।

   इस तरीके को द श्य तथा अन्य सहायक उपकरणों के उपयुक्त प्रयोग कर सिर्फ आकर्षक तथा प्रभावी बनाया जा सकता है।

2. **सम्मेलन का तरीका (Conference Method):** निरीक्षक और प्रबंधक पदाधिकारियों के प्रशिक्षण का यह व्यापक रूप से प्रयुक्त तरीका है। प्रशिक्षण का यह तरीका समूह केन्द्रित उपागम है जिसमें नेता चर्चा का मार्गदर्शन करता है। वास्तव में एक सम्मेलन छोटी ग्रुप-बैठक ही है जिसका संचालन एक सुनियोजित योजना के अनुसार किया जाता है, जिसमें नेता प्रशिक्षणार्थियों से जुबानी भागीदारी की पर्याप्त मात्रा प्राप्त करके ज्ञान और सूझ-बूझ के विकास का प्रयास करता है। यह तरीका सामूहिक चर्चा, विचार विनिमय और प्रशिक्षकों तथा प्रशिक्षणार्थियों के अनुभवों की यादें ताजा करने पर बल देता है। यह संचार-योग्यताओं के विकास और द ष्टिकोण के विस्तार में मदद देता है। यह ग्रुप आमतौर पर एक अनौपचारिक पर्यावरण में काम करता है, जिसमें चर्चा की काफी स्वतन्त्रता होती है। प्रशिक्षण सत्र 10 से 15 सदस्यों का होता है जो विचाराधीन विषय के कुछ अनुभव और प ष्ठभूमि वाले होते हैं। इस तरीके की सफलता निम्न बातों पर आधारित होती हैं-

   i. सम्मेलन के पाठ्यक्रम सोद्देश्य और प्रभावी सिद्ध होने के लिए जरूरी है कि नेता योग्य और उत्प्रेरक हो।

   ii. सदस्य चर्चा में भाग लेने को तत्पर हों।

   iii. चर्चा के विषय ऐसे हों जिनसे ग्रुप के सदस्य सुपरिचित हों ताकि हरेक सदस्य की सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित बन सके।

   iv. नेता ग्रुप के हर सदस्य के अधिकतम विचार, भागीदारी और योगदान प्राप्त करे।

   v. ग्रुप अनौपचारिक पर्यावरण में 10 से 25 सदस्यों का हो और

   vi. सम्मेलन की सामग्रियों के लिए नियोजन तथा अग्रिम तैयारी की आवश्यकता व्यापक रूप से मान्य हो।

3. **भूमिका निभाना और अनुरूपण (Role Playing and Simulation):** यह प्रशिक्षण के सर्वाधिक प्रभावी तरीकों में से एक है जिसे "खेल अभिनय" (Play Acting), "यथार्थ क्रिया" (Reality Practice) आदि अनेक नामों से जाना जाता है। वास्तव में भूमिका निभाना ही इसके नाम का अभिप्राय है-आप अपनी भूमिकाएं या अन्य लोगों की भूमिकाएं अनुरूपण की विशिष्ट स्थितियों के अन्तर्गत निभाएं। यह अभिनय से भिन्न है क्योंकि अभिनेताओं को याद करने के लिए कोई पहले से तैयार पांडुलिपि नहीं दी जाती। उदाहरणतः एक वरिष्ठ अधिकारी तथा एक अधीनस्थ के बीच केस के विवाद का अभिन्य किया जा सकता है। चर्चा में भाग लेने वालों में से एक व्यक्ति वरिष्ठ अधिकारी का तथा एक अन्य अधीनस्थ पदाधिकारी की भूमिका अदा कर सकता है। इससे प्रशिक्षणार्थियों को विभिन्न द ष्टिकोण, अवधारणाएं और अभिरूचियां समझने तथा पदाधिकारियों के बीच आपसी सम्बन्धों को सुधारने में मदद मिलती है। इसके अलावा यह प्रशिक्षणार्थी को उससे ज्यादा आत्मचेतन और उनके व्यवहार का आलोचक बना देता है जितना वे वास्तविक जीवन में होंगे। इसके साथ ही यह प्रशिक्षणार्थियों को कल्पनाशीलता तथा समाधान निकालने का साहस प्रदान करता है और उन्हें अप्रत्याशित परिस्थितियों तथा प्रतिसंवेदनाओं से सामंजस्य स्थापित करने के योग्य बनाता है।

   अनुरूपण (Simulation) से समस्याएं हल करने और निर्णय लेने की क्षमता का विकास होता है। प्रबन्धकीय खेल एक लोकप्रिय अनुरूपण किया है। इसमें कई टीमें शामिल होती हैं जिनमें से प्रत्येक को कुछ अवधि के लिए संस्थान के संचालन का काम सौंपा जाता है। हरेक अवधि में हर टीम मूल्यों, उत्पादन पर खर्च की जाने वाली राशि जैसे मामलों पर निर्णय लेती है। यहां भाग लेने वालों को तथ्यों तथा आंकड़ों के विश्लेषण और विभिन्न विकल्पों में से एक को चुनने का अवसर मिलता है। इसी तरह का एक और तरीका **इन-बास्केट** गेम (In-Basket Game) या प्रशिक्षणार्थी को परखना है। प्रशिक्षणार्थी से एक नियमित पदधारी की भूमिका की योजना साथियों की मदद के बिना एक निश्चित समय में बनाने के लिए कहा जाता है। प्रशिक्षणार्थी को विभिन्न समस्याओं पर तुरन्त निर्णय लेने होते हैं। इस कार्य के निष्पादन के बाद स्थिति से निपटने के विभिन्न तरीकों पर चर्चा होती है उनका निर्णय लिया जाता और मूल्यांकन किया जाता है।

4. **संवेदनशीलता का तरीका (Sensitivity Method):** जैसा कि शीर्षक से संकेत मिलता है, इस प्रकार का प्रशिक्षण मुख्यतया सामूहिक प्रक्रियाओं और खासकर दूसरों पर उसके व्यवहार के प्रभाव के असर के प्रति प्रशिक्षणार्थी की संवेदनशीलता को बढ़ाने के लिए होता है। डेविस (Davis) के अनुसार, "बुनियादी तौर पर संवेदनशीलता प्रशिक्षण एक बिना किसी ढांचे के बने ग्रुप में दबाव के अधीन छोटे ग्रुप की अतःक्रिया है जिसके लिए उपयुक्त सामूहिक गतिविधि के विकास हेतु एक दूसरे की भावनाओं के प्रति संवेदनशील हो जाने की अपेक्षा की जाती है।" वस्तुतः इस प्रशिक्षण का

लक्ष्य लोगों से व्यवहार में प्रशिक्षणार्थी की क्षमता को सुधारना है। लारेंस ए०, एपलवी (Lawrence A, Appleby) ने संवेदनशीलता को "उन लोगों का, जिनके साथ और जिनके माध्यम से प्रबन्धक काम करेंगे, सहयोग प्राप्त करने में प्रबन्धकों को सहायता के लिए बढ़ते हुए महत्त्व वाला उपस्कर है।" ग्रुप में आमतौर पर 10 से 15 भाग लेने वाले होते हैं जो अपने पद कार्य से दूर होकर बिना किसी नियोजित विषय सूची के परस्पर मिलते हैं। यह ग्रुप एक प्रशिक्षक के निर्देशन में सम्वादरत होता है। चर्चा में हिस्सा लेने वालों को दूसरों को यह जान लेने देने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है कि वे अपने अतीत के व्यवहार की अपेक्षा इस आधार पर एक दूसरे को जानें कि ग्रुप में वे एक दूसरे को अपनी बात कैसे समझा सकते हैं। प्रशिक्षण ग्रुप में पुनर्निवेशन की प्रक्रिया महत्त्वपूर्ण है ताकि प्रशिक्षार्थी अपने को इतना सुरक्षित अवश्य समझें कि वे एक-दूसरे को सच्चाई से यह बता सकें कि उनके व्यवहार से किस प्रकार की भावना दूसरों में पैदा होती है। प्रशिक्षण के इस तरीके का लाभ यह है कि कार्यक्रम में भाग लेने के बाद प्रशिक्षणार्थी दूसरों के प्रति अधिक संवेदनशील और मुखर हो जाते हैं। अध्ययन से पता चला है कि इस प्रकार के प्रशिक्षण के संस्था की कारगुजारी बढ़ी है। लेकिन यह अब भी एक विवादास्पद तकनीक है। इसकी इस आधार पर आलोचन की गई है कि यह अपनी ही खातिर दबाव वाली स्थितियां पैदा करती है, इसके लक्ष्य संस्था के लक्ष्यों के विरूप हो सकते हैं और साथ ही इससे व्यक्ति की एकांतता (Privacy) पर अवांच्छित 'आक्रमण' होता है।

5. **सिंडीकेट का तरीका (Syndicate Method):** यह प्रशिक्षण क्षेत्र से प्रासंगिक विषय के प्रशिक्षणार्थियों के एक छोटे ग्रुप को अभ्यर्पित करने का तरीका है। इन छोटे ग्रुपों को 'सिंडीकेट' कहा जाता है। ग्रुप के संकाय-सदस्य के मार्ग दर्शन में उस विषय की गहराई से अध्ययन करने को कहा जाता है। सिंडीकेट समस्याओं के समाधान के लिए या ज्ञान संग्रह के लिए हो सकती है। प्रशासनिक स्टाफ कालेज, हेनले आन् थेम्स, यू०के० (Administrative Staff College, Henley-on Thames U.K.) इस प्रशिक्षण तकनीक को जन्म देने वाला है। अब इसका प्रयोग समूचे विश्व के प्रशिक्षण संस्थानों में व्यापक रूप से किया गया है। हमारे देश में हैदराबाद के प्रशासनिक स्टाफ कालेज की स्थापना भी हेनले के नमूने पर की गई है। उसने उद्योग तथा वाणिज्य के सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र और लोक प्रशासन की विविध भागीदारी से सफलतापूर्वक अनेक कार्यक्रमों का संचालन किया है यह तरीका मुख्यतः प्रबन्धकीय पदाधिकारियों को, एक प्रबन्धक या लोक सेवक के लिए उसके प्रतिदिन के काम के क्रम, जैसे जैसे वह उच्चतर कार्यकारी पदों पर पहुंचता जाता है, के लिए अत्यावश्यक दक्षताएं, तकनीकें तथा प्रक्रियाएं उपलब्ध कराने का लक्ष्य रखता है। इसका एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य विभिन्न प्रकार के उद्यमों के कार्यकारी सदस्यों को अपने अनुभवों को एक-दूसरे के साथ बांटने और एक-दूसरे से सीखने के लिए प्रोत्साहित करना भी है।

उच्च लोक सेवकों को प्रशिक्षण
(Training for Higher Civil Servants)

भारत में प्रशासनिक तथा तकनीकी प्रशिक्षण आयोजित करने के लिए केन्द्र तथा राज्य सरकारों के अधीन लगभग 5000 प्रशिक्षण संस्थान कार्यरत है। इन विभागीय, लोक उपक्रम, स्वायत्तशासी तथा अर्द्ध स्वायत्तशासी संस्थाओं के अतिरिक्त निजी क्षेत्र में भी अनेक प्रशिक्षण संस्थान कार्यरत हैं जो शिक्षा, स्वास्थ्य, अभियांत्रिकी, क षि, उद्योग, खदान, विधि, सिंचाई, वानिकी तथा पशुपालन सहित प्रशासन इत्यादि विधाओं पर निम्न, मध्यम एवं उच्च स्तरीय प्रशिक्षण एवं अनुसंधान कार्यों में संलग्न हैं। यहाँ सभी प्रकार के प्रशिक्षण कार्यक्रमों का वर्णन न तो अपेक्षित है और न ही संभव है अतः उच्च लोक सेवाओं के (आई.ए.एस./आई. पी.एस. इत्यादि) के लिए प्रशिक्षण व्यवस्था का ही संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है। प्रशासनिक अधिकारियों को प्रशिक्षण देने के लिए निम्नलिखित प्रमुख संस्थान कार्यरत हैं-

1. लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, मसूरी
2. भारतीय लोक प्रशासन संस्थान, नई दिल्ली
3. सचिवालय प्रशिक्षण तथा प्रबन्ध संस्थान, नई दिल्ली
4. प्रशासनिक स्टाफ महाविद्यालय, हैदराबाद
5. रेलवे स्टाफ कॉलेज, बड़ोदरा

6. राष्ट्रीय ग्रामीण विकास संस्थान, हैदराबाद
7. सरदार बल्लभ भाई पटेल राष्ट्रीय पुलिस अकादमी, हैदराबाद
8. राष्ट्रीय स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण संस्थान, नई दिल्ली
9. राष्ट्रीय नागरिक सेवा महाविद्यालय, नागपुर
10. केन्द्रीय श्रमिक संस्थान, मुम्बई
11. भारतीय राजस्व सेवा (प्रत्यक्ष कर) प्रशिक्षण संस्थान, नागपुर
12. भारतीय लेखा एवं लेखा परीक्षण सेवा स्टाफ कॉलेज, शिमला
13. डाक एवं तार प्रशिक्षण संस्थान, सहारनपुर
14. वन अनुसंधान संस्थान, देहरादून
15. भारतीय अन्तरराष्ट्रीय अध्ययन स्कूल, नई दिल्ली
16. राष्ट्रीय जन सहयोग तथा बाल विकास संस्थान, नई दिल्ली
17. अपराध शास्त्र तथा न्यायालयिक चिकित्सा विज्ञान संस्थान, नई दिल्ली
18. भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, खड़गपुर, दिल्ली, चेन्नई, मुम्बई, धनबाद
19. हिमालय पर्वतारोहण संस्थान, देहरादून
20. नेताजी सुभाष चन्द्र बोस खेल संस्थान, पटियाला
21. भारतीय प्रबन्ध संस्थान, दिल्ली, कोलकाता, लखनऊ, अहमदाबाद
22. केन्द्रीय भाषा संस्थान, मैसूर
23. राज्यों की प्रशासन अकादमी
24. विभिन्न विश्वविद्यालय तथा अनुसंधान संस्थान
25. चिकित्सा, इंजीनियरिंग, नर्सिग, शिक्षा, सहकारिता तथा क षि इत्यादि के केन्द्रीय तथा प्रान्तीय संस्थान।

भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों को प्रशिक्षण

भारतीय प्रशासनिक सेवा (I.A.S.) के अधिकारियों का प्रशिक्षण ब्रिटिशकाल से लेकर अब तक आवश्यकतानुसार परिवर्तित होता रहा है। वर्तमान में इस सेवा के अधिकारियों के प्रशिक्षण की निम्नलिखित व्यवस्था है अथवा निम्नांकित चरणों में प्रशिक्षण पूरा होता है।

1. आधारभूत प्रशिक्षण-16 सप्ताह
2. आई.ए.एस. व्यावसायिक प्रशिक्षण (फेज-I) - 24 सप्ताह - मसूरी
3. राज्य स्तर पर प्रशिक्षण
    - संस्थागत प्रशिक्षण फेज - I - 3 सप्ताह
    - विभिन्न कार्यालयों में व्यावहारिक प्रशिक्षण - 45 सप्ताह
    - संस्थागत प्रशिक्षण फेज - II - 4 सप्ताह
4. आई.ए.एस. व्यावसायिक प्रशिक्षण फेज - II - 9 सप्ताह-मसूरी

संघ लोक सेवा आयोग की सिविल सेवा परीक्षा में चयनित उम्मीदवार जो भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय पुलिस सेवा, भारतीय विदेश सेवा तथा केन्द्रीय सेवाओं वर्ग 'अ' के भावी अधिकारी होते हैं, को एक साथ लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, मसूरी (उत्तरांचल) में 16 सप्ताह का आधारभूत प्रशिक्षण दिया जाता है। सभी प्रमुख सेवाओं के अधिकारी एक साथ प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं, इससे आपसी सामंजस्य तथा एकता का भाव पैदा होता है। सन् 1955 में **अशोक चंदा समिति** ने यह अनुशंसा की थी कि विभिन्न सेवाओं के अधिकारियों को प थक्-प थक् प्रशिक्षण देने से पूर्व सभी सेवाओं का एक आधारभूत

प्रशिक्षण साथ होना चाहिए ताकि विभिन्न सेवाओं के अधिकारियों के मध्य विभेद तथा विभागीय वर्गीकरण का भाव समाप्त हो सके। आधारभूत प्रशिक्षण (Foundation Course) प्रशिक्षु अधिकारियों को इतिहास, संविधान, कल्याणकारी राज्य, लोक प्रशासन, अर्थशास्त्र, सामाजिक सेवाएँ, सांख्यिकी, जनसंख्या अध्ययन, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, भारतीय कला एवं संस्क ति, विधि तथा हिन्दी भाषा का अध्ययन करवाया जाता है। इस प्रशिक्षण का उद्देश्य प्रशिक्षु अधिकारियों को लोक सेवाओं की मूलभूत जानकारी देने, उन्हें अभिप्रेरित करने, संविधान तथा प्रशासन तंत्र को समझने तथा भारतीय परिवेश एवं मूल्यों को जानने के लिए अतिरिक्त अन्य सेवाओं के साथ समन्वय भाव सिखाना है। इस आधारभूत प्रशिक्षण के पश्चात् आइ.ए.एस. संवर्ग के अधिकारी मसूरी ही रहते हैं जबकि अन्य सेवाओं के अधिकारी अपने-अपने प्रशिक्षण संस्थानों में चले जाते हैं।

आई.ए.एस. व्यावसायिक (Professional) प्रशिक्षण फेज-I में प्रशिक्षु अधिकारियों को 24 सप्ताह तक भारतीय प्रशासनिक सेवा के दायित्वों का गहन अध्ययन करवाया जाता है। इस प्रशिक्षण के दौरान इन प्रशिक्षुओं को दो सप्ताह के लिए विभिन्न ग्रुपों में बाँटकर वायु सेना, नौ सेना, थल सेना, निजी तथा लोक उपक्रमों, स्वैच्छिक अभिकरणों तथा गाँवों में '**भारत दर्शन**' के लिए भेजा जाता है। अकादमी में उपलब्ध लोक प्रशासन, विधि, राजनीति, अर्थशास्त्र, भाषा, कम्प्यूटर, घुड़सवारी तथा पर्वतारोहण इत्यादि के विशेषज्ञ प्रशिक्षक इन अधिकारियों में कौशल पैदा करते हैं। दैनिक अध्ययन के अतिरिक्त यहाँ पर विभिन्न क्षेत्रों के प्रसिद्ध व्यक्तियों से साक्षात्कार तथा व्याख्यान भी करवाए जाते हैं। सन् 1995-97 के आई.ए.एस. बैच को मेधा पाटेकर, दिग्विजय सिंह, मार्गरेट अल्वा, ओतिमा बोर्दिया तथा रंगनाथ मिश्र सहित बहुत से वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारियों से संवाद करवाया गया। व्यावसायिक प्रशिक्षण की यह महत्त्वपूर्ण तथा प्रभावी विधि है।

मसूरी में आधारभूत तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण फेज-I पूरा करने के पश्चात् इन अधिकारियों को उनको आवंटित राज्य में भेज दिया जाता है। राज्य में आकर ये प्रशिक्षणार्थी राज्य प्रशासन अकादमी। (जैसे हरिश्चन्द्र माथुर राजस्थान राज्य लोक प्रशासन संस्थान, जयपुर) में 3 सप्ताह का संस्थागत प्रशिक्षण फेज-I प्राप्त करते हैं। राज्य का प्रशासनिक तंत्र तथा अन्य महत्त्वपूर्ण बातें प्रशिक्षुओं का समझाई जाती हैं। इस संस्थागत प्रशिक्षण के पश्चात् इन प्रशिक्षु अधिकारियों को जिन्हें '**प्रोबेशनर**' कहा जाता है को वास्तविक प्रशासन ज्ञान प्राप्त करने के लिए विभिन्न कार्यालयों में लगाया जाता है। राज्य में प्रशिक्षण का मुख्य उद्देश्य सामान्य कानून एवं नियम, कार्मिक प्रशासन, वित्तीय प्रशासन, भू-सुधार तथा नियोजन एवं विकास का सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक ज्ञान उपलब्ध कराना होता है। राज्य प्रशिक्षण का ब्यौरा इस प्रकार है-

आई.ए.एस. प्रशिक्षुओं का राज्य प्रशिक्षण

क्र.सं.	कार्यालय/विभाग	प्रशिक्षण अवधि
1.	संस्थागत प्रशिक्षण फेज-I	3 सप्ताह
2.	तहसील कार्यालय	1 सप्ताह
3.	विकास अधिकारी तथा ग्राम सेवक के साथ	1 सप्ताह
4.	जिला परिषद् कार्यालय	2 दिन
5.	उपखण्ड अधिकारी के साथ	1 सप्ताह
6.	जिला न्यायाधीश, मुख्य न्यायिक दण्डनायक तथा जिला में विभिन्न विभाग यथा -शिक्षा, स्वास्थ्य, सिंचाई, रसद, पशुपालन, सार्वजनिक निर्माण, वन तथा यातायात	2 सप्ताह
7.	जिला ग्रामीण विकास अभिकरण तथा विशिष्ट योजना संगठन	1 सप्ताह
8.	पुलिस स्टेशन पर	2 सप्ताह
9.	राजकोष कार्यालय	2 दिन
10.	नगरीय संस्थाएँ	2 दिन
11.	विकास अधिकारी का स्वतंत्र प्रभार	4 सप्ताह
12.	तहसीलदार का स्वतंत्र प्रभार	4 सप्ताह
13.	सैटलमेंट में प्रशिक्षण	1 सप्ताह
14.	सहायक जिला कलक्टर तथा कार्यपालिक दण्डनायक का स्वतंत्र प्रभार	28 सप्ताह
15.	जिला कलक्टर से मार्गदर्शन एवं चर्चा	3 दिन
16.	संस्थागत प्रशिक्षण फेज-I	4 सप्ताह
	कुल अवधि	**लगभग 1 वर्ष**

व्यावहारिक स्तर पर प्रशिक्षण प्राप्त करते समय आने वाली समस्याओं तथा शंकाओं का समाधान जिला कलक्टर के मार्गदर्शन में होता है। राज्य में होते हुए ये प्रशिक्षु अधिकारी मसूरी के प्रशिक्षक से भी संपर्क बनाए रखते हैं। राज्य प्रशिक्षण के अंतिम चरण में पुनः राज्य प्रशासन अकादमी में 4 सप्ताह का संस्थागत प्रशिक्षण फेज-II दिया जाता है। सभी प्रशिक्षु अपने राज्य प्रशिक्षण की विस्त त रिपोर्ट तैयार करते हैं।

राज्य में प्रशिक्षण समाप्त कर सभी राज्यों से आई.ए.एस. प्रशिक्षणार्थी पुनः मसूरी लौट आते हैं। यहाँ आई.ए.एस. व्यावसायिक प्रशिक्षण फेज-II शुरू होता है जो नौ सप्ताह का होता है। इस प्रशिक्षण में प्रशिक्षाणार्थी अपने-अपने अनुभव सुनाते हैं तथा उस पर विचार-विमर्श होता है। इस प्रशिक्षण का मुख्य उद्देश्य आई.ए.एस. अधिकारी के रूप में प्रशिक्षणार्थियों को शारीरिक, मानसिक रूप से तैयार करना, कम्प्यूटर शिक्षा देना, राजभाषा में योग्य बनाना तथा आत्मविश्वास से युक्त श्रेष्ठ अधिकारी बनाना है। अकादमी में आई.ए.एस. प्रशिक्षणार्थियों को व्याख्यान, फिल्म शो, केस स्टडी, समूह परिचर्चा, सिमुलेशन सहित अन्य आधुनिक प्रबन्धकीय प्रशिक्षण पद्धतियों के द्वारा प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। प्रशिक्षण के प्रत्येक स्तर पर मूल्यांकन कार्य भी होता है जो इनकी रैंक निर्धारण में सहायक बनता है।

इस प्रकार आई.ए.एस. का यह प्रशिक्षण इन्हें आगामी 6-8 वर्ष के सेवाकाल में उपखण्ड अधिकारी, परियोजना निदेशक, अतिरिक्त जिला कलक्टर, नगरपालिका आयुक्त, जिला परिषद् के कार्यपालक अधिकारी तथा लोक उपक्रमों के कार्यकारी या प्रबन्ध निदेशक रूप में कार्य करने के योग्य बनाता है।

सेवाकालीन प्रशिक्षण

आई.ए.एस. अधिकारियों की सेवा में रहते हुए 6-9 वर्ष, 10-16 वर्ष तथा 17-20 वर्ष की अवधि पर सेवाकालीन प्रशिक्षण भी दिए जाते हैं। ये प्रशिक्षण प्रायः अल्पावधि के होते हैं। इसी प्रकार राज्य सेवाओं से आई.ए.एस. में पदोन्नति होने वाले अधिकारी भी मसूरी में 5 सप्ताह का आगमन प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। भारतीय लोक प्रशासन संस्थान भी 38 सप्ताह का 'एडवांस्ड प्रोफेशनल प्रोग्राम इन पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन' प्रदान करता है। यह संस्थान तथा हैदराबाद का ग्रामीण विकास संस्थान एवं प्रशासनिक स्टाफ कॉलेज सहित अनेक संस्थाएँ विभिन्न विषयों पर प्रशिक्षण पाठ्यक्रम आयोजित करते रहते हैं।

भारतीय पुलिस सेवा के अधिकारियों को प्रशिक्षण

मसूरी में 16 सप्ताह का आधारभूत प्रशिक्षण प्राप्त करने के पश्चात् भारतीय पुलिस सेवा में चयनित हुए उम्मीदवार एक वर्ष के लिए हैदराबाद स्थित सरदार पटेल राष्ट्रीय पुलिस अकादमी में आते हैं। पहले यह अकादमी माउण्ट आबू (राजस्थान) में कार्यरत थी लेकिन आपातकाल (25 जून, 1975 से 23 मार्च, 1977) के दौरान इसे हैदराबाद में स्थापित कर दिया गया। भारतीय पुलिस सेवा के उम्मीदवारों अर्थात् प्रशिक्षु अधिकारियों को सर्वप्रथम संस्थागत प्रशिक्षण फेज-I में 4 सप्ताह तक भारतीय दण्ड विधि, भारतीय दण्ड प्रक्रिया, अपराधशास्त्र, भारतीय साक्ष्य अधिनियम तथा संविधान की सूक्ष्म जानकारी दी जाती है। जैसा कि अपेक्षित है इन अधिकारियां तथा संविधान की सूक्ष्म जानकारी दी जाती है। जैसा कि अपेक्षित है इन अधिकारियों को शारीरिक व्यायाम, ड्रिल तथा हथियार चलाने पर विशेष ध्यान देने को कहा जाता है। संस्थागत प्रशिक्षण फेज-I के पश्चात् प्रशिक्षु अधिकारियों को एक वर्ष के लिए पुलिस अधीक्षक, उपाधीक्षक, व त्त निरीक्षक तथा थानाधिकारी के पास लगाया जाता है। विभिन्न प्रकार के आपराधिक मामलों की जाँच तथा कार्यालय प्रक्रियाएँ समझने के लिए व्यवहार में ये अधिकारी थाने में रहकर कार्य सीखते हैं। विस्त त विवरण सारणी में द ष्टव्य है।

विभिन्न प्रकार के हथियारों का प्रशिक्षण दिलाने के लिए प्रशिक्षार्थियों को सीमा सुरक्षा बल के इन्दौर स्थिर 'सेन्ट्रल स्कूल फॉर वैपन्स एण्ड टैक्टिक्स' में 28 दिन रखा जाता है जहाँ समस्त छोटे-बड़े हथियार खोलना, साफ करना तथा पुनः जोड़ना सिखाया जाता है। टैक्टिक्स (व्यूह रचना) के अन्तर्गत नक्शा पढ़ना, दबिश देना, रात्रि विचरण, खोज तथा घात लगाना इत्यादि सिखाया जाता है। घुड़सवारी, उग्र भीड़ नियंत्रण, अग्नि शमन, जनता से मित्रवत् व्यवहार, तैराकी, पर्वतारोही, फोटोग्राफी, वाहन चलाना, आतंकवाद नियंत्रण, महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों की सुरक्षा, बेतार संचार प्रणाली तथा साम्प्रदायिक दंगों से सम्बन्धित आवश्यक प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। व्यावहारिक प्रशिक्षण के पश्चात् पुनः अकादमी में संस्थागत प्रशिक्षण फेज-II शुरू होता है। एक निर्धारित परीक्षा को सभी अधिकारियों द्वारा उत्तीर्ण करना आवश्यक है।

भारतीय पुलिस सेवा के प्रशिक्षुओं का प्रशिक्षण

क्र.सं.	विवरण	अवधि
1.	आधारभूत प्रशिक्षण (मसूरी)	16 सप्ताह
2.	संस्थागत प्रशिक्षण फेज-1	41 सप्ताह
3.	केन्द्रीय हथियार तथा टैक्टिक्स स्कूल	4 सप्ताह
4.	थल सेना के साथ प्रशिक्षण	2 सप्ताह
	व्यावहारिक	
5.	पुलिस प्रशिक्षण संस्थान तथा ग्रामीण पुलिस थाना	6 सप्ताह
6.	पुलिस अधीक्षक के साथ	8 सप्ताह
7.	संचित निरीक्षक (पुलिस लाइन्स) के साथ	1 सप्ताह
8.	सहायक जन अभियोजक के साथ	1 सप्ताह
9.	जिला पुलिस मुख्यालय में	2 सप्ताह
10.	व त्त निरीक्षक/उपाधीक्षक के साथ	2 सप्ताह
11.	सशस्त्र पुलिस बल के साथ	1 सप्ताह
12.	पुलिस थाना प्रभारी (स्वतन्त्र प्रभार)	12 सप्ताह
	वापसी	
13.	संस्थागत प्रशिक्षण फेज-II	12 सप्ताह

सेवाकालीन प्रशिक्षण

सेवा में रहते हुए उच्च पदों को धारण करने की क्षमता तथा परिवर्तित परिस्थितियों से सामंजस्य बैठाने के लिए भारतीय पुलिस सेवा के अधिकारियों को सरदार वल्लभ भाई पटेल राष्ट्रीय अकादमी, भारतीय लोक प्रशासन संस्थान तथा अन्य संस्थाओं द्वारा प्रशिक्षण दिया जाता है। सेवाकालीन प्रशिक्षण में मुख्यतः प्रशासनिक प्रक्रियाएँ, जन सम्पर्क, दंगा नियंत्रण, मानवाधिकार, उग्र आन्दोलन, प्राक तिक आपदाएँ, तथा प्रेस से सम्बन्ध इत्यादि विषय सम्मिलित रहते हैं।

भारतीय विदेश सेवा के अधिकारियों का प्रशिक्षण

मसूरी में चार माह का आधारभूत प्रशिक्षण प्राप्त करने के पश्चात् भारतीय विदेश सेवा के प्रशिक्षु अधिकारियों को अर्न्तराष्ट्रीय अध्ययन स्कूल, नई दिल्ली में चार माह का विदेश नीति, कार्यप्रणाली, अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध तथा भाषा से सम्बन्धित मूलभूत जानकारी करवाने वाला प्रशिक्षण दिया जाता है। इसके पश्चात् विदेश मंत्रालय में छः माह का व्यावहारिक प्रशिक्षण तथा सैनिक इकाई सम्पर्क एवं भारत भ्रमण करवाया जाता है। अंत में प्रशिक्षणार्थियों का उनके भाषायी क्षेत्र के आधार पर एक वर्ष के आधार पर एक वर्ष के लिए विदेशों में स्थित उच्चायुक्त कार्यालय या दूतावासों में परिवीक्षा पर लगाया जाता है।

उपर्युक्त वर्णित सेवाओं के प्रशिक्षणों के अतिरिक्त अन्य सभी सेवाओं के प्रशिक्षण कार्यक्रम भी सम्बन्धित प्रशिक्षण केन्द्रों पर आयोजित होते हैं-भारतीय लेखा तथा परीक्षण सेवा के अधिकारियों को शिमला में एक वर्ष का प्रशिक्षण तथा आयकर सेवा के अधिकारियों को नागपुर में 18 माह का प्रशिक्षण दिया जाता है।

भारतीय प्रशासनिक सेवा हेतु सन् 1969 से तथा भारतीय पुलिस सेवा हेतु सन् 1986 से **सैण्डविच** (Sandwich) प्रशिक्षण की व्यवस्था हुई है। **सैण्डविच का अर्थ है**-"ऐसा प्रशिक्षण कार्यक्रम जो किसी संगठन में कार्य करते हुए प्राप्त किया जाता है अर्थात् शिक्षण तथा कार्यानुभव साथ-साथ चलते हैं।"

भारत में प्रशिक्षण की कमियाँ

भारत में निजी क्षेत्र में दिया जा रहा प्रशिक्षण निस्संदेह प्रभावी तथा विदेशों के समकक्ष है जबकि लोक सेवाओं को दिया जा रहा प्रशासकीय तथा तकनीकी प्रशिक्षण अनेक न्यूनताओं से ग्रस्त है, जो निम्नलिखित है-

1. प्रशिक्षण पाठ्यक्रम में परिवर्तन बरसों तक नहीं होता है जबकि परिवर्तित परिस्थितियों में **परम्परागत पाठ्यक्रम** अप्रभावी सिद्ध होता है।
2. कुशल और प्रतिबद्ध **प्रशिक्षकों** का अभाव पाया जाता है।

3. अधिकांश प्रशिक्षण संस्थानों में **व्याख्यान** आधारित प्रशिक्षण पद्धति ही अपनाई जाती है। इसमें भी एक तरफा संचार होता रहता है।
4. प्रशिक्षण संस्थाओं का माहौल **राजनीतिक दाँव-पेचों** का अखाड़ा बन जाता है।
5. अभिप्रेरणाओं के अभाव में प्रशिक्षाणार्थी **रूचि** नहीं लेते हैं।
6. अनेक प्रशिक्षण संस्थाओं विशेषतः तकनीकी विषय तथा निम्न स्तरीय कार्मिकों को प्रशिक्षण देने वालों में **आधारभूत सुविधाओं** की कमी पाई जाती है। इसमें कक्षा-कक्ष, खेल-मैदान, प्रशिक्षण सामग्री, पुस्तकालय, कैन्टीन, छात्रावास, प्रशिक्षक तथा बजट का अभाव रहता है।
7. प्रशिक्षणार्थियों की **प्रशिक्षण आवश्यकताओं** का अध्ययन (T.N.A.) किए बिना प्रशिक्षण बदस्तूर जारी रहता है।
8. प्रशिक्षण में दिए जाने वाले **ज्ञान** (सिद्धान्त) का **व्यवहार** में प्रत्यक्षतः सम्बन्ध नहीं रहता है अर्थात् पढ़ाया कुछ और जाता है जबकि यथार्थ में कुछ और मिलता है।
9. **प्रशिक्षकों के प्रशिक्षण** (T.O.T.) की पर्याप्त व्यवस्था नहीं है जिससे कि वे उच्च स्तरीय ज्ञान एवं कौशल से युक्त हो सकें।
10. अधिकांश विभागों की सेवाओं में दिए जा रहे प्रशिक्षण में **जन सम्पर्क तथा मानव सम्बन्ध** पर यत्किंचित भी ध्यान नहीं दिया जाता है। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि लोक सेवक जनता के साथ स्वामी-सा व्यवहार करते हैं।
11. प्रशिक्षणार्थियों द्वारा अर्जित ज्ञान एवं कौशल का **मूल्यांकन** करने की सम द्ध प्रणाली कार्यरत नहीं है।
12. प्रशिक्षण के लिए राष्ट्रीय परिस्थितियों के अनुरूप **प्रशिक्षण नीति** का अभाव है।
13. अधिकांश कार्मिकों के लिए **सेवाकालीन प्रशिक्षण** की कोई व्यवस्था नहीं है।

मानव संसाधन विकास की नूतन अवधारणा प्रशिक्षण को संगठनात्मक कार्य कुशलता का मल आधार मानती है। अतः भारतीय लोक सेवाओं के प्रशिक्षण में व्याप्त इन न्यूनताओं को दूर करने के लिए एक व्यावहारिक प्रशिक्षण नीति बनाई जाए। प्रशिक्षण कार्यो को एकीक त तथा व्यावहारिक बनाने के लिए विभिन्न विभागों के प्रतिनिधियों को लेकर केन्द्रीय तथा राज्य प्रशिक्षण आयोग का गठन हो जो प्रशिक्षण नीति की अनुपालना सुनिश्चित करे क्योंकि पर्याप्त कुशल तथा व्यावहारिक प्रशिक्षण के अभाव में राष्ट्रीय विकास प्रत्यक्षतः प्रभावित होता है।

अध्याय-22
प्रोन्नति/पदोन्नति
(Promotion)

किसी नियोजन के पश्चात् प्रोन्नति एक अत्यावश्यक तत्व बन जाता है जिस पर किसी प्रशासनिक व्यवस्था का परिणाम परिलक्षित होता है। खासकर लोक प्रशासन के अंतर्गत कार्यरत पदाधिकारियों एवं कर्मचारियों के बीच सुव्यवस्थित ढंग से प्रशासन को संचालित करने के लिए प्रोन्नति सुनिश्चित होनी चाहिए ताकि वे दक्षता, कुशलता, ईमानदारी और निपुणता के साथ कार्य करें। वस्तुतः प्रोन्नति प्रशासन की वह शुद्ध प्राणवायु है जिसके बदौलत संपूर्ण प्रशासनिक शरीर समुचित संचालन में स्वस्थ एवं सक्रिय रह पाता है और प्रोन्नति प्रेरणा स्त्रोत के रूप में नियोजन पर्यंत बनाए रखता है।

प्रोन्नति का शाब्दिक अर्थ कार्यरत श्रेणी से उच्च श्रेणी में परिवर्तित कर पदनाम, वेतनमान, कर्तव्य एवं जिम्मेवारी की अभिव द्धि किया जाना है। प्रत्येक पद के वेतनमान में वार्षिक वेतनव द्धि होती है किंतु यह प्रोन्नति नहीं। प्रोन्नति के निम्न तत्व होते हैंः

1. कार्यरत श्रेणी से उच्च श्रेणी में श्रेणी परिवर्तन।
2. पदनाम परिवर्तन।
3. वेतनमान में परिवर्तन।
4. कर्तव्य एवं जिम्मेवारी में अभिव द्धि।

प्रसंगानुरूप विषय विशेषज्ञों द्वारा प्रोन्नति को निम्न रूप में परिभाषित किया गया हैः

प्रोन्नति एक व्यापक शब्दबोध है। मूलतः यह कार्यरत पद श्रेणी से उच्च पद एवं श्रेणी में परिवर्तन है जहां कार्य में भी परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार के परिवर्तित कार्य में जिम्मेदारी अधिक हो जाती है तथा पदनाम में भी परिवर्तन हो जाता है। प्रोन्नत पद पर जबावदेही एवं स्वतंत्र निर्णय लेना भी सम्मिलित होता है।

प्रौन्नति/पदोन्नति से अभिप्राय
(Meaning of the Promotion)

यह बात भलीभांति समझ लेनी चाहिए कि पदोन्नति से तात्पर्य कर्मचारी के वेतन की वार्षिक व द्धि से नहीं है। प्रत्येक सरकारी नौकरी में निश्चित वेतन क्रम (Pay scale) रहता है। उसमें कर्मचारी के वेतन में वार्षिक व द्धि होती रहती है। इस वेतन व द्धि को ही पद व द्धि अथवा पदोन्नति नहीं माना जाता। पदोन्नति से आशय है कर्मचारी की पद सम्बन्धी प्रस्थिति (Status) में व द्धि करना तथा उसे अधिक बड़े एवं कठिनतर दायित्व सौंपना।

पदोन्नति से तात्पर्य है कि एक निम्न श्रेणी से उच्च श्रेणी के पद पर उन्नत होना और उसके साथ-ही-साथ कर्तव्यों व उत्तरदायित्वों में भी परिवर्तन होना। 'कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों में परिवर्तन होना पदोन्नति प्रक्रिया का एक अनिवार्य लक्षण है।

ह्वाइट ने पदोन्नति की परिभाषा इस प्रकार की हैः "पदोन्नति का अर्थ है एक पद से किसी दूसरे ऐसे पद पर नियुक्ति, जो उच्चतर श्रेणी का है तथा जिसमें कठिनतर प्रकृति एवं अधिक बड़े उत्तरदायित्व का कार्य करना पड़ता है। इसमें पद का नाम बदल जाता है तथा प्रायः वेतन में व द्धि हो जाती है। विलियम जी टॉर्पी के अनुसार, "पदोन्नति पदाधिकारी के एक पद से ऐसे दूसरे पद पर पहुंचने की ओर संकेत करती है, जो उच्चतर श्रेणी या उच्चतर न्यूनतम वेतन वाला होता है। पदोन्नति का अभिप्राय

है कर्मचारी के कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों में व द्धि कर देना।

पदोन्नति तथा वेतन व द्धि के अन्तर को विलोबी ने इन शब्दों द्वारा स्पष्ट किया है, "वेतन व द्धि का अर्थ केवल यह है कि कर्मचारी के वर्तमान पद अथवा उसके कार्य की प्रकृति में कोई परिवर्तन किये बिना उसके वेतन में व द्धि कर दी गयी है। पदोन्नति का अर्थ यह है कि कर्मचारी को निम्न स्तर के पद से उच्च स्तर के पद पर नियुक्त कर दिया गया है। उदाहरण के लिए, यदि एक प्रवक्ता को किसी कॉलेज में विभागाध्यक्ष नियुक्त किया जाता है तो इसे पदोन्नति कहा जाएगा क्योंकि एक प्रवक्ता उच्चतर श्रेणी के पद पर पहुंच गया है और साथ-ही-साथ, उसके कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों में भी परिवर्तन हो गया। यदि विभागाध्यक्ष को कॉलेज के प्राचार्य के पद पर नियुक्त किया जाये तो इसे पदोन्नति कहा जायेगा। जब एक कर्मचारी की पदोन्नति होती है तो उसके परिणामस्वरूप उसके वेतन में भी व द्धि होती है। परन्तु केवल वेतन में व द्धि होना ही पदोन्नति नहीं है। वेतन में व द्धि होना तो पदोन्नति का एक सहायक अंग है, पदोन्नति का वास्तविक अथवा मुख्य अंग है कर्मचारी की पद स्थिति (Class Status) जिसके कारण कि उसके कर्तव्य व उत्तरदायित्वों में परिवर्तन होता है।

पदोन्नति प्रायः विभागीय (Departmental) होती है। इसका आशय है कि एक विभाग में उच्च पद रिक्त होने पर उसकी पूर्ति प्रायः उस विभाग के निम्न स्तरीय कर्मचारियों में से ही की जाती है, भले ही अन्य विभागों में उनसे अधिक अनुभवी और योग्य कर्मचारी इस कार्य के लिए उपलब्ध हों। इस व्यवस्था का समर्थन प्रायः दो कारणों से किया जाता है। पहला कारण यह है कि विभाग में बाहर का कर्मचारी लाने से विभागीय कर्मचारी यह समझते हैं कि उन्नति का द्वार बन्द हो गया है। इससे उनमें असन्तोष और निराशा की भावना उत्पन्न होती है। इसका दूसरा कारण यह है कि विभागीय कर्मचारी अपने विभाग के कार्यों को जितनी अच्छी तरह से जानते हैं और कुशलतापूर्वक कर सकते हैं उतना दूसरे विभाग के कर्मचारी नहीं कर सकते हैं। किन्तु इस व्यवस्था में एक बड़ा दोष यह है कि सब लोक सेवकों को पदोन्नति के समान अवसर नहीं मिलते हैं।

इस प्रकार एक सेवा से दूसरी सेवा में पदोन्नति सामान्य रूप से नहीं होती है। उदाहरणार्थ, पुलिस विभाग की सेवा में कार्य करने वाले व्यक्ति की पदोन्नति शिक्षा अथवा स्वास्थ्य सेवा विभाग में नहीं हो सकती है।

पदोन्नति/प्रोन्नति का महत्व

1. प्रोन्नति कार्यकुशलता का प्रेरक तत्व है अन्यथा अकुशल और अक्षम व्यवस्था पनपेगी।
2. प्रोन्नति व्यक्तियों के लिए विशेष आकर्षण हेतु आवश्यक है अन्यथा व्यक्तिगत प्रशासन के प्रति झुकाव और पलायन की संभावना बढ़ेगी।
3. प्रोन्नति अन्तःप्रेरणा और प्रतिभा जाग्रत करने का सुअवसर है अन्यथा वह कुंठित होकर राज्य, देश और राष्ट्र के लिए उपयोगी और सार्थक नहीं होगा।
4. नियोजकों को अनुभवी कर्मचारियों का लाभ मिलेगा अन्यथा चले जाने की बाध्यता उत्पन्न होगी।
5. प्रोन्नति से कर्मचारियों में मनोबल, संतुष्टता और नैतिक विकास बढ़ता है अन्यथा इनके ह्रास होने पर विविध कार्यदोष उत्पन्न होने की संभावना बढ़ती है।

पदोन्नति/प्रोन्नति की विभिन्न प्रणालियां
(Different Methods of Promotion)

1. वरीयता क्रम से प्रोन्नति (Promotion by Seniority)
2. योग्यता द्वारा प्रोन्नति प्रणाली (Promotion by Merit)
3. सेवा कुशलता आधारित प्रोन्नति (Service-efficiency Rating)

वरीयता क्रम से प्रोन्नति/पदोन्नति
(Promotionly Seniority)

वरीयता क्रम से प्रोन्नति प्रणाली अत्यंत ही सुलभ मानी जाती है जो स्वचक्रचालित निष्पक्ष सिद्धांत के रूप में कार्यान्वित होती है। इसके अंतर्गत सेवा श्रं खला में किसी उच्च पद पर प्रोन्नति देने के लिए वरीयता के आधार पर क्रमवार वरीयता को प्रोन्नति

दे दी जाती है। यह एक अत्यंत ही सरल और सुगम माध्यम है जहां किसी हेराफेरी की संभावना नहीं रहती है। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि अमुक अवधि के अंतर्गत अमूक व्यक्ति के बाद उसे वरीयता क्रम में प्रोन्नति दे दिया जाएगा। इस सिद्धांत के पक्षधरों का निम्न तर्क है:

लाभ

(Merits)

1. वरीयता आधारित यह स्वचक्रचालित प्रणाली है।
2. प्रोन्नति निश्चित होने के कारण सेवा पलायन नहीं होता है।
3. यह निष्पक्ष और तटस्थ प्रक्रिया का द्योतक है।
4. विभाग को अनुभवी और कुशल प्रशासक मिल जाते हैं।
5. सुनिश्चित प्रोन्नति की प्रत्याशा में ऊंचा मनोबल बना रहता है।
6. निर्धारित काल अवधि के अंतर्गत सुनिश्चित प्रोन्नति के कारण कार्यकुशलता और संतुष्टि विराजमान है।

हानि

(Demerits)

1. वरीयता क्रम में प्रोन्नत होने वाले व्यक्ति का योग्य एवं कुशल होना आवश्यक नहीं।
2. उच्च पद संख्या कम होने की स्थिति में सभी निम्नस्थ के लिए प्रोन्नति सुनिश्चित नहीं।
3. अस्वस्थ प्रशासनिक ढांचा बनने की संभावना रहती है जब अयोग्य व्यक्ति वरीयता के आधार पर प्रोन्नत होंगे।
4. अकर्मण्यता एवं अकुशलता की व द्धि होती है जहां प्रोन्नति एक निर्धारित कालावधि में सुनिश्चित हो जाए।
5. प्रतिस्पर्धा के नहीं होने से मानवीय विकास गुण और क्षमता नष्ट हो जाते हैं।
6. अधिकतर विभागों में एक निर्धारित प्रतिशत प्रोन्नति द्वारा तथा अवशेष प्रत्यक्ष नवनियुक्त द्वारा होने के कारण सबकी प्रोन्नति संभव नहीं हो पाती जिससे वरीय कर्मचारियों के बीच असंतोष व्याप्त होता है।
7. सक्षम व्यक्ति भी प्रोन्नत होने की प्रत्याशा में अक्षम बन जाते हैं कि समय आने पर उन्हें भी प्रोन्नति मिलेगी।
8. प्रत्यक्ष नियुक्ति हेतु परिश्रम और प्रतिस्पर्धा से घबराने वाले इस सिद्धांत के प्रमुख पक्षधर होते हैं जो भाग्यवादी बनकर राम भरोसे प्रोन्नति पर निर्भर रहकर जीवन बिताने की सोचते है।

योग्यता का सिद्धान्त

(Principle of Merit)

ज्येष्ठता की तुलना में पदोन्नति का दूसरा सिद्धान्त योग्यता का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार कर्मचारियों को उनकी योग्यता तथा प्राप्तियों (Achievements) के आधार पर पदोन्नत करना चाहिए। योग्यता का अभिप्रायः एक कर्मचारी की शिक्षा, मानसिक स्थिति, व्यक्तित्व, आचरण तथा नेत त्व करने की क्षमता से है। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि कर्मचारी की योग्यता किस प्रकार देखी जाए। साधारणतया योग्यता को निर्धारित करने के लिए निम्नलिखित विधियों का प्रयोग किया जा सकता है-

1. विभागीय अध्यक्ष द्वारा निर्णय (Personal Judgement of the Head of Department)
2. पदोन्नति परीक्षा।
3. सेवा अंकन (Service Rating)

1. **विभागीय अध्यक्ष द्वारा निर्णय (Personal Judgement of the Head of Department):** इस विधि के अनुसार कर्मचारी की योग्यता की जांच के सम्बन्ध में निर्णय करने की शक्ति विभागीय अध्यक्ष को सौंप देनी चाहिए। इस धारणा का आधार यह है कि विभागीय अध्यक्ष के अधीन कर्मचारियों से अधिक-से-अधिक सम्पर्क रहता है जिसके कारण वह उनकी योग्यता, नैतिकता, साहस, चरित्र, कर्त्तव्यपरायणता कार्य करने की क्षमता आदि के बारे में भली-भान्ति जान

सकता है। इसके अतिरिक्त क्योंकि विभागीय अध्यक्ष का कर्मचारी के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क होता है, इसलिए उन्हें इस बात का पूर्ण ज्ञान होता है कि कर्मचारी को अनुशासन सम्बन्धी चेतावनी कितनी बार मिल चुकी है अथवा उसे कितनी बार दण्ड दिया जा चुका है। इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा गुण यह है कि यह अत्यन्त सरल विधि है। इसके द्वारा उच्च अधिकारी अपने अधीन कर्मचारियों पर नियन्त्रण रख सकते हैं। इस प्रणाली के अधीन कर्मचारियों को पदोन्नति देने में कम समय लगता है और निर्णय शीघ्र हो जाता है।

परन्तु इस प्रणाली के कुछ दोष भी हैं-

(i) यह सिद्धान्त छोटे संगठनों के लिए उपयोगी है जहां पर विभागीय अध्यक्ष का अपने अधीन कर्मचारियों से प्रत्यक्ष रूप में सम्पर्क होता है। परन्तु बड़े संगठनों के लिए यह उपयोगी नहीं है। बड़े संगठनों अथवा लोक प्रशासन जैसे व्यापक संगठनों में यह सम्भव नहीं है कि विभागीय अध्यक्ष विभाग के सभी कर्मचारियों से सम्पर्क स्थापित कर सके। एक तो कर्मचारियों की इतनी संख्या होती है कि एक व्यक्ति के लिए सभी को जानना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव है। दूसरे सभी कर्मचारियों की कार्यक्षमता तथा अन्य योग्यताओं का एक व्यक्ति द्वारा सही प्रकार से मूल्यांकन करना सरल नहीं है।

(ii) दूसरे यह प्रणाली बहुत ही आत्मपरक (Subjective) है तथा इसमें पक्षपात तथा व्यक्तिगत पसन्द अथवा नापसन्द आदि त्रुटियां पाई जाती हैं। इस प्रणाली में कर्मचारी के सम्बन्ध में विभागीय अध्यक्ष की मान्यताएं व्यक्तिगत सम्बन्धों एवं सम्पर्क पर निर्भर करती हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि योग्य कर्मचारी जो आत्मसम्मान के कारण अनुचित ढंग से अपने उच्च अधिकारियों की चापलूसी नहीं करते, वे सदैव पीछे रह जाते हैं और अनुचित ढंग से खुशामद करने वाले कर्मचारी आगे बढ़ जाते हैं। विभागीय अध्यक्ष खुशामदी कर्मचारियों की त्रुटियों की ओर ध्यान नहीं देते बल्कि उनकी रक्षा करते हैं परन्तु दूसरे कर्मचारियों की छोटी-छोटी भूलों पर दण्ड नहीं देते हैं। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली में राजनीतिक व अन्य प्रभावों का भी प्रभाव होता है।

दोषों को दूर कैसे किया जाए? (How to remove these Defects?): इस सिद्धान्त में विद्यमान दोषों को दूर करने के लिए कुछ सुझाव इस प्रकार दिए जाते हैं-

(i) **मेयर (Mayers)** के अनुसार पदोन्नति का प्रश्न विभागीय अध्यक्ष के व्यक्तिगत निर्णय के स्थान पर एक निश्चित विभागीय पदोन्नति बोर्ड (Departmental Promotion Board) द्वारा करना चाहिए। उसके शब्दों में, प्रत्येक सेवा, ब्यूरो या अन्य संगठन की इकाई में प्रशासकीय अधिकारियों की एक समिति होनी चाहिए जिस पदोन्नति से सम्बन्धित सभी सिफारशें करने का उत्तरदायित्व होना चाहिए। इस समिति को पदोन्नत होने वाले सभी कर्मचारियों के चरित्र, कार्यक्षमता, पदोन्नति की योग्यताएं आदि के सम्बन्ध में पूर्ण सूचना प्रदान करने की व्यवस्था होनी चाहिए।

(ii) यदि कोई कर्मचारी इस बोर्ड के निर्णय से संतुष्ट न हो तो उसे अपील करने का अधिकार होना चाहिए। इस बोर्ड में विभाग के मुख्य अधिकारी सम्मिलित किए जाने चाहिए। ऐसे अधिकारियों को बोर्ड में मनोनीत करते समय उनकी ज्येष्ठता तथा अन्य कार्यों एवं योग्यताओं को ध्यान में रखना चाहिए। चाहे विलोबी (Willoughby) इस सुझाव से सहमत नहीं हैं परन्तु इस प्रणाली में कई उपयोगी बातें पाई जाती हैं। उस में काफी सीमा तक राजनीतिक तथा अन्य प्रभावों से मुक्ति पाई जा सकती है।

इसलिए इस पद्धति को बहुत से देशों में अपनाया गया है तथा पदोन्नति के लिए ऐसे बोर्डों की स्थापना की गई है जो इस के सम्बन्ध में विभागीय अध्यक्ष को परामर्श देते हैं। इसलिए भारत में केन्द्र तथा राज्य स्तर पर उच्च पदों के लिए पदोन्नतियां लोक सेवा-आयोगों के परामर्श से की जाती हैं।

2. **पदोन्नति परीक्षा (Promotion Examination):** कर्मचारियों की योग्यता की जांच करने के लिए परीक्षा को उपयोगी माना जाता है। भर्ती करते समय तो इसे एक महत्त्वपूर्ण साधन के रूप में अपनाया जाता है। इसी प्रकार कर्मचारियों की योग्यता एवं कार्य-क्षमता की जांच करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है तथा इसे वस्तुआत्मक विधि समझा जाता है। पदोन्नति से सम्बन्धित परीक्षाएं तीन प्रकार की होती हैं-

(i) ***खुली प्रतियोगिता** (Open Competition):* खुली प्रतियोगिता परीक्षा में कोई भी व्यक्ति भाग ले सकता है। दूसरे शब्दों में, जब पदोन्नति की परीक्षा में विभागीय कर्मचारियों के अतिरिक्त अन्य कोई भी व्यक्ति भाग ले सकता हो

तो उसे खुली प्रतियोगिता परीक्षा कहते हैं। इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि परीक्षा में केवल विभाग के कर्मचारी ही भाग लें। इस पद्धति के पक्ष में यह कहा जाता है कि *(i)* इस के द्वारा उच्च पदों के लिए चुनाव करने का क्षेत्र व्यापक बन जाता है और वर्तमान कर्मचारियों का हित भी विक्षिप्त नहीं होता। उन्हें योग्य व्यक्ति के अधीन काम करने का अवसर मिलता है। *(ii)* इस पद्धति के अन्तर्गत नए रक्त के सेवाओं में प्रवेश करने के कारण उनके प्रगतिशील विचारों का वर्तमान कर्मचारियों तथा प्रशासन पर प्रभाव पड़ता है। *(iii)* इन लाभों के अतिरिक्त इस पद्धति का एक विशेष लाभ यह भी है कि खुली प्रतियोगिता द्वारा वर्तमान कर्मचारियों को अपनी योग्यताओं एवं मानसिक क्षेत्र व्यापक बनाने का अवसर मिलता है।

परन्तु इस प्रणाली की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि इसके द्वारा वर्तमान कर्मचारियों के मनोबल पर दुष्ट प्रभाव पड़ता है क्योंकि बाहर से नए कर्मचारियों को पुराने कर्मचारियों के उच्च पदों पर नियुक्त किए जाने से पुराने कर्मचारियों में घ णा तथा द्वेष की भावना उत्पन्न हो जाती है।

(ii) ***सीमित प्रतियोगिता*** *(Limited Competition):* इस प्रणाली के अन्तर्गत केवल उन कर्मचारियों को प्रतियोगिता परीक्षा में बैठने की अनुमति होती है जो पहले ही सेवा में होते हैं। इस प्रणाली के अनुसार बाहर से किसी भी व्यक्ति को पदोन्नति का अवसर प्रदान नहीं किया जाता। इस प्रणाली का भारत में निम्न पदों के लिए पदोन्नत करने के लिए प्रयोग किया जाता है। केन्द्रीय सरकार इस का प्रयोग सैक्सन अधिकारी, सहायक आदि के पदों के लिए पदोन्नति करने के लिए इस विधि का प्रयोग करती है। इस प्रणाली से कर्मचारी प्रसन्न रहते हैं क्योंकि यह उनके हितों के अनुकूल है तथा इस से उन्हें इस बात का सन्तोष रहता है कि पदोन्नति उन्हीं में से की जाएगी। परन्तु यह सिद्धान्त सार्वजनिक तथा योग्यता सम्बन्धी सिद्धान्तों के विरूद्ध है।

(iii) ***उत्तीर्ण परीक्षाएं*** *(Pass Examinations):* पदोन्नति के सम्बन्ध में तीसरी प्रकार की परीक्षा उत्तीर्ण परीक्षाएं हैं। इसके अन्तर्गत कर्मचारी को केवल परीक्षा में पास होना होता है तथा इसके द्वारा वह अपनी योग्यता का परिचय देता है। परीक्षा में पास होने वाले कर्मचारियों की एक सूची तैयार कर ली जाती है और जब पदोन्नति के लिए कोई रिक्त स्थान होता है तो इस सूची के प्रत्याशियों में से क्रमानुसार कर्मचारियों को पदोन्नत किया जाता है। इस पद्धति का अधिकांश प्रयोग लिपिक तथा Typist आदि श्रेणियों के कर्मचारियों के सम्बन्ध में किया जाता है।

उपरोक्त परीक्षाओं के सम्बन्ध में एक बात स्मरणीय है कि कुछ परीक्षाएं सन्दर्शन (Interview) सहित होती हैं और कुछ सन्दर्शन रहित होती हैं। प्रायः लोक सेवा आयोग द्वारा संचालित सभी परीक्षाएं सन्दर्शन सहित होती हैं और उत्तीर्ण परीक्षाएं जो निम्न पदों की पदोन्नति के लिए की जाती हैं, सन्दर्शन रहित होती हैं।

आलोचना (Criticism): चाहे पदोन्नति के सम्बन्ध में परीक्षाओं को अधिक उपयोगी माना जाता है तथा इनमें किसी प्रकार की हानि होने की सम्भावना नहीं होती है परन्तु फिर भी इनकी आलोचना की जाती है तथा इनके विरूद्ध निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं-

(i) परीक्षा द्वारा किसी कर्मचारी के व्यक्तित्व की पूर्ण जांच नहीं की जा सकती।

(ii) परीक्षा एक ऐसी प्रणाली है जिसमें केवल विशेष तथ्यों को रटकर प्रत्याशी परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकता है। इससे उसके वास्तविक ज्ञान तथा गुणों का पता नहीं लगाया जा सकता।

(iii) परीक्षा प्रणाली पूर्णतः न्यायपूर्ण नहीं। इसके द्वारा दीर्घ आयु कर्मचारियों को नवयुवक प्रत्याशियों से मुकाबला करना पड़ता है जो अनुचित है क्योंकि दीर्घ आयु वाले कर्मचारी नवयुवकों की भान्ति विषय-वस्तु तथा आंकड़ों को न तो याद कर सकते हैं और न ही अधिक समय तक याद रख सकते हैं।

(iv) प्रशासन में उच्च पदों के लिए नेत त्व प्रदान करने की योग्यता, निरीक्षण एवं नियन्त्रण करने की क्षमता आदि उच्च गुणों की आवश्यकता होती है जिनकी जांच परीक्षाओं द्वारा नहीं की जा सकती।

(v) बहुत से देशों में परीक्षा की प्रणाली को पदोन्नति का आधार नहीं माना जाता; जैसे इंग्लैंड, फ्रांस तथा भारत में पदोन्नति के लिए विभागीय परीक्षाओं को बहुत कम महत्त्व दिया जाता है।

इन सभी कारणों से परीक्षा पद्धति को योग्यता निर्धारण करने की लोकप्रिय विधि नहीं माना जा सकता।

3. **सेवा अभिलेख अथवा कार्यकुशलता का माप (Service Record *or* Efficiency Rating):** कर्मचारियों की योग्यता को अधिक विषयगत (Objective) रूप में निर्धारित करने के लिए एक और पद्धति सेवा-अभिलेख रखना अथवा कार्यकुशलता का माप करना है। इस पद्धति के अनुसार प्रत्येक कर्मचारी की सेवा का अभिलेख रखा जाता है और उसी के विवरण के आधार पर सेवा के उच्च पदाधिकारी अपने अधीन कर्मचारियों की कार्यक्षमता का पता लगाते हैं। जब कर्मचारियों की पदोन्नति का प्रश्न उत्पन्न होता है तो उनके सेवा अभिलेख को देखा जाता है और जिस कर्मचारी का अभिलेख अच्छा हो, उसे पदोन्नत कर दिया जाता है। इस सेवा अभिलेख के विवरण में कर्मचारियों के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों को लिखा जाता है-

   (i) कर्मचारियों को शाखा तथा विभाग के सम्बन्ध में ज्ञान।

   (ii) कर्मचारी का व्यक्तित्व एवं चरित्र।

   (iii) कर्मचारी की विवेक शक्ति।

   (iv) कर्मचारी की उत्तरदायित्व ग्रहण करने की क्षमता।

   (v) कर्मचारी में स्वयं प्रेरणा (Initiative)।

   (vi) कर्मचारी की परिशुद्धता (Accuracy)।

   (vii) कर्मचारी की बातचीत करने का ढंग तथा व्यवहार कौशल।

   (viii) कर्मचारी की पर्यवेक्षण करने की क्षमता।

   (ix) कर्मचारी का उत्साह।

   (x) कर्मचारी के विषय में यह लिख दिया जाता है कि वह औसत से ऊपर है या नीचे या औसत पर है।

   (xi) कर्मचारी असाधारण रूप से पदोन्नति के योग्य है या नहीं।

   सेवा अभिलेख की समीक्षा करते समय उच्च अधिकारी अपने अधीन कर्मचारियों की योग्यता के सम्बन्ध में पांच प्रकार के विशेषणों का प्रयोग करते हैं- 1. उत्कृष्ट (Outstanding), 2. बहुत श्रेष्ठ (Very Good), 3. सन्तोषजनक (Satisfactory), 4. उदासीन (Indifferent) तथा 5. निकृष्ट (Poor)।

कार्य-कुशलता मापने की प्रमुख विधियां
(Different Methods of Efficiency Rating)

कार्य-कुशलता को मापने के लिए निम्नलिखित विधियों का प्रयोग किया जाता है-

1. **उत्पादन अभिलेख (Production Record):** इस पद्धति के द्वारा कर्मचारी के कार्य अथवा उत्पादन को मापा जाता है और उसकी सहायता से कर्मचारी की कार्यक्षमता के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की जाती है जिसके आधार पर कर्मचारी को पदोन्नति दी जाती है। परन्तु इस पद्धति का प्रयोग केवल मुद्रलेखक (Typist), आशुलिपिक (Stenographer), फाइल क्लर्क, लेखाकार आदि के लिए किया जा सकता है, जिनके कार्यों अथवा उत्पादन का माप किया जा सकता है। इस पद्धति को उच्च स्तर के प्रशासकीय अधिकारियों के सम्बन्ध में लागू नहीं किया जा सकता।

2. **बिन्दुरेखीय दर मापदान प्रणाली (The Graphic Rating Scale System):** इस प्रणाली को 1935 में अमेरिका में संघीय सरकार द्वारा प्रयोग किया गया था। इस रीति अनुसार एक प्रपत्र पर कर्मचारी की योग्यता के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें लिख दी जाती हैं। कर्मचारी के कार्य को देखते हुए मापक अधिकारी उसकी बहुत सी बातों पर चिन्ह लगा देता है। यदि उन चिन्ह लगी हुई बातों के आधार पर कर्मचारी की योग्यता का परिचय मिलता है तो उसे पदोन्नत कर दिया जाता है। इस प्रणाली के अधीन जो प्रपत्र माप अधिकारी रखता है, उसमें कर्मचारी के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों का उल्लेख होता है-

   (i) कर्मचारी की परिशुद्धता (Accuracy),

   (ii) परायणता (Reliability),

   (iii) कार्य की स्वच्छता एवं क्रमबद्धता (Neatness and orderliness),

(iv) **कार्यक्षमता की गति** (Speed),

(v) **परिचयशीलता एवं कर्त्तव्य-निष्ठता** (Industry and Diligence),

(vi) **कार्य का ज्ञान** (Knowledge of Work),

(vii) **विवेक शक्ति तथा अनुभव से लाभ उठाने की क्षमता** (Judgement and the Ability to get benefit from Experience),

(viii) **विनयशीलता,**

(ix) **व्यवहार कुशलता,**

(x) **सम्मान प्राप्त करने की योग्यता,**

(xi) **भावनाओं पर नियन्त्रण,**

(xii) **नवीन विचारों के ग्रहण करने की क्षमता,**

(xiii) **प्रबन्धकों की आज्ञा पालन की क्षमता** (Initiative),

(xiv) **कार्य को आरम्भ करने की क्षमता,**

(xv) **कार्य का निष्पादन** (Execution),

(xvi) **संगठन करने की योग्यता** (Organizing Ability),

(xvii) **नियोजन की क्षमता** (Planning Ability),

(xviii) **निर्णयात्मक शक्ति,**

(xix) **आत्म-नियन्त्रण,**

(xx) **कर्मचारियों के व्यक्तित्व में विकास करने की योग्यता आदि।**

माप अधिकारी प्रपत्र में अंकित की गई उक्त बातों का ध्यान रखता है तथा यह देखता है कि कर्मचारी में इन बातों में से कितनी बातें विद्यमान हैं। इन बातों को आधार मान कर वह कर्मचारी को अंक प्रदान करता है तथा अंकों के आधार पर कर्मचारी के गुणों का मूल्यांकन किया जाता है। इस मूल्यांकन के आधार पर कर्मचारी को पदोन्नति दी जाती है।

3. **व्यक्तित्व तालिका पद्धति (Personality Inventory System): यह प्रणाली उपरोक्त प्रणाली से उल्ट है। इसके मुख्य प्रवक्ता सेन्टपाल सिविल सेवा ब्यूरो के भूतपूर्व मुख्य परीक्षक श्री जे० बी० प्रोबस्ट** (J.B. Probst) **थे जिन्होंने इसे** 1927 **में प्रयोग किया। इस प्रणाली के अन्तर्गत माप अधिकारी कर्मचारी के अवगुणों का एक प्रपत्र बना लेता है तथा फिर उस प्रपत्र में अंकित किए गए अवगुणों में से उन गुणों पर निशान लगा देता है जो पदोन्नति के लिए प्रत्याशी कर्मचारी में पाए जाते हों। इस सूची में प्रायः निम्नलिखित अवगुण सम्मिलित किए जाते हैं-**

(i) **आलसी,**

(ii) **कार्य करने में सुस्ती,**

(iii) **तेज़ तथा सक्रिय** (Quick and Active),

(iv) **शारीरिक दोष वाला कार्य,**

(v) **मामूली शारीरिक दोष** (Minor Physical Defect),

(vi) **गम्भीर शारीरिक दोष** (Serious Physical Defect),

(vii) **उदासीन अथवा कार्य में रुचि न लेने वाला** (Indifferent not Interested),

(viii) **स्वाभिमानी** (Too much Self-importance),

(ix) **अधिक स्पष्टवादी** (Too Blunk *or* Outspoken),

(x) **वर्ग के रूप में अच्छा कार्य करने वाला अथवा अच्छा कार्य करने वाला नहीं** (Good Team Worker *or* not a Good Team Worker),

(xi) **आलोचना पर क्रोधित होने वाला** (Resents Criticism),

(xii) **प्रायः अधिक विचारशील रहने वाला,**

(xiii) **अव्यावहारिक,**

(xiv) **असामान्य रूप में विनयशील** (Unusually Courteous),

(xv) **असंतुष्ट रहने वाला** (Often Dissatisfied),

(xvi) **विवेकहीन निर्णय लेने वाला** (Uses Poor Judgement),

(xvii) **चिड़चिड़े स्वभाव वाला** (Often Grumbling) **आदि।**

माप अधिकारी उक्त बातों में से उन बातों को छांट लेता है जो पदोन्नति के लिए प्रत्याशी कर्मचारी में पाई जाती हों। फिर उनके आधार पर कर्मचारी की योग्यता का मूल्यांकन करता है।

इस प्रणाली को चाहे काफी सीमा तक विषयगत माना जाता है तथा इस द्वारा परीक्षा प्रणाली के दोषों को भी दूर किया जा सकता है, परन्तु इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें प्रत्याशी की योग्यता का मूल्यांकन माप अधिकारी की इच्छा तथा मूल्यांकन करने की क्षमता पर निर्भर करता है। ऐसी दशा में आवश्यक है कि माप अधिकारी बड़ी सावधानी से पदोन्नति के प्रत्याशी कर्मचारियों की योग्यता का मूल्यांकन करे तथा जहां तक सम्भव हो, अपने व्यक्तिगत भावों का प्रयोग न करे। कार्यकुशलता माप पद्धति के सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं-

1. मापक अधिकारी योग्य होना चाहिए तथा उसका प्रशिक्षण अवश्य हो।
2. उसे कर्मचारियों के गुणों तथा अवगुणों का मूल्यांकन करने में चतुर होना चाहिए।
3. यदि कर्मचारी के गुण का मूल्यांकन करने में कोई त्रुटि रह जाए या प्रत्याशी कर्मचारी मूल्यांकन से सन्तुष्ट न हो तो उसे मापक अधिकारी के निर्णय के विरूद्ध अपील करने का अधिकार होना चाहिए।
4. कार्यकुशलता अभिलेखों को ही पदोन्नति का एक मार्ग नहीं बनाना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य पद्धतियों को भी प्रयोग में लाना चाहिए।

सभी देशों में पदोन्नति इन सिद्धान्तों के आधार पर की जाती है।

पदोन्नति की विशेषताएं

(Essentials of Promotion System)

श्री विलोबी (Willoughby) ने अच्छी पदोन्नति प्रणाली की विशेषताओं का विवरण इस प्रकार दिया है-

1. सरकार के सभी कर्मचारियों के कर्त्तव्य तथा योग्यताओं को निश्चित करना।
2. पदाधिकारियों के चरित्र तथा उनकी स्थिति जो उन्हें सरकारी सेवा में होने के कारण मिली हो, का वर्गीकरण करना।
3. सभी सेवाओं में पदों का उनकी सामान्य प्रव त्ति के आधार पर वर्गीकरण करना तथा इन सेवाओं के सभी पदों को पदसोपान के सिद्धान्त पर संगठित करना।
4. राजनीतिक प्रकृति के पदों को छोड़कर सभी उच्च प्रशासकीय पदों को इस वर्गीकरण में सम्मिलित करना।
5. जहां तक सम्भव हो सके उच्च पदों पर नियुक्तियां करने के लिए भीतर से ही भर्ती के सिद्धान्त को अपनाना।
6. कर्मचारियों की पदोन्नति में योग्यता के सिद्धान्त हो अपनाना।
7. पदोन्नति करने के लिए विभिन्न कर्मचारियों की योग्यताओं को निश्चित करने के लिए साधनों की व्यवस्था करना।

भारत में पदोन्नति प्रणाली
(Promotion System in India)

भारत की प्रथम श्रेणी की सेवाओं में 55% कर्मचारियों को प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा नियुक्त किया जाता है। शेष पदों की पूर्ति पदोन्नति द्वारा की जाती है। प्रत्यक्ष भर्ती तथा पदोन्नति के सम्बन्ध में विभिन्न विभागों की व्यवस्था भिन्न-भिन्न है तथा इन दोनों के

अनुपात में भी अन्तर पाया जाता है। सबसे कम पदोन्नति द्वारा नियुक्त किए जाने वाले पदों की संख्या विदेश सेवा की शाखा में है। इनमें केवल 10% पदों पर ही 'बी' श्रेणी वाले अधिकारियों को पदोन्नत किया जाता है। पदोन्नति द्वारा भरे जाने वाले पदों की सबसे अधिक संख्या केन्द्रीय सचिवालय में है जहां प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा नियुक्ति नहीं की जाती।

दूसरी श्रेणी के राजपत्रित (Gazetted) कर्मचारियों में लगभग 65% पदों की भर्ती त तीय श्रेणी के कर्मचारियों की पदोन्नति द्वारा की जाती है। इस श्रेणी में वैज्ञानिक, चिकित्सा तथा इंजीनियरिंग सेवाओं की भर्ती प्रायः प्रत्यक्ष रूप से होती है। दूसरी श्रेणी की अराजपत्रित सेवाओं में लगभग 78% कर्मचारियों की प्रत्यक्ष भर्ती की जाती है।

त तीय श्रेणी के कर्मचारियों में विभागों के अन्तर्गत ही पदोन्नति हो जाती है। इस श्रेणी में उच्च वेतन श्रम के प्रायः सभी स्थान पदोन्नति द्वारा भरे जाते हैं।

चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों की भर्ती प्रत्यक्ष रूप से की जाती है तथा रेलवे और डाक एवं तार विभागों के अतिरिक्त किसी और विभाग में चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों को उन्नत करके त तीय श्रेणी में नहीं लिया जाता। केवल डाक तार विभाग में त तीय श्रेणी के 40% पद तथा रेलवे के विभाग में त तीय श्रेणी के 10% पद चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों को उन्नत करके भरे जाते हैं। अब दूसरे विभागों में भी निम्न वर्ग के क्लर्क (Lower Division Clerks) के 10 प्रतिशत पद चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों को उन्नत करके भरे जाते हैं और तीसरे वेतन आयोग ने इस संख्या को 15 प्रतिशत करने का सुझाव दिया है।

भारत में पदोन्नति करते समय योग्यता एवं ज्येष्ठता आदि दोनों को आधार माना जाता है। इनमें से किसे अधिक महत्त्व दिया जाता है इसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि विभिन्न विभागों की व्यवस्था भिन्न-भिन्न है। किसी विभाग में योग्यता को महत्त्व दिया जाता है तो दूसरे में ज्येष्ठता को उच्च समझा जाता है। निम्न पदों के लिए ज्येष्ठता को प्रायः श्रेष्ठ समझा जाता है। उच्च पदों, सचिव, सहायक सचिव आदि महत्त्वपूर्ण पदों के लिए पदोन्नति करते समय केन्द्र में प्रधानमन्त्री तथा राज्य में मुख्यमन्त्री से परामर्श लिया जा सकता है। संविधान के अनुसार पदोन्नति सम्बन्धी नियम लोक सेवा आयोग द्वारा बनाए जाते हैं तथा सरकार उनके अनुसार कार्य करती है। भारत में पदोन्नति की प्रक्रिया निम्न प्रकार है-

भारतीय असैनिक सेवाओं के उच्च प्रशासकीय पदों, सचिव, संयुक्त सचिव (Joint Secretary) तथा केन्द्रीय राजस्व बोर्ड (Central Board of Revenue) के सदस्यों की आय के पदों के लिए पदोन्नति केन्द्रीय समुच्चय प्रणाली (Central Pool System) द्वारा की जाती है। प्रत्येक राज्य में एक कार्यसमिति की स्थापना की जाती है। राज्य में असैनिक सेवाओं के ज्येष्ठ (Senior) पदाधिकारी इसके सदस्य जो प्रायः राज्य के पदासीन अखिल भारतीय प्रशासकीय सेवाओं (I. A. S.) के ज्येष्ठ अधिकारी होते हैं तथा लोकसेवा आयोग का अध्यक्ष या एक सदस्य इस समिति का सभापति होता है। समिति राजकीय लोक-सेवाओं (State Civil Services) के कर्मचारियों जिन्हें वह पदोन्नति के उपयुक्त समझे, की एक सूची तैयार करती है। सूची को तैयार करते समय योग्यता एवं ज्येष्ठता दोनों को सम्मुख रखा जाता है। यदि कोई ज्येष्ठ कर्मचारी अयोग्य हो तो उसके अधीन कार्य करने वाले कर्मचारी को पदोन्नति के योग्य मान लिया जाता है तथा उसका नाम उस सूची के अन्त में लिख दिया जाता है। इसके पश्चात् समिति अपनी सिफारिश समेत उस सूची को राज्य सरकार के माध्यम से केन्द्रीय सरकार को भेज देती है। केन्द्रीय स्तर पर जब भी कोई स्थान रिक्त हो, उसकी पूर्ति उस सूची में से क्रमानुसार पदोन्नति करके ही कर दी जाती है। प्रशासनिक सुधार आयोग ने राज्य लोकसेवाओं से अखिल भारतीय सेवाओं में पदोन्नति करने की संख्या को 25% से बढ़ाकर 40% कर देने का सुझाव दिया था और इसी तरह राज्य सरकार भी इस बात की मांग कर रही है। यह मामला केन्द्रीय सरकार के विचाराधीन है।

केन्द्रीय सचिवालय के प्रत्येक विभाग (Ministry) में पदोन्नति विभागीय पदोन्नति समिति द्वारा की जाती है। इस समिति के सदस्य विभाग के ज्येष्ठ कर्मचारी होते हैं तथा संघ लोकसेवा आयोग का एक सदस्य इसका सभापति होता है। यह उपयुक्त कर्मचारियों की सूची तैयार करती है तथा इसे संघ लोकसेवा आयोग की स्वीकृति के लिए भेज देती है क्योंकि संविधान में यह व्यवस्था की गई है कि एक से दूसरे पद के लिए पदोन्नति लोकसेवा आयोग के परामर्श से की जानी चाहिए। विभाग के उपाध्यक्ष द्वारा संघ लोकसेवा आयोग द्वारा स्वीकृत की गई सूची अनुसार पदोन्नतियां प्रदान की जाती हैं। यदि किसी विभाग का अध्यक्ष सूची में परिवर्तन करना चाहे या किसी बाहर के कर्मचारी को पदोन्नत करना चाहे तो उसे कारण सहित आयोग को सूचित करना पड़ता है। तीसरा वेतन आयोग द्वारा भी पदोन्नति के सम्बन्ध में पदोन्नति समिति अथवा बोर्ड द्वारा प्रवर की व्यवस्था को विशेष महत्त्व दिया गया है तथा इसे कर्मचारियों को ज्येष्ठ कर्मचारियों की तानाशाही से सुरक्षित रखने और

कर्मचारियों में द्वेष की भावना को रोकने का उचित साधन करार दिया गया है। इस प्रणाली को कई राज्यों में भी अपनाया गया है। केन्द्र तथा राज्य स्तर पर त तीय श्रेणी के कर्मचारियों की पदोन्नति विभागीय परीक्षा के आधार पर की जाती है।

भारत की पदोन्नति प्रणाली में दोष
(Defects of the Promotion System in India)

भारत की पदोन्नति प्रणाली वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित नहीं है। इस प्रणाली से लोकसेवाएं सन्तुष्ट नहीं। यद्यपि ज्येष्ठता एवं योग्यता के सिद्धान्तों को सैद्धान्तिक रूप में अपनाया गया है तथापि व्यावहारिक रूप में इनका प्रयोग उचित ढंग से नहीं किया जाता। इस प्रणाली के दोषों का अध्ययन निम्न प्रकार से किया जा सकता है-

1. कर्मचारियों की योग्यता का मूल्यांकन करने के लिये कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है। कुछ विभागों में कर्मचारियों की योग्यता तथा कार्यों का सेवा अभिलेख (Service Record) रखा जाता है, परन्तु इन अभिलेखों को इतना गुप्त रखा जाता है कि कर्मचारियों को केवल तभी सूचित किया जाता है जब उन्हें चेतावनी (Warning) दी जाती है या उन पर कोई अयोग्यता का दोष लगाया जाता है। सेवा अभिलेखों के मूल्यांकन के विरूद्ध प्रायः अपील करने के कम अवसर दिये जाते हैं।
2. साधारणतया निम्न वर्गों में पदोन्नति ज्येष्ठता के सिद्धान्त पर की जाती है इससे योग्य पदाधिकारियों को उन्नति करने का अवसर नहीं मिलता।
3. पदोन्नति सम्बन्धी समितियों अथवा बोर्डों की अनुपस्थिति के कारण पदोन्नति प्रदान करने का अधिकार ज्येष्ठ पदाधिकारियों के हाथ में निहित होता है, इसलिए पक्षपात का डर है। विभागों के अध्यक्षों द्वारा पदोन्नति प्रदान करने के सम्बन्ध में प्रायः शंका की जाती है। कभी-कभी विभागीय अध्यक्ष अपनी शक्ति का ऐसा दुरूपयोग करते हैं कि वे नीचे के कर्मचारियों के प्रार्थना-पत्रों को अग्रस्थ (Forward) नहीं करते।
4. कर्मचारियों को पदोन्नति सम्बन्धी निर्णयों के विरूद्ध अपील करने के लिये प्रभावशाली अधिकार नहीं दिया जाता।
5. कर्मचारियों से सम्बन्धित अभिलेख उचित रूप में नहीं रखे जाते तथा विभागों के अध्यक्ष अपने पूर्वाधिकारियों द्वारा दी गई टिप्पणियों (Remarks) के बिना निरीक्षण किये ज्यों का त्यों मान लेते हैं। वे अपनी बुद्धि का प्रयोग नहीं करते तथा अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के बारे में उन्हीं टिप्पणियों (Remarks) के आधार पर विचार बना लेते हैं।
6. इस प्रणाली में एक और गम्भीर त्रुटि यह भी है कि पदोन्नति के समय कर्मचारी के सम्बन्ध में उसके समस्त सेवा अभिलेख को समक्ष रखने की अपेक्षा उसके अन्तिम कुछ वर्षों के अभिलेख पर ही विचार किया जाता है।
7. यद्यपि संविधान द्वारा पदोन्नति के सम्बन्ध में लोकसेवा आयोग का परामर्श लेने की व्यवस्था की गई है, परन्तु यह केवल उच्च पदों की नियुक्ति के लिए ही लिया जाता है और उसमें भी अन्तिम निर्णय करने की शक्ति सरकार के हाथ में है।
8. इस प्रणाली में कर्मचारियों की पदोन्नति के समय उनके दोषों को तो सम्मुख रखा जाता है, परन्तु उसके गुणात्मक रूप की ओर इतना ध्यान नहीं दिया जाता।
9. पदोन्नति प्रायः गोपनीय प्रतिवेदन (Confidential Report) के आधार पर की जाती है जो कि साधारणतया विश्वसनीय नहीं होती, क्योंकि उच्च अधिकारी इन गोपनीय प्रतिवेदन को निष्पक्ष होकर नहीं लिखते तथा कर्मचारियों के प्रशासकीय सम्बन्धों की अपेक्षा निजी-व्यवहार के आधार पर लिखते हैं।
10. कर्मचारियों की योग्यता का अभिलेख रखने के लिए वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक नियमों को नहीं अपनाया जाता। उनके अभिलेखों का नवीन खोजों के आधार पर मूल्यांकन नहीं किया जाता।

सुझाव
(Suggestions)

1. पदोन्नति के लिए प्रत्येक विभाग में स्वतन्त्र समितियों की स्थापना करनी चाहिए तथा इन समितियों के सदस्य विभागीय अध्यक्षों से स्वतन्त्र होने चाहिए।

2. कर्मचारियों के सेवा अभिलेखों को वैज्ञानिक रूप में रखना चाहिए। यदि किसी कर्मचारी के विरुद्ध कोई टिप्पणियां (Remarks) लिखी गई हों तो उसे सूचित करना चाहिए और उसे अपील करने का अवसर प्रदान करना चाहिए।
3. पदोन्नति के सम्बन्ध में अपील करने के लिए विशेष यन्त्र की व्यवस्था करनी चाहिए।
4. पदोन्नति के सम्बन्ध में स्थानों की सूचना कर्मचारियों को समयानुसार देनी चाहिए तथा उन्हें अपना अधिकार प्रस्तुत करने का अवसर देना चाहिए।
5. यदि किसी पदोन्नति सम्बन्धी समिति या बोर्ड द्वारा दिए गए परामर्श से विभागीय अध्यक्ष या ज्येष्ठ अधिकारी सहमत न हो तो उस पर विस्त त रूप से विचार-विमर्श करके निर्णय लेना चाहिए।
6. उच्च पदों के लिए योग्यता को मौलिक आधार मानना चाहिए तथा कर्मचारियों को प्रतियोगिता में अधिक से अधिक अधिकार देना चाहिए।
7. पदोन्नति के सम्बन्ध में प्रत्येक स्तर पर प्रतियोगिता परीक्षाओं की व्यवस्था करनी चाहिए तथा प्रत्येक स्तर पर प्रत्यक्ष भर्ती तथा पदोन्नति द्वारा भर्ती में अनुपात निश्चित करना चाहिए।

अध्याय-23
नियोक्ता-कर्मचारी सम्बन्ध
(Employer-Employee Relations)

नियोक्ता-कर्मचारी सम्बन्धों की व्याख्या निम्न तीन शीर्षकों के अन्तर्गत की जा सकती है:

1. संघ बनाने के अधिकार (Right to Association)
2. हड़ताल के अधिकार (Right to Strike)
3. विवादों पर वार्ता करने और निपटाने के साधन (Machinery for Negotiation and Settlement of Disputes)

संघ बनाने का अधिकार
(Right to Association)

संघ बनाने के अधिकार से निम्नलिखित तीन समस्याएँ सम्बन्धित हैं-

1. क्या लोक कर्मचारी अपने संघ बना सकते हैं?
2. क्या यह संघ बाहर की ट्रेड यूनियनों से सम्बद्ध हो सकते हैं?
3. क्या यह संघ राजनैतिक दलों से सम्बन्धित हो सकते हैं?

भारतः पश्चिमी देशों के ट्रेड यूनियन आन्दोलन से प्रभावित होकर प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त भारत में भी ट्रेड यूनियनवाद की शुरूआत हुई। सबसे पहले 1922 में रेलवे कर्मचारी संघ स्थापित किया गया। उसके तुरन्त बाद डाक-तार विभाग के कर्मचारियों ने अपना अखिल भारतीय संघ स्थापित किया। इस संघ को क्रमशः रेलवे बोर्ड के प्रबन्धक तथा डाक एवं तार विभाग के मुख्य संचालक द्वारा मान्यता प्रदान की गयी। सन् 1926 में भारतीय ट्रेड यूनियन अधिनियम (Indian Trade Union Act, 1926) पास किया गया। इसके द्वारा ट्रेड यूनियनों को कानूनी स्तर प्रदान किया गया। इसके बाद तो सरकार के कई विभागों के संघों की स्थापना की गयी है। भारत के नये संविधान द्वारा नागरिकों को संगठन बनाने की स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है परन्तु यह एक असीमित अधिकार नहीं है।

भारत में वर्तमान स्थिति यह है कि लोक सेवक किसी भी ऐसे सेवा संघ का सदस्य नहीं बन सकता जिसे अस्तित्व में आने के छः माह के भीतर ही सरकार द्वारा मान्यता देने से मना कर दिया गया हो, या उसकी मान्यता वापस ले ली गयी हो।

किसी संघ को मान्यता निम्नलिखित शर्तों पर दी जाती है-

1. कोई गैर-सरकारी कर्मचारी उस संघ से सम्बन्धित न हो,
2. संघ का अध्यक्ष केवल सदस्यों में से ही नियुक्त किया जाए, तथा
3. संघ किसी राजनीतिक दल का प्रचार नहीं करेगा।

प्रश्न यह है कि भारत में सरकारी कर्मचारियों को संघ बनाने के अधिकार से क्यों वंचित रखा गया है, जबकि भारत का संविधान सभी नागरिकों को संघ बनाने का अधिकार प्रदान करता है। उनके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही केवल इसी कारण क्यों की जानी चाहिए कि वे ऐसे संघों के सदस्य हैं जिन्हें सरकार द्वारा मान्यता नहीं दी गयी? भारत में स्थिति यह है कि सरकार को अपने विवेकानुसार मान्यता देने या न देने की स्वतन्त्रता है। इस पर टीका-टिप्पणी करते हुए द्वितीय वेतन आयोग ने कहा था 'किसी अमान्य संघ की सदस्यता मात्र ही अनुशासनात्मक अपराध नहीं माना जाना चाहिए।..... जहां तक संघों की मान्यता

का सम्बन्ध है, सरकार द्वारा बनाये गये नियम हमें कुछ कठोर मालूम पड़ते हैं। कर्मचारियों के संघ सफलतापूर्वक काम कर सकें, इसके लिए आवश्यक है कि मान्यता के लिए युक्ति-संगत शर्तें हो।"

भारत में कर्मचारियों के कुछ प्रमुख संघ इस प्रकार हैं-

1. केन्द्रीय सचिवालय संगठन,
2. रक्षा मुख्य कार्यालय संगठन,
3. भारत सरकार अधीनस्थ तथा संलग्न विभागीय संगठन,
4. भारतीय लेखा परीक्षण तथा लेखांकन सेवा कर्मचारी संघ,
5. आयकर अधिकारी संघ,
6. अखिल भारतीय रेलवे कर्मचारी संघ,
7. अखिल भारतीय पोस्टमैन तथा निम्न श्रेणी स्टाफ संघ,
8. अखिल भारतीय रेल-डाक सेवियों का संघ (All India Post and R.M.S. Union),
9. अखिल भारतीय तार कर्मचारी संघ, इत्यादि।

हड़ताल के अधिकार

(The Right to Strike)

औद्योगिक क्षेत्र में श्रमिक संघों को अपने वेतन की व द्धि, काम की दशाएं सुधारने आदि के बारे में की जाने वाली मांगों को पूरा करने का अधिकार होता है किन्तु ऐसा अधिकार लोक सेवकों के संघों को प्राप्त नहीं है। हड़तालों के सम्बन्ध में अलग-अलग देशों में अलग-अलग स्थिति है।

भारतः भारत में कर्मचारियों की जो हड़तालें आज़ादी के बाद के समय में होती रही हैं उन हड़तालों के परिणामस्वरूप शासन के सम्मुख चुनौतीपूर्ण स्थिति का निर्माण हुआ है। सन् 1960 के जुलाई माह में केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों ने आम हड़ताल कर दी। केन्द्रीय सरकार के विरुद्ध यह कोई पहली हड़ताल नहीं थी। इससे पूर्व भी हड़तालें हो चुकी थीं। इस प्रकार की हड़तालें राज्यों में भी होती रही हैं। उत्तर प्रदेश में पटवारियों की हड़ताल काफी प्रसिद्ध है, और अब तो यह मर्ज देश के डॉक्टरों तथा पुलिस कर्मियों को भी सताने लगा। सन् 1974 में 8 मई से प्रारम्भ हुई रेल कर्मचारियों की हड़ताल तो और भी भयंकर थी। इस हड़ताल में 17 लाख कर्मचारी शामिल थे। हड़तालियों की मांग थी कि वेतन में 75% की व द्धि होनी चाहिए एक माह के वेतन के बराबर बोनस मिलना चाहिए और 8 घण्टे का दिन होना चाहिए।

हड़ताल के अधिकार के सम्बन्ध में द्वितीय वेतन आयोग की राय इस प्रकार हैः 'हमारा यह निश्चित विचार है कि लोक सेवकों द्वारा हड़ताल का आश्रय लेना या उसकी धमकी देना सर्वथा गलत है। यह और भी गलत है कि जिन्हें समुदाय के जीवन के लिए आवश्यक सेवाओं के प्रवर्तन का उत्तरदायित्व सौंपा गया है, वे स्वयं अपने हित साधन के लिए उन सेवाओं में विघ्न उपस्थित करें तथा उनका विघटन करने का प्रयत्न करें। इस नैतिक पक्ष के अतिरिक्त भारत में, जहां समाज के किसी न किसी वर्ग में अनुशासनहीनता के भीषण विस्फोट की सम्भावना प्रायः बनी रहती है, सरकारी सेवकों की हड़तालों या प्रदर्शनों से सामान्य रूप में अनुशासनहीनता के लिए निश्चित ही मार्ग प्रशस्त होता है।"

इसी प्रकार प्रशासकीय सुधार आयोग (1966-70) ने अपने प्रतिवेदन में लोक सेवकों द्वारा हड़ताल पर पूर्ण निषेध का प्रस्ताव किया। आयोग के अनुसार, "हमारा यह सुनिश्चित मत है कि शासकीय विभागों में हड़तालों के लिए कोई स्थान नहीं है। शासकीय अधिकारी को, प्रशासन का अंग होने के कारण, समाज में विशेष स्थिति प्राप्त है। उसके स्पष्ट एवं सक्षम कार्य-संचालन पर समाज का ही कल्याण नहीं अपितु जीवन भी निर्भर होता है। वह किसी भी स्थिति में कार्य क्यों न करें, उसके कार्य एवं आचरण का जनता पर सीधा प्रभाव पड़ता है। इससे उसे विशिष्ट स्थिति प्राप्त हो जाती है। फलस्वरूप, वह सत्ता एवं सम्मान का अधिकारी होता है। अतः समाज उससे एक आदर्श नागरिक की भांति आचरण करने की सहज में अपेक्षा करता है जिससे उसके किसी कार्य से समाज का अहित न हो। शासकीय अधिकारियों को अपनी वैयक्तिक या सामूहिक शिकायतों को दूर करने के लिए अनिवार्यतः विचार-विमर्श के उपयुक्त माध्यम के ही प्रयोग का प्रयत्न करना चाहिए। उन्हें

किसी अवस्था में प्रशासन के शान्तिपूर्वक कार्य-संचालन को अव्यवस्थित करने वाले विध्वंसक तरीके नहीं अपनाने चाहिए।

लोक सेवकों के हड़ताल के अधिकार के पक्ष में तर्क-प्रसिद्ध लेखक डब्लू० ई० मोशर इस विचार के समर्थक हैं कि लोक कर्मचारियों को हड़ताल करने का अधिकार दिया जाए। उनके शब्दों में, "लोक सेवा नियमों द्वारा हड़ताल का निषेध न तर्कशास्त्र और न राजनीतिक दर्शन में ही न्यायसंगत कहा जा सकता है..... कर्मचारियों के किसी समूह को असहनीय परिस्थितियों के विरुद्ध हड़ताल करने का अधिकार न देने का अर्थ है उन्हें दासता के स्तर तक पहुँचा देना।"

1. **न्यायसंगत एवं स्वाभाविक माँग:** हड़ताल का अर्थ है अपना शारीरिक अथवा मानसिक श्रम स्थगित करना। इनका अधिकार सबको मिलना चाहिए। किसी व्यक्ति को उसकी इच्छा के खिलाफ काम करने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता।
2. **प्रजातन्त्र की माँग:** सभी को अपने काम करने की असहनीय परिस्थितियों के बारे में विरोध प्रदर्शन करने का अधिकार दिया जाना चाहिए।
3. **गैरसरकारी कर्मचारियों से समानता:** सरकारी कर्मचारियों या निजी उद्यमों के कर्मचारियों के बीच कोई भेद नहीं होना चाहिए, ताकि वे अपने कष्टों के प्रति जन-चेतना जाग्रत कर सकें और अपने कष्ट निवारण के लिए लोक समर्थन प्राप्त कर सकें।
4. **एक नियोक्ता** (Employer) **तथा एक सम्प्रभुता सम्पन्न** (sovereign) **राज्य में अन्तर:** एक नियोक्ता के रूप में राज्य के खिलाफ हड़ताल करने से एक सम्प्रभुता सम्पन्न संस्था के रूप में राज्य की गरिमा को कोई धक्का नहीं पहुँचना। राज्य के इन दोनों स्वरूपों में स्पष्ट भेद किया जाना चाहिए।

लोक सेवकों के हड़ताल के अधिकार के विपक्ष में तर्क: राजकीय कर्मचारियों को हड़ताल के अधिकार से वंचित करने के कई कारण हैं:

1. सार्वजनिक कर्मचारियों द्वारा हड़ताल जनता में अस्वस्थता, अनैतिकता, असुविधाओं का एक अनिश्चित एवं अनिर्णीत वातावरण उत्पन्न कर देती है।
2. इस सम्बन्ध में कुछ व्यक्तियों का यह कहना है कि सेवाओं में प्रदत्त सुरक्षा की स्थिति को देखकर सरकारी-कर्मचारियों का यह अधिकार व्यापक समर्थन प्राप्त नहीं कर सकता।
3. सरकार सार्वजनिक हित के बहुत-से ऐसे कार्य करती है जो कर्मचारियों द्वारा हड़ताल की स्थिति में सम्पन्न नहीं हो सकते और जिनके न होने से सरकार असफल सिद्ध हो जायेगी तथा सार्वजनिक हित विक्षिप्त हो जायेगा।
4. भारत के सन्दर्भ में ही चर्चा की जाये तो भारत में आज 40% लोग गरीबी की रेखा से नीचे जीवन व्यतीत कर रहे हैं। यदि प्रति व्यक्ति वार्षिक औसत आय को देखा जाए तो इतनी कम है कि आज का छोटे से छोटा शासकीय कर्मचारी आम व्यक्ति की तुलना में अच्छा है। भारत में प्रति व्यक्ति औसत आय 3,835 रुपये वार्षिक से अधिक नहीं है। उसकी तुलना में चतुर्थ वेतन आयोग के अनुसार केन्द्रीय कर्मचारी का न्यूनतम वेतन 750 रुपये मासिक निर्धारित किया गया है। जो कर्मचारी वर्ष में 9,000 रुपये पाता है उसको भारत में हड़ताल करने का अधिकार कैसे प्राप्त हो सकता है? शासकीय कर्मचारी एक प्रकार से विशेष सुविधा प्राप्त व्यक्ति है। शासकीय सेवा के लिए लोग तरसते हैं। लगभग सभी देशों के कर्मचारियों को जो वेतन मिलता है वह उस देश में प्रति व्यक्ति की औसत आमदनी से अधिक हो जाता है। जब कर्मचारी अधिक वेतन प्राप्त करता है तो और भी अधिक वेतन के लिए या और भी अधिक सेवा शर्तों के लिए हड़ताल करना कैसे उचित ठहराया जा सकता है?

फ्रेंकलिन रूजवेस्ट ने अमेरिका के संघीय कर्मचारियों को 1937 में लिखा था- .....कर्मचारियों द्वारा हड़ताल का सुस्पष्ट अर्थ इसके सिवा और कुछ नहीं हो सकता कि वे अपनी ओर से सरकार के कार्य संचालन में उस समय तक बाधा उपस्थित करना चाहते हैं जब तक कि उनकी माँगें पूरी नहीं हो जाती हैं। सरकार का समर्थन करने की उन्होंने शपथ ली है। उनके द्वारा सरकार को निष्क्रिय करने वाले कार्य के सम्बन्ध में न तो सोचा है, और न ही उसे सहन किया जा सकता है।"

बी० शिवाराव के अनुसार, "सरकारी कर्मचारियों की कोई भी सामान्य हड़ताल, भले ही उसके नेता उसका वर्णन किसी प्रकार करें, एक राजनीतिक हथियार है। इसके सफल होने का तात्पर्य है प्रशासन का ठप्प हो जाना, जिसकी अनुमति कोई सरकार

नहीं दे सकती।" डॉ० ए० अवस्थी के अनुसार, "लोक कर्मचारियों द्वारा की गयी कोई भी हड़ताल एक प्रकार की पिस्तौल है जिसका लक्ष्य वे लोग हैं जिनकी सेवा करने के लिए ये कर्मचारी नियुक्त किये जाते हैं।"

निष्कर्ष: लोक सेवकों के हड़ताल के अधिकार के समर्थक हड़ताल से कई लाभ गिनाते हैं:

1. प्रबन्धक तथा सेवा योजकों के मध्य जो सम्बन्ध श्रंखला है उसके विषय में सरकार को तुरन्त विचार करने के लिए विवश होना पड़ता है।
2. वे सरकार के चिन्तन एवं सुधार हेतु सामग्री प्रस्तुत करते हैं, सम्भवतः यही कारण है कि उत्तरोत्तर उनके प्रति सरकार का द ष्टिकोण उदारवादी बनता जा रहा है।
3. हड़ताल ने सरकार को कर्मचारी संघों की उपयोगिता को अनुभव करने के लिए विवश किया है। उन अनुभवों के प्रकाश में विविध-प्रशासकीय संशोधनों एवं शोधों को जन्म मिला है। प्रशासकीय संस्थानों में कर्मचारियों से सम्बन्धित समस्याओं पर विचार करने के लिए सरकार विवश हुई है, कर्मचारियों की सेवाओं में उत्तरोत्तर संशोधन एवं सुधार हुआ है।

लोकमत लोक कर्मचारियों द्वारा हड़ताल के पक्ष में नहीं है और हड़तालों पर प्रतिबन्ध का समर्थक है। प्रशासकीय सुधार आयोग के मतानुसार, 'शासकीय विभागों में हड़ताल गम्भीर घटना है और यह आवश्यक है कि उसे विधि द्वारा दण्डनीय अपराध घोषित किया जाना चाहिए।' प्रशासनिक सुधार आयोग (A.R.C.) ने केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्मित 1968 के अनिवार्य सेवा सरक्षण अधिनियम (Essential Services Maintenance Act, 1968) का स्वागत किया, जिसके द्वारा शासन को अनिवार्य सेवाओं के सन्दर्भ में की गयी हड़तालों के दण्डित करने का अधिकार दिया गया, एवं निषिद्ध हड़तालों में भाग लेने तथा उनको प्रोत्साहित एवं आर्थिक सहायता देने वालों को भी दण्डित करने की व्यवस्था की गयी है। इसी द ष्टिकोण का समर्थन करते हुए लिओनार्ड ह्वाइट ने लिखा है कि "ऐसी हड़ताल को, जो समुदाय के किसी प्रमुख हित के लिए सीधा, तत्काल, निश्चित तथा गम्भीर संकट उत्पन्न करने वाली हो, कानून द्वारा निषिद्ध कर देना चाहिए।" अभी तमिलनाडू राज्य में सरकारी कर्मचारियों की हड़ताल को भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने 6 अगस्त, 2003 के फैसले में इसे अवैधानिक और अनैतिक करार दिया। कर्मचारियों को अपनी शिकायतों/समस्याओं का निवारण निर्धारित मशीनरी के माध्यम से करना चाहिए।

विवादों पर वार्ता करने और निपटने के साधन

(Machinery for Negotiation and Settlement of Disputes)

लोकमत सरकारी कर्मचारियों की हड़तालों का विरोध करता है। हड़ताल के साधन को यदि अनुचित और गैर-कानूनी भी घोषित कर दिया जाये तो यह मानना होगा कि कर्मचारियों तथा शासन के मध्य पैदा हुए विवाद को सुलझाने का कोई अन्य प्रभावकारी तरीका तो होना ही चाहिए। यदि बातचीत एवं सुलह के लिए कोई निर्धारित यन्त्र नहीं है तो शासक व कर्मचारी के पारस्परिक मतभेद बढ़ते जाते हैं और वातावरण ऐसा दूषित हो जाता है कि कार्य सम्पादन ही असम्भव हो जाता है। इंग्लैण्ड में बातचीत और सुलह के लिए एक यन्त्र विकसित किया गया है, उस यन्त्र या निकाय को 'ह्विटले परिषद' (Whitely Council) के नाम से पुकारा जाता है। इंग्लैण्ड में ह्विटले परिषदों का बहुत प्रवचन है। अन्य देशों में भी इस प्रकार की परिषदों का प्रचलन बढ़ता जा रहा है।

भारत में संयुक्त सलाहकार तन्त्र

(Joint Consultative Machinery in India)

भारत में संयुक्त सलाहकार प्रणाली का उद्गम हाल ही में हुआ है। किन्तु केन्द्रीय सरकार में व्हिटले परिषदों जैसे तन्त्र की स्थापना के लिए कर्मचारियों की माँग भारत में ब्रिटिश शासनकाल के समय से चली आ रही थी। पहली बार 1928 में शाही सचिवालय एसोसिएशन (Imperial Secretariat Association) ने, जो केन्द्रीय सचिवालय में कार्यरत लोक पदाधिकारियों की स्टाफ़ एसोसिएशन थी, भारत में व्हिटले परिषदों की स्थापना की माँग की। यह माँग 1942 में दोहराई गई। दोनों अवसरों पर ग ह विभाग ने (जो असैनिक सेवाओं सम्बन्धी मामलों से निपटता था) यह अनुरोध ठुकरा दिया। 1931 में भारत में श्रम सम्बन्धी शाही आयोग (Royal Commission on Labour in India) ने रेलवे के लिए एक संयुक्त सलाहकार तन्त्र की स्थापना की सिफ़ारिश की लेकिन वह भारत में व्हिटलेवाद के प्रचलन के मुद्दे पर मौन था। यह बात इस द ष्टि से आश्चर्यजनक है कि इसके अध्यक्ष स्वयं जे० एच० व्हिटले (J.H. Whitley) ही थे, कोई और नहीं। 1945 में सर रिचर्ड टॉटनहेम (Sir Richard Tottenham)

ने **केन्द्रीय सरकार के पुनर्गठन पर अपनी रिपोर्ट** (Report on the Reorganisation of Central Government) में सचिवालय में व्हिटले परिषद् प्रणाली लागू करने की सिफ़ारिश की, किन्तु सरकार ने इस सिफारिश को कार्यरूप नहीं दिया।

प्रथम वेतन आयोग (1946) से अन्य मुद्दों के अलावा सेवा शर्तों, जिन पर सरकार और उसके कर्मचारियों में मतभेद हो सकते हैं, बारे बातचीत के लिए एक तन्त्र की स्थापना बारे रिपोर्ट देने को भी कहा गया। 1947 में दी गई अपनी रिपोर्ट में आयोग ने इस समस्या के प्रति अपना सामान्य द ष्टिकोण व्यक्त करते हुए कहा कि सरकार को अपने कर्मचारियों को इस बात का कायल करने का महत्त्व समझना चाहिए कि कर्मचारियों की अभ्यर्थनाओं और शिकायतों पर तुरन्त ध्यान दिया जाएगा। "हम इस नुक्ते पर विशेष बल इसलिए देते हैं कि हमारे समक्ष प्रस्तुत साक्ष्य से यह बात स्पष्ट हुई है कि लोक सेवकों की अधिकतर श्रेणियों में अपनी अभ्यर्थनाओं के मामले में निराशा की तो बात ही क्या, एकदम अविश्वास की भावना है।" आयोग इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि "स्टाफ़ तथा सरकार के बीच सहयोग, सलाह-मशविरे, विचार-विमर्श और बातचीत के लिए किसी न किसी प्रकार के तन्त्र को हमेशा कार्यशील रखा जाना चाहिए"। इसके अलावा यह सोचना गलत होगा कि व्हिटले प्रणाली में कुछ ऐसा है जिसे उपयोगी ढंग से भारत में लागू नहीं किया जा सकेगा। अतः आयोग ने सरकारी कर्मचारियों के लिए, प्रथम श्रेणी के कर्मचारियों को छोड़कर, व्हिटले परिषदों के ढंग पर संयुक्त परिषदों की स्थापना की। आयोग ने और आगे जाकर 'व्यावहारिक तथा आधिकारिक राय' पर आधारित चार मुख्य सिद्धान्तों की उद्घोषणा की-

1. राज्य तथा उसके कर्मचारियों के बीच मतभेदों के समायोजन (adjustment) में सर्वोत्तम रास्ता इन मतभेदों को विवाद का रूप धारण करने से रोकता है।
2. जब कोई प्रश्न विवाद का रूप धारण कर ले तब भी सबसे अच्छा तरीका दोनों पक्षों के बीच वार्ता द्वारा इसका समाधान ढूंढने का है।
3. किन्तु यदि बाहरी मदद लेना ही जरूरी हो जाए तो यह पंच निर्णय की बजाए मध्यस्थता अथवा विचार-विमर्श के लिए होनी चाहिए, और अन्त में
4. यदि बातचीत के सभी प्रयास विफल हो जाएं तो अनिवार्य की बजाए स्वैच्छिक (voluntary) सन्दर्भ द्वारा पंच निर्णय लिया जाए।

भारत सरकार ने 1952 में ये सिफ़ारिशें स्वीकार कीं और दो वर्ष बाद वास्तविक योजना लागू की गई।

स्टाफ़ परिषदें (Staff Councils): ग हमन्त्री ने स्टाफ़ समितियां स्थापित करने के लिए सभी मन्त्रालयों को निर्देश जारी किए। स्टाफ़ समितियों की संरचना और स्वरूप के बारे में नमूने के निर्देश भी मन्त्रालयों में प्रचारित किए गए। किन्तु उनमें आवश्यक संशोधन करना मन्त्रालयों पर छोड़ दिया गया। 1957 में इन स्टाफ़ समितियों का नाम बदल कर स्टाफ़ परिषदें कर दिया गया।

हरेक मन्त्रालय में दो स्टाफ़ परिषदें थीं-

1. द्वितीय श्रेणी और तीसरी श्रेणी के कर्मचारियों के लिए सीनियर स्टाफ़ परिषदें तथा
2. चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों के लिए जूनियर स्टाफ़ परिषदें।

सीनियर स्टाफ़ परिषद् का गठन सम्बद्ध विभाग के सचिव या संयुक्त सचिव स्तर के अधिकारी की अध्यक्षता में किया गया और सरकारी प्रतिनिधि मन्त्रालय द्वारा नियुक्त किए गए लेकिन वे कभी भी अवर-सचिव (under-secretary) से कम दर्जे के नहीं थे। उनसे कुछ अधिकारी भी जोड़े गए और अधीनस्थ (subordinate) अधिकारी भी मनोनीत किए गए। स्टाफ़ पक्ष को स्टाफ़ के सदस्यों द्वारा अपने में से ही चुना गया लेकिन इन चुनावों में सीटों की संख्या विभिन्न श्रेणियों को अलाट की गई अर्थात् सैक्शन आफ़िसरों, सीनियर असिस्टेंटों, असिस्टेंटों, अपर डिवीज़न क्लर्कों आदि को। स्टाफ़ के प्रतिनिधियों का एक सचिव भी स्टाफ़ के सदस्यों के साथ सलाह-मशविरे के बाद परिषद् के अध्यक्ष द्वारा नियुक्त किया जाता था।

जूनियर स्टाफ़ परिषदों की संरचना भी लगभग इसी ढंग पर थी लेकिन एक अन्तर यह था कि सरकार की ओर से अपेक्षाकृत निचले दर्जे के अधिकारी इनमें शामिल होते थे। इन परिषदों के अध्यक्ष सम्बद्ध मन्त्रालय के उपसचिव होते थे। स्टाफ़ के प्रतिनिधियों को स्टाफ़-सदस्यों के दो ग्रुपों में से चुना जाता था। एक ग्रुप दफ्तरियों तथा रिकार्ड-कीपरों का था जबकि दूसरा ग्रुप चपड़ासियों, जमादारों आदि का था। हर ग्रुप सैक्शन आफ़िसर के दर्जे के एक और सरकारी सेवक भी अपने द ष्टिकोण को उपयुक्त ढंग से प्रस्तुत करने के लिए चुनता था।

लक्ष्य और उद्देश्य (Aims and Objectives): स्टाफ़ परिषदों के उद्देश्य लगभग व्हिटले परिषदों जैसे ही थे। किन्तु उनका झुकाव पदोन्नति, पुनर्गठन, प्रशिक्षण आदि जैसी गम्भीर गतिविधियों को हाथ में लेने की बजाए कल्याण-कार्यों सम्बन्धी गतिविधियों की ओर अधिक था। स्टाफ़ परिषदों के मुख्य कार्य इस प्रकार थे-

1. कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए कर्मचारियों की ड्यूटियों के निष्पादन के रास्ते में आने वाली विभिन्न समस्याओं को दूर करने के तरीकों पर विचार और चर्चा करना।
2. स्टाफ़ की शिकायतें सरकार तक पहुंचाने के साधन के रूप में काम करना।
3. एक सांझे मेज़ पर आपसी विचार-विमर्श द्वारा कामकाज का बेहतर वातावरण पैदा करना तथा मामूली गलतफहमियों को दूर करना।
4. कर्मचारियों की उच्च, मध्यम और निचली श्रेणियों के बीच बेहतर तालमेल की व्यवस्था करना।
5. इन परिषदों के माध्यम से कार्य-स्थितियों को बेहतर बनाने और स्टाफ़ के कल्याण के लिए काम करना।

आलोचना (Criticism): स्टाफ़ समितियां तथा परिषदें कोई अच्छे परिणाम पैदा न कर सकीं और वे इंग्लैंड की व्हिटले परिषदों के मुकाबले की नहीं थीं। उनमें अवधारणात्मक, सैद्धान्तिक, रचनात्मक, कार्यात्मक, रुझान सम्बन्धी और मनोवैज्ञानिक कमियां थीं। वे कर्मचारियों के सम्बन्धों को न सुधार सकीं।

कई बार कर्मचारियों ने शिकायत की है कि हिस्सा लेने वाले अधिकारियों का रवैया सहानुभूतिपूर्ण नहीं है और बैठकें भी नियमित रूप से नहीं होती हैं। इसके अलावा इन परिषदों में लिए गए निर्णयों पर भी तुरन्त अमल नहीं किया जाता। 1957-59 के वेतन आयोग ने अपनी रिपोर्ट में टिप्पणी की है कि स्टाफ़ परिषदों और व्हिटले परिषदों के तन्त्र में सिवाए उनके नामों में समानता के प्रायः और कुछ भी सांझा नहीं है। उनके उद्देश्यों की व्यवस्था व्यापक आधार पर की गई है लेकिन उनकी शक्तियां तथा प्रक्रियाएं उनकी प्रभाविता का क्षेत्र सीमित कर देती हैं।

वेतन आयोग के समक्ष साक्ष्य देते हुए कर्मचारी संगठनों ने सरकार तथा कर्मचारियों के बीच विवादों को निपटाने तथा बातचीत के लिए स्थापित वर्तमान तन्त्र के विरुद्ध निम्न प्रकार से आलोचना की थी कि-

1. "विवादों को रोकने के प्रभावी उपस्कर के रूप में संयुक्त विचार-विमर्श के सिद्धान्त" को स्वीकार करने की इच्छा की सरकार में कमी है।
2. जहां कहीं यह तन्त्र अच्छे रूप में विद्यमान भी है, उसे कार्यकुशल ढंग से चलाया नहीं जा रहा।
3. बैठकें नियमित रूप से नहीं होतीं अथवा बैठकों में निर्णय नहीं लिए जाते या लिए गए निर्णयों को तुरन्त कार्यान्वित नहीं किया जाता।
4. प्रशासन का प्रतिनिधित्व करने वाले कुछ अधिकारियों का इस तन्त्र, जिसके बारे में सोचा जाता है कि उनका संचालन उनके द्वारा किया जाना है, के प्रति सही रवैया नहीं।

स्टाफ़ परिषदों के बारे में लिखते हुए वेतन आयोग की रिपोर्ट में आगे कहा गया है, "इन परिषदों को वार्ता-तन्त्र नहीं कहा जा सकता। वास्तविक व्यवहार में वे स्टाफ़ प्रतिनिधियों के लिए अपनी शिकायतें अभिव्यक्त करने और सरकार के प्रतिनिधियों के समक्ष अपना द ष्टिकोण प्रस्तुत करने का मंच मात्र हैं। हमें यह भी विश्वास नहीं कि इन परिषदों को सलाह-मशविरे का तन्त्र प्रस्तुत करने वाली कहा जा सकता है। हमें प्राप्त जानकारी के अनुसार ऐसा प्रतीत नहीं होता कि सरकार इन परिषदों को उनसे सलाह लेने के लिए कोई समस्याएं या सुझाव भेजती हो...इन परिषदों की अवधारणा ही व्हिटले परिषदों से भिन्न है।"

भारत में व्हिटले परिषदों की भारी आवश्यकता है। वेतन आयोग ने अपनी रिपोर्ट में सरकार-कर्मचारी विवादों के निपटारे और बातचीत के लिए निम्न नुक्तों की सिफ़ारिश की है-

एक व्हिटले परिषद् जैसा तन्त्र, जिसमें समूचे केन्द्रीय कर्मचारियों, औद्योगिक तथा गैर-औद्योगिक, दोनों का प्रतिनिधित्व करने वाली केन्द्रीय संयुक्त परिषद् शामिल हो, बातचीत और विवादों के निपटारे के लिए स्थापित किया जाए। केन्द्रीय संयुक्त परिषद् की एक समिति औद्योगिक स्टाफ़ की विशेष समस्याओं से निपट सकती है।

विभागीय संयुक्त परिषदें भी स्थापित की जाएं। संयुक्त वार्ता-तन्त्र के अनुपूरक के रूप में अनिवार्य पंचनिर्णय का प्रावधान भी हो लेकिन यह विकल्प मान्यता प्राप्त एसोसिएशनों के लिए खुला हो तथा केवल वेतन और भत्तों, साप्ताहिक काम के घण्टों और छुट्टी तक सीमित हो। यह प्रावधान केवल उन कर्मचारियों के लिए हो जो वर्तमान द्वितीय श्रेणी के स्तर से ऊपर नहीं हैं।

श्रम मन्त्रालय को स्टाफ़-सम्बन्धों से वास्ता रखने वाले महत्त्वपूर्ण मामलों से सम्बद्ध किया जाए। उसे खास तौर पर प्रस्तावित केन्द्रीय संयुक्त परिषद् से सम्बद्ध किया जाए और वह पंचनिर्णय लेना जरूरी हो जाने पर पंचों के बोर्ड (Board of Arbitrators) का अध्यक्ष नियुक्त करे।

संयुक्त सलाहकार तन्त्र (Joint Consultative Machinery): 1960 में केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों ने 5 दिन की आम हड़ताल की क्योंकि आवश्यकता पर आधारित न्यूनतम जरूरतों तथा महंगाई-भत्ता फार्मूला पर सरकार तथा कर्मचारियों के बीच विवाद नहीं सुलझ सका था और कर्मचारी व्हिटले शैली पर संयुक्त सलाहकार तथा वार्ता-तन्त्र की मांग कर रहे थे। हड़ताल के तुरन्त बाद सरकार ने द्वितीय वेतन आयोग द्वारा की गई भारत में व्हिटले परिषदों जैसे तन्त्र की स्थापना सम्बन्धी सिफ़ारिशों को, तीन चरण की प्रणाली के रूप में स्वीकार करने का फैसला किया।

संयुक्त सलाहकार तन्त्र की योजना 1966 में लागू हो गई। संयुक्त सलाहकार तन्त्र के उद्घाटन को तत्कालीन कैबिनेट सचिव ने भारत में नियोक्ता-नियोजित सम्बन्धों के इतिहास में "एक नए अध्याय का खुलना" करार दिया। यह आशा की गई कि इससे पारस्परिक सद्भाव पैदा होगा और शांतिपूर्ण तरीकों, आपसी विचार-विमर्श तथा बातचीत से विवादों को हल करने के लिए अनुकूल वातावरण पैदा होगा। यह योजना नागरिक सेवा संघवाद (Unionism) के क्षेत्र में नए घटना क्रम, बदलते हुए सामाजिक पर्यावरण, सरकार की बदलती हुई अवधारणा और मानवीय सम्बन्धों के द ष्टिकोण के विकास का परिणाम समझी जाती थी।

यह योजना, जो सरकार के औद्योगिक तथा गैर-औद्योगिक दोनों तरह के कर्मचारियों को अपने दायरे में लेती थी, नियोक्ता के रूप में सरकार और कर्मचारियों के सामान्य निकाय के बीच सांझे हित के मामलों में सहयोग प्राप्ति से सबसे बड़े कदम के रूप में और उनमें सद्भावपूर्ण सम्बन्धों को बढ़ावा देने के उद्देश्य से तैयार की गई थी। इसका उद्देश्य लोक-सेवाओं की कार्यकुशलता को तथा कार्यरत कर्मचारियों के कल्याण को और अधिक बढ़ावा देना था। यह योजना तदर्थ (adhoc), स्वैच्छिक और वर्तमान सुविधाओं की पूरक थी। इस प्रकार यह मुख्यतः कर्मचारियों से साथ सम्बन्धों को सुधारने तथा प्रशासन में कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए अभिप्रेत थी।

सलाहकार तन्त्र राष्ट्रीय परिषद्, विभागीय परिषदों और क्षेत्रीय और/अथवा कार्यालय-परिषदों पर आधारित है। वे सेवा और कार्य की शर्तों, कर्मचारियों के कल्याण और कार्यकुशलता तथा काम के स्तर में सुधार और भर्ती, पदोन्नति तथा अनुशासन से सम्बन्धित मामलों पर विचार करते हैं। उन्हें व्यक्तिगत केसों पर विचार की सख्त मनाही है। इस प्रकार सलाहकार तन्त्र तीन स्तरीय है। लेकिन हरेक स्तर अपनी संरचना तथा कार्यसंचालन में दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र है।

यह द्विपक्षीय निकाय है जिसमें भारत सरकार (सरकारी पक्ष) और कर्मचारी संगठनों (स्टाफ़ पक्ष) के प्रतिनिधि शामिल होते हैं। स्टाफ़ पक्ष में सीटों का वितरण सम्बद्ध स्टाफ़ की श्रेणियों की संख्या और हर संगठन की सदस्य संख्या के आधार पर किया जाता है। किन्तु सरकार किसी भूतपूर्व कर्मचारी को भी, हर व्यक्तिगत केस के गुण-दोषों की जांच के बाद, सदस्य बनने की अनुमति दे सकती है।

राष्ट्रीय परिषद् (National Council): राष्ट्रीय परिषद् शीर्ष स्तर का निकाय है जिसमें सरकारी पक्ष और स्टाफ़ पक्ष के प्रतिनिधि होते हैं। कैबिनेट सचिव राष्ट्रीय परिषद् का अध्यक्ष होता है। सरकारी पक्ष में 25 सदस्य होते हैं जिनकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार करती है। स्टाफ़ पक्ष में अधिकतम 60 सदस्य होते हैं जिन्हें मान्यता प्राप्त स्टाफ़ एसोसिएशनें मनोनीत करती हैं, सीटों का वितरण परिषद् का अध्यक्ष उनके साथ सलाह-मशविरे से करता है। स्टाफ़ पक्ष अपने सदस्यों में से एक नेता को चुनता है। परिषद् के संविधान में परिषद् के एक स्थायी सचिवालय (Secretariat) का प्रावधान है जो अध्यक्ष के नियन्त्रण में काम करता है।

परिषद् दो स्थायी समितियां (Standing Committees) स्थापित कर सकती है जिनमें एक औद्योगिक स्टाफ़ के लिए और दूसरी गैर-औद्योगिक स्टाफ़ के लिए होती है। ये उनके अपने-अपने मामलों से निपटती हैं। परिषदें अपनी शक्तियों में से कोई भी,

यदि वे आवश्यक समझें, काम को तेज़ी से निपटाने के लिए स्थायी समिति को प्रदान कर सकती हैं। इसके अलावा परिषद् और इसकी स्थायी समितियां अपने अधिकार क्षेत्र वाले किसी भी मामले के अध्ययन और उस पर रिपोर्ट देने के लिए उपसमितियां नियुक्त कर सकती है।

राष्ट्रीय परिषद् आमतौर पर केन्द्रीय सरकार पर असर अंदाज होने वाले मामलों से निपटती है। वह किसी एक विभाग के कर्मचारियों के हितों से सम्बन्धित मामलों पर विचार नहीं करती।

परिषद् की साधारण बैठकें जितनी बार आवश्यक हों बुलाई जा सकती हैं लेकिन चार महीने में कम से कम एक बार बैठक अवश्य होनी चाहिए। अध्यक्ष द्वारा अपने तौर पर या सरकारी पक्ष अथवा स्टाफ पक्ष के नेता द्वारा अनुरोध किए जाने पर विशेष बैठक भी बुलाई जा सकती है। परिषद् का जो सदस्य कोई विषय बैठक की विषय सूची में शामिल करवाना चाहता हो, उसे वह विषय एक व्याख्यात्मक ज्ञापन के साथ सचिव को अथवा स्टाफ़ पक्ष के अधिकारी को बैठक की तिथि से 8 सप्ताह पूर्व भेजना पड़ता है। सचिव यह सुनिश्चित करता है कि सुझाये गये विषय परिषद् के अधिकार क्षेत्र में हैं या नहीं। परिषद् द्वारा एक बार निपटा दिया गया मामला अगले 12 महीनों में परिषद् की विषय सूची में दोबारा शामिल नहीं किया जा सकता बशर्ते कि अध्यक्ष विशेष कारणों से उसे शामिल करने की अनुमति न दे दे।

राष्ट्रीय परिषद् की कार्य प्रणाली के अध्ययन से पता चलता है कि परिषद् की बैठकें ही हर वर्ष में औसतन दो से भी कम होती रही हैं। और उसने कुल मद्दों में से तीन-चौथाई पर ही अन्तिम निर्णय लिए हैं। किन्तु अधिकतर वित्तीय मामलों (55%) में दोनों पक्षों के बीच सहमति नहीं हो सकी। इस पर भी समिति प्रणाली की जड़ें गहरी होती जा रही हैं और उसने काम-काज के प्रभावी ढंग से निष्पादन में योगदान किया है।

भारी उथल-पुथल के बावजूद राष्ट्रीय परिषद् ने अपने कुछ उद्देश्यों की पूर्ति की है और यह स्टाफ़ सम्बन्धों तथा सहयोग की एक एक प्रणाली प्रस्तुत करती है स्टाफ़ पक्ष भी राष्ट्रीय परिषद् में पारस्परिक समझौते के माध्यम से भारी संख्या में कर्मचारियों के लिए कुछ राहत प्राप्त कर सका है। परिषद् ने शीर्ष व्यूरोक्रेट्स और मन्त्रियों की स्टाफ़ पक्ष के साथ बैठकों का आधार प्रस्तुत किया है।

विभागीय परिषद् **(Departmental Council):** संयुक्त सलाहकार तन्त्र की योजना में हरेक विभाग के लिए एक विभागीय परिषद् का प्रावधान है लेकिन एक ही मन्त्रालय के अधीन दो या अधिक विभागों के लिए भी एक परिषद् भी हो सकती है। मार्मिक तथा प्रशासनिक सुधार विभाग में केन्द्रीय सचिवालय सेवाओं से निपटने के लिए एक परिषद् है। विभागीय परिषदों का वास्ता उन कर्मचारियों की समस्याओं से होता है जो एक ही मन्त्रालय/विभाग में और विभाग के अधीनस्थ तथा सम्बद्ध कार्यालय में काम कर रहे होते हैं। सम्बद्ध मन्त्रालय का सचिव सरकारी पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है और विभागीय परिषद् का अध्यक्ष होता है। सरकारी पक्ष सरकार द्वारा मनोनीत होता है तथा उसमें हो सकता है कि 10 से अधिक सदस्य न हों। स्टाफ़ पक्ष की सदस्य-संख्या 20 से 30 तक होती है। उनकी ठीक संख्या स्टाफ़ की कुल संख्या तथा विभाग में ग्रेडों और सेवाओं की संख्या पर निर्भर करती है। इस स्टाफ़ पक्ष का चुनाव स्टाफ़ एसोसिएशनों द्वारा तीन वर्ष के लिए किया जाता है।

विभागीय परिषद् की बैठक जितनी बार आवश्यक हो, हो सकती है लेकिन तीन अथवा चार महीनों में कम से कम एक बार अवश्य होनी चाहिए। अध्यक्ष द्वारा इसकी विशेष बैठक भी बुलाई जा सकती है। बैठक का कोरम सरकारी पक्ष तथा स्टाफ़ पक्ष के कुल सदस्यों की संख्या का एक-तिहाई होता है।

विभागीय परिषद् का कार्य-क्षेत्र वही है जो राष्ट्रीय परिषद् का होता है। सलाह-मशविरा केवल साधारण सिद्धान्तों तक सीमित होता है। व्यक्तिगत केसों पर विचार नहीं किया जाता।

यह पाया गया है कि सभी विभागों ने ये परिषदें स्थापित नहीं की हैं और स्थापित परिषदों में से भी सिर्फ एक-तिहाई ही सफल रही हैं। उनकी बैठकें नियमित रूप से नहीं की जातीं। परिषद् की बैठकों में जिन मामलों पर चर्चा की जाती है, उनमें से अधिकांश मद्दें पदोन्नति, मतों तथा वेतन के पुनरीक्षण से सम्बद्ध होती हैं। स्टाफ़ वरिष्ठता (seniority) के आधार पर पदोन्नति और रिक्त स्थान सीधी भर्ती की बजाए पदोन्नति द्वारा भरे जाने को अधिमान देता है। परिषद् विभिन्न मुद्दों के बारे में वास्तविक आंकड़ों और तुरन्त उपलब्ध जानकारी के अभाव में तेजी से फैसले नहीं कर सकती। स्टाफ़ पक्ष अपने लिए एक सचिवालय का गठन नहीं कर सका और बैठकों से पूर्व अग्रिम तौर पर उनकी बैठकें बहुत कम होती हैं। इन परिषदों में स्टाफ़ के नेता बातचीत करने

में सिद्धहस्त नहीं होते और प्रभावी रूप से सौदेबाज़ी करने में असफल रहते हैं। नेत त्व की कमज़ोरी मुख्यतः सैद्धान्तिक तथा निजी मतभेदों, सदस्यों के निहित स्वार्थों और सरकार द्वारा कुछ यूनियनों तथा नेताओं को दिए जाने वाले संरक्षण के कारण होती है। वास्तव में दोनों ही पक्षों की भागीदारी के प्रबन्धन (participative management) और औद्योगिक लोकतन्त्र (Industrial democracy) में बहुत कम आस्था होती है।

क्षेत्रीय और/अथवा कार्यालय परिषदें (Regional and/or Office Councils): ये परिषदें केवल कार्य-स्थितियों, कल्याण, कार्य कुशलता में सुधार और कार्य के मान दण्डों से सम्बन्धित क्षेत्रीय अथवा स्थानीय मामलों से निपटती हैं और सिर्फ वहीं स्थापित की जाती हैं जहां विभाग ऐसा करने की अनुमति देता है। कार्यालय परिषद् में सरकारी पक्ष के 5 से अधिक सदस्य और स्टाफ़ पक्ष के 8 से अधिक सदस्य नहीं होते। संयुक्त सचिव (प्रशासन) इस परिषद् का अध्यक्ष होता है और अवर सचिव कल्याण (Under Secretary) सरकारी पक्ष का सचिव होता है। स्टाफ़ पक्ष अपना नेता एक वर्ष के लिए चुनता है और अपने सदस्यों में से एक सचिव नियुक्त करता है। परिषद् की बैठक दो मास में कम से कम एक बार होनी आवश्यक है और कोरम दोनों पक्षों की सदस्य संख्या का एक-तिहाई होता है। परिषद् एक समिति भी नियुक्त कर सकती है।

यदि दोनों पक्षों में किसी मुद्दे पर सहमति न हो और यदि वह मामला पंच निर्णय लेने योग्य हो तो उसे सम्बद्ध विभागीय परिषद् के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।

1981 तक एक हज़ार से अधिक क्षेत्रीय तथा कार्यालय परिषदें स्थापित की गई थीं।

यह उल्लेखनीय है कि ये विभिन्न चरण सुस्पष्ट और अलग-अलग हैं और उनके बीच कोई औपचारिक कड़ी नहीं है। वास्तव से उनमें कोई श्रेणीबद्धता नहीं है और इस प्रकार वे मन्त्रिमण्डलीय दायित्व की अवधारणा का अतिक्रमण नहीं करते हैं।

अनिवार्य पंच निर्णय (Compulsory Arbitration): संयुक्त सलाहकार तन्त्र योजना में दोनों पक्षों के बीच असहमति की स्थिति में अनिवार्य पंच निर्णय लेने का प्रावधान है। लेकिन अनिवार्य पंच निर्णय इन बातों तक सीमित है-

1. वेतन भत्ते,
2. सप्ताह में काम के घण्टे और
3. कर्मचारियों की किसी एक श्रेणी अथवा ग्रेड का अवकाश/अनिवार्य पंच निर्णय संयुक्त सलाहकार तन्त्र योजना का सार है।

1968 में एक पंच निर्णय बोर्ड (Board of Arbitration) का गठन किया गया था। बोर्ड में तीन सदस्य थे-एक सरकारी पक्ष द्वारा मनोनीत, एक राष्ट्रीय परिषद् में स्टाफ़ पक्ष की तरफ से मनोनीत तथा तीसरा एक स्वतन्त्र व्यक्ति जो बोर्ड का अध्यक्ष था। यद्यपि बोर्ड की सिफ़ारिशों के दोनों ही पक्ष पाबन्द होते हैं, सरकार को किसी मुद्दे पर पंच निर्णय लेने या न लेने का निर्णय करने का अन्तिम अधिकार दिया गया है और पंच निर्णय बोर्ड की सिफ़ारिशों को संसद् राष्ट्रीय मितव्ययिता और सामाजिक न्याय के आधार पर संशोधित या अस्वीकृत भी कर सकती है।

दिसम्बर 1980 तक बोर्ड को सौंपे गए 164 केसों में से 98 का फैसला किया गया जो "लम्बित" (Pending) थे। कई मामलों में स्टाफ़ की माँगें स्वीकार कर ली गई हैं।

राज्यों में संयुक्त सलाहकार तन्त्र (J.C.M. in States): संयुक्त सलाहकार तन्त्र की योजना का प्रचलन राज्यों में सफलतापूर्वक काम नहीं कर सका। कई राज्यों ने तो केन्द्र में इसकी असफलता के कारण डर कर इस योजना को लागू ही नहीं किया। राज्य सरकारें तथा कर्मचारी भी महसूस करते हैं कि भारतीय नौकरशाही (bureaucracy) में संयुक्त सलाहकार तन्त्र योजना की कोई उपयोगिता नहीं क्योंकि नियोक्ता तथा नियोजित व्यक्तियों के बीच सम्बन्धों का निश्चय राजनैतिक तथा आर्थिक कारक करते हैं।

किन्तु आलोचना के बावजूद, संयुक्त सलाहकार तन्त्र योजना स्टाफ़ के लिए अपनी शिकायतों को अभिव्यक्त करने और अपने विचार सरकार के प्रतिनिधियों से समक्ष प्रस्तुत करने का एक मंच है। इस उद्देश्य को ध्यान में रख कर कुछ राज्यों ने समय-समय पर इस योजना को लागू किया। यहां हम दो पड़ौसी राज्यों-राजस्थान और हरियाणा के ढांचे पर चर्चा करेंगे। इन दोनों राज्यों में यह योजना केवल प्रायौगिक रूप में लागू की गई। राजस्थान में यह मार्च 1970 में लागू की गई जबकि हरियाणा में 1979 में लागू की गई।

ढांचा (Structure): राजस्थान में संयुक्त सलाहकार तन्त्र तीन स्तरीय है- प्रथम, पुलिस और विभागों को छोड़ कर शेष सभी विभागों के अराजपत्रित (non-gazetted) कर्मचारियों के लिए राज्य स्तर पर संयुक्त सलाहकार परिषद्, दूसरे, विभागीय स्तर पर सरकार के प्रतिनिधियों और अधीनस्थ लिपिकवर्गीय (ministerial) और चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों के प्रतिनिधियों पर आधारित हर विभाग के लिए विभागीय परिषदें तथा अन्तिम, सचिवालय स्टाफ़ परिषद् जिसमें सचिवालय में सरकार के प्रतिनिधि तथा राज्य सचिवालय में अराजपत्रित कर्मचारियों के प्रतिनिधि शामिल थे। इस योजना के दायरे में राज्य सरकार के अराजपत्रित तथा गैर-औद्योगिक कर्मचारी आते हैं। इस सीमा तक यह राष्ट्रीय योजना से भिन्न है। इसके अलावा राजस्थान में (i) पुलिस तथा जेल विभागों, (ii) औद्योगिक संस्थानों और (iii) वैधानिक निगमों (Statutory Corporations) में कार्य दल कर्मचारियों को भी इसके दायरे से बाहर रखा गया है।

राज्यस्तरीय परिषद्, जो राजस्थान में शीर्ष निकाय है, में 18 सदस्य शामिल हैं। उनमें से आधे सरकारी पक्ष के हैं और शेष आधे स्टाफ़ पक्ष के। सरकारी पक्ष में निम्नलिखित व्यक्ति शामिल हैं-

1.	सरकार के मुख्य सचिव	अध्यक्ष
2.	वित्त आयुक्त (Finance Commissioner)	सदस्य
3.	राजस्व आयुक्त (Revenue Commissioner)	सदस्य
4.	पदाधिकारी तथा प्रशासनिक सुधार विभाग के विशेष सचिव	सदस्य
5.	चीफ़ इंजीनियर, लोक निर्माण विभाग	सदस्य
6.	निदेशक प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा (Director, Primary and Secondary Education)	सदस्य
7.	उपसचिव (ओ० एण्ड० एम०)	सदस्य
8.	पदाधिकारी विभाग के उपसचिव तथा स्टाफ़ कल्याण अधिकारी	सदस्य सचिव
9.	चिकित्सा तथा स्वास्थ्य विभाग के निदेशक	सदस्य

स्टाफ़ पक्ष में मान्यता प्राप्त एसोसिएशनों के प्रतिनिधि शामिल होते हैं।

संयुक्त सलाहकार तन्त्र योजना के अन्तर्गत हरेक विभाग के लिए एक विभागीय परिषद् का प्रावधान है। परिषद् में 12 सदस्य होते हैं जिनमें से आधे सरकारी पक्ष के और शेष आधे स्टाफ़ पक्ष के प्रतिनिधि होते हैं। विभाग का अध्यक्ष परिषद् का अध्यक्ष होता है, सरकारी पक्ष के शेष पांच प्रतिनिधि उसके द्वारा पदाधिकारी विभाग में सरकार की स्वीकृति में मनोनीत किए जाते हैं। दो या अधिक विभागों की एक ही विभागीय परिषद् होने अथवा विभाग के अध्यक्ष एक से अधिक होने की स्थिति में परिषद् का अध्यक्ष सरकार द्वारा मनोनीत किया जाता है।

हरियाणा में यह योजना मूलतः हरियाणा नागरिक सचिवालय (Civil Secretariat) विभाग पर लागू की गई थी लेकिन बाद में सरकार ने सचिवालय में संयुक्त संविधान परिषद् (Joint Constitution Council) स्थापित करने का फैसला किया।

विभागीय परिषद् में सरकारी पक्ष के चार सदस्य होते हैं जिन्हें सरकार द्वारा मनोनीत किया जाता है। इसमें स्टाफ़ के पांच प्रतिनिधि होते हैं जिनमें से हरियाणा सिविल सेक्रेटेरियेट (नॉन-गज़ेटिड) एम्प्लाइज़ एसोसिएशन द्वारा तथा दो प्रतिनिधि हरियाणा सिविल सेक्रेटेरियेट क्लास IV एम्प्लाइज़ एसोसिएशन द्वारा और शेष एक हरियाणा सिविल सेक्रेटेरियेट स्टेनोग्राफ़र्स एसोसिएशन द्वारा मनोनीत किया जाता है। एसोसिएशनों के प्रतिनिधि 3 वर्ष के कार्यकाल के लिए मनोनीत किए जाते हैं लेकिन दोबारा मनोनयन पर कोई रोक नहीं है। हरियाणा सेक्रेटेरियेट एस्टेबलिशमैंट के लिए सरकार के उपसचिव विभागीय परिषद् के अध्यक्ष होते हैं।

दोनों राज्यों में समिति प्रणाली (Committee System) के लिए प्रावधान है।

उद्देश्य तथा कार्य (Objectives and Functions): राज्य स्तर पर संयुक्त सलाहकार तन्त्र के उद्देश्य लगभग वही हैं जो केन्द्र में संयुक्त सलाहकार तन्त्र के हैं। उदाहरणतया, हरियाणा में इसके उद्देश्य हैं-

1. सद्भावपूर्ण सम्बन्धों को बढ़ावा देना,

2. नियोक्ता के रूप में सरकार और उसके कर्मचारियों की महासभा के बीच सांझे हित के मामलों पर अधिकतम सहयोग प्राप्त करना और
3. लोक सेवाओं की कार्यकुशलता बढ़ाना।

हरियाणा में विभागीय परिषद् (i) कर्मचारियों की सेवा और कार्य स्थितियों से सम्बन्धित मामलों, (ii) उनके कल्याण और (iii) उनकी कार्यकुशलता तथा काम के मानदण्डों से सम्बन्धित मामलों पर विचार करती है, लेकिन

1. भर्ती, पदोन्नति और अनुशासन सम्बन्धी विचार-विमर्श सामान्य सिद्धान्तों तक सीमित रहेगा, और
2. व्यक्तिगत केसों पर विचार नहीं किया जाएगा।

राजस्थान में संयुक्त सलाहकार तन्त्र के कार्य राज्य सरकार द्वारा सीमित और नियन्त्रित हैं। संयुक्त सलाहकार तन्त्र वेतन और भत्तों, कार्यालय-तन्त्र में सुधार, नागरिक सेवकों की नौकरी पर असर अंदाज होने वाले नए विधायन (legislation) से सम्बन्धित मामलों पर विचार नहीं कर सकता। संयुक्त सलाहकार तन्त्र कार्य स्थितियों, कर्मचारियों के कल्याण, काम तथा कार्यकुशलता के स्तर से सम्बन्धित सभी मामलों से निपटता है। जहां तक भर्ती, पदोन्नति और अनुशासन से सम्बन्धित मामलों का सम्बन्ध है; विचार-विमर्श केवल सामान्य सिद्धान्तों तक ही सीमित रहता है, व्यक्तिगत केसों पर विचार नहीं किया जाता।

कामकाज (Working): जहां तक राज्यों में संयुक्त सलाहकार तन्त्र के कामकाज का सम्बन्ध है, यह पहले ही कहा गया है कि यह योजना केवल प्रायौगिक आधार पर लागू की गई थी। जहां तक इन संस्थाओं की सफलता का सम्बन्ध है अधिक आशा नहीं की गई थी। इस सारी अवधि में भागीदारों का द ष्टिकोण भी प्रायौगिक ही था। राज्यों में संयुक्त सलाहकार तन्त्र के कार्य और भी सीमित हैं। केवल कुछ सेवा शर्तों और कल्याण-सुविधाओं से सम्बन्धित मामलों पर ही परिषदों में विचार किया जाता है जोकि वेतन, महंगाई भत्ते, प्रशासन में जिम्मेदारी, प्राधिकार का अभ्यर्पण, कार्यकुशलता और प्रशासन की प्रभाविता आदि अनेक महत्त्वपूर्ण मामले परिषद् को बैठकों में कभी विचाराधीन नहीं लाए जाते। इसके अलावा चर्चा का स्तर भी हल्का होता है। सदस्य, खास तौर पर स्टाफ़ पक्ष के सदस्य पूरी तैयारी करके नहीं आते। यह देखा गया है कि योजना में और साथ ही एक-दूसरे ग्रुप में विश्वास का अभाव है। सरकारी पक्ष के सदस्य अक्सर अपना नौकरशाही का रवैया दिखाते हैं और दूसरे ग्रुप के साथ उनके सामाजिक आर्थिक स्तर का भारी अन्तर कई बार उभर कर सामने आता है। संयुक्त सलाहकार तन्त्र को राज्यों में केवल साधारण महत्त्व के क्षेत्रों में ही थोड़ी सफलता मिली है।

निष्कर्ष (Conclusion): अच्छे नियोक्ता-नियोजित सम्बन्ध प्रशासन के अच्छे स्वास्थ्य को सुनिश्चित बनाते हैं। यह पदाधिकारी प्रशासन का एक नाजुक क्षेत्र है, अतः इससे सावधानीपूर्वक निपटना आवश्यक है। इसके लिए पारस्परिक आदर और दोनों पक्षों के बीच भरोसे की आवश्यकता है। इसके साथ ही अच्छे सम्बन्ध अनिवार्यतः ले और दे की भावना पर निर्भर करते हैं। एक सरकार में दोनों पक्षों के बीच सम्बन्ध, संविधान में व्यवस्थित नागरिक सेवा के मूल्यों और सरकार द्वारा बनाए गए नागरिक सेवाओं के नियमों और विनियमों द्वारा अनुसरित आर्थिक एवं राजनैतिक कारकों द्वारा तय किए जाते हैं। इसके अलावा सांस्कृतिक कारक, कर्मचारियों की एसोसिएशनों की प्रकृति और समूचा पर्यावरण इन सम्बन्धों के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। संयुक्त सलाहकार तन्त्र ने अनेक देशों में प्रभावी भूमिका निभाई है लेकिन भारत में यह बहुत प्रभावी सिद्ध नहीं हुआ। कई मोर्चों पर यह विफल रहा है और स्थिति में ठोस सुधार नहीं ला सका। दुर्भाग्य से इसकी प्रभाविता उत्तरोत्तर कम होती जा रही है। इसका यह अर्थ नहीं कि योजना निरर्थक है; आवश्यकता इस योजना को पुनर्जीवित कर इसका पूर्ण विकास करने की है- इसके लिए इस योजना में और दोनों पक्षों में आपसी विश्वास फिर से पैदा करना जरूरी है। इसलिए इसमें नई पहलकदमी सिर्फ सरकार ही कर सकती है।

अध्याय-24
नौकरशाहीः सिद्धान्त, प्रकार, मैकस वेबर के विचार और उनके आलोचक
(Bureaucracy: Theories, Types, Max-Weber and His Critics)

आज संगठन का प्रभुत्वशाली रूप नौकरशाही है। "नौकरशाही" शब्द का प्रयोग आमतौर पर नकारात्मक या बुरे अर्थ में किया जा सकता है, इसका अर्थ ऐसा संगठन समझा जाता है जो लाल फीता, अकुशलता और प्रभावहीनता से दबा है। वास्तव मैं इसकी उत्पत्ति एक तकनीकी शब्दावली के रूप में हुई जिसका अर्थ यह लिया जाता था कि यह प्रशासनिक उद्देश्यों के लिए सामाजिक संगठन का एक रूप है। (अधिक विस्तार के लिए आगे का नौकरशाही पर अध्याय देखिये)। नौकरशाही तथ्य का सबसे अधिक व्यवस्थित अध्ययन जर्मनी के एक समाजशास्त्री **मैक्स वेबर** (Max Weber) (1864-1920) ने किया है।

संगठन (Verband) की उत्पत्ति और प्रकृति के सम्बन्ध में अपनी धारणा को वेबर (Weber) शक्ति और सत्ता पर आधारित करता हैं **वेबर** के अनुसार, शक्ति (Match) उस व्यक्ति के पास कही जा सकती है जो विरोध के बावजूद भी सामाजिक सम्बन्धों के अन्तर्गत अपनी इच्छा को लागू कर सकता है। यदि इस शक्ति का प्रयोग मानव-समूहों की संरचना के लिए किया जाये, तो यह शक्ति का एक विशेष उदाहरण होता है जिसे सत्ता (Harrschaft) कहते हैं। अतः वेबर शक्ति और सत्ता या 'प्रभुत्व' में भेद करता है। सत्ता या प्रभुत्व संगठन की उत्पत्ति का साधन होती है। संगठन के नियमों को वेबर ने प्रशासन का नाम दिया है। प्रशासन का सबसे महत्वपूर्ण पहलू यह है कि इसके द्वारा यह निश्चित किया जाता है कि कौन किसको आदेश देगा। अतः "सत्ता का प्रत्येक स्वरूप अपने आपको प्रशासन में प्रकट करता है और उसी के रूप में कार्य करता है।"

वेबर के अनुसार, सभी सत्ता विधिसंगत होती है, क्योंकि सदा ही इसका आधार लोक-विश्वास संरचना पर होता है। लोगों में यह विश्वास होता है कि आज्ञापालन उचित था, क्योंकि आदेश देने वाले व्यक्ति में कोई पवित्र या उत्कृष्ट विशेषता थी। उस व्यक्ति की इस सत्ता को चमत्कारिक सत्ता (Charismatic authority) कहते हैं। यदि उस आदेश का पालन पुरानी चिर स्थापित व्यवस्था की मर्यादाओं को प्रति श्रद्धा के कारण किया गया हो, तो वह सत्ता परम्परागत (traditional) कहलायेगा, तीसरी प्रकार की सत्ता कानूनी या वैधानिक सत्ता (legal authority) होती है, वेबर इसको विवेकशीलता का गुण देते हैं। ऐसी स्थिति में लोगों को यह विश्वास होता है कि आदेश देने वाला व्यक्ति अपने कर्तव्यों के अनुकूल कार्य कर रहा है जो कर्तव्य कानूनी नियमों और अधिनियमों में लिखे गये हैं।

वेबर का विचार था कि आदर्श नौकरशाही-संगठन व्यक्तियों और समूहों के परस्पर-सम्बन्धों में झगड़ों और स्वेच्छाचारिता को समाप्त करके सबसे अधिक प्रभावी तरीके से निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त कर सकता है।

वेबर के अनुसार नौकरशही का अर्थ है- नियुक्त किये गये अधिकारियों की एक प्रशासनिक संस्था। वह नौकरशाही को नियुक्त किये गये अधिकारियों की संस्था समझते थे जो एक निश्चित और भिन्न समूह होता है ओर जिसका कार्य और प्रभाव सभी प्रकार के संगठनों में देखा जा सकता है। **हर्बर्ट जी. हिक्स तथा सी. रे गुलिट** (C. Ray) नौकरशाही की व्याख्या इस प्रकार करते हैंः "यह विशिष्ट पदों का एकीकृत पदसोपान होता है जिनको व्यवस्थित नियमों के द्वारा परिभाषित किया गया होता है- यह एक अवैयक्तिक नित्याचर्या पर चलने वाली संरचना है जिसमें विधिवत सत्ता पद से जुड़ी होती है, न कि उस व्यक्ति के साथ जो उस पद पर काम करता है।

नौकरशाहियाँ सभी बड़े और जटिल संगठनों में पाई जाती हैं, चाहे वे संगठन राजनीतिक हों, चाहे धार्मिक, व्यापारिक, सैनिक, शिक्षा-संबंधी या कोई और। **उरविक** (Urwick) यह मानते हैं कि यदि मानवीय सहयोग की व्यवस्थायें एक निश्चित आकार से बड़ी हो जाती हैं, तो संगठन के नौकरशाही स्वरूप से बचा नहीं जा सकता, और वह है एक छोटे से मुट्ठी भर अनुयायियों के साथ नेता आमने-सामने का सम्बन्ध। इसी प्रकार **डिमोक** (Dimock) कहते हैं कि "जटिलता नौकरशाही को जन्म देती है। जब तक जीवन सरल रहता है, तब तक व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्ध प्रत्यक्ष रहते हैं और संस्थान सरल रहते हैं, तब व्यक्ति भले ही सुस्त, उदासीन और आलसी हों, किन्तु तब आप कोई भी ऐसी संस्थात्मक स्थिति नहीं देखेंगे। जिसको ठीक-ठीक नौकरशाही कहा जा सकता हो। परन्तु एक जटिल वातावरण में संस्थान बड़े हो जाते हैं, सम्बन्ध अवैयक्तिक बन जाते हैं और संगठनों तथा कार्यविधियों को बड़े ध्यान से निर्धारित किया जाता है, इस सबका स्वाभाविक परिणाम होता है- नौकरशाही। अतः नौकरशाही आधुनिक सभ्यता का अनिवार्य तत्त्व जान पड़ता है।

नौकरकशाही के उदय के कारण
(Factors for the Rise of Bureaucracy)

नौकरशाही का विकास 18वीं शताब्दी में सबसे पहले पश्चिमी यूरोप के देशों में और उसके उपरान्त विश्व के अन्य देशों में हुआ। 20वीं शताब्दी में यह अपनी पराकाष्ठा पर पहुंची, हालांकि कई राज्यों में मार्क्सवादी सिद्धान्त की विजय हुई जो इसको समाप्त कर देना चाहता है।

लॉस्की नौकरशाही के उदय को कई तत्वों के योगदान का परिणाम मानते हैं। प्रथम, यह कुलीनतंत्र की उपज के रूप में विकसित हुआ। इसके अपने इतिहास में कुलीनतंत्र में सक्रिय सरकार के लिए रूचि का अभाव देखा गया जिससे कई परिस्थितियों में सत्ता स्थायी अधिकारियों के हाथों में चली गई। द्वितीय, नौकरशाही का उदय सम्राट की इस इच्छा से भी माना जा सकता है, जबकि वे अपने व्यक्तिगत अधीनस्थ कर्मचारियों को रखना चाहता था जिनका प्रयोग कुलीन वर्ग में शक्ति के लिए बढ़ती हुई लालसा के विपरीत किया जा सके। त तीय, लोकतंत्र के उदय ने इसके विकास में दो तरीके से सहयोग दिया-

(क) उन्नीसवीं शताब्दी में पश्चिमी संसार में लोकतांत्रिक सरकार के उदय हो जाने से ऐसी व्यवस्था को बनाए रखने का संयोग समाप्त हो गया जिसमें अधिकारी पैत क तथा स्थायी जाति बन सकते।

(ख) लोकतंत्र के साथ-साथ जो अन्य परिस्थितियां उत्पन्न हुईं, उनके कारण यह अनिवार्य हो गया कि विशिष्ट सेवा का कार्य करने के लिए विशेषज्ञों का समूह होना चाहिए। चतुर्थ, आधुनिक राज्य का विशाल आकार और इसके उपलब्ध की जाने वाली सेवा का विस्तार इस बात को अनिवार्य बना देता है कि विशेषज्ञों का प्रशासन अवश्यम्भावी हो।

नौकरकशाही के उदय पर मैक्स वैबर के विचार
(Max Weber on the Rise of Bureaucracy)

अतीत में भी नौकरशाही थी, जैसे कि प्राचीन मिस्र में, प्राचीन रोम और चीन के प्रशासनों में और तेरहवीं शताब्दी के अन्त से रोमन कैथोलिक चर्च में। किन्तु वे इतनी नौकरशाही नहीं थी, उनकी संख्या भी सीमित थी और वे केवल राज्य और चर्च के दायरे तक सीमित थीं। योरोप में निरंकुशवाद के उदय और आधुनिकीकरण के साथ-साथ नौकरशाहियां विशद रूप में अधिक नौकरशाह बन गई, अधिक फैल गईं और सामाजिक जीवन के विस्त त क्षेत्रों में घुस गई। राज्य प्रशासनों के अतिरिक्त सेनाएं, चर्च, विश्वविद्यालय, आर्थिक संस्थान और राजनीतिक दल भी नौकरशाही रूप धारण कर गये। वैबर का विचार है कि नौकरशाही का उदय उनके कारणों से हुआ-

1. **मुद्रा-अर्थव्यवस्था की स्थापना (The Creation of Money Economy):** यह प्रक्रिया तब शुरू हुई जब यूरोप मध्ययुग से निकला। वैबर मुद्रा-व्यवस्था को नौकरशाही के उदय की अनिवार्य शर्त नहीं मानता, क्योंकि मिस्र, रोम तथा चीन जैसे देशों ने नौकरशाहियां उस समय भी थीं जब जब मुआवजा पैसे के रूप में दिया जाता था। किन्तु इससे नौकरशाहों को पक्की भरोसे योग्य आदमनी का विश्वास नहीं था। नौकरशाहों को भूमि का अनुदान देने की व्यवस्था थी तथा/अथवा निश्चित प्रदेशों में से कर, राजस्व इकट्ठा करने के परिणामस्वरूप नौकरशाहियां विघटित होकर सामन्ती तथा अर्ध-सामन्ती जागीरों का रूप धारण कर गईं।

2. **पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का उदय (The Emergency of Capitalist Economy):** मुक्त व्यापार की व्यवस्था जो पूंजीवाद का सार है, ने नौकरशाही को बढ़ावा दिया। इस कारण ऐसी आवश्यकताओं ने जन्म लिया जो केवल नौकरशाही संगठल ही पूरा कर सकते थे। पूंजीवाद को अपने ही हितों के लिए शक्तिशाली और सुव्यवस्थित सरकारों की आवश्यकता होती है और वह इनका प्रोत्साहन करता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पूंजीवाद को ऐसी सरकार की आवश्यकता होती है और वह ऐसी सरकार को प्रोत्साहन देता है जो नौकरशाही संगठनों पर आधारित हो। केवल सरकारें ही नहीं, अपितु स्वंय पूंजीवादी उपक्रम भी संगठन के नौकरशाही सिद्धान्तों का अनुकरण करने लगे, क्योंकि इनमें विवेकशीलता और पूर्व विचारशीलता की आवश्यकताएं होती हैं जो पूंजीवाद की प्रमुख विशेषताएं हैं।

3. **पश्चिमी समाज में तर्कशक्ति की ओर अधिक परिवेष्ठित प्रव त्ति (More Encompassing Trend Towards Rationality in Western Society):** आधुनिक पश्चिम समाज ने कई क्षेत्रों में बुद्धिवाद के विकास का अनुभव किया। उदाहरण के तौर पर इस प्रव त्ति को प्रोटेस्टेन्ट नैतिक नियमों में स्पष्ट देखा जा सकता था जिसने कठिन परिश्रम और स्वअनुशासन को प्रोत्साहित किया। यही नैतिक नियम पूंजीवाद की भावना का आधार था जिसमें समय और प्रयत्नों का विवेकपूर्ण ढंग से लगाने के लिए कहा जाता था, ताकि अधिक-से-अधिक उपलब्धियां और मुनाफा हो। इसके उपरान्त यही भावना बुद्धिवादी पूंजीवाद के विकास के लिए एक पूर्व शर्त बन गई। दूसरे क्षेत्रों जैसे विज्ञान के विकास और शासन में भी तर्कशक्ति की ओर यही सामान्य प्रव त्ति स्पष्ट तौर पर देखी गयी।

4. **यूरोप की जनसंख्या में व द्धि (Growth of European Population):** जनसंख्या के विकास से प्रशासनिक कार्य बढ़ जाते हैं जिनका सामना केवल बड़े-बड़े संगठनों द्वारा किया जाता सकता है। दूसरी ओर बड़े-बड़े संगठनों में नौकरशाही आकार प्राप्त कर लेने की प्रव त्ति होती है।

5. **लोकतंत्र (Democracy):** लोकतांत्रिक संस्थानों के विकास का दूसरा पक्ष तथा सामन्तों और कुलीन तत्वों के परम्परागत शासन का विरोध करना था उसको समाप्त करने में सहायता देना और साथ ही शिक्षा को प्रोत्साहन देना तथा ज्ञान और शिक्षा के आधार पर पदों पर नियुक्तियों का समर्थ करना।

6. **जटिल प्रशासनिक समस्याओं की उत्पत्ति (Emergence of Complex Administrative Problems):** सरकारों के द्वारा किय जाने वाले कार्यों की जटिलता बड़े पैमाने पर नौकरशाही संगठनों को पैदा करती है। यही प्राचीन मिस्र में हुआ। वह देश जिसमें इतिहास में पहली बार नौकरशाही का बड़े पैमाने पर संगठन हुआ जब इसको नहरों का निर्माण करने और नियंत्रित करने जैसे जटिल कार्य करने का सामना करना पड़ा। आधुनिक समय में यूरोप में केन्द्रीयकरण पर आधारित नए राज्यों को कई ऐसे प्रशासनिक कार्यों से जूझना पड़ा जिनको अतीत में कोई भी नहीं जानता था। ने केवल उनको पहले से अधिक बड़े प्रदेशों और जनसमूहों पर नियंत्रण करना पड़ा, अपितु उनको इस प्रकार की सामाजिक सेवाएं प्रदान करनी पड़ीं जो पहले कोई राज्य नहीं करता था।

7. **संचार के आधुनिक रूप (Modern Forms of Communication):** संचार के आधुनिक साधनों के कारण अधिक जटिल और प्रभावी प्रकार के प्रशासन अर्थात् नौकरशाही की आवश्यकता हुई और इसके विकास में आसानी भी हुई।

वैबर (Weber) का कथन है कि नौकरशाही का विकास इसलिए हुआ कि यह अपनी विवेकशीलता और तकनीकी उच्चता के कारण आधुनिक जटिल समाज की समस्याओं और कार्यों का सामना करने के लिए ये सबसे अधिक उचित यंत्र सिद्ध हुआ है। इसी उच्चता के कारण नौकरशाही अधिक व्यापक बन गई और भविष्य में इसका और भी अधिक व्यापक बन जाना लाजिमी है।

नौकरशाही के प्रकार
(Types of Bureacuracy)

नौकरशाही का स्वरूप सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक तत्वों से प्रभावित होता है। इतिहास के विभिन्न चरणों में नौकरशाही ने तत्कालीन सामाजिक एवं राजनैतिक प्रभाव में आकर अपना रूप तथा आकर बदला। मॉर्सटिन मार्क्स (Morstein Marx) मोटे तौर पर नौकरशाही को चार श्रेणियों में बाँटा है- अभिभावक नौकरशाही, जातीय नौकरशाही, प्रश्रय या संरक्षण नौकरशाही तथा योग्यता पर आधारित नौकरशाही। अब हम इन चारों प्रकारों का विवेचन करेंगे।

1. **अभिभावक नौकरशाहीः** प्लेटो द्वारा वर्णित अभिभावकों ने अपने कार्यों में जनहित को सर्वोपरि रखा है। उन्हें समुदाय के न्याय तथा जनहित का संरक्षक माना जाता था। इन अभिभावकों को उनकी शिक्षा के आधार पर चुना जाता था। इस प्रकार की नौकरशाही चीन में 960 ईसवीं से पहले तथा रूप में 640 से 1740 ईसवीं के बीच विद्यमान थी। चीन की सरकार की सभी गतिविधियाँ प्लेटो के सिद्धांतों के अनुरूप थी, यद्यपि उन पर चीनी विचारक कन्फयूशियस के न्याय युक्ति संबंधी विचारों का प्रभाव था। अधिकारियों का मुख्य कर्तव्य लोगों के सामने एक आदर्श जीवन का उदाहरण पेश करना था। अधिकारियों का मुख्य कर्तव्य लोगों के सामने एक आदर्श जीवन का उदाहरण पेश करना था। उनका चुनाव उनकी विद्धत्ता के आधार पर होता था तथा उनको सही आचरण के लिये शास्त्रीय पद्धति के आधार पर प्रशिक्षण दिया जात था। उन अभिभावकों से आशा की जाती थी कि वे अपने में नैतिक सहनशीलता विकसित करें जिससे वे न्याय युक्ति के आधार पर अपनी सत्ता का प्रयोग कर सकें।

   अभिभावक-नौकरशाही निरंकुशता को आदर्श मानती हैं इसीलिए यह परम्परावादी एवं रूढ़िवादी बन गयी है। यह भी सम्भव होता है कि यह जनता के मामलों तथा तत्कालीन राजनैतिक समस्याओं में अपने को अलग रखे, इसीलिए यह जनमत की अवहेलना करती है, और निरंकुश बन जाती है।

2. **जातीय नौकरशाहीः** यह नौकरशाही सत्तारत व्यक्तियों के वर्गीय संबंधों से पैदा होती है। इसके अन्तर्गत पदाधिकारियों की नियुक्ति केवल एक ही वर्ग से होती है इसका अर्थ यह हुआ कि केवल उच्च अथवा जाति से संबंधित लोग की लोक सेवाओं की ओर आकृष्ट होते हैं। उदाहरण के लिए प्राचीन भारत में केवल ब्राह्मण या क्षत्रिय ही उच्चाधिकारी बन सकते थे। एफ. एम. मार्क्स का विचार है कि जातीय नौकरशाही एक अन्य रूप में प्रस्फुटित होती है, अर्थात् उच्च पदों के लिये योग्यता को जातिगत प्राथमिकताओं से जोड़ दिया जाता है। उदाहरण के लिए इंगलैंड में लोक सेवाओं के पदों के लिये कुलीन वर्ग के लोगों को प्राथमिकता दी जाती थी। भारतीय प्रशासनिक सेवा के बारे में टिप्पणी करते हुए एप्पलवी (Appleby) ने कहा है कि इस सेवा के पदाधिकारी विभिन्न विशेष वर्गों में बाँटे जाते हैं और उनको विशेष सेवाएँ विशेष रूपों में उपलब्ध कराई जाती है। यह अधिकारी पद, वर्ग, पदवी एवं सेवाओं के वर्गीकरण के आधार पर व्यवस्थित किये जाते हैं। चूंकि नौकरशाही में उच्च बौद्धिक स्तर की आवश्यकता होती है। इस बात की सम्भावना बढ़ जाती है कि उच्च वर्ग एवं जाति के लोग ही उसमें आ सकते हैं। विभिन्न सेवाओं के लिये अलग-अलग सामाजिक स्तर बनाए जाते हैं। यह देखा गया है कि लोक सेवक अपनी गतिविधियों द्वारा अपनी जातियों के लिये अधिक कार्य करने की कोशिश करते हैं। जातीय नौकरशाही के कुछ उदाहरण इस प्रकार है- प्रारम्भिक रोमन-साम्राज्य के अंतर्गत लोक सेवाएँ; मेज़ी (Meiji) संविधान के अंतर्गत जापानी लोक सेवाएँ, 1950 के दशक में फ्रांसीसी लोक सेवाएँ।

3. **प्रश्रय अथवा संरक्षण नौकरशाहीः** इस प्रकार की नौकरशाही को पद पुरुस्का व्यवस्था (Spoil-system) भी कहा जाता है। इसके अंतर्गत संरक्षण या प्रश्रय को राजनैतिक नियंत्रण के एक साधन के रूप में देखा जाता है। इस व्यवस्था के अंतर्गत मन्त्रियों या चुने हुए प्रतिनिधियों के रक्षितों को लोक सेवाओं के लिये नामजद किया जाता है। सार्वजनिक पदों को उनके समर्थकों में व्यक्तिगत या राजनैतिक इनामों की तरह बाँटा जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी से पहले ब्रिटेन में इस व्यवस्था ने कुलीन वर्ग को लोक सेवाओं में प्रवेश करने में मदद दी। अमरीका को संरक्षण-नौकरशाही का जनक माना जाता है। वहाँ पर यह माना जाता था कि किसी को भी लोकसेवाओं में नियुक्ति का दूसरे से अधिक अधिकार नहीं है।

   इसलिये अपने व्यक्तियों को नियुक्त करके संरक्षण प्रदान किया जा सकता था, लेकिन कालांतर में संरक्षण नौकरशाही की निंदा होने लगी क्योंकि इसमें निम्न दोष आ गए थेः

   (i) योग्यता का अभाव

   (ii) अनुशासनहीनता

   (iii) अधिकारियों का लालचीपन

   (iv) दोषपूर्ण पद्धतियाँ

   (v) पक्षपात

   (vi) सेवा भवन का अभाव

4. **योग्यता पर आधारित नौकरशाही:** हमने अब तक नौकरशाही के जितने प्रकारों का विवरण दिया है, उनके दोषों की प्रतिक्रिया से ही योग्यता पर आधारित नौकरशाही का जन्म हुआ। इस प्रकार नौकरशाही में नियुक्ति योग्यता के आधार पर की जाती है और उसमें निष्पक्ष मापदंडों को प्रयोग किया जाता है। एक बार प्रवेश के बाद पदवी तथा स्थायित्व सुनिश्चित रहते हैं। आधुनिक युग में नौकरशाही के अन्य प्रकारों की तुलना में योग्यता पर आधारित नौकरशाही प्रशासनिक व्यवस्था के ऊपर राजनैतिक नियंत्रण पर जोर देती है। इस नौकरशाही को अन्य प्रकार की नौकरशाही से अधिक प्रभावी माना जाता है, क्योंकि यह प्रशासनिक मामलों में तार्किकता को महत्त्व देती है।

नौकरशाही के दोष

जैसा पहले बता चुके हैं नौकरशाही के नकारात्मक तथा सकारात्मक दोनों ही रूप हैं। आलोचकों का मत है कि नौकरशाही संगठन की एक बीमारी है। यह उन प्रव त्तियों को जन्म देती है जो कि इसकी उपलब्धियों को नकार सकती है। उदाहरण के लिए पद सोपान व्यवस्था नौकरशाही में प्रारम्भिक कदम उठाने की शक्ति को निरूत्साहित करती है। यह संगठन को विभिन्न स्तरों में बाँटती है और लालफीताशाही एवं अकुशलता को पनपने में मदद करती है। इसकी आलोचना इसलिए भी की जाती है क्योंकि यह लोक सेवकों के व्यवहार एवं कार्यकुशलता पर विपरीत प्रभाव डालती है। इस प्रकार जहाँ एक ओर नौकरशाही को आधुनिक प्रशासन एवं तर्कसंगत ढाँचे का पहलू माना जाता है, वहीं दूसरी ओर इसमें कुछ नकारात्मक बातें भी हें। इसकी आलोचना इसलिए भी की जाती है कि यह जनता की मांगों की अवहेलना करती है। अनावश्यक औपचारिकता, अपने को बढ़ावा देने, अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार करने तथा दकियानुसी व्यवहार की प्रव त्ति को बढ़ावा देती है। जो अन्य दोष इसमें है वे इस प्रकार हैं- अहंकार, आत्मसंतोष, मात्र नियम एवं नित्यक्र (Routine) कठोरता, प्रशासनिक व्यवहार में मानवीय व्यवहार की उपेक्षा तथा लोकतांत्रिक प्रक्रिया के प्रति उदासीनता।

नौकरशाही के सिद्धांत
(Theories of Bureaucracy)

जब से आधुनिक राज्य-व्यवस्था में नौकरशाही का उदय हुआ है और शक्ति पर इसकी पकड़ बढ़ गई है और नागरिकों के जीवन पर इसका नियंत्रण बढ़ता जा रहा है, तब से कई विचारकों और समाजशास्त्रियों ने विभिन्न पहलुओं से इस पर विचार किया है। अतः यह लाभदायक होगा कि इस विषय पर जो विभिन्न विचारधाराओं के प्रतिनिधियों ने विचार व्यक्त किये हैं, उन पर यहाँ संक्षेप में विचार किया जाये।

नौकरशाही का मार्क्सवादी द ष्टिकोण
(Marxist View of Bureaucracy)

कार्ल मार्क्स (Karl Marx) ने बहुत पहले सैन्ट साइमन (Saint Simon) ने नौकरशाही के सम्बन्ध में कहा था कि "नौकरशाही में वे अधिकारी आते हैं जो शासित लोगों के हितों की द ष्टि से नहीं, अपितु अपने हितों के लिए शासन करते हैं। वे अपने लिए उच्च वेतन का प्रयास करते हैं और केवल व्यर्थ ही नहीं, अपितु अयोग्य परजीवी लोगों की बहुत बड़ी बढ़ती हुई विस्त त भीड़ भी है। चूंकि उत्पादकों के रूप में उनकी आवश्यकताएँ और इच्छाएँ एक जैसी हैं, किन्तु वे स्वयं कुछ उत्पादन नहीं करते। वे लोग अनिवार्य रूप से दूसरों के कार्य पर जीवित रहते हैं, या उनको देना पड़ता है अथवा छीन लेते हैं। संक्षेप में वे बेकार हैं, अर्थात् चोर है।

नौकरशाही पर कार्ल मार्क्स के विचार
(Karl Marx on Bureaucracy)

कार्ल मार्क्स ने "नौकरशाही" शब्द का प्रयोग अपमानजनक भावना से किया है। सभी मार्क्सवादी यह मानते हैं कि नौकरशाही पूँजीवादी राज्य के साथ बँधी हुई है, अतः यह एक बूर्जुआ घटना है। **हीगल** के विपरीत, **मार्क्स** इस बात में विश्वास नहीं रखता था कि राज्य समाज के सामान्य हितों का प्रतिनिधित्व करता है। इसी प्रकार नौकरशाही एक सर्वव्यापी अवस्था में नहीं है, वह राज्य के भीतर एक विशेष तंग समाज है जो सामान्य हितों का नहीं अपितु अपने ही हित की रक्षा करता है। यह एक सामाजिक शक्ति है जिसके माध्यम से पूँजीवाद और बूर्जूआ के हितों को लागू किया जाता है- नौकरशाही का उदय और इसका

निरन्तर बने रहना। अतः पूँजीवादी राज्य की प्रकृति के विस्त त विषय के साथ यह अभेद रूप से जुड़ी है। नौकरशाही का कार्य यह है कि वह वास्तविक शक्ति-सम्बन्धों को छिपाए और शासकों और शोषितों के बीच सामान्य हित का झूठा पर्दा खड़ा करे।

मार्क्स का यह भी विश्वास था कि नौकरशाही लोगों में अनन्यता का भाव पैदा करने में योगदान देती है। यह एक स्वतंत्र और दमनकारी शक्ति बन जाती है जिसका आभास अधिकतर लोगों में होता है। यह एक गुप्त तथा अंतरित इकाई जान पड़ती है जो यद्यपि उनके जीवन को नियंत्रित करती है और जिस पर उनका कोई नियंत्रण नहीं होता और यह उनकी समझ से बाहर होती है। यह एक प्रकार का देवत्व है जिसके सामने व्यक्ति निःसहाय तथा घबराया हुआ महसूस करता है।

मार्क्स का कहना था कि राज्य तथा इसकी कार्यकारिणी यंत्र है जिनके माध्यम से शासक वर्ग अपनी शक्ति को प्रकट करता है। नौकरशाही वर्ग-भेदों को सुद ढ़ बनाने के कार्य में योगदान देती है और शासक वर्ग की शक्ति का समर्थन करती है। **मार्क्स** इस बात पर बल देते थे कि नौकरशाही का उदय बाहरी तथा विकृत सामाजिक वर्गीकरण का परिणाम है। भले ही यह कितनी ही स्वतंत्र क्यों न दिखाई देती हो, यह समाज के भीतर वर्तमान वर्गीकरण पर दो तरीके से आश्रित होती है- (1) यह समाज और राज्य के बीच स्पष्ट प थकता पर आश्रित होती है जिसके बिना इसका कोई अस्तित्व, कारण अथवा प्रयोजन नहीं रहता। यह समाज और संस्थानों के भीतरी वर्गीकरण की वास्तविकता पर आधारित है। इस सामाजिक वर्गीकरण में प्रत्येक वर्ग अपने विशेष हितों की ही देखभाल करता है। **मार्क्स** के विचारों में वर्गपूर्ण समाजों में नौकरशाही स्वयं एक वर्ग नहीं है यह वर्गों का नौकर है जिसका अपना मूल आधार नहीं, किन्तु जो अंततः शासक वर्ग के अधीनस्थ होता है। पूँजीवाद समाज में ये वर्ग बूर्जुआ अथवा मध्यमवर्ग होता है।

नौकरशाही अपने सभी कार्यों को गुप्त रखती है। यह गोपनीयता भीतरी पदसोपान और बाहरी समाज में अपनी प्रकृति से जब यह बाहरी संसार के साथ परस्पर क्रिया करती है, के द्वारा बनाए रखती है। अनिवार्य रूप से इसका सम्बन्ध चालाकी से काम निकालने का है। केवल एक ही बार जिसके लिए **मार्क्स** (Marx) नौकरशाही की प्रशंसा करते हैं, वह है इसके द्वारा राष्ट्रों के केन्द्रीयकरण में निभाई गई भूमिका।

मार्क्स (Marx) इस पक्ष में नहीं थे कि पूर्व की क्रांतियों की भाँति श्रमिक-वर्ग नौकरशाही पर अपना नियंत्रण स्थापित करे, अपितु वे इस पक्षे में थे कि श्रमिक-वर्ग नौकरशाही संस्थान को ही नष्ट कर दे।

मार्क्स (Marx) ने इस बात को पूरी तरह स्पष्ट नहीं किया कि क्रांति के युग में नौकरशाही की स्थिति और भूमिका क्या होगी। साम्यवादी समाज के स्थापित हो जाने पर सच्चे लोकतंत्र का विकास हो सकता है। साम्यवादी समाज में सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को समाप्त कर दिया जाएगा। इससे शोषण तथा सामाजिक वर्ग समाप्त हो जाएँगे। क्रांति के उपरांत के समाज में केवल राज्य का लोप हो जाएगा। जब राज्य पुलिसमैन के रूप में समाप्त हो जाएगा, तो कार्यों की संख्या में मी हो जाएगी और सार्वजनिक शक्ति के द्वारा किए जाने वाले कार्यों की प्रकृति में पूर्ण परिवर्तन आ जाएगा। तब जनता को अभिमानी, पाशविक तथा दमनकारी नौकरशाही की आवश्यकता नहीं रहेगी।

लेनिन के नौकरशाही पर विचार
(Lenin on Bureaucracy)

लेनिन (Lenin) **मार्क्स** (Marx) से सहमत थे कि नौकरशाही परजीवी है और बूर्जुआ समाज के साथ सम्बन्धित है। उनका कहना था कि दो संस्थान राज्य-रूपी मशीन के अत्यधिक तत्त्व हैं- नौकरशाही तथा स्थायी सेना। "नौकरशाही तथा स्थायी सेना बूर्जुआ समाज के शरीर पर परजीवी हैं- वह परजीवी जिसकी रचना इस समाज के भीतरी विरोधाभासों के कारण होती है। यह वह परजीवी है जो इसके जिवन के सभी छिद्रों को बन्द कर देती हैं।

लेनिन (Lenin) यह मानते हैं कि नौकरशाही जैविक तौर से पूँजीवादी राज्य के साथ बँधी हुई है। इसको विश्लेषण की एक स्वतंत्र इकाई नहीं समझा जा सकता। नौकरशाही के द्वारा किसी भी ऐसी क्रांति की कल्पना नहीं की जा सकती जो शासक वर्ग के आधार पर और जड़ों पर आक्रमण करती हो। **लेनिन** (Lenin) लिखते हैं कि "नौकरशाह बूर्जुआ के सबसे अधिक विश्वसनीय नौकर हैं जो इसके साथ हजारों धागों से जुड़े हुए हैं। नौकरशाह निष्पक्ष नहीं हो सकते, श्रमिक वर्ग के प्रति मित्रतापूर्ण होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता; अपनी सामाजिक स्थिति-सम्बन्धों तथा पर्यावरण के कारण वह अनिवार्य रूप से बूर्जुआ पक्ष का समर्थ करेंगे। वह श्रमजीवी राज्य के आदेशों का पालन करने के लिए पूर्णतया आयोग्य है। उनको नौकरशाही पर एतराज इसलिए था, क्योंकि नौकरशाह एक विशेष सुविधा-प्राप्त समूह है जिनको उच्च बूर्जुआ स्तर पर उच्च वेतन वाले

पद प्राप्त होते हैं और इसलिए भी कि पुलिस तथा नौकरशाही जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं होती और इनको जनता से ऊपर समझा जाता है।

क्रांति के उपरान्त नौकरशाही का कया बनेगा? लेनिन की मूल धारणा यह थी कि राजनीतिक शक्ति को जीत लेने के उपरान्त श्रमिक पुराने नौकरशाही यंत्र को नष्ट कर देंगे। वह इसकी बुनियादों तक इसको तोड़ डालेंगे और इसको धराशायी कर देंगे।

किन्तु उनको इस बात का आभास था कि समाजवादी समाज का प्रबन्ध करने के लिए भी किसी-न-किसी प्रशासनिक यंत्र की जरूरत होगी। उनका विचार था कि श्रमिक पुराने उपक्रम के स्थान पर नया बना लेंगे। इस बात के प्रयत्न किए जाएँगे कि नए श्रमिकों को नौकरशाह बनने से रोका जा सके। इस दिशा में **मार्क्स** (Marx) तथा **एंजिल्स** (Engles) ने कुछ कार्य करने के लिए सुझाव पेश किए थे-

1. केवल चुनाव ही नहीं, अपितु किसी भी समय वापस बुलाने या पद से हटाने की व्यवस्था होगी;
2. किसी का वेतन श्रमिक के वेतन से अधिक नहीं होगा;
3. सभी के द्वारा नियंत्रण और निरीक्षण को तुरन्त लागू किया जाएगा, ताकि कुछ समय के लिए सभी नौकरशाह बन जाएँ और इसलिए कि कोई भी नौकरशाह न बन सके। **लेनिन** (Lenin) ने बार-बार कहा कि नौकरशाहों की अपेक्षा श्रमिक तथा किसान अधिक अच्छी प्रकार शासन चलाएंगे। पुरानी राज्य-शक्ति के कार्यों को इतना सरल बना दिए जाएंगे, ताकि कोई भी साधारण श्रमिक साधारण कार्यकर्ता का वेतन लेकर उनको आसानी से कर सके।... इन कार्यों से न विशेषाधिकारों की प्रत्येक परछाईं पर सरकारी शान-शौकत की किसी भी समानता को हटा देना जरूरी होगा।

मार्क्स (Marx) के विपरीत **लेनिन** (Lenin) के सामने 1917 के उपरांत रूस में साम्यवादी सरकार का नेता होने के नाते समाजवादी पुननिर्माण की यथार्थ समस्याओं से जूझने का कार्य था। यद्यपि वे इस बात का दावा रकते थे कि हमने नौकरशाही के विरुद्ध लड़ाई में जो कार्य किया है, किसी भी अन्य राज्य ने नहीं किया था। हमने इसको इसकी बुनियादों तक नष्ट कर दिया है। किन्तु फिर भी वह इस बात से जागरूक थे कि ये कार्य बहुत मुश्किल है। इस यंत्र के बिना नई सरकार भी काम नहीं कर सकती थी, जैसा कि उन्होंने एक बार कहा, सरकार की प्रत्येक शाखा ऐसे यंत्र की माँग उत्पन्न करती हैं। वे सोवियत समाज में इंजीनियरों और अन्य विशेषज्ञों की आवश्यकता को स्वीकारते थे और उन्होंने कहा, यही वर्कशापों को चलाना जानते हैं..... कोई और दूसरा नहीं जानता; कोई और दूसरी ईंट नहीं हैं जिसने निर्माण किया जा सकता हो। यहाँ तक कि उन्होंने बूर्जुआ विशेषज्ञों के लिए अधिक अच्छा सलूक और उच्च वेतन देने के लिए संघर्ष किया जो वेतन मजदूरों और यहाँ तक कि पार्टी नेताओं के वेतन से भी अधिक था।

यह स्पष्ट है कि एक मार्क्सवादी सिद्धान्तवादी होने के नाते **लेनिन** (Lenin) ने नौकरशाही पर अपने जो विचार बताए, उनमें तथा राज्य का प्रशासन चलाने के कार्य में लगे हुए सोवियत सरकार के नेता के विचारों में विरोधभास था। उन्होंने यह कहकर इस विरोधभास को दूर करने का यत्न किया कि नौकरशाही के भूतपूर्व कार्य जबकि वे बूर्जुआ वर्ग के साधन के रूप में काम कर रही थी, समाप्त हो गए हैं, किन्तु नौकरशाही व्यवस्था के प्रभाव अभी बचे हुए हैं। **लेनिन** (Lenin) जानते थे कि सोवियत रूस में लोक-कर्मचारियों की बढ़ती हुई संख्या एक बड़ी नौकरशाही का रूप धारण कर रही है और समाजवादी क्रांति इसको समाप्त नहीं कर पाई है। उन्होंने इस कठिनाई का स्पष्टीकरण यह कह कर दिया कि नौकरशाही को तभी पराजित किया जा सकता है यदि समूचे लोगों को राज्य के प्रशासन में भाग लेने के लिए जुटाया जाए....। नौकरशाही को पराजित कर दिया गया, है, शोषकों को समाप्त कर दिया गया है। किन्तु लोगों को सांस्कृतिक स्तर को ऊपर नहीं उठाया जा सका। अतः नौकरशाही अपने पुराने पदों पर आज भी लगे हुए हैं। इनको तभी जबर्दस्ती हटाया जा सकता है यदि श्रमिक-वर्ग और किसानों को इतनो बड़े स्तर पर संगठित किया जाए जो इससे पहले नहीं किया गया।

नौकरशाही एक नए वर्ग के रूप में
(Bureaucracy as a New Class)

ट्राटस्की के विचार (Trotsky's Views)

ट्राटस्की (Trotsky) इस मार्क्सवादी विचारधारा से सहमत है कि नौकरशाही शासनकर्ता बुर्जुआ वर्ग के हितों का पालन करती हैं। 1923 के उपरांत उन्होंने जो लेख लिखे (जैसे उनकी पुस्तक The Revolution Betrayed) उनमें नौकरशाही ही उनके ध्यान

का मुख्य केन्द्र थी। उन्होंने कहा कि नौकरशाही का होना प्रत्येक वर्गशासन की विशेषता होती है। इसकी शक्ति प्रतिबिम्बित प्रकार की होती है। नौकरशाही बाध्यकारी रूप से शासन करने वाले अधिक वर्ग के साथ बँधी हुई होती है जो इस वर्ग की सामाजिक जड़ों से अपना आहार प्राप्त करती है और इसी वर्ग के साथ ही यह अपने आपको कायम रखती है या इसके साथ की गिरती है। नौकरशाही एक साधन या यंत्र है जो शासक वर्ग का किराए का नौकर है और जिसको प्रत्येक वर्ग-समाज में दखा जा सकता है। उनका विश्वास था, चूंकि नौकरशाही बूर्जुआ राज्य के साथ जुड़ी हुई है, ऐसे राज्य के विरुद्ध श्रमिक क्रांति ऐसी परिस्थितियों को उत्पन्न कर देगी जो नौकरशाही को समाप्त करने के लिए अनिवार्य होती है।

ट्राटस्की (Trotsky) यह मानते थे कि नौकरशाहीवाद एक सामाजिक घटना है। यह लोगों और वस्तुओं के प्रशासन की एक निश्चित व्यवस्था है। यह एक विशिष्ट अभिनिर्धारिणीय सामाजिक स्तर अर्थात् नौकरशाही का कार्य करने का ढंग है, व्यवहार करने के ठेठ तरीके और एक विशिष्अ मनोवैज्ञानिक बनावट है। उन्होंने नौकरशाहीवाद के फैलने के विरुद्ध काम किया जो कि अतीत के वर्षों में संयोजित प्रशासनिक आचार-रूपों और कार्य-पद्धतियों को पार्टी को सौंप देने का परिणाम था।

ट्राटस्की (Trotsky) के अनुसार नौकरशाही केवल साम्यवादी समाज में ही लुप्त हो जाएगी जहाँ न कोई वर्ग-भेद रहेंगे और न शोषण। यह निरर्थक या फालतू बन जाएगी। यह समाज में लुप्त हो जाएगी और प्रशासनिक कार्य अपनी शोषक प्रकृति को छोड़ देंगे। नए समाज में प्रशासनिक व्यवस्था वस्तुओं के प्रशासन का कार्य करेगी, न कि लोगों के प्रशासन का जैसे कि बूर्जुआ और नौकरशाही में होता था।

1930 के उपरान्त ट्राटस्की (Trotsky) इस बात पर बल देते रहे कि अक्टूबर क्रांति के साथ विश्वासघात किया गया है, यह विश्वासघात स्वार्थी नौकरशाह वर्ग के द्वारा किया गया है जो श्रमिक वर्ग के सच्चे संरक्षक बोलशेविक पार्टी (Bolshevik Party) को नष्ट करने में सफल हुआ है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, वे नौकरशाहीवाद के फैलने के विरुद्ध कार्य करते रहे। वह नौकरशाही के तानाशाही के विरुद्ध थे। उनको इस बात का द ढ़ विश्वास था कि व्यावसायिक नौकरशाही के विशेष्ज्ञ सुविधा-प्राप्त निश्चित समूह के साथ-साथ राज्य के ढाँचे को भी अंततः समाप्त कर दिया जाएगा। किन्तु अंतरिम समय में नौकरशाही को रखना जरूरी है। अपर्याप्त संसाधनों के लिए संघर्ष में मध्यस्थता करने, अधिकतम उत्पादन को प्रोत्साहित करने और जब तक अपवाद तथा अभाव मौजूद है, विभाजन, को नियंत्रित और रखवाली करने के लिए इसकी आवश्यकता है; और जब तक इन कार्यों को करने की आवश्यकता है, वेतन-प्रलोभन जैसे पूंजीवादी तत्त्वों को रखना पड़ेगा, ताकि अधिक काम करने के लिए नौकरशाहों को उत्साहित किया जा सके।

एक सच्चे मार्क्सवादी होने के नाते **ट्राटस्की** (Trotsky) इस विचार पर डटे रहे कि नौकरशाही एक स्वतंत्र वर्ग नहीं है, यद्यपि ऐसा हो जाने का भय, उनको कभी-कभी रहता था। यदि सोवियत संघ में प्रभुत्वकारी नौकरशाही एक नया शासक वर्ग है, तो श्रमिक वर्ग को वंचित कर दिया गया है और यह एक नए प्रकार के शोषक समाज का अस्तित्व कायम हुआ है। उन्होंने कहा, यदि वोनापार्टिस्ट (Bonarpartist) कुड़ा-कर्कट एक वर्ग है तो इसका अर्थ यह हुआ कि गर्भपात नहीं, अपितु इतिहास का एक सेने योग्य बच्चा है। यदि इसकी लूटमार की परजीविता शब्द के वज्ञानिक अर्थ में शोषण है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि नौकरशाही का शासक वर्ग के रूप में एक एतिहासिक भविष्य है जो किसी अर्थव्यवस्था के लिए अनिवार्य हैं। **ट्राटस्की** (Trotsky) रूस में स्टालिन के शासन के आलोचक थे और वे मानते थे कि बूर्जुआ समाज को समाजवादी समाज के ढाँचे में ढालने की प्रक्रिया में यह एक घ णामीय पूर्व स्थिति में लौटाना है। यदि दूसरी ओर, **स्टालिन** (Stalin) का शासन एक नया शोषक समाज का पहला चरण है तो नौकरशाही एक ना शोषक वर्ग बन जाएगी। सोवियत राज्य में इन प्रव त्तियों के बावजूद और सोवियत नौकरशाही को बहुत राजनीतिक शक्ति, आर्थिक सुविधाएँ तथा बड़े पैमाने पर स्वतंत्रता प्राप्त होने के बावजूद भी वे इसको एक स्वतंत्र वर्ग नहीं मानते थे। उत्पादन में नौकरशाही की कोई स्वतंत्र भूमिका नहीं है और न ही उत्पादन के साधनों में इसकी कोई सम्पत्ति है। इसके पास न स्टॉक है, न पूंजीपत्र। प्रशासनिक पदसोपान के रूप में इसकी भर्ती-सहायता तथा पुनर्नवीनता अपने किसी भी विशेष सम्पत्ति-सम्बन्धों से स्वतंत्र होती है। कोई भी एक नौकरशाह राज्य को शोषक उपक्रम में अपने अधिकारों को अपने उत्तराधिकारियों के लिए नहीं छोड़ सकता..... यह एक वर्ग नहीं है। **ट्राटस्की** (Trotsky) यह मानते थे कि केवल एक वर्ग ही एक स्वतंत्र ऐतिहासिक शक्ति हो सकता है। निश्चित रूप से यह उस समाज को लूटती

है जिसमें यह रहती है, किन्तु जब तक यह उन सम्पत्ति-सम्बन्धों के आधार पर ऐसा करती जो कि आधुनिक पादरी वर्ग, यह बूर्जुआ शोषण की भांति वर्ग-शोषण नहीं है।

नया वर्ग सिद्धान्तवादियों के दो द ष्टिकोण
(Two Angles of New Class Theorists)

मार्क्सवादी भले ही स्वीकार न करें, क्योंकि ऐसा करना **मार्क्स** का खंडन करना होगा, किन्तु नौकरशाही के तकनीकी द ष्टि से परिशिक्षित और विशेषीकृत समूह के रूप में उभरने को एक 'नया वर्ग' के रूप में देखा जाने लका। एक ओर तो विश्व भर का नया वर्ग सिद्धान्तवादी हैं और दूसरी ओर समाजवादी विचारक।

संसारवर्ती नए वर्ग सिद्धान्तवादियों में अधिक प्रसिद्ध हैं **लौराट** (Laurat) रिजी (Rizzi) **बर्नाहम** (Burnaham) आदि-आदि। रिजी (Rizzi) उन पहले विचारों में से थे जिन्होंने यह तर्क दिया कि नौकरशाही उसी प्रकार सम्पत्ति की स्वामी है, जैसे कि पूँजीवादी होते थे। जब यह श्रमिकों का शोषण करती है, तो यह उसका स्वामी है और श्रमिक जो उत्पादन करते हैं, उसका अतिरिक्त मूल्य यह छीन लेती है; यद्यपि ऐसा व्यक्तिगत रूप में नही, किन्तु सामूहिक रूप में किया जाता है। रिजी (Rizzi) यह स्वीकार करते हैं कि स्वामित्व का यह तरीका बूर्जुआ स्वामितव के भिन्न है, किन्तु फिर भी यह स्वामित्व ही है। वे यह मानते हैं कि स्वामित्व का यह तरीका बूर्जुआ स्वामितव से भिन्न है, किन्तु फिर भी यह स्वामित्व ही है। वे यह मानते हैं कि जो नौकरशाही रूप में शासन कर रही है, वह एक वर्ग की है और यह समाज के सभी क्षेत्रों पर प्रभुत्व रखती है। उनका आगे चलकर यह भी कहना है कि "रूस में नौकरशाही शासन ने पहले कम्युनिस्ट पार्टी और थर्ड इन्टरनेशलन (Third International) को बलिदान किया और फिर स्वयं लाल सेना (Red Army) का।" उनका कहना है कि इस प्रकार के बड़े कार्य गुटों, सलाहकारों अथवा क्लकों ं के द्वारा नहीं किए जा सकते; केवल वर्ग ही ये कार्य कर सकते हैं।

नए वर्ग के विचारकों की दूसरी श्रेणी साम्यवादी राज्यों के अन्द सहमति रखने वालों की है। इनमें से सबसे अधिक महत्वपूर्ण युगोस्वालिया के **मिलोवन दिलास** (Milovan Djilas) है। **दिलास** (Djilas) ने नौकरशाहीवाद और नौकरशाही पर 1948 में अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन में फूट पड़ जाने और 1949 के रजिक (Rajik) मुकदमें के उपरान्त सोवियत रूस पर युगोस्लाविया आलोचकों के रूप में लिखना शुरू किया था। उनका तर्क था कि सर्वहारा वर्ग का तानाशाही शासन दो में से एक दिशा में चल सकता हैं- या तो स्वयं समाप्त हो जायेगा अथवा नौकरशाही को विशेषाधिकार प्राप्त जाति में परिवर्तित करने ओर मजबूत करने की दिशा में, जो समूचे समाज की लागत या खर्च पर जीवित रहता है। उन्होंने कहा कि रूसी नौकरशाही में परम्परागत शासक वर्गों की सभी विशेषताएँ हैं, अर्थात् विभाजन तथा उत्पादन पर एकाधिकार नियंत्रण, अधिशेष के अधिक हिस्से को अपने लिए बटोरना तथा उत्पादकों की लागत पर जीवित रहना। फिर भी उन्होंने कहा कि नौकरशाही एक जाति है, वर्ग नहीं, क्योंकि उत्पादन के साधनों पर इसका स्वामित्व नहीं है।

किन्तु इसके बाद उनके विचारों में और स्पष्टता आई। उन्होंने कहा कि शासक नौकरशाही राजनीतिक नेत त्व का दर्जा रखती है और बाकी सामाजिक स्तर के अधीन हैं। सम्पत्ति के स्वामित्व के सम्बन्ध में उन्होंने कहा " ..... सम्पत्ति का अभिप्राय भौतिक सामान का प्रयोग, उपभोग तथा प्रबन्ध करना है। नया वर्ग अपनी शक्ति विशेषाधिकारों, विचाराधारा और अपने रीति-रिवाजों को एक विशेष प्रकार के स्वामित्व से प्राप्त करता है- वह सामूहिक स्वामित्व जिसमें वर्ग ही राष्ट्र और समाज के नाम पर प्रशासिक और वितरित करता है।

'नया वर्ग' सिद्धान्त के अन्य समर्थक हैं: संयुक्त राज्य अमेरिका के **मैक्स स्बैक्टमैन** (Max Sbakhtman), पोलेण्ड के जैसिक कुरून (Jacek Kuron) तथा कैरोल मोजलियुस्की (Karol Modzelewski) तथा यूगोस्लाविया के स्वीटोजॉर स्टोजैमोविक (Svetozar Stojamovic)। ये सभी इस बात पर सहमत हैं कि अक्टूबर की क्रांति श्रमिकों की ही एक क्रांति थी, किंतु इसके साथ विश्वासघात किया गया है। नौकरशाही भ्रष्टता के कारण एक नया शासक वर्ग सत्तारूढ़ हो गया है।

दोनों द ष्टिकोणों में अन्तर

(Difference between the Two Angles)

संसारवर्ती नया वर्ग सिद्धांतवादी (Global New Class Theorists)	समाजवादी नया वर्ग सिद्धांतवादी (Socialist News Class Theorists)
1. यह संसारव्यापी घटना अथवा स्थिति की पहचान करके उसको स्पष्ट करने का दावा करता है।	1. इसकी महत्वाकांक्षा बहुत सीमित तथा यथार्थ है।
2. औद्योगिक प्रबन्ध तथा इसी प्रकार के कार्यकर्ता, शासक वर्ग के स्थान ले रहे हैं।	2. नया वर्ग उस राजनीतिक नौकरशाही पर आधारित है जो साम्यवादी दल के इर्द-गिर्द बन जाता है
3. नया वर्ग विकसित संसार में उन्नत पूँजीवाद का उत्तराधिकारी बनने की स्थिति है।	3. यह नए वर्ग को संसार को कम विकसित क्षेत्रों क्षेत्रों में तेजी से औद्योगीकरण लाने के साधन के रूप में दखता है।

नौकरशाही पर मैक्स वेबर के विचार

(Max Weber on Bureaucracy)

नौकरशाही का व्यवस्थित अध्ययन जर्मनी के समाजशास्त्री **मैक्स वेबर** (Max Weber) के साथ आरम्भ हुआ। **वेबर** ने नौकरशाही पर जो कुछ लिखा है, उसने जितना प्रभाव डाला है और जितने वाद-विवाद को उत्साहित किया है, उस द ष्टि से यह अनेक विज्ञानों के सामूहिक योगदान से भी अधिक महत्वपूर्ण है। **हॉलिवी** लिखते हैं, **मार्क्स** की भांति **वेबर** सिद्धांत पर भी विस्त त और निरंतर आलोचना हुई है और इस आलोचना का मुख्य निशाना उनकी नौकरशाही की धारणा है। किन्तु वास्तव में यह इस सिद्धांत के प्रभाव का संकेत है। आम तौर पर अनाश्यक सिद्धांतों की अवहेलना कर दी जाती है और उनको शीघ्र ही भुला दिया जाता है। केवल वही सिद्धांत, जो अध्ययन-शास्त्र के विकास के महत्वपूर्ण घटना-चिन्हों का काम करते हैं, को ही बार-बार आलोचना के लिए चुना जाता है। और जितना उन पर अधिक आक्रमण होता है, उतना ही वे अधिक लचीला बन जाते हैं। **वेबर** (Weber) का नौकरशाही का सिद्धांत इस प्रकार का एक स्पष्ट उदाहरण है। नौकरशाही पर अनेक समकालीन लेखक उनके सिद्धांत की आलोचना से आरम्भ करते हैं फिर भी यही लेखक **वेबर** (Weber) के सिद्धांत से परे हटने का प्रयोग अपने विचारों का स्पष्टीकरण करने के लिए करते हैं। केवल यह दिखाने के लिए कि उनके विचार उससे कितने भिन्न हैं। यद्यपि यह टिप्पणी थोड़ी लम्बी है, फिर भी साहित्य में **वेबर** (Weber) के नौकरशाही सिद्धांत और महत्व को ठीक-ठीक चित्रित करती है।

वेबर ने प्रशासन पर बड़ा विस्त त और व्यवस्थित विचार अपनी पुस्तक इकॉनोमी एण्ड सोसाइटी (Economy and Society) के अन्तर्गत प्रभुत्व के समाज विज्ञान में किया है। इस विषय पर उनके अनेक विचार जानने का एक और साधन उनकी एक अन्य पुस्तक है। 'पार्लियामेन्ट एण्ड गवर्नमेन्ट इन द न्यूली ऑरगेनाइज्ड जर्मनी' (Parliament and Government in the Newly Organised Germany)।

शक्ति, सत्ता तथा नौकरशाही

(Power, Authorty and Bureaucracy)

नौकरशाही पर **वेबर** (Weber) की धारणा की शक्ति, प्रभुत्व तथा सत्ता पर व्यक्त किये गए उनके विचारों में देखा जा सकता है। **वेबर** (Weber) ने शक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है, "सम्भावना है कि सामाजिक संबंधों के अन्तर्गत एक व्यक्ति विरोध होने के बावजूद इस स्थिति में होगा कि वह अपनी इच्छा को लागू कर सकता है। अधिकारिक नियंत्रण अथवा प्रभुत्व पदानुक्रम में शक्ति है इस बात की संभावना है कि यदि इसमें विशिष्ट सार हो तो व्यक्तियों के समूह में इसका पालन किया जाएगा। सत्ता के प्रयोग में यह अनिवार्य है कि एक व्यक्ति अपने अधीनस्थ समूह को सफलतापूर्वक आदेश जारी करता है और वह इसका

पालन इस विश्वास के साथ करता है कि आदेश विधिवत् हैं। अतः विधिवत् होना या वैधता ही शक्ति और प्रभुत्व को सत्ता में बदल देती है।

वेबर (Weber) ने सत्ता का वर्गीकरण वैधता पर इसके दावे के आधार पर किया है, क्योंकि इसी पर ही या आश्रित है कि उसका पालन किस प्रकार होता है, किस प्रकार का प्रशासनिक स्टॉफ इसके लिए उपयुक्त है और किस ढंग से सत्ता का प्रयोग होता है। यह वर्गीकरण तीन प्रकार का है-

परम्परागत सत्ता (Traditional Authority)– इसकी वैधता इस बात पर है कि यह अतीत में बहुत समय से चलती आ रही है। यह प्राचीन परम्पराओं की पवित्रता में स्थापित विश्वास तथा उन लोगों के स्तर पर वैधता पर आधारित है जिनके अधीन वे सत्ता का प्रयोग करते हैं।

चमत्कारित सत्ता (Charismatic Authority)– इस सत्ता की वैधता प्रयोग करने वाले व्यक्ति की उत्कृष्ट व्यक्तिगत नेत त्व की विशेषताओं पर आधारित होती है। इसका आधार एक व्यक्ति के आदर्शात्मक चरित्र अथवा शौर्य के प्रति आसाधारण पवित्रता और भक्ति है तथा मूल्यों की व्यवस्था होती है जिसकी स्थापना उसने कर रखी है।

कानूनी विवेकशील सत्ता (Legal Rational Authority)– इसकी वैधता का आधार यह है कि यह उचित औपचारिक नियमों के अनुकूल होती है और सत्तारूढ़ व्यक्तियों के इस आधार पर कि उनको नियमों के अधीन आदेश जारी करने का अधिकार है। यह इन नियमों की वैधता के विश्वास पर आधारित है।

सत्ता का जो वर्गीकरण **वेबर** (Weber) ने किया, उससे उसे संगठनों का वर्गीकरण करने का आधार प्राप्त हो गया। जैसा कि उन्होंने कहा, "सारी सत्ता की बुनिया और इस प्रकार आदेशों का सभी प्रकार का पालन सम्मान में विश्वास पर अधारित है, जो शासक अथवा शासकों के लाभ के लिए कार्य करती है। सत्ता की वैधता में विभिन्न प्रकार के विश्वासों के साथ विभिन्न सत्त के ढाँचे और संगठनात्मक स्वरूप जुड़े हुए होते हैं।

परम्परागत सत्ता परम्परागत संगठनों का आधार होती है। चमत्कारित सत्ता चमत्कारित आंदोलनों का आधार बनती है। कानूनी विवेकशील सत्ता आधुनिक संगठनों का आधार है जिनके साथ लागातार बढ़ता हुआ नौकरशाही प्रशासनिक स्टॉफ जुड़ा होता है।

वेबर का आदर्श प्रारूप
(Weber's Ideal Type)

वेबर (Weber) ने 'नौकरशाही' शब्द का प्रयोग एक निश्चित प्रकार के प्रशासनिक संगठन को बताने के लिए किया। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि पत्र के रूप में आधुनिक नौकरशाही संगठन स्वयं स्वाभाविक है। उन्होंने कभी इस प्रकार स्पष्ट तौर पर नौकरशाही की व्याख्या नहीं की, जैसा की वर्ग अथवा स्तर समूह की व्याख्या की है। **मालटिन एलबरो** (Maltin Albro) कहते हैं कि **वेबर** (Weber) की नौकरशाही की धारणा को इस प्रकार की परिभाषा में व्यक्त किया जा सकता है, "नौकरशही का अर्थ नियुक्त किए गए कर्मचारियों का प्रशासनिक समूह है। वे ऐसे कर्मचारियों को नौकरशाही में सम्मिलित नहीं करते जो निर्वाचित हैं अथवा जिनका चयन लाटरी के द्वारा किया गया है। नौकरशाही कर्मचारियों की अनिवार्य विशेषता यह है कि वह एक नियुक्त अधिकारी होता है। **वेबर** (Weber) नौकरशाही को ऐसे अधिकारियों के समूहों के लिए सामूहिक शब्दावली मानते थे जो एक निश्चित तथा अलग समूह होता है और जिसका प्रभाव सभी बढ़े संगठनों, जैसे-राज्य, चर्च, राजनीतिक दल, मजदूर संघ, व्यापारिक उपक्रम, विश्वविद्यालय आदि में देखा जा सकता है। इसके अपने ही अलग प्रकार के कार्य होते हैं।

वैध विवेकशील सत्ता अमुक संबंधित विश्वासों पर आधारित होती है:

1. एक विधि संहिता तैयार की जा सकती है जो संगठन के सदस्यों से आदेश पालन का दावा कर सकती है।
2. प्रशासन संगठन के हितों को कूानन के दायरे में रहकर संगठन के हितों की देखभाल करता है, कानून काल्पनिक नियमों का वह समूह है जो विशिष्ट मुकदमों अथवा घटनाओं पर लागू होता है।
3. जो व्यक्ति सत्ता का प्रयोग करता है, वह भी इस अवैयक्तिक आदेश का पालन करता है।
4. एक सदस्य कानून का पालन सदस्य के रूप में ही करता है।

5. अन्त में, वफादारी उस व्यक्ति के प्रति नहीं होती जिसके हाथ में सत्ता है, अपितु उस अवैयक्तिक विधि अथवा आज्ञा के प्रति होती है जिसने उसको उस पद पर नियुक्त किया है।

रमेश अरोड़ा ने बड़े सुन्दर ढंग से कानूनी विवेकशील सत्ता के अधीन प्रशासनिक स्टाफ जिसका वर्णन **वेबर** (Weber) का ने किया है, की विशेषताओं और सिद्धांतों को निष्कर्षित किया है। ये विशेषताएँ हैं-

1. अपने विशुद्ध रूप में कानूनी सत्ता नौकरशाही प्रशासनिक स्टाफ का प्रयोग करती है।
2. नौकरशाहों की विशेषताएँ इस प्रकार है (पीछे दिए गए संगठन के सिद्धांतों पर अध्याय को भी दिखए)-
   (i) वे केवल अपने पद की हैसियत में ही सत्ता के अधीन होते हैं।
   (ii) वे पदानुक्रम अथवा पदसोपान के रूप में संगठित होते हैं।
   (iii) प्रत्येक पद की निश्चित की गई योग्यता होती है।
   (iv) पदों पर नियुक्तियाँ आजाद चयन के द्वारा की जाती है।
   (vi) अधिकारियों की नियुक्तियाँ उनकी तकनीकी योग्यता के आधार पर की जाती हैं।
   (vii) उनका वेतन धन में दिया जाता है, यह वेतन निश्चित होता है और इनके वेतन क्रम स्तरों के रूप में होते हैं। इनको पेंशन भी दी जाती है।
   (viii) उनका पद अथवा नौकरी ही उनका प्राथमिक व्यवसाय होता है।
   (ix) नौकरशाही जीवनकालिक उन्नपति प्रदान करती है जिसमें पदोन्नति वरिष्ठता और/अथवा उपलब्धि के आधार पर होती है।
   (x) कर्मचारी के प्रशासन के साधनों से अलग कर दिया जाता है।
   (xi) अपने पद का कार्य करते हुए कर्मचारी अनुशासन के अधीन होते हैं।
3. नियुक्ति एवं महत्वपूर्ण विशेषता है, क्योंकि निर्वाचन से पदानुक्रम-संबंधी अनुशासन में बाधा पड़ती हैं।
4. यद्यपि नौकरशाही का सर्वोच्च अध्यक्ष एक नौकरशाही नहीं होता, फिर भी विशेषीकृत ज्ञान को अति अनिवार्य समझा जाता है।
5. अपने विशुद्ध रूप में प्रशासनिक नौकरशाही स्टॉक तानाशाही प्रकार का होता है।
   (i) मनुष्यों पर आदेशक नियंत्रण रखने के लिए यह अति उत्तम विवेकपूर्ण साधन है।
   (ii) इसकी उच्चता का प्राथमिक स्रोत इसका तकनीकी ज्ञान है।
   (iii) वह वर्तमान नौकरशाही सत्ता से तभी बच सकता है यदि किसी अन्य नौकरशाही सत्ता की स्थापना करे।
   (iv) पूँजीवाद नौकरशाहीवाद की दिशा में एक मुख्य प्रेरणा रहा है।
   (v) नौकरशाही के विकास के सामाजिक बराबरी को बढ़ावा मिलता है और सामाजिक बराबरी नौकरशाही का समर्थन करती है और नौकरशाही के पक्ष में होती है।

आदर्श प्रकार की नौकरशाही की इन विशेषताओं को **वेबर** (Weber) ने प्रशासन के प्रशासनिक सिद्धांतों और यूरोप के प्रशासनिक इतिहास से लिया। किन्तु यह याद रखना चाहिए कि यह एक आदर्श प्रारूप है (लक्ष्य नहीं) जिसको विशुद्ध अथवा अभीसिप्त रूप में वास्तविकता में नहीं पाया जा सकता। पश्चिमी औद्योगिक देशों की प्रशासनिक व्यवस्थाएँ काफी हद तक इस आदर्श प्रारूप से मिलती है। जब **वेबर** (Weber) किसी निश्चित वास्तविक प्रशासनिक संगठन के संबंध में लिखते हैं तो वे इनको नौकरशाहियों का नाम देते हैं। यद्यपि उनमें से किसी में भी इन सभी अथवा इन्हीं विशेषताओं को न पाया जाता हो।

वेबर (Weber) इस बात पर **मार्क्स** (Marx) और **लेनिन** (Lenin) से सहमत नहीं हैं कि नौकरशाही पूँजीवाद के साथ जुड़ी हुई होने के कारण लुप्त हो जाएगी, जबकि समाजवादी क्रांति के द्वारा पूँजीवाद को नष्ट कर दिया जाएगा। वह इस बात पर बल देते हैं कि नौकरशाही एक स्वतंत्र इकाई है और समाज चाहे पूँजीवादी हो या समाजवादी, यह फिर भी जीवित रहेगी। इसके दो कारण हैः प्रथम, क्योंकि नौकरशाही का उदय उन तत्त्वों के कारण हुआ है जिन्होंने आधुनिक समाज की स्थापना

की है, जैसे- पूँजीवाद, केन्द्रीयकरण की प्रव त्तियों तथा जनसमूह- लोकतंत्र। यह ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिनको समाप्त नहीं किया जा कसता। **वेबर** नौकरशाही को ऐसे समाज का एक अभिन्न हिस्सा मानते हैं जो श्रमजटिल विभाजन, केन्द्रित प्रशासन तथा मुद्रा-अर्थव्यवस्था पर बना है। इसको किसी हालत में नष्ट नहीं किया जा सकता। वेबर का कहना है, बाकी सभी शर्तें के एक जैसा होते हुए, यदि तकनीकी द ष्टि से नौकरशाही प्रशासन सदा ही सर्वाधिक विवेकशील प्रकार का है, तो जन-समूह-प्रशासन की आवश्यकताएँ आज इसको पूर्णतया अनिवार्य बना देती हैं। प्रशासन के क्षेत्र में नौकरशाही और पल्लवग्राहिता (ललित कलाओं का प्रशंसक) के बीच ही चुनाव करना होगा।"

वेबर (Weber) ने केवल आधुनिक राज्यों और निजी पूंजीवादी उपक्रमों में ही नौकरशाही प्रव त्तियों को देखते हैं, अपितु अधुनिक सेना, चर्च तथा विश्वविद्यालयों में भी इन प्रव त्तियों को पाते हैं। उनका कहना है कि सेना, चर्च तथा विश्वविद्यालयों में धीरे- धीरे प्राचीन तत्व समाप्त हो गए हैं। स्थायी सेनाएँ भौतिक धन और परिणामस्वरूप सार्वजनिक क्षेत्र की बढ़ती हुई भूमि का संचार के आधुनिक साधन, वयस्क मताधिकार, जनसमूह, राजनीतिक दलों का उदय जैसे राजनीतिक तत्त्व सभी नौकरशाहीवाद की दिशा में काम करते हैं

वेबर (Weber) मानते हैं कि विकसित नौकरशाही की अनिवार्यता आधुनिक युग का केन्द्रीय राजनीतिक सत्य है। एक व्यक्तिगत नौकरशाह, "निरन्तर चलते रहने वाले यंत्र-रचना में शक्तिहीन पुर्जा होता है जो उसके लिए चलने का एक निचित मार्ग कर देता है। जो भी कोई शक्ति को प्राप्त करता है, इस संगठन के बिना शासन नहीं कर सकता।

न केवल नौकरशाही अपरिहार्य है, अपितु इसके प्रभाव से बचा नहीं जा सकता। Martin Krygier का कहना है कि "एक प्रशासनिक संगठन के रूप में जो हर प्रकार के उपक्रम में पाया जाता है, इसका प्रभाव आधुनिक संसार में विवेकशीलता के किसी भी अन्य वाहक की अपेक्षा बहुत अधिक विस्त त है और प्रशासनिक संगठन के रूप में सबसे अधिक विकसित होने के कारण यह अधिक शक्तिशाली है और संगठन के पिछले किसी भी रूप की अपेक्षा इसके प्रभाव से बचना अधिक कठिन है।

नौकरशाही तथा पूंजीवाद
(Bureaucracy and Capitalism)

जैसा की ऊपर कहा गया है, **वेबर** (Weber) नौकरशाही को उत्पादन की पूँजीवादी व्यवस्था से नहीं बाँधते। इसमें कोई संदेह नहीं कि वे नौकरशाही के उदय के पूँजीवादी व्यवस्थ की प्रकृति के सन्दर्भ में व्याख्या करते हैं (जहां कहीं पूंजीवाद पनपता है, नौकरशाही का उदय होता है), किन्तु पूंजीवाद तो नौकरशाही की उत्पत्ति के कई कारणों में से एक कारण हैं। नौकरशाही की उत्पत्ति अथवा बने रहना तो अन्य परिस्थितियों जैसे समाजवाद में भी हो सकता है। एक समाजवादी क्रांति का परिणाम श्रमिक वर्ग के तानाशाही शासनक के रूप में नहीं हो सकता। आधुनिक जनसमूह समाज में इसका परिणाम नौकरशाहों के तानाशाही शासन के द ढ़ीकरण में ही हो सकता है। समाजवादी अर्थव्यवस्था पर आधारित समाज में नौकरशाही अखंडित अचल ढाँचा बन जाता है।

पूंजीवादी को विकास के वर्तमान रूप में नौकरशाही की आवश्यकता है, दूसरी ओर पूजीवाद नौकरशाही प्रशासन का सर्वाधिक विवेकशील आर्थिक आयधार है और इसको सर्वाधिक विवेकशील रूप में विकसित करने के योग्य बनता है। यदि पूँजीवाद को समाप्त भी कर दिया जाए, नौकरशाही तो भी रहेगी। पूंजीवादी समाज में निजी और लोक नौकरशाहियाँ कुछ हद तक एक-दूसरे को रोकती हैं। किन्तु यदि निजी पूँजीवाद समाप्त कर दिया जाय, तो ये नौकरशाहियाँ एक ही पदानुक्रम में मिल जाएँगी, तब केवल राज्य की नौकरशाही ही शासन करेगी और **वेबर** (Weber) ऐसी परिस्थिति को पसन्द नहीं करते थे।

नौकरशाही के परिणाम
(Consequences of Bureaucracy)

वेबर (Weber) को वर्तमान युग में नौकरशाही के प्रति विरोधहीन फैलाव के सामाजिक और राजनीतिक परिणामें से बहुत चिन्ता थी। **मार्टिन क्रीगियर (Martin Krygier) वेबर** (Weber) की चिन्ता के दो कारण मानते हैं: प्रथम, सारे समाज का नौकरशाहीकरण, जिसका अभिप्राय हैं- नौकरशाही मूल्यों, विचार प्रवाहों और व्यवहार का सारी जनसंख्या के बीच प्रसार। **वेबर** (Weber) की चिंता का दूसरा कारण यह था कि जो नौकरशाही संगठनों में पदाधिकारी हैं, वही राज्य का वास्तविक शासक बन बैठे। **बेंग्ट बआहमसन** (Bengt Abrahmsson) कहते हैं कि वेबर इस बात की सम्भावना को देखते थे कि एक

नौकरशाही मशीन आने शासकों के विरुद्ध विद्रोह कर उठे। उसका कारण यह है कि नौकरशाहियों के पास उच्च तकनीकी तथा व्यावहारिक ज्ञान होता था तथा महत्वपूर्ण सूचना को इकट्ठा करने और प्रसारित करने पर प्रभुत्व रखने की योग्यता भी. होता है। "नौकरशाही प्रशासन का अभिप्राय है– ज्ञान के द्वारा मौलिक प्रभुत्व।

आगे चलकर **वेबर** (Weber) कहते हैं कि यदि नौकरशाही राजनीतिक कार्यवाही करना चाहे, तो इसके शासक आसानी से इसके शिकार बन सकते हैं। उसका कारण यह है कि राजनीतिक शासकों के पास आवश्यक विशेषज्ञता का अभाव होता है जिसे वह नौकरशाही की लगाम करना स्थायी अधिकारियों के लिए कहीं ज्यादा आसान होता है। इसके विपरीत उन अधि ाकारियों के नाम–मात्र वरिष्ठ अर्थात् कैबिनेट मंत्री के लिए इतना आसान नहीं होता। एक और स्थान पर **वेबर** (Weber) चेतावनी देते हैं कि नौकरशाही के पास शक्ति के बहुत अधिक संसाधन होते हैं और यदि उनको राजनीतिक नियंत्रण के अधीन न रखा जाए तो वे स्वयं शासन करने के योग्य बन सकते हैं।

हॉलिवी (Halevy) दो अन्य, किन्तु इनसे जुड़े हुए, परिणामों का उल्लेख करते हैं जिनको संबंध में **वेबर** को चिन्ता थी। उन्होंने नौकरशाही के भीतर व्यक्ति अर्थात् नौकरशाही एक ऐसे व्यक्ति को पैदा करते हैं जो एक बड़ी मशीन में एक छोटा सा पुर्जा होता है और जो एक बड़ा पुर्जा बनने का यत्न करता है। पूँजीवाद और नौकरशाही दोनों ही एक तकनीकी विशेषज्ञ को पैदा करते हैं जो अतीत के सुसंस्कृत व्यक्ति का स्थान ले लेता है जिसको अपने उच्चता में विश्वास होता था। **वेबर** (Weber) का कहना है कि "भावना के बिना विशेषज्ञ, हृदय के बिना विलाासी, यह शून्यता समझती है कि यह सभ्यता के उस स्तर पर पहुंच गया है जहाँ वह पहले कभी नहीं पहुंचा था।" नौकरशाही के आलोचक इसको मानवताहीन व्यक्ति का नाम देते हैं। **वेबर** (Weber) की द ष्टि में नौकरशाही का एक और परिणाम, जिसके उल्लेख **हालिवी** (Halevy) ने किया है, वह संगठन की अधिकता जो स्वतंत्रता के पूर्णतया विपरीत होती हैं।

नौकरशाही सिद्धान्त का मूल्यांकन
(Evaluation of the Bureaucratic Theory)

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक द ष्टि से वेबर की आलोचना करते हैं। वह यह मानते हैं कि वेबर का सिद्धान्त समाज पर पूंजीवादी प्रभुत्व को उचित ठहराता है। उनका तर्क है कि वैबर के तथाकथित 'इतिहास का दर्शन' (Philosophy of history) का इरादा सत्ता या प्रभुत्व को विधिसंगत बनाना था और इसके द्वारा ग हयुद्ध या वर्ग-संघर्ष को केवल 'शक्ति की राजनीति' का रूप देना था. ..... सामाजिक यथार्थता (प्रभुत्व) को रहस्यपूर्ण बनाना पैगम्बरों का पेशा रहा है। किसी के लिए यह समझना कठिन नहीं है कि क्या वैबरवाद एक विज्ञान है या भविष्यवाणी। विज्ञान के नाम पर कल्पना का प्रचार करना पूंजीवाद की ऐतिहासिक आवश्यकता है।

यह भी कहा जाता है कि वैबर ने नौकरशाही का जो विश्लेषण किया है, वह अपूर्ण है, विशेषतया नौकरशाहियों के भीतर जीवन के व्यवहारात्मक पक्षों की द ष्टि से। यह भी कहा जाता है कि नौकरशाही के पदसोपान पर आधारित सत्ता के ढांचे और अवैयक्तिक कार्यविधियां ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न कर सकती हैं जो सहायक के तौर पर कार्य करने की इसकी योग्यताओं को कम कर दे या सीमित कर दें। मर्टन (Merton) का तर्क है कि "नियमों और पदसोपान पर आधारित सत्ता-सम्बन्धों के द्वारा नियंत्रण पर नौकरशाही जो बल देती है, उसका उद्देश्य भले ही विश्वस्ता और पूर्वसूचनीयता को बढ़ाना हो, किन्तु उससे सारे संगठन में व्यक्तिगत और समूह स्तरों पर व्यावहारिक कट्टरता, जाखिक-भरे निर्णय करने से कतराना और बचाव के सामान्य रवैये को प्रोत्साहन मिलता है।"

यह भी कहा जाता है कि बाहर से अच्छे व्यवस्थित और अनुशासित दिखाई देने वाले नौकरशाही के औपचारिक ढांचे के भीतर स्थिति और शक्ति के लिए सर्वत्र फैले हुए संघर्ष की वास्तविकता छिपी पड़ी है।

नौकरशाही एक अपूर्ण औजार है-

1. यह बहुत अधिक व्यावसायीकृत कर्मचारियों की आवश्यकताओं के लिए उचित नहीं, क्योंकि इसकी संरचना में सत्ता ऊपर से नीचे की ओर आती है।
2. आज की विज्ञान पर आधारित सभ्यता में प्रभावी कार्य करने के लिए भागेदारी का जो वातावरण होना चहिए, वह इसमें नहीं होता, क्योंकि परंपरागत नौकरशाही पदसोपान पर आधारित है, पदों के लिए प्रयत्नशील रहती है ओर धारणा में तानाशाह है।

3. अपनी व्यावहारिक विशेषताओं के कारण विकासशील देशों में तीव्र आर्थिक आर्थिक समाजिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए यह पर्याप्त नहीं है।

अन्त में यह जरूर कहना पड़ेगा कि यदि आधुनिक संगठन आमने सामने के सरल सम्बन्धों से अधिक जटिल है, तो उन सभी में नौकरशाही के तत्व सर्वव्याप्त हैं। सरकार, बड़े बड़े व्यापारिक संगठन, विश्वविद्यालय, धार्मिक संस्थान, राजनीतिक दल आदि अधिकतर नौकरशाही धारणाओं पर ही आधारित हैं। यद्यपि नौकरशाही के अन्त की भविष्यवाणी कई बार की गई, फिर भी इसका कोई विकल्प ढूंढ़ा नहीं जा सका जो इतने अच्छे तरीके से जटिल संगठन में व्यवस्था की स्थापना कर सके। मानव जाति पर नौकरशाही का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है, किन्तु यह संगठन के प्रति सम्पूर्ण सिद्धांत होने से अभी बहुत पीछे है। यही कारण है कि प्रतिनिधि नौकरशाही, भागेदारी नौकरशाही, संतुलित नौकरशाही आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के संशोधनों का सुझाव दिया गया है, ताकि उसको अधिक जीवनसंगत (Viable) बनाया जा सके।

संगठन का शास्त्रीय सिद्धांत तीन धाराओं में विकसित हुआः नौकरशाही सिद्धान्त, प्रशासनिक सिद्धान्त तथा वैज्ञानिक प्रबन्ध। वे लगभग एक ही समय पर विकसित हुए (सन् 1900-1950), किन्तु इनका समर्थन करने वाले लेखक तीन प थक समूहों से सम्बन्धित थे जो एक-दूसरे से लगभग स्वतंत्र रूप से काम कर रहे थे।

नौकरशाही सिद्धांत का विकास अधिकतर समाजशास्त्रियों ने किया जिनका द ष्टिकोण अपेक्षाकृत वर्णनात्मक, विद्वतापूर्ण तथा अनासक्त था। दूसरी ओर दोनों अन्य सिद्धान्तों-प्रशासनिक सिद्धान्त और वैज्ञानिक प्रबन्ध सिद्धान्त, का विकास ऐसे लेखकों ने किया जिनकी प्राथमिक रुचि प्रत्यक्ष रूप से प्रशासनिक व्यवहार में सुधार करना था। केवल संगठनों का वर्णन करके, संगठनों की क्रियाशीलता बढ़ाने के लिए नियम और व्यवहार निर्धारित करके ही वे संतुष्ट नहीं थे। वैज्ञानिक प्रबन्ध का सिद्धान्त एक सूक्ष्म सिद्धान्त है। कार्य की भौतिक क्रियायें इसके विश्लेषण की इकाई हैं। प्रमुखतया इसकी रुचि श्रमिक तथा उसके कार्य के साथ उसके सम्बन्ध में है। इसमें मनुष्य-मशीन सम्बन्धों पर बल दिया जाता है जिसका उद्देश्य ऐसे उत्पादन कार्यों की क्रियाशीलता में सुधार करना है जो रोजमर्रा के और पुराव त्ति वाले हैं। इसके विपरीत नौकरशाही सिद्धान्त और प्रशासनिक सिद्धान्त मानवीय संगठन के ढांचे और प्रक्रियाओं पर बल देते हैं। वे बड़े (Macro) सिद्धान्त हैं।

अध्याय-25
मन्त्री-लोक सेवक सम्बन्ध
(Minister-Civil Servants Relations)

संसदात्मक प्रजातंत्र में मंत्रियों और लोकसेवकों के मध्य परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रहते हैं। इन्हें प्रशासनिक यान के दो पहिए कहा जा सकता है। मंत्रियों द्वारा निर्मित प्रशासनिक नीतियों के कार्यान्वयन का उत्तरदायित्व लोकसेवकों पर रहता है। लोकसेवकों का कार्य नीति के क्रियान्वयन तक ही सीमित नहीं है वरन् वह उनको बनाने में भी (मंत्रियों को) अपनी विशिष्ट सलाह देते हैं।

मंत्रियों की प्रशासनिक अनभिज्ञता

मंत्री यद्यपि अपने विभाग के अध्यक्ष होते हैं, तथापि विभाग के वास्तविक अनुभवों और प्रशासनिक बारीकियों का उन्हें प्रायः ज्ञान नहीं होता। मंत्रिगण तकनीकी विषयों अथवा प्रशासन की गहराईयों में पहुंचने की सामर्थ्य नहीं रखते। यद्यपि मंत्रियों को भी जनता की समस्याएँ प थक् रूप से जानने का अवसर प्राप्त होता है, तथापि वे उनका सर्वेक्षण उतने तीक्ष्ण तथा विश्लेषणात्मक रूप में नहीं कर पाते जितना कि असैनिक कर्मचारी करते या कर सकते हैं। मंत्रियों के लिए ऐसा होना निम्नलिखित कारणों से स्वाभाविक भी है-

प्रथम, मंत्री-पद पर उनकी नियुक्ति राजनीतिक आधर पर होती है। राजनीतिक दल में उनकी स्थिति, उनके व्यक्तित्व, उनकी व्यवहारिक एवं समान्य योग्यता, प्रधानमंत्री की द ष्टि में उनका महत्व आदि के आधार पर उन्हें मंत्री-पद दिया जाता है न कि उन्होंने कोई विशिष्ट प्रतियोगी परीक्षा उत्तीर्ण की है।

दूसरे, मंत्रीगण अस्थाई रूप से अपने पद पर रहते हैं। उनका कार्यकाल अनिश्चित होता है और वे किसी विभाग के स्थाई अध्यक्ष नहीं होते। वे आते हैं और चले जाते हैं अतः अपना सारा समय और श्रम लगाकर उनसे विभाग की बारीकियों को जानने की आशा नहीं की जा सकती। एक समय में उनके लिए प्रशासन का पूरा-पूरा ज्ञान कर सकना सम्भव नहीं होता।

तीसरे, मंत्रिगण राजनीतिक प्रपंचों और गतिविधियों में इतने फँसे रहते हैं कि प्रशासन के वास्तविक कार्य को संचालित करने का उन्हें बहुत कम हो पाता है। मंत्रियों को संसद् में, जनता में एवं अन्य स्थानों पर विभिन्न उत्तरदायित्वों को पूर्ण करना पड़ता है। इन सबके बाद उनके पास इतना अधिक समय नहीं बच पाता कि वे प्रशासनिक मामलों में अधिक रुचि ले सकें अथवा गहराई से जाँच कर सकें।

उक्त कारणों से मंत्रियों को नौसिखिए या अविशेषज्ञ कहा जाता है। दूसरे शब्दों में वे ऐसे व्यक्ति हैं जो पेशेवर प्रशासक नहीं होते, जिन्हें प्रशासन सम्बन्धी कोई प्रशिक्षण प्राप्त नहीं होता है और जिन्हें प्रायः प्रशासन का पर्याप्त अनुभव नहीं होता। वे केवल राजनीतिक प्रशासक होते हैं।

मंत्रियों की इस प्रशासनिक अनभिज्ञता के सम्बन्ध में विद्वानों ने अनेक रोचक बातें बतायी हैं। मनरो ने लिखा है, "कई अवसरों पर ब्रिटेन का युद्ध मन्त्री कोई दर्शनिक या प्रान्त का नौसेना मंत्री कोई व्यापारी या बैरिस्टर और व्यापार मंत्री विद्यालय का कोई प्रोफेसर रहा है। वित्त मंत्री के सम्बन्ध में तो यह आशा की जानी चाहिए कि इस पद पर कोई ऐसा व्यक्ति नियुक्त किया जाए जो अर्थ (Finance) की बारीकियों से परिचित हो, पर नहीं, अनेक बार अर्थ-मंत्रियों के पद पर ऐसे व्यक्ति भी रह चुके हैं जो पेशेवर राजनीतिज्ञ या वकील थे।''

मंत्रिपद के लिए कोई प्रशासनिक ज्ञान या प्रतियोगी परीक्षा में उत्तीर्णता आदि का आधार नहीं होता, इस पर प्रकाश डालते हुए सिडनी लो ने कहा है, "वित्त मन्त्रालय में द्वितीय श्रेणी के क्लर्क का पद प्राप्त करने के लिए नवयुवक को अंकगणित की

परिक्षा में उत्तीर्ण होना पड़ेगा, पर वित्त मंत्री अधेड़ उम्र का एक ऐसा व्यक्ति भी हो सकता है जो अंकों के अपने थोड़े बहुत ज्ञान को भूल चुका हो जो उसने ईटन अथवा ऑक्सफोर्ड में प्राप्त किया हो और जब दशमलव अंकों में लेखा उसके सामने पहले बार रखा जाए तो वह उन छोटे-छोटे बिन्दुओं का अर्थ जानने के लिए उत्सुक हो।" यहाँ यह स्मरणीय है कि अब यह माना जाने लगा है कि मन्त्रिगण प्रशासन के विशेषज्ञ नहीं होते हैं।

मंत्री लोक सेवक सम्बन्ध
(Minister-Civil Servants Relations)

मन्त्री अपने विभाग की प्रशासकीय नीति बनाता है, प्रशासनिक ढाँचे का निर्धारण करता है, अपने विभाग के अधिकरियों और कर्मचारियों की नियुक्ति, सेवा स्थिति तथा अनुशासन की समस्याएं नियंत्रण भी उसी के माध्यम से परिचालित होता है। यह मंत्री प्रशासक से अपनी भर्ती, योग्यता, राजनीतिक प्रकृति तथा उत्तरदायित्व सभी से भिन्न होता है। प्रशासक या लोक सेवक जो मंत्री के विपरीत विशेषज्ञ, योग्य, स्थायी, गैर राजनीतिक एंव नियुक्ति प्राप्त व्यक्ति होते हैं। भारतवर्ष में जहां ब्रिटिश पद्धति की राजनीति का प्रशासन सदियों से रहा है विशेषज्ञ एवं अपरिपक्व लोग पूरक के रूप में अपनी भूमिकाएं निभाते रहे हैं। स्वतांत के बाद इस सम्बन्ध में जो जटिलता आई है उसके अनेक कारण हैं। प्रशासन का भीमकाय विस्तार, मन्त्रियों की दुर्बल स्थिति, प्रशासन का केन्द्रीय स्वरूप, राजनीतिकरण का जोश, विशेषज्ञों का प्रशासन में पदार्पण अदि कुछ ऐसी बातें हैं जिन्होंने मनी प्रशासक सम्बन्धों में कुछ उलझनें उत्पन्न की हैं। मन्त्री यह मांग करने लगे हैं कि प्रशासक उनके इतने अधीन होने चाहिए कि वे अपनी नीतियों को उनसे क्रियान्वित करवा सकें और उनकी तटस्थता या योग्यता राजनीतिक विकास के मार्ग में बाधा न बने। इसी प्रकार राजनीतिक विकास के बाद अपनी केन्द्रीय स्थिति से अपदस्थ किये जाने वाले प्रशासक ये कहने लगे हैं कि राजनीतिक नियंत्रण का अर्थ राजनीतिक हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। प्रशासनिक स्वायत्ता का नारा राजनीतिज्ञों द्वारा प्रशासनिक गैर जिम्मेदारी कहा जा रहा है और इसी प्रकार मन्त्रियों द्वारा कठोर नियंत्रण की बात प्रशासकों द्वारा राजनीतिक अराजकता कही जाने लगी है। इस नियंत्रण के प्रश्न के चार पहलू हैं-

1. **मन्त्री की नीति निर्माण एवं क्रियान्वयन में भूमिका:** मंत्री के नियंत्रण को प्रशासकीय अध्यक्षता का स्वरूप कहा जा सकता है जिसमें नीति निर्माण और नीति क्रियान्वित सम्बन्धी अन्तिम शब्द कहने का अधिकार केवल मंत्री को ही है। प्रशासक सलाहकार हो सकता है; किन्तु उसकी सलाह चेतावनी अथवा धमकी का रूप नहीं ले सकती। नीति का हर स्तर मंत्री द्वारा नियमित किया जाना चाहिए और प्रशासन व मंत्री में यदि मतभेद हैं तो प्रशासक को उसी सीमा तक अपने कदम वापिस हटाने पड़ेंगे।
2. **संसदीय जनतन्त्र एवं प्रदत्त विधायन:** इस नियंत्रण का एक अन्य आधार एक ओर संसदीय जनतन्त्र की व्यवस्था है तथा दूसरी और प्रदत्त विधि के प्रावधान हैं। सत्ता संसद की थी, उसने मंत्री को दी और मंत्री ने प्रशासन को। अतः प्रशासन को प्रत्यक्ष रूप से किसी के प्रति अनिवार्य रूप से उत्तरदायी होना चाहिए। फिर मंत्री प्रशासन की तुलना में अधिक सच्चा प्रतिनिधि है और संसद, दल तथा जनता उसे नियन्त्रित करने के लिए पर्याप्त हैं। अतः मंत्री प्रशासन को नियंत्रित करेगा, प्रशासन मंत्री को नहीं। जनतांत्रिक परिवर्तन के क्रम में प्रशासन स्थायितत्व का प्रतीक है और मंत्री निरन्तरता का। अतः प्रशासन को मंत्री के निर्देश लेने और मानने होंगे।
3. **प्रशासनिक सिद्धान्त और कार्मिक नीति का निर्धारण एवं सम्पादन:** इस नियंत्रण का परिचालन मुख्य रूप से विधि निर्माण, निर्देश, कर्मचारी प्रशासन तथ पोस्टकॉर्ड विधियों से होता है। सारे नियम, मन्त्री के माध्यम से वैधानिकता प्राप्त करते हैं। वह प्रशासन को स्थायी और विस्त त निर्देश दे सकता है। प्रशासनिक क्रियाओं का पर्यवेक्षण, समन्वय, संगठन, बजट तथा नियंत्रण के अन्य यन्त्र मन्त्री के माध्यम से संचालित होते हैं। अधिकारियों की नियुक्ति, पदोन्नति, सेवा-स्थिति स्वयं मन्त्री द्वारा निर्धारित नीति का परिणाम होते हैं।
4. **मन्त्री-प्रशासनिक सम्बन्धों में समन्वय:** इस प्रकार मन्त्रीय-नियंत्रण प्रशासनिक द ष्टि से यद्यपि आवश्यक और व्यावहारिक माना जाता है कि मंत्री का नियंत्रण उनकी तटस्था को तोड़ते है, उनमें अनुशासनहीनता जगाता है और उन्हें राजनीतिक हस्तक्षेप का शिकार बनाकर अकार्यकुशलता और भ्रष्टाचार की तरफ मोड़ता है। इसके विपरीत मन्त्री का पक्ष यह कहकर समर्थित किया जाता है कि मंत्री के कठोर नियंत्रण के बिना प्रशासक नीति की अनुपालना नहीं करते और स्वंय निहित स्वाथोंर् के प्रतिनिधि बन जाते हैं। जनतंत्र की प्रगति को धीमा करते हैं और समाज को राजनीतिक ह्रास की ओर ले जाते हैं।

इन जटिल समस्याओं से जूझने और उबरने के लिए जो मार्ग दिखलायी देता है वह केवल यही है कि राजनीति और प्रशासन में समन्वय स्थापित किया जाय दोनों अभिनेताओं पर व्यवस्था के अलग-अलग नियंत्रण प्रभावशाली बनाये जायें और उनकी योग्यता एवं भूमिका का असन्तुलन इतना न बढ़ने दिया जाय कि व्यवस्था की वैधता टूट जाये। मंत्री को उसके दल, समाचार-पत्रों, जनमत तथ चुनाव प्रक्रियाओं के द्वारा अनुशासित व्यवस्था बदली जाय। इसी प्रकार प्रशासकों को परम्पराओं द्वारा तथा लोक सेवा सुधारों द्वारा ऐसी स्थिति में लाया जाय कि उनकी योग्यता अनुशासनहीनता का असन्तुलन रोक सके। जब तक राजनीतिज्ञों के धरातल अथवा बौद्धिक स्तर ऊंचा नहीं होता अथवा प्रशासकों का "एलिटिज्म" (अभिजनवाद) घटकर उन्हें जनप्रतिनिधियों के समीप नहीं लाता तब तक यह कहा जाता है कि प्रतिबद्ध नौकरशाही का विचार भारतीय प्रशासन में भारतीय राजनीति के प्रभाव के प्रतिकूल है जो सामान्य रूप से समाजवादी विचारधारा की परछायी लगती है। सोवियत रूस के मॉडल (प्रतिमान) में नौकरशाही का स्वरूप योग्यता आधारित सेवीवर्ग होने की अपेक्षा विचारधारा से अनुप्राणित तक "काडर ब्यूरोक्रेसी" का विचार है जिसे राजनीति के यन्त्र के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। प्रशासन के राजनीतिकरण को सोवियत रूस राजनीतिक नियंत्रण का एक आवश्यक अंग मानता है और वहां पर प्रशासकों की भूमिका नीति निर्माण में सलाह न देना होकर उसे कुशलतापूर्वक क्रियान्वित करना है। देखना यह है कि वर्तमान सोवियत राष्ट्रपति गोर्बाचोव की बहु-चर्चित "खुलापन" (Glasnost) "पुनर्रचना" (Perstroika) और "सोच के नये तरीके" (Novonye Myshlene) की नीतियों का वहां के प्रशासकों पर क्या प्रभाव पड़ता है। अमेरिका में यह नियंत्रण वहां के प्रशासनतां को अर्ध-राजनीतिक बना का पूरा किया गया है। वहाँ प्रत्येक राष्ट्रपति और राज्यपाल अपने राजनीतिक सहयोगियों के साथ-साथ अपने प्रशासन कर्मियों को भी एक अवधि विशेष के लिए नियुक्ति दारा लाता है और उनकी व्यक्तिगत निष्ठा और स्वामिभक्ति, उनकी नियुक्ति पद्धति द्वारा स्वयंमेव निर्धारित होती है। अंग्रेजी व्यवस्था में प्रशासनतंत्र कार्यकारिणी का नियंत्रण मानकर चलता है और उसकी विशेषज्ञता उसके मार्ग में बाधा नहीं बनती। इंगलैण्ड ने जिस प्रकार के प्रशासन का विकास किया उसमें प्रतिबद्धता के लिए कोई स्थान नहीं है। ब्रिटिश संसदीय व्यवस्था प्रशासक को तटस्थ, अनाम, बेनाम और सामान्यज्ञ मानकर चलती है और उससे यह अपेक्षा करती है कि वह नीति निर्माण और नीति क्रियान्विति दोनों में प्रभावी भूमिका निभाये। प्रतिबद्धता इस दिशा में सेवा का राजनीतिकरण करती है जिसके फलस्वरूप मन्त्रिमण्डलीय नियंत्रण एक दुविधा और विडम्बना बन सकता है।

भारत के सन्दर्भ में, मन्त्री के नियंत्रण अथवा मन्त्री प्रशासन के सम्बन्धों के लिए जो तर्क दिये जाते रहे हैं वे ब्रिटिश परम्परा के परंपरावादी तर्क थे। सिद्धान्त यह था कि प्रशासक राजनीति से तटस्थ, मंत्री का परामर्शदाता बन सकेगा। यद्यपि भारत में एक दल प्रधान व्यवस्था ने इस स्थिति को सुद ढ़ करने में काफी सहायता की, किन्तु जैसे-जैसे विकास प्रशासन का कार्य सामने आने लगा वैसे-वैसे ही मंत्री व प्रशासन के बीच नीति एवं भूमिका सम्बन्धी मतभेद पैदा होने लगे। तटस्थता का सिद्धान्त टूटा और शासन और प्रशासन दोनों ही यह अनुभव करने लगे कि मन्त्रीय नियंत्रण और प्रशासकीय स्वायत्तता का साम जस्यवादी ब्रिटिश सिद्धान्त भारत के सन्दर्भ में पुनर्निरीक्षण चाहता है। कुछ ऐसे तत्व जिन्होंने इन सम्बन्धों में दरार अथवा कटुता उत्पन्न की निम्नलिखित थेः

(i) प्रशासन तन्त्र के विकास के साथ मंत्री वर्ग ने सेवाओं को अपना साम्राज्य मानकर कार्मिक नीतियों को इस तरह बनाना शुरु किया कि लोक प्रशासक या तो मंत्री के चाटुकार बनकर रह गये अथवा उनमें और मंत्री में इतना गहरा मतभेद उत्पन्न हो गया कि सुयोग्य प्रशासक मंत्री नियंत्रण को हस्तक्षेप बतलाने लगे।

(ii) भारत के सन्दर्भ में योजनाबद्ध विकास ने नीति सम्बन्धी प्रश्न इस रूप में खड़े किये कि प्रशासकों ने राजनीति के दबाव को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। कितने ही उदाहरण उद्धत किये जा सकते हैं जब राजनीतिक दबाव आर्थिक प्रशासन में राजनीतिक निर्णय लेना चाहते थे और प्रशासकों ने अनी तटस्थता के नाम पर उनका विरोध किया। परिणाम यह निकला कि मन्त्रियों ने सारी की सारी नौकरशाही को अप्रतिबद्ध घोषित कर विकास की असफलता के लिए उन्हें दोषी ठहराया और जनसाधारण के सामने उनका "एलिटिस्ट" (Elitist Meritocrat) का रूप प्रस्तुत करते हुए उन्हें निहित स्वार्थ घोषित किया।

(iii) तीसरे, भारतीय प्रशासन में, बहुत से अर्न्तविरोध विकास की प्रक्रिया के द्वारा स्वतः ही सामने आये। यह संकट वैधता का संकट था, जिसमें प्रशासक यह समझता था कि राजनीतिज्ञ या मंत्री एक अवैध तत्व है, जो उसे काम करने से रोकता है। चूंकि राजनीति में मंत्री का नियंत्रण वैध रूप से स्वीकृत नहीं था, अतः मन्त्री ने भी यह प्रयास किया

कि वह लोक प्रशासक को अधीन सिद्ध कर उसे उसकी जगह बतला दे। द्वन्द्व की यह स्थिति मन्त्री की विजय के रूप में परिणित हुई और कार्यकारिणी ने यह अपेक्षा की कि लोक-प्रशासक प्रतिबद्ध हो।

प्रतिबद्धता शब्द से आशय यदि लोक-प्रशासन की अधीनस्थता से है तो उस पर कोई विवाद नहीं हो सकता। सभी प्रशासक यह चाहेंगे कि कार्यकुशलता, दक्षता, परिणाम प्राप्ति या उत्पादन आदि क्षेत्रों में वे संपूर्ण निष्ठा के साथ प्रतिबद्ध हों इसी प्रकार से यदि प्रश्न यह है कि वे संविधान के मूल आदर्शों के प्रति प्रतिबद्ध हों तो इसमें भी उन्हें कोई आपत्ति नहीं हो सकती। राजनीति को नीति निर्माण के रूप में अपना नियंक मानना भी उन्हें प्रतिबद्धता नहीं लगती किन्तु प्रतिबद्धता के क्षेत्र में वास्तविक विरोध जिस प्रश्न पर है वह यह है कि क्या प्रतिबद्धता पद विशेष से जुड़कर व्यक्ति विशेष के प्रति हो सकती है तथा दूसरे, क्या प्रतिबद्धता के नाम पर नौकरशाही को जानबूझकर किसी विशेष विचारधारा के अनुसार काम करने के लिए विवश किया जा सकता है।

जो तर्क राजनीतिज्ञों या मन्त्रियों की ओर से दिये जाते रहे हैं वे सारांश रूप में यह मानते हैं कि नौकरशाही का कार्य करने का अपना एक क्षेत्र है, किन्तु अन्ततोगत्वा उसकी ऐसी कोई भूमिका नहीं है जो उसे राजनीतिज्ञ या मन्त्री से श्रेष्ठ या उच्चतर सिद्ध कर सके। यह भी कहा जाता है कि मंत्री का हस्तक्षेप जैसी कोई चीज नहीं होती चूंकि मंत्री का प्रत्येक कार्य उसके विभाग में उचित एवं वैध है। इतना ही नहीं जो लोक प्रशासक मन्त्री के आदशों की अवहेलना करें, उन्हें दण्डित किया जाना चाहिये चूंकि प्रशासनिक अनुशासन ऐसा चाहता है और यदि मंत्री की नीतियों को योग्य प्रशासक अव्यावहारिक बतलाकर उसका मखौल उड़ाये तो यह स्थिति जनतंत्र का उपहास है। कुशल से कुशल प्रशासक को इस आधार पर राजनीति की अधीनस्थता स्वीकारनी होगी। जनतंत्र में राजनीति का वर्चस्व एक पूर्व स्थिति है। मन्त्रियों का यह कहना रहा है कि उनकी जननीतियों को वे प्रशासक क्रियान्वित नहीं कर सकते जो जनसाधारण के सम्पर्क नहीं है। दूसरे शब्दों में, जो प्रशासनतंत्र प्रतिनिधित्वूपर्ण नहीं है, यदि वह जनप्रतिनिधियों का कहना नहीं मानते तो अनुत्तरदायी प्रशासन, अनुत्तरदायी शासन का स्वरूप धारण कर लेगा। अतः मन्त्री चाहे वह कैसा ही राजनीतिज्ञ हो वह लोक प्रशासकों की योग्यता एवं तटस्थता का सम्मान करते हुए उनके अनुत्तरदायित्वपूर्ण आचरण को केवल उनकी योग्यता के आधार पर स्वीकार नहीं कर सकता।

इसके विपरीत, लोक प्रशासकों का कहना है कि उनमें तथा उनके राजनीतिक झगडों के बीच इतनी बड़ी खाई है कि उनसे किसी भी प्रकार का राजनीतिक संवाद करना असम्भव है। राजनीतिज्ञ इतनी लघु द ष्टि रखते हैं कि वे लोकहित के नाम पर लोक-हानि को उचित बतलाते हैं। वे नीति निर्माता हैं, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वे विशेषज्ञों के पक्ष की अवहेलना करें। दूसरे शब्दों में प्रशासन राजनीति पर एक नियंत्रण के रूप में होना चाहिए और प्रतिबद्ध नौकरशाही राजनीतिज्ञों को गुमराह कर सकती है। प्रशासकों का यह कहना है कि हस्तक्षेप और नियंत्रण शब्द की सीमा-रेखाएं कानून से खींची जा सकती हैं और मन्त्री यदि चाहे तो प्रतिबद्धता का सवाल उठाये बिना प्रशासकों को यह बतला सकता है कि उनसे क्या-क्या अपेक्षित है और कौन-कौन से क्षेत्र में उसका कितना प्रभाव उन्हें मानना होगा। प्रशासन-प्रतिबद्धता का भारत में इसलिए भी विरोध है कि इससे सेवाओं का राजनीतिकरण जिस गति से होगा वह राजनीति में अस्थिरता ला सकता है, व्यवस्था को तोड़ सकता है और प्रशासकों के मनोबल को गिराकर उन्हें सार्वजनिक लूट और भ्रष्टाचार की ओर उन्मुख कर सकता है। प्रतिबद्धता का विचार सेवाओं की तटस्थता पर आघात है और उनकी योग्यता के लिए एक भारी खतरा बन सकता है। प्रशासक राजनीति का सम्मान करते हैं; किन्तु वे यह नहीं चाहते कि नियंत्रण के नाम पर उनकी स्थिति दासता की बन जाय।

भारतवर्ष में समाजवादी व्यवस्था के अभ्युदत के साथ प्रतिबद्ध नौकरशाही नारे ने बल पकड़ा। जब प्रतिबद्ध न्यायपालिका का विचार भारती राजनीति को दिया जाने लगा है तो ऐसा लगता है कि प्रशासन की प्रतिबद्धता तो होनी ही चाहिए। कितने ही प्रशासक भी अपनी इस भूमिका को बदलने और स्वीकार करने के लिए सामने आयें हैं। कुछ का मत है कि यदि समाजवादी नियुक्तियां और प्रशासन चलता है तो ब्रिटेन जैसे तटस्थता एवं राजनीतिक निष्पक्षता सम्भव नहीं हो सकती। वे यह भी कहने लगे हैं कि एक वकील की भांति प्रशासक को भी एक सलाहकार या कन्सलटेन्ट बन जाना चाहिए। वह यह जानते हैं कि कौन सी नीतियां गलत हैं, अपनी बात विशेषज्ञ के रूप में कहे और उसका संपूर्ण उत्तरदायित्व मंत्री पर छोड़ दे। यदि राजनीतिज्ञ आवश्यकता से अधिक दलगत राजनीति में फसें हैं तो वैसे भी प्रशासक की सलाह उन्हें अच्छी नहीं लगेगी। अतः नीतियों को प्रभावित करने की सलाह का आदर करें। हस्तक्षेप की तरह प्रतिबद्धता भी एक द ष्टिकोण का प्रश्न है और यदि हस्तक्षेप प्रशासकों का नारा है तो प्रतिबद्धता मन्त्रियों की मांग है। भारत के प्रशासन में संसदीय राजनीति इस भूमिका को और भी जटिल

बनाती है कि प्रतिबद्धता सामान्यज्ञ या विशेषज्ञ में से किस में अधिक हो सकती है, यह प्रश्न भी नियंत्रण की सीमा रेखा में घसीट कर लाया जा सकता है।

वैसे तो सामान्यज्ञ बनाम विशेषज्ञ अपने आप में भारतीय प्रशासन की एक एतिहासिक एवं ज्वलन्त समस्या है, किन्तु सामान्यज्ञ सेवाओं का यह कहना है कि यदि प्रतिबद्धता जैसी स्थिति राजनीति के साथ समन्व्य करने के लिए आवश्यक है तो उसे एक सामान्य प्रशासक ही सरलता से ला सकता है। विशेषज्ञ एक सलाहकार के रूप में अथवा नीति-क्रियान्वयक के रूप में एक ऐसा व्यक्ति होता है जो राजनीति के वैचारिक दबावों को सरलता से न समझ सकता है और न स्वीकार कर सकता है। अपने क्षेत्र में उसका बौद्धिक धरातल जिस स्तर पर होता है वह उसके व्यक्तित्व को अजनतांत्रिक प्रदान करता है। उसे अपने व्यवसाय में इतनी निष्ठा होती है कि वह व्यक्ति और नीतियों के प्रतिबद्ध नहीं हो सकता। अतः यह तर्क दिया जाता है कि यदि भारतीय मन्त्री प्रशासन को कठोरता से नियन्त्रित करना चाहता है तो उसे प्रशासन के उच्च स्तरों पर विशेषज्ञों को नहीं रखना चाहिए चूंकि मतभेद की खाई एवं विरोध तथा अवज्ञा की स्थिति विशेषज्ञ के साथ अधिक गहरी और गम्भीर होगी।

इसके विपरीत विशेषज्ञों का यह तर्क है कि प्रतिबद्धता का अर्थ यदि मंत्री की अनुरुपता है तो सलाहकार जैसी कोई स्थिति नहीं रहती। सामान्यज्ञ जो अपना विषय नहीं जानते स्वंय राजनीतिज्ञ की तरह अनिभज्ञ लोग हैं और उन्हें यदि प्रतिबद्धता की सीमा में और बांध दिया गया तो वह मन्त्रियों के अनुचर मात्र बनकर रह जायेंगे। प्रतिबद्धता लोचशीलता चाहती है तो उसे अपने अप में एक सनतुलनकारी स्थिति लाने में भी सहायक होना चहिए। अतः सामान्यज्ञ प्रशासक का तर्क उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता बना सकता है चूंकि प्रतिबद्धता की योग्यता के नाम पर यह भूमिका निभा सकेगा जिसके लिए वह अपने आपको उपयुक्त पात्र समझता है।

सामान्यज्ञ विशेषज्ञ प्रतिस्पर्धा या विरोध ने एक ओर जबकि सेवाओं की असमानता को सामाजिक प्रतिष्ठता के प्रशनों के साथ जोड़ दिया है वहां दूसरी ओर उसका एक केन्द्रीय तत्व यह भी है कि मंत्री को सलाह कौन दे? अखिल भारतीय सेवाओं ने इस भूमिक पर एकाधिकार कर रखा है और मंत्री को सलाह देने के नाम पर वे अपना वर्चस्व बनाये हुए हैं। प्रबिद्धता को जबकि वे स्वयं नकारते हैं तो दूसरी ओर वे अपने आपको विशेषज्ञों की तुलना में अधिक प्रतिबद्ध बदलाते हैं। यह स्थिति संक्रमणकाल का लाभ उठाने की है जिसमें एक अेर सामान्यज्ञ सेवाएं राजनीति में दयनीय हैं तो दूसरी ओर विशेषज्ञ सेवाओं की समानता की मांग को कुचलना चाहती है। मंत्री संसदीय राजनीति का आधार स्तम्भ है और वह नीति निर्माता, नीति नियंत्रक व नीति क्रियान्वयक है। प्रशसक उसका सलाहकार (चाहे वह अप्रतिबद्ध सामान्यज्ञ हो या प्रतिबद्ध विशेषज्ञ या इसके विपरीत सभी स्थितियों में प्रश्न यह है कि मंत्री किस सीमा तक प्रशासन तंत्र को किस प्राकर नियन्त्रित करें समाजवादी देशों ने प्रशासन की सवायत्तता छीन कर राजनीति और विचारधारा के वर्चस्व को मंत्री के नियंत्रण के रूप में देखा है। ब्रिटिश मॉडल अथवा फ्रेंच प्रतिमान जो सेवाओं को एक विशेषाधिकार की स्थिति में रखकर राजनीतिकरण कि प्रक्रिया से उन्हें बचाना चाहते हैं, ब्येरोक्रेसी को पॉलिटिक्स का नियांक व सन्तुलक मानते हैं। भारतवर्ष रूस की स्थिति में नहीं है, किनतु ब्रिटेन की स्थिति भी अब इतिहास बन चुकी है। अमेरिकी अर्द्ध-राजनीतिक प्रशासन संसदीय व्यवस्था से तालमेल नहीं खाता। अतः भारत के सन्दर्भ में मन्त्री प्रशासक सम्बन्धों का एक ऐसा प्रतिमान बनाना या विकसित करना होगा जो ब्रिटेन से अधिक राजनीतिक हो और सोवियत रूस कम प्रतिबद्ध तथा अमेरिका की तरह अर्द्ध-राजनीतिक एवं फ्रांस की तरह राजनीति का सन्तुलनकर्त्ता बन सके। इस प्रतिमान के कुछ निश्चित सिद्धान्त नहीं हो सकते; किन्तु राजनीतिक आवश्यकताओं, दबाओं एवं अपरिहार्यकारणों के प्रसंग में यह स्थिति स्वयं उभरेगी और भारतीय प्रतिमान इस द ष्टि से सबका मिश्रण होते हुए भी सबके प थक तथा स्वतंत्र हो सकता है।

मन्त्री लोक सेवक सम्बन्धों में सुधार हेतु सुझाव

मन्त्री लोक सेवक सम्बन्धों को समुचित स्तर पर लाने के लिए अनेक सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक सुझाव प्रस्तुत किए गये हैं। भारतीय सन्दर्भ में इन सम्बन्धों के गिरते हुए स्तर को देखते हुए ऐसा किया जाना आवश्यक भी है। एस. पी. अय्यर ने अपने राजनीति और प्रशासन और प्रशासन विचार चित्र में राजनीतिज्ञों एवं प्रशासकों के मध्य अधिक विचार-विमर्श तथा अनुभव का आदान-प्रदान करने का सुझाव दिया है। प्रो. सी. पी भाम्भरी ने प्रधान मंत्री एवं नौकरशाही के सम्बन्धों तथा अन्य राष्ट्रीय महत्व की घटनाओं का विश्लेषण करते हुए बतलाया है कि मंत्री की राजनीतिक स्थिति दुर्बल होने पर नौकरशाही हावी हो जाती है। शक्तिशाली नौकरशाही ने दलीय नेताओं के साथ पारस्पारिक लाभों के लिए समझौता किया है। स्वयं नौकरशाही

ने अपने आपको शासक दल के उद्देश्यों की पूर्ति का एक साधन बना दिया हैं असन्तुष्ट एवं अवमानित अधिकारियों ने प्रेस, संसद तथा विरोधी दलों का भी सहारा लिया है। इस दुरावस्था के निस्तर पाने के लिए दो उपाय सुझाये गये हैं। प्रथम, मंत्री को अपने कार्यों के निष्पादन हेतु शक्तिशाली बनाकर, तथा द्वितीय, लोक प्रशासन को सार्वजनिक बनाकर। मंत्री को सामान्य नौकरशाही से अलग दल तथा बाहर से विशेषज्ञ सलाहकारों को निर्णय, नीति-निर्माण, क्रियान्वयन के मूल्यांकन आदि में शामिल करने का अधिकार दिया जाना चाहिए ताकि वह नौकरशाही सचिव की प्रभुत्ता से छुटकारा पा सके। इस व्यवस्था का संस्थीकरण कर मंत्रियों को सचिवालय प्रदान किया जाना चाहिए। प्रशासन में मंत्री एवं सचिव के मध्य अमानत एवं गोपनीय कार्य व्यापार नहीं रहना चाहिए। प्रशासन का "सार्वजनिक" या लोक-स्वरूप विभिन्न संस्थाओं जैसे, सतर्कता आयोग, लोक-पाल आदि के द्वारा स्पष्ट किया जाना चाहिए।

यह भी अनुभव किया गया है कि सत्ता परिवर्तन होने, सरकारों के अस्थायित्व तथा मिले-जुले रूप और मंत्रियों के अज्ञान के कारण लोक-सेवक हावी हो जाते हैं। इटली, फ्रांस तथा भारत की 1967 की मिली-जुली सरकरों का अनुभव तथा भारत में जनता पार्टी का शासन नौकरशाही की बढ़ती हुई शक्तियों का परिचायक रहा है। अपने सम्बन्धों को छिपाने के लिए सरकारें के बनने से पूर्व पुरानी पत्रावलियों को जला दिया जाता है। इसका मूल-कारण मंत्री लोक सेवक के मध्य स्वार्थपूर्ण सांठ-गांठ है। इस सांठ-गांठ का कारण यह दोषपूर्ण धारण है कि उनमें परस्पर पूर्ण निष्ठा, सहयोग या लगाव होना चाहिए। उनमें एकता व प्रतिबद्धता राजनीतिज्ञ का नौकरशाहीकरण तथा नौकरशाही तथा नौकरशाही का राजनीतिकरण कर देती है। उन दोनों में एक दूरी होती है, वह बनी रहनी चाहिए। इस दूरी को बनाये रखने का दायित्व प्रधानमंत्री और केबिनेट सचिव पर होता है।

मंत्री द्वारा सचिव के बाहर से विशेषज्ञ अधिकारियों को शामिल करने से एक ओर लोक-सेवक की तटस्थता बलवती बनेगी, दूसरी ओर मन्त्री की कार्यक्षमता में व द्धि होगी। फिर भी उनमें अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने के लिए आवश्यक है कि लोक-सेवकों में एपलबी के शब्दों में "शासनिक भावना" हो, और उनका सत्ता के क्रियान्वयन के क्षेत्र में अधिकाधिक प्रत्यायोजन किया जाय। साथ ही मन्त्रियों में एक प्रशासनिक भावना (Espirit de-Corps) भी होना चाहिए। यदि राजनीतिक क्षेत्र में जैसा कि ग्रेट-ब्रिटेन, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका आदि देशों में होता है, मंत्री को राजनीतिक कार्यकर्ता, विधायक, पार्षद, सांसद, समिति सदस्य आदि सीढ़ियों को क्रमशः पर कर मंत्री बनाने की परम्परा विकसित हो सके तो उस स्थिति में प्रशासन में नौकरशाही का काफी ज्ञान प्राप्त हो जाने की सम्भावना होगी। "प्रशासनिक भावना" मंत्री के अति उत्साह, अहं, और संकुचित स्वार्थी को संतुलित कर देने क्षमता रखती है।

विभिन्न भ्रष्टाचार काण्डों के संदर्भ में मंत्री लोक-सेवक सम्बन्ध एक जिज्ञासा, घ णा, शंका और अनैतिकता का विषय बन चुके है। इस विषय से विषय से विधान मण्डलों एवं समितियों, न्यायालयों तथा अन्य न्यायिक अभिकरणों, और स्वयं जनता का प्रत्यक्ष सम्बन्ध जुड़ा है। अतएव संसदीय स्तर एक "विशेषज्ञ समिति" बनायी जानी चाहिए, जो तब तक प्राप्त शासनिक एवं प्रशासनिक अनुभव के आधार पर मंत्री लोक-सेवक सम्बन्धों को तीन वर्गों में विभाजित करें-

1. **प्रथम वर्ग में चार उपक्षेत्र हैं-**
   - (i) ***कानूनी दायित्व का क्षेत्रः*** इसमें आने वाले विषयों के लिए मंत्री तथा सचिव दोनों कानूनी रूप से उत्तरदायी हों,
   - (ii) ***राजनीतिक दायित्व का क्षेत्रः*** इसमें मंत्री को मंत्रिमण्डलीय नीतियों के साथ संयुक्त किया जाय अर्थात् वह सबके साथ संयुक्त रूप से उत्तरदायी मानी जाय,
   - (iii) ***विभागीय दायित्व को क्षेत्रः*** इसमें मंत्री अपने विभाग के लिए बनायी गई नीतियों के लिए, चाहे उनके निर्माण में सचिवों के परामर्श का योगदान रहा हो, उत्तरदायी रहें, किन्तु उसका उत्तरदायित्व राजनीतिक माना जाय, तथा
   - (iv) ***प्रशासनिक दायित्व का क्षेत्रः*** इसमें सचिवों को नीतियों तथा स्पष्ट निर्णयों के अतिरिक्त किये गये कार्यों के लिए कानूनी एवं प्रशासनिक रूप से उत्तरदायी समझा जाय।
2. द्वितीय वर्ग में वाले परम्पराओं, परिपाटियों, रिवाजों आदि के रूप में स्पष्ट किये जायें। ये विभागीय मानकों को मानकों को अभिव्यक्त करता हैं। इन्हें सामान्य रूप से चलने दिया जाय, किन्तु उनके दुष्परिणामों के लिए सचिव को उत्तरदायी ठहराया जाय। इन्हें सचिव के लिए कानूनी रूप से बाध्य मानना आवश्यक नहीं है।

3. त तीय वर्ग में स्वविवेक एवं विधि विषयों को शामिल किया जाय। इनको सदिच्छा बने रहने तक विशेषाधिकार के रूप में सभी के हस्तक्षेपों से मुक्त रखा जाय। सभी सम्बद्ध पक्षों को उनके विषय में अधिक पूछताछ या घुसपैठ करने का अधिकार नहीं होना चाहिए।

निःसन्देह, इस प्रकार का वर्गीकरण व्यवहार में किया जाना कठिन है, किन्तु इस योजना को मूर्त-रूप देना असम्भव नहीं है। आज राजनीति प्रशासन को ही आच्छादित कर रही। उसकी गतिविधियां इतनी अधिक व्यापक व जटिल हो गई हैं कि मंत्री एक बालक के समान 'हां' या 'नां' करने के लिए विवश हो गया है। उसकी 'हां' या 'नां' के परिणाम इतने अधिक प्रभावशाली हो गये हैं कि सम्बद्ध पक्षों को पहले से ही ज्ञात होना चाहिए कि कौन कितनी मात्रा में और किस स्तर पर उन निर्णयों के लिये उत्तरदायी है। संसदीय शासन व्यवस्था, विकास की आवश्यकताएं, तथा क्रियाविधि-उन्मुख प्रशासन ऐसे वर्गीकरण की मांग करते हैं। इससे न केवल लोक-सेवकों की मन्त्री के साथ अपने सम्बन्धों के स्वस्थ विकास में सहायता मिलेगी, अपितु विभिन्न न्यायिक एवं अर्द्ध न्यायिक निकायों की जांच के समय उत्तरदायित्वों का निर्धारिण करने में सुविधा होगी एक ओर विधान मण्डल, मंत्री के प्रति अधिक विवेकपूर्ण द ष्टिकोण अपना सकेंगे, तो दूसरी ओर सामान्य जनता को मन्त्री तथा लोक सेवक से अपेक्षा रखते समय निराशाओं के सामना नहीं करना पड़ेगा। यदि इसे "कौन क्या कर सकते है?" कार्यक्रम के अन्तर्गत सामाजिक शिक्षा का एक महत्वपूर्ण विषय बना लिया जाय तो अनेक प्रशासनिक व्याधियों से छूटकारा पाया जा सकता है। अब समय आ गया है कि सार्वजनिक हित में अनेक प्रशासनिक व्याधियों से छुटकारा पाया जा सकता है। अब समय आ गया है कि सार्वजनिक हित में मंत्री लोक-सेवक सम्बन्धों का कानूनी निर्धारण किया जाय तथा उनके मध्य सम्बन्धों की समस्या का समाधान किया जाय।

इसी तरह सन्दर्भ में प्रशासनिक सुधार आयोग ने भारत सरकार के प्रशासनिक तंत्र के सम्बन्ध में कतिपय महत्वपूर्ण सिफारिशें रखी हैं-

1. जहां सरकार की नीति स्पष्ट न हो या नीति से हटना पड़े या मन्त्री किसी महत्वपूर्ण मामले में सचिव से विमत हो, ऐसे सभी निर्णयों के कारण सहित संक्षेप में लिखा जाना चाहिए,
2. मंत्री को वरिष्ठ अधिकारियों के मध्य निडरता तथा न्याय का वातावरण विकसित करना चाहिए तथा उन्हें स्पष्ट और निष्पक्ष परामर्श देने के लिए उत्साहित करना चाहिए। उन्हें अपने आदेश एवं नीतियों को क्रियान्वित करने के लिए सचिवों का मार्ग निर्देशन भी करना चाहिए,
3. प्रधानमंत्री को चाहिए कि वह मंत्री तथा लोक-सेवक के मध्य अस्वस्थ्य व्यक्तिगत निष्ठा या लगाव के विकास को रोकने का प्रयास करे।
4. मन्त्री को चाहिए कि वह गम्भीर अन्याय, भारी चूक या कुशासन के मामलों को छोड़कर, दिन-प्रतिदिन के प्रशासन में हस्तक्षेप न करे। जहां कोई नागरिक प्रार्थना या शिकायत नियम, कार्यविधि या नीति में परिवर्तन की मांग करती है, वहां ऐसे व्यक्तिगत मामले में ढ़ील देने की बजाय उन पर पुनर्विचार करके परिवर्तन किया जाना चाहिए।
5. सचिवों तथा अन्य लोक-सेवकों के लिए यह आवश्यक है कि वे मंत्रियों की कठिनाईयों को अच्छी तरह से समझें तथा उनके प्रति अधिक जागरूकता दिखलावें। वे एक ओर तो छोटे सामान्जस्य तथा दूसरी ओर सेवाओं की कार्य-कुशलता एवं मनोबल पर दूरगामी प्रभाव डालने वाले आधारभूत नियमों में परिवर्तन के बीच अन्तर करना सीखें,
6. सचिव का मंत्री के प्रति सरकारी सम्बन्ध निष्ठा का तथा मंत्री का सचिव के प्रति विश्वास होना चाहिए।

अध्याय-26
वित्तीय प्रशासन
(Financial Administration)

प्रशासन तथा वित्त शरीर और उसकी छाया की भाँति जुड़े हैं। सभी प्रशासकीय कार्यों में धन व्यय होता है, क्योंकि प्रशासकीय कृत्यों के क्रियान्वयन हेतु आवश्यक कर्मचारी वर्ग की नियुक्ति तो आवश्यक ही है। प्रशासकीय इंजन का ईंधन वित्त है। पहले का परिचालन दूसरे के बिना असम्भव है। अतः **कौटिल्य** ने ठीक ही कहा है: "सभी उद्यम वित्त पर निर्भर हैं। अतः कोषागार (treasury) पर सर्वाधिक ध्यान दिया जाना चाहिए।

द ढ़ वित्तीय व्यवस्था का शासन के लिए बहुत महत्त्व है। राजस्व निर्धन नागरिक से भी प्राप्त किया जाता है अतः सरकार का नैतिक कर्त्तव्य है कि वह उस धन की कुशलता तथा मितव्ययता से व्यय करे। अकुशल वित्तीय व्यवस्था के कारण शासन जनता से दूर हो जाता है और अन्त में शासन का अस्तित्व ही संकट में पड़ जाता है। प्रजातन्त्र में ठोस वित्तीय व्यवस्था के पक्ष में निश्चित भावना होनी चाहिए। इसके अभाव में अपव्यय तथा अन्य बुरी बातों का दोष जनता प्रजातन्त्र पर ही मढ़ देती है और परिणाम यह होता है कि जनता ऐसे प्रजातन्त्र से ही घ णा करने लगती है। इस प्रकार का वित्तीय प्रशासन स्वयं प्रजातन्त्र के भविष्य पर तुषारापात कर देता है। एक अन्य बात भी है जिसके कारण वित्तीय प्रशासन का आज बड़ा महत्त्व है। आधुनिक समय में शासकीय व्यय में असाधारण व द्धि के कारण यह नितान्त आवश्यक हो गया है कि वित्तीय प्रशासन सम्बन्धी उत्तम सिद्धान्तों, उपकरणों एवं पद्धति का विकास किया जाये एवं हर शासन द्वारा उनका पालन किया जाना चाहिए। वित्तीय प्रशासन बड़े निकट से जनता के सामाजिक-आर्थिक आचरण को प्रभावित करता है। टॉस्क फोर्स (Task Force), **हूवर कमीशन** के शब्दों में, "आधुनिक शासन के अन्तःस्थल तक पहुँच गया है।" बजट सार्वजनिक नीति के नट और बोल्ट हैं।

वित्तीय प्रशासन में वे समस्त क्रियाएँ आती हैं जो लोक सेवाओं पर व्यय हेतु आवश्यक धनराशि की प्राप्ति, व्यय तथा लेखांकन से सम्बन्ध रखती हैं। ये क्रियाएँ एक नियन्त्रण शं खला के रूप में कार्य करती हैं तथा निम्नलिखित अभिकरणों द्वारा सम्पादित होती हैं:

1. कार्यपालिका (Executive), जिसे धन की आवश्यकता होती है।
2. विधानमण्डल (Legislature), जिसे अकेले ही धनराशि को स्वीकार करने का अधिकार होता है।
3. वित्त मन्त्रालय (Ministry of Finance) (या ब्रिटेन में कोषागार), जो विधानमण्डल द्वारा स्वीकृत धनराशि के व्यय पर नियन्त्रण रखता है।

कार्यपालिका तथा विधानमण्डल

इन विभिन्न अभिकरणों का कार्य योजना बनाना, निश्चय करना, निष्पादन तथा नियन्त्रण करना है। कार्यपालिका शाखा द्वारा वर्षभर के लिए अपना कार्यक्रम बना लिया जाता है, और वही विधानमण्डल को सरकार की वार्षिक वित्तीय आवश्यकताओं के बारे में सूचित करती है। इस प्रकार बजट बनाने का उत्तरदायित्व कार्यपालिका का है। "क्राउन द्वारा द्रव्य की माँग की जाती है" (The Crown demands the money)। इससे कार्यपालिका के बजट सम्बन्धी दायित्व स्पष्ट हो जाते हैं। विधानमण्डल धनराशि उपलब्ध कराने तथा उसका अनुदान करने वाली संस्था है। संसदीय सरकार में कार्यपालिका तथा विधानमण्डल के बीच कैसे वित्तीय सम्बन्ध होने चाहिए, इस पर **सर थॉमस एर्स्किन मे** (Sir Thomas Erskine May) ने उत्तम ढंग से प्रकाश डाला है। उनका कथन है:

"क्राउन जो अपने उत्तरदायी मन्त्रियों की मन्त्रणा से कार्य करता है, कार्यपालिका शक्ति होने के नाते देश में समस्त राजस्व का प्रधान तथा लोक सेवा के लिए सभी देशों का प्रभारी है। इस प्रकार क्राउन प्रथमावस्था में तो कॉमन्स सभा (House of Commons) को शासन की धन सम्बन्धी आवश्यकताओं से अवगत कराता है और कॉमन्स सभा उन प्रदायों एवं अनुदानों को स्वीकार करती है जो इन माँगों की पूर्ति के लिए आवश्यक होते हैं तथा करों एवं सार्वजनिक आय के अन्य साधनों द्वारा वह ऐसे उपाय व साधनों का प्रबन्ध करती है जिनसे स्वीकृत माँगों की पूर्ति की जा सके। इस प्रकार क्राउन द्रव्य की माँग करता है, कॉमन्स सभा उसको स्वीकार करती है, और लॉर्ड सभा (House of Lords) उस स्वीकृति पर अनुमति प्रदान करती है। किन्तु कॉमन्स सभा द्रव्य के लिए उस समय तक मतदान नहीं करती जब तक क्राउन उसकी माँग नहीं करता, और न वह उस समय तक कर ही लगाती है या उनमें व द्धि करती है जब तक कि क्राउन अपने संवैधानिक परामर्शदाताओं के माध्यम से उसे जनहित के लिए आवश्यक घोषित न कर दे।

भारत में भी यही स्थिति है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 112 के अन्तर्गत राष्ट्रपति संसद के दोनों सदनों के समक्ष वित्तीय वर्ष के लिए भारत सरकार के व्यय तथा अनुमानित आय का एक विवरण प्रस्तुत कराता है। इसे 'वार्षिक वित्तीय विवरण' कहते हैं। इसमें भारत की संचित निधि (Consolidated Fund) पर व्यय-भार वाली धनराशियों तथा अन्य व्ययों हेतु आवश्यक धनराशियों का उल्लेख होता है। संचित निधि पर व्यय-भार के लिए मतदान नहीं होता है, किन्तु शेष व्ययों पर मतदान होता है। मतदान वाले अनुमानों (estimates) को लोकसभा के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। लोकसभा को अनुदान की अनुमति देने और उन्हें अस्वीकार या कम करने का अधिकार है। अनुदानों तथा कर-प्रस्तावों के सम्बन्ध में सभी माँगें कार्यपालिका प्रस्तुत करती है, व्ययों की स्वीकृति केवल संसद द्वारा ही दी जा सकती है। यह पवित्र सिद्धान्त 'बिना प्रतिनिधित्व के कोई कर नहीं' (No taxation without representation) के विचार में निहित है। वित्तीय प्रशासन के क्षेत्र में करदाता के हितों तथा अधिकारों की अभिरक्षा के लिए भारतीय संविधान में तीन मूलभूत प्रावधान किये गये हैं:

1. कोई भी कर कानून की सत्ता के बिना नहीं लगाया जा सकता और न एकत्र ही किया जा सकता है। 'बिना प्रतिनिधित्व के कोई कर नहीं' का यही प्रसिद्ध सिद्धान्त है।
2. सार्वजनिक कोष में से कोई भी व्यय तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि वह संविधान में बताये गये तरीके के अनुरूप तथा विधि के अनुसार न हो; अर्थात् जब तक संसद ने उनका अनुमोदन न कर दिया हो तब तक कोई व्यय नहीं किया जा सकता।
3. संसद द्वारा स्वीकृत नीति के अनुसार ही धन का व्यय करने के लिए कार्यपालिका बाध्य है। संसद यह नियन्त्रण लेखा नियन्त्रक तथा महालेखापरीक्षक (Comptroller and Auditor General) के माध्यम से करती है।

वित्त मन्त्रालय

वित्त मन्त्रालय सरकार के वित्त का प्रशासन करता है। वस्तुतः वित्तीय प्रशासन का सम्पूर्ण ताना-बाना इसी मन्त्रालय के चारों ओर बुना हुआ है। वित्त मन्त्रालय का यह उत्तरदायित्व है कि वह अन्य प्रशासकीय मन्त्रालयों के साथ परामर्श करके 'वार्षिक वित्तीय विवरण' तैयार करे। बजट पर संसद का अनुमोदन प्राप्त हो जाने के पश्चात् वित्त मन्त्रालय सरकार के सम्पूर्ण व्यय का नियन्त्रण करता है। इसका उद्देश्य यह है कि प्रशासकीय मन्त्रालयों द्वारा सार्वजनिक धन के व्यय में मितव्ययता बरती जाये।

लेखा-परीक्षण

द्रव्य का व्यय हो चुकने के पश्चात् सम्पूर्ण व्यय पर एक स्वतन्त्र लेखा-परीक्षण (Audit) के द्वारा सर्चलाइट रूपी द ष्टि डाली जाती है अर्थात् उसका सूक्ष्म निरीक्षण किया जाता है ताकि व्यय की वैधता तथा औचित्य का निर्धारण किया जा सके। यह जानने के लिए कि संसद के आदेशों का पालन किया गया है या नहीं, यदि कोई प्रभावशाली व्यवस्था न की जाये तो कर लगाने तथा व्यय स्वीकार करने के सम्बन्ध में संसदीय अनुमोदन का कोई अर्थ नहीं रह जाता और न उसका कोई मूल्य ही है। स्वतन्त्र लेखा-परीक्षण यही ज्ञात करने की युक्ति है। शासकीय अनुदानों पर संसद द्वारा मतदान कर चुकने पर लेखा-नियन्त्रक तथा महालेखापरीक्षक निरीक्षण करता है और यह देखता है कि विनियोग अधिनियम (Appropriation Act) में स्वीकृत अनुमानित मद के अनुसार ही व्यय किया गया है या नहीं। दूसरे, वह यह भी देखता है कि व्यय की राशि स्वीकृत

धनराशि से अधिक तो नहीं है। लेखा-नियन्त्रक तथा महालेखापरीक्षक कार्यपालिका से स्वतन्त्र रहकर यह कार्य करता है। यह केवल संसद के प्रति ही उत्तरदायी होता है। इस अधिकारी का यह कर्त्तव्य है कि वह जनता की प्रतिनिधि सभा को उन व्ययों के विषय में सूचना दे दे जो संसद के घोषित मन्तव्यों के अनुरूप नहीं है, और अनुदान के दुरुपयोग पर भी प्रकाश डाले।

ऐतिहासिक द ष्टि से देखा जाये तो कार्यपालिका से स्वतन्त्र एक ऐसी संस्था के रूप में, जो प्रत्यक्षतः संसद के समक्ष ही प्रतिवेदन प्रस्तुत करे, लेखा-परीक्षक का उद्‌भव सर्वप्रथम ब्रिटेन में 1866 में उस समय हुआ था जब राजकोष एवं लेखा-परीक्षा विभाग अधिनियम (Exchequer and Audit Department Act) पारित किया गया था। भारत में स्वतन्त्र लेखा-परीक्षण का प्रश्न सर्वप्रथम 1912 में उठा था। **सर गाई फ्लीटवुड विल्सन** (Sir Guy Fleetwood Wilson) ने, जिनके पास उन दिनों भारतीय वित्त का दायित्व था, महालेखापरीक्षक को कार्यपालिका से स्वतन्त्र रखने सम्बन्धी तर्क प्रस्तुत किये थे। उन्होंने द ढ़तापूर्वक कहा था कि "ईमानदार एवं सुद ढ़ वित्त हमारे अस्तित्व के लिए सदैव ही आवश्यक रहा है, और ऐसे ईमानदार तथा द ढ़ वित्त को सुनिश्चित करने का एकमात्र मार्ग यह है कि व्यय की जाँच स्वतन्त्र लेखा-परीक्षण के अधीन होनी चाहिए। यह विचार भारत सरकार द्वारा प्रस्तुत विचार के विपरीत होते हुए भी भारत सचिव को अधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ था। सम्भवतः इसी कारण 1913 से भारत में लेखा-परीक्षण की स्वतन्त्रता सामान्य रूप से मान्य है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 148 से 151 तक लेखा-नियन्त्रक तथा महालेखापरीक्षक के कार्यों तथा स्थिति को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है। लेखा-नियन्त्रक तथा महालेखापरीक्षक केवल संसद के प्रति उत्तरदायी है।"

लेखा-नियन्त्रक तथा महालेखापरीक्षक अपने प्रतिवेदनों को राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत करता है, जो "उन्हें संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखने के लिए उत्तरदायी है। समयाभाव के कारण संसद केन्द्रीय सरकार के सभी लेखाओं (accounts) की जटिलताओं को समझने, उनके विषय में महालेखापरीक्षक की टिप्पणियों पर ध्यान देने तथा नीतियों के क्रियान्वयन के दौरान सरकार द्वारा प्रयुक्त मितव्ययता तथा कार्यकुशलता पर समुचित ध्यान देने में असमर्थ रहती है। फलस्वरूप, संसद ने दो समितियों-लोग लेखा समिति (Public Accounts Committee), तथा अनुमान समिति (Estimates Committee)—का निर्माण किया है। वित्तीय प्रशासन की संरचना में लोक लेखा समिति का कार्य अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट है। महालेखापरीक्षक के प्रतिवेदनों के प्रकाश में यह निम्नलिखित बातों की पुष्टि से केन्द्रीय सरकार के लेखाओं का परीक्षण करती है:

1. लेखाओं में जो भुगतान दिखाया गया है, क्या वह उस सेवा या प्रयोजन के लिए ही है जिसके कारण वह धन खर्च किया गया है, तथा वैध रूप से प्राप्य है और उपयोग किया गया है; तथा
2. क्या व्यय उस सत्ता के अनुरूप है जो उसको नियन्त्रित करती है?

अनुमान समिति को हम 'एक निरन्तर मितव्ययता समिति' कह सकते हैं। यह सरकार के उद्देश्यों तथा नीति के अधीन व्यय सम्बन्धी मितव्ययता का झुकाव देती है। आगे इन दोनों समितियों पर चर्चा की जायेगी।

बजट (Budget)

निष्पादकीय प्रबन्ध तथा विधायी नियन्त्रण का सबसे महत्त्वपूर्ण उपकरण होने के साथ ही बजट (budget) वित्तीय प्रशासन का प्रधान उपादान है। इस द ष्टि से यह प्रजातान्त्रिक सरकार का आधार कहा जा सकता है। बजट बनाते समय वित्तीय निर्णय करने के दौरान सर्वाधिक प्रश्न नीति विषयक होते हैं। यदि शब्द-विन्यास किया जाये तो 'budget' शब्द की उत्पत्ति पुराने अंग्रेजी शब्द *bougette* से हुई है जिसका अर्थ है थैला या झोला, जिसमें से ब्रिटेन का राजकोष महामात्र (Chancellor of the Exchequer), शासन की आगामी वर्ष की वित्तीय योजना के कागजात संसद के समक्ष प्रस्तुत करने हेतु, निकाला करता था। अब 'बजट' शब्द वित्तीय कागजात का निर्देश करता है, न कि झोला इत्यादि का।

उत्तर-मध्य युग में बजट प्रणाली का विकास हुआ था। इस काल में इंग्लैण्ड तथा यूरोप में स्वेच्छाचारी शासन-पद्धति पायी जाती थी। बजट राजस्व तथा व्यय का विवरण होता था, परन्तु वह राजा का व्यक्तिगत विषय तथा राजकीय रहस्य माना जाता था। इसका कारण यह था कि राजस्व राजा की अपनी ही भू-सम्पदा से प्राप्त होता था। परन्तु युद्धकाल में करों का सहारा लेना आवश्यक हो जाता था। फलस्वरूप, ऐसे समय में अमीरों को राजस्व साधनों पर, विशेषतः युद्ध पर, अपने विचार तथा प्रतिक्रियाएँ प्रकट करने का अवसर राजा द्वारा प्रदान किया जाता था। 'बिना प्रतिनिधित्व के कोई कर नहीं' के सिद्धान्त को 1688 की क्रान्ति के समय ही मान्यता प्राप्त हुई थी। किन्तु उस समय सभी प्रशासकीय व्यय संसदीय नियन्त्रण के

अधीन नहीं थे। वित्त पर पूर्ण विधायी नियन्त्रण तो इसी शताब्दी में स्थापित हुआ है। इस प्रकार, वित्तीय निर्देशन तथा नियन्त्रण के केन्द्रीय उपकरण के रूप में बजट की अवधारणा अपेक्षाकृत नवीन है।

बजट प्रणाली कुशल राजस्व (fiscal) प्रबन्ध का आधार है। समाज-विज्ञान विश्वकोश (Encyclopaedia of Social Sciences) के अनुसार, "बजट प्रणाली का वास्तविक महत्त्व इस कारण है कि यह किसी सरकार के वित्तीय मामलों के क्रमबद्ध प्रशासन की व्यवस्था करता है।" राजस्व सम्बन्धी प्रबन्ध में अनेक क्रियाओं की एक निरन्तर श्रं खला रहती है, जैसे राजस्व तथा व्यय का अनुमान, राजस्व तथा विनियोजन अधिनियमों का लेखा, लेखा-परीक्षण तथा प्रतिवेदन। इन क्रियाओं का संचालन किस प्रकार होता है, इसका वर्णन **डब्ल्यू० एफ० विलोबी** ने इस प्रकार किया है: "पहले तो एक निश्चित समय-प्रायः एक वर्ष-के लिए सरकारी प्रशासन को ठीक प्रकार से चलाने हेतु जिन व्ययों की आवश्यकता होती है, उनका अनुमान लगाया जाता है, और इन व्ययों की पूर्ति हेतु धन के प्रबन्ध सम्बन्धी प्रस्ताव होते हैं। इस अनुमान के आधार पर राजस्व तथा विनियोजन अधिनियम पारित किये जाते हैं, जो स्वीकृत कार्यों के लिए वैध अधिकार प्रदान करते हैं। इसके आधार पर विभिन्न कार्यरत विभागों द्वारा राजस्व तथा विनियोजन अधिनियमों के अनुसार राजस्व एवं विनियोजन लेखे खोले जाते हैं, और इस प्रकार स्वीकृत द्रव्य का व्यय प्रारम्भ होता है। लेखा-परीक्षण तथा लेखा विभाग यह देखने के लिए इन लेखाओं का परीक्षण करता है कि वे ठीक हैं या नहीं, वास्तविक तथ्यों से संगति रखते हैं या नहीं, और विधि के सभी प्रावधानों के अनुरूप हैं या नहीं। तदुपरान्त इन लेखाओं से प्राप्त सूचनाओं का सारांश निकाला जाता है और प्रतिवेदनों के रूप में उनको प्रकाशित किया जाता है। अन्त में इसके आधार पर अगले वर्ष के लिए नये अनुमान तैयार किये जाते हैं, और फिर वही चक्र पुनः आरम्भ हो जाता है। इस प्रक्रिया में बजट ही वह तन्त्र है जिसके द्वारा एक ही समय में कई क्रियाएँ पारस्परिक रूप से सम्बद्ध की जाती हैं, और उनकी तुलना तथा परीक्षा की जाती है। इस प्रकार बजट राजस्वों तथा व्ययों का अनुमान मात्र न होकर कुछ और अधिक होता है। यह एक प्रतिवेदन, एक अनुमान तथा प्रस्ताव, एक प्रलेख होना चाहिए जिसके माध्यम से मुख्य कार्यपालिका, जो सरकारी प्रशासन के वास्तविक संचालन के लिए उत्तरदायी सत्ता है, धन एकत्र करने तथा विधियों को स्वीकार करने वाली सत्ता (संसद) के समक्ष इस आशय का सम्पूर्ण प्रतिवेदन उपस्थित करती है कि किस ढंग से उसने तथा उसके अधीनस्थों ने विगत वर्ष के दौरान प्रशासनिक कार्य किया है। साथ ही साथ, वह सार्वजनिक कोषागार की वर्तमान दशा का एक विवरण भी प्रस्तुत करती है। इस सूचना के आधार पर कार्यपालिका आगामी वर्ष के लिए अपना कार्यक्रम बनाना प्रारम्भ करती है, और ऐसे कार्यों के लिए वित्तीय प्रबन्ध सम्बन्धी प्रस्ताव प्रस्तुत करती है।

अतः बजट कार्य सम्बन्धी एक योजना है। वह आगामी वित्तीय वर्ष के लिए मुख्य कार्यपालिका के कार्यक्रम को प्रतिबिम्बित तथा स्पष्ट करता है। यह सरकार के राजस्व तथा व्यय के विवरण मात्र से कहीं अधिक व्यापक वस्तु है। इसके तीन कार्य हैं: नियन्त्रण, प्रबन्धन और नियोजन।

भारत में बजट निर्माण प्रक्रिया
(Budgetary Process in India)

किसी भी देश की बजटीय प्रक्रिया में चार भिन्न क्रियाएँ निहित होती हैं-

1. बजट की तैयारी अर्थात् आगामी वित्तीय वर्ष के लिए आय-व्यय के प्राक्कलन तैयार करना;
2. बजट का विधिकरण अर्थात् राजस्व अधिनियमों एवं विनियोग अधिनियमों के रूप में विधानमंडल द्वारा इसकी स्वीकृति;
3. बजट का क्रियान्वयन अर्थात् राजस्व अधिनियमों एवं विनियोग अधिनियमों को लागू करना; दूसरे शब्दों में टैक्सों को इकट्ठा करना तथा व्यय करना जैसा संसद ने अधिकृत किया है; तथा
4. बजट का विधायी नियंत्रण अर्थात् विधानमण्डल की ओर से लेखा परीक्षा द्वारा वित्तीय क्रियाओं की समीक्षा एवं उनका नियंत्रण।

इस अध्याय में प्रथम तीन क्रियाओं का अध्ययन किया जाएगा। चौथी प्रक्रिया का वर्णन अगले अध्याय में किया जाएगा।

भारत में बजट निर्माण
(The Preparation of Budget in India)

बजट निर्माण में निम्नलिखित क्रियाएँ क्रमशः निहित हैं-

1. भुगतान अधिकारियों द्वारा प्रारम्भिक प्राक्कलन तैयार करना;
2. नियंत्रण अधिकारियों द्वारा इन प्राक्कलनों की समीक्षा एवं छानबीन;
3. प्रशासकीय विभाग एवं महालेखाकार द्वारा संशोधित प्राक्कलनों की छानबीन एवं समीक्षा;
4. इन संशोधित प्राक्कलनों की वित्त विभाग द्वारा छानबीन एवं समीक्षा;
5. मंत्रिमंडल द्वारा इन एकत्रित प्राक्कलनों पर अंतिम विचार।

1. **भुगतान अधिकारियों द्वारा तैयारी (Preparation by the Disbursing Officers):** बजट को तैयार करने का कार्य आगामी वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ होने से छै या आठ मास पूर्व शुरू हो जाता है। भारत में वित्तीय वर्ष प्रथम अप्रैल से शुरू होता है अतएव अगस्त-सितम्बर के मास से बजट की तैयारी आरम्भ हो जाती है। वित्त मंत्रालय जुलाई-अगस्त के महीने में विभिन्न विभागों के अध्यक्षों को आय एवं व्यय के प्राक्कलन अलग-अलग तैयार करने के लिए नियत फार्म भेज देता है। विभागाध्यक्ष इन फार्मों को भुगतान अधिकारियों के पास भेज देता है जो प्रारम्भिक प्राक्कलन तैयार करते हैं। प्राक्कलन तैयार करने का कार्य सबसे महत्त्वपूर्ण है। पी० के० वाटल (P.K. Wattal) के शब्दों में, "यह एक सरल गणितीय प्रक्रिया नहीं है, जिसमें पिछले वर्षों का औसत निकालकर सुरक्षित आँकड़े रख देते हैं, जो पिछले साल की पुनराव त्ति से प्रतीत हों। इन आंकड़ों की प ष्ठभूमि में प्रशासन की वास्तविकता विद्यमान रहती है, किसी भी वर्ष की स्थितियाँ बिल्कुल दूसरे वर्ष जैसी नहीं होतीं और फिर भी वे नितांत असमान भी नहीं होतीं। इसलिए समानताओं और असमानताओं का मूल्य आंकने में अपनी निर्णायक शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है और उनका उचित औसत निकालना होता है।" अतएव प्राक्कलनों को तैयार करने में प्रत्येक सावधानी बरती जानी चाहिए। प्राक्कलन तैयार करते समय भुगतान अधिकारियों को निर्धारित फार्म के चार खाने भरने होते हैं-

   (i) पिछले साल के वास्तविक आँकड़े,

   (ii) चालू वर्ष के लिए स्वीकृत प्राक्कलन,

   (iii) चालू वर्ष के संशोधित प्राक्कलन एवं

   (iv) आगामी वर्ष के बजट प्राक्कलन।

   इन प्राक्कलनों को तीन भागों अर्थात् भाग I, भाग IIA, तथा भाग IIB, में तैयार किया जाता है। भाग I राजस्व एवं स्थायी खर्चों जैसे स्थायी कर्मचारियों, यात्रा भत्तों आदि से सम्बन्धित होता है। भाग IIA चालू योजनाओं जैसे सामग्री क्रय से सम्बन्धित होता है। भाग IIB पूर्णतः व्यय की नई योजनाओं से सम्बन्धित होता है।

   कभी-कभी बजट प्राक्कलनों तथा वास्तविक व्यय की धनराशि में काफी अन्तर होता है। इसके दो महत्त्वपूर्ण कारण हैं। प्रथम, प्राक्कलन कोई अठारह मास पूर्व तैयार किए जाते हैं; दूसरे, भारतीय अर्थव्यवस्था मानूसन पर निर्भर करती है और प्राक्कलन मानसून से काफी पूर्व तैयार हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त जैसा श्री अशोक चन्दा ने कहा है, " नयी प्रयोजनाओं को बजट में शामिल करते समय उनके प्राक्कलन तैयार करना प्रायः कठिन कार्य है। दिए हुए प्राक्कलन प्रायः अन्दाजन लिखे जाते हैं-किसी ठोस और विधेयात्मक आधार पर नहीं। फिर भी बजट में शामिलन करने के लिए जब तक वित्त मंत्रालय को कुछ आंकड़े नहीं भेजे जाते, योजना को परिपक्कव होने पर क्रियान्वित नहीं किया जा सकेगा।"

2. **नियंत्रण अधिकारियों द्वारा समीक्षा (Scrutiny and Review by Controlling Officers):** स्थानीय अधिकारी अपने प्राक्कलनों को अपने-अपने नियंत्रण अधिकारियों को समीक्षा एवं जाँच-पड़ताल हेतु भेजते हैं। यह समीक्षा पूर्णतः प्रशासकीय ढंग की होती है। नियंत्रण अधिकारी अपने विभाग के विभिन्न प्रभागों और शाखाओं द्वारा भेजे गए प्रस्तावों के सापेक्ष महत्त्व की जाँच करता है ताकि इनको विभाग के लिए संभावित अनुदान के प्रकाश में नये व्यय के अंतर्गत शामिल किया जा सके। अतएव वह उन प्रस्तावों में से कुछ को स्वीकार कर लेता है तो कुछ को नामंजूर कर देता है। तदुपरान्त वह अपने विभाग के प्राक्कलनों को इकट्ठा करता है और अक्टूबर के प्रारम्भ तक इन्हें बजट अधिकारियों के पास पहुंचा देता है।

3. **महालेखाकार तथा प्रशासकीय विभाग द्वारा समीक्षा (Scrutiny and Review by the Accountant-General and the Administrative Department):** नियंत्रक अधिकारियों से प्राक्कलन फार्मों के आ जाने के बाद, प्राक्कलनों का

पार्ट I जो राजस्व एवं स्थायी व्यय से सम्बन्धित होता है महालेखाकार तथा सामान्य प्रशासन विभाग को समीक्षा हेतु चला जाता है। सामान्य समीक्षा के अतिरिक्त, महालेखाकार का कार्यालय ऋण, निक्षेप जमा तथा विप्रेषण (Remittances) शीर्षकों के अधीन प्राक्कलनों को भी तैयार करता है। नवम्बर के मध्य तक ये प्राक्कलन वित्त मंत्रालय के बजट विभाग को पहुंच जाते हैं।

4. **वित्त मंत्रालय द्वारा समीक्षा (Scrutiny by the Ministry of Finance):** विभिन्न विभागों से प्राप्त प्राक्कलनों की वित्त विभाग द्वारा समीक्षा की जाती है। आवश्यक संशोधनों के बाद इन्हें भारत सरकार के बजट का रूप दे दिया जाता है। पी० के० वाटल के शब्दों में, "वित्त मंत्रालय द्वारा समीक्षा का रूप प्रशासकीय विभाग द्वारा समीक्षा के रूप से भिन्न होता है। प्रशासकीय विभाग व्यय की नीति या इसकी आवश्यकता या इसके औचित्य से सम्बन्धित होता है परन्तु वित्त विभाग मुख्यतया बचत से संबंधित है। अतएव उसे विभिन्न विभागों की माँगों को उपलब्ध धनराशि की सीमा के अन्दर रखना पड़ता है। प्रशासकीय विभागों एवं वित्त विभाग के बीच मतभेद को मंत्रिमंडल के निर्णय के लिए प्रस्तुत किया जाता है।" इस प्रकार वित्त मंत्रालय की समीक्षा वित्तीय अर्थात् बचत, निधियों की उपलब्धि के द ष्टिकोण से होती है। वित्त मंत्रालय नये खर्चे की पूरी समीक्षा करता है। यह उन प्रश्नों से विदित है जो यह ऐसे खर्च की समीक्षा करते समय सामने रखता है -

   (i) क्या प्रस्तावित व्यय वास्तव में जरूरी है?

   (ii) यदि जरूरी है तो इसके बिना अब तक काम कैसे चलता रहा और अब इसकी जरूरत क्यों है?

   (iii) अन्य स्थान पर क्या व्यवस्था है?

   (iv) इसकी लागत क्या होगी और यह धन कहाँ से आएगा?

   (v) इसके फलस्वरूप किस विभाग की राशि कम हो जाएगी?

   (vi) क्या नये विकास इसको अनावश्यक कर देंगे?

   तदुपरान्त वित्त मंत्रालय भारत सरकार की आय और व्यय का कुल अनुमान तैयार करता है। अनुमानित व्यय के आधार पर करों के नये प्रस्ताव तैयार किये जाते हैं। दूसरे शब्दों में बजट दो भागों में विभक्त होता है आय भाग तथा व्यय भाग। दिसम्बर के अंत तक बजट तैयार हो जाता है।

5. **मंत्रिमण्डल द्वारा स्वीकृति (Approval by the Cabinet):** वित्त मंत्री जनवरी मास में बजट पर विचार करता है। वह प्रधानमंत्री से परामर्श करके टैक्सों आदि के बारे में अपनी वित्तीय नीति को तैयार करता है। ऐसा हो जाने के बाद बजट मंत्रिमण्डल के विचार हेतु प्रस्तुत किया जाता है। ऐसा इसलिए किया जाता है क्योंकि मंत्रिमण्डल सामान्य नीति निर्धारित करने के लिए उत्तरदायी है। जब मंत्रिमण्डल बजट को स्वीकृति प्रदान कर देता है तो यह संसद में प्रस्तुत किये जाने के लिए तैयार है।

बजट के तत्व (The Contents of the Budget): भारत में बजट को 'वार्षिक वित्तीय विवरण' कहते हैं। इसके दो भाग होते हैं -

1. वित्तमंत्री का बजट भाषण; तथा
2. बजट प्राक्कलन।

बजट भाषण (Budget Speech): वित्तमंत्री के बजट भाषण में ये बातें शामिल होती हैं-देश की सामान्य आर्थिक दशा के बारे में सूचना; सरकार की वित्तीय नीति के बारे में सूचना, चालू वर्ष के प्राक्कलनों और संशोधित प्राक्कलनों में अंतर का कारण तथा तदर्थ नई माँगों का कारण। राष्ट्र की वार्षिक कार्रवाहियों में वित्तमंत्री के बजट भाषण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी न केवल व्यापारिक समुदाय अपितु समाज का प्रत्येक वर्ग बेचैनी से प्रतीक्षा करता है।

बजट प्राक्कलन (Budget Estimates): भारतीय संविधान के अनुसार राष्ट्रपति का यह दायित्व है कि वह संसद को वार्षिक वित्तीय विवरण प्रस्तुत करे जिसमें भारत की संचित निधि से किए जाने वाले व्यय तथा सार्वजनिक लेखाओं से किए जाने वाले खर्च को अलग-अलग दिखलाया जाए। धारा 112 के अनुसार भारत की संचित निधि पर निम्नलिखित व्यय 'भारित' व्यय घोषित किए गए हैं-

1. राष्ट्रपति के वेतन और भत्ते तथा उसके पद से सम्बन्धित दूसरा खर्चा;
2. राज्य सभा के सभापति तथा उपसभापति एवं लोक सभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते;
3. ऋण का खर्चा;
4. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते तथा पेंशन;
5. भारत में महालेखा परीक्षक के वेतन, भत्ते तथा पेंशन;
6. किसी भी न्यायालय के निर्णय या डिग्री के अनुसार दिए जाने वाला धन; तथा
7. संविधान या संसद द्वारा घोषित किया गया ऐसा ही कोई दूसरा खर्च।

इन समस्त खर्चों पर संसद को मतदान का अधिकार नहीं है, हालांकि वह इन पर बहस कर सकती है। अन्य सभी व्यय संसद की मतदान शक्ति के अधीन हैं।

ऊपर हमने दो शब्दों 'संचित निधि' तथा 'पब्लिक एकाउंट' का प्रयोग किया है। इन शब्दों का अर्थ भी स्पष्ट कर दिया जाए। संविधान की धारा 266 *(i)* के अन्तर्गत संचित निधि का अर्थ है "भारत सरकार द्वारा प्राप्त सभी राजस्व, सरकार द्वारा लिए गए सभी ऋण, ऋणों के भुगतान में प्राप्त सभी धन अग्रिम धन समेत।" 'पब्लिक एकाउंट' में राज्य प्रावीडेंट फंड, सरकारी विभागों के रिजर्व फंड, पोस्टल सेविंग्ज बैंक धन, पोस्ट आफिस कैश तथा अन्य बचत सर्टिफिकेट, पोस्टल जीवन बीमा फंड, सरकार द्वारा राजस्व या अन्य प्रकार से निर्मित तदर्थ फंड, विविध निवेश जमा तथा विप्रेषण धन आदि सम्मिलित हैं। इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि पब्लिक अकाउंट में पड़ा धन सरकार का नहीं होता क्योंकि यह किसी समय पर लोगों को वापस भुगतान किया जाता है। पब्लिक एकाउंट से भुगतान के लिए संसद में कोई माँग प्रस्तुत नहीं की जाती। दूसरे शब्दों में, विनियोग ऐक्ट द्वारा विनियोजन केवल संचित निधि के बारे में जरूरी है, ऐसा पब्लिक एकाउंट के लिए जरूरी नहीं है।

बजट का विधिकरण

(Enactment of the Budget)

संसद में बजट पाँच अवस्थाओं से गुजरता है, अर्थात् 1. पेश होना, 2. सामान्य चर्चा, 3. अनुदानों की माँगों पर मतदान, 4. विनियोग अधिनियम को पास करना, तथा 5. वित्त अधिनियम पर विचार करना और उसे पास करना।

1. **बजट का पेश होना (Introduction of Budget):** भारतीय संसद का बजट अधिवेशन फरवरी के मध्य में आरम्भ होता है। बजट संसद में दो भागों रेलवे बजट और सामान्य बजट-में पेश किया जाता है। रेलवे बजट में रेलों की आय और उनके व्यय का विवरण करता है और यह रेल मंत्री द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। सामान्य बजट रेलवे को छोड़कर शेष अन्य सभी विभागों की माँगों से सम्बन्धित होता है। यह संसद में वित्त मंत्री द्वारा पेश किया जाता है। रेलवे बजट और सामान्य बजट की प्रक्रिया लगभग समान ही है। पहले रेलवे बजट पेश किया जाता है। बाद में सामान्य बजट पेश होता है जो फरवरी के अंतिम दिन सायं पांच बजे प्रस्तुत किया जाता है। बजट तथा वित्त मंत्री के भाषण की प्रतिलिपियाँ सब सदस्यों में बाँट दी जाती हैं।
2. **सामान्य चर्चा (General Discussion):** संसद के कार्य-संचालन नियमों की नियम संख्या 130 के अनुसार बजट जिस दिन संसद में प्रस्तुत होता है उस दिन उसके सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं की जाएगी। इसलिए स्पीकर सामान्य चर्चा की तारीख निश्चित कर देता है। यह तारीख साधारणतया बजट पेश होने के एक सप्ताह बाद की होती है और चार दिन चर्चा के लिए नियत किए जाते हैं। चर्चा व्यय की सभी मदों, संचित निधि पर भारित व्यय की मदों पर भी होती है। यह चर्चा बजट से सम्बन्धित सिद्धान्तों और नीति तक ही सीमित रहती है, इसमें प्रशासन की आलोचना करने और जनता की कठिनाइयों को प्रस्तुत करने का भी अवसर रहता है। यह चर्चा राजनीतिक अधिक होती है, वित्तीय कम। इस अवस्था में कोई प्रस्ताव नहीं रखा जाता और न ही मतदान के लिए बजट संसद के सम्मुख रखा जाता है। यह ध्यान रहे कि बजट पर सामान्य चर्चा संसद के दोनों सदनों में साथ-साथ चलती है। चर्चा के अन्त में वित्त मंत्री सामान्य उत्तर देता है।
3. **माँगों पर मतदान (The Voting of Demands):** सामान्य चर्चा समाप्त हो जाने पर लोक सभा अनुदानों की उन माँगों पर मतदान का कार्य आरम्भ करती है जो भारत की संचित निधि पर भारित व्यय नहीं है। माँगों पर मतदान पूर्णतया

लोकसभा का विशेषाधिकार है, राज्य सभा इसमें कोई भाग नहीं लेती। अनुदानों की माँगों पर वोट करते समय लोकसभा सदन के रूप में ही बैठती है, यह सदन की सम्पूर्ण समिति के रूप में नहीं बैठती जैसा कि ब्रिटेन की कामन सभा में व्यवस्था है। ब्रिटेन की भांति भारत में भी माँगों पर मतदान के लिए छब्बीस दिन रखे गए हैं। इस थोड़े से समय की व्यवस्था से यह स्पष्ट है कि अनेक माँगें बिना किसी चर्चा के ही पास हो जाती हैं। अध्यक्ष सदन के नेता की सलाह से यह नियत कर देता है कि किस माँग या माँग समूह के लिए और बजट के सम्पूर्ण खर्च वाले भाग के लिए कितना समय होगा। जैसे ही नियत समय सीमा समाप्त हो जाती है उस माँग को तत्काल मतदान के लिए प्रस्तुत कर दिया जाता है चाहे उस पर चर्चा हुई हो या न हुई हो। इसी प्रकार अन्तिम दिन पाँच बजे शाम को बची हुई सारी माँगों को अध्यक्ष मतदान के लिए प्रस्तुत कर देता है चाहे उन पर चर्चा हुई या नहीं हुई। 1993-94 वर्ष के बजट में विभिन्न विभागों की माँगों पर विस्त त विचार करने हेतु संसदीय समिति प्रणाली आरम्भ की गई है। इस प्रयोजन हेतु 17 समितियों का निर्माण किया गया है जिनमें विभिन्न विभागों की माँगों को विभक्त कर दिया गया है। प्रत्येक समिति में 45 सदस्य होंगे जिनमें 30 लोकसभा एवं 15 राज्यसभा के सदस्य होंगे। इन समितियों के कार्यों में अनुदान माँगों की समीक्षा, अधिनियमों का परीक्षण एवं राष्ट्रीय अधारमूलक दीर्घकालीन नीतियों पर विचार को सम्मिलित किया गया है। संसदीय प्रणाली होने के कारण विरोधी पक्ष का कटौती करने का कोई प्रस्ताव सरकार में अविश्वास का सूचक होता है। अतः सदन में माँगों पर चर्चा वित्तीय द ष्टिकोण से बजट के मदों की चर्चा नहीं होती अपितु किसी विशेष विभाग के विरुद्ध जनता की शिकायतों की चर्चा होती है। ज्योंही व्यय की कोई मद चर्चा के लिए प्रस्तुत की जाती है, सदन का कोई सदस्य उठकर उसके अनुमानों में एक या एक सौ रुपयों की कटौती का प्रस्ताव रखता है, तदुपरान्त यह उस विभाग, जिसके वह मद सम्बन्धित है, की आलोचना शुरू करता है। सम्बन्धित मंत्री को उसके विभाग के विरुद्ध की गई सभी आलोचना का उत्तर देना पड़ता है। प्रत्येक माँग पर चर्चा पूर्ण हो जाने के बाद माँग को सदन के मतदान हेतु रखा जाता है कि "एक रकम जो.....रु० से अधिक न हो, राष्ट्रपति को मार्च 19.....को समाप्त होने वाले वर्ष की अवधि में.....(माँग का विषय) के सिलसिले में आने वाले खर्च के लिए, अनुदान रूप में दी जाए।" स्वीकृत होने के बाद माँग अनुदान बन जाती है। यह ध्यान रहे कि सदन किसी माँग की राशि को घटा या नामँजूर कर सकता है परन्तु यह इसे बढ़ा नहीं सकता। यदि व्यय के लिए अधिक धन की आवश्यकता पड़े तो पूरक अनुदानों या आकस्मिक निधि में से व्यय करने का अधिकार दिया जा सकता है।

4. **विनियोग अधिनियम को पास करना (Passage of the Appropriation Bill):** अगली अवस्था वार्षिक विनियोग अधिनियम को विधि में पारित करना है। लोक सभा द्वारा पास की गई सभी माँगों तथा भारत की संचित निधि पर भारित सभी व्यय को एक अधिनियम में इकट्ठा किया जाता है जिसे वार्षिक विनियोग अधिनियम कहते हैं। संविधान की धारा 114 *(v)* में लिखा गया है, कि *(i)* लोक सभा द्वारा पास की गई सभी माँगों तथा *(ii)* भारत की संचित निधि पर व्यय को पूरा करने के लिए भारत की संचित निधि से धन निकालने के लिए एक अधिनियम प्रस्तुत किया जाएगा।" तदनुसार लोक सभा में विनियोग अधिनियम प्रस्तुत किया जाता है। वाद-विवाद को केवल उन्हीं बातों तक सीमित रखा जाता है जिन पर चर्चा की अवस्था में पहले चर्चा नहीं हुई है। यह अधिनियम भी उसी क्रियाविधि का अनुसरण करता है, जैसे अन्य वित्त विधेयक सिवाय इस बात के कि सदन द्वारा पहले से जिस माँग पर मत दिया जा चुका है, उस अनुदान या संचित निधि में परिवर्तन सम्बन्धी कोई संशोधन किसी भी सदन में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। लोक सभा द्वारा पारित हो जाने के बाद अध्यक्ष उसे प्रमाणित कर देता है कि यह वित्त विधेयक है और तब यह विधेयक राज्य सभा के पास भेज दिया जाता है।

राज्य सभा के पास विनियोग विधेयक को न तो नामंजूर करने और न संशोधित करने की शक्ति है। यह केवल उस पर चर्चा कर सकती है और 14 दिन के अन्दर इसे लोक सभा को अपनी सिफारिशें भेजनी होती हैं। लोक सभा इन सिफारिशों को मंजूर या नामंजूर कर सकती है। यदि लोक सभा राज्य सभा के सुझावों को अस्वीकृत कर देती है तो विधेयक उसी रूप में दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जायेगा जिस रूप में लोक सभा ने इसे पारित किया है। यदि चौदह दिनों के अंदर राज्य सभा कोई सिफारिश नहीं करती, उस स्थिति में ..... उस अवधि की समाप्ति पर दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जाएगा।

पारित होने के बाद विनियोग विधेयक राष्ट्रपति को उसकी मंजूरी के लिए भेजा जाता है। यह केवल औपचारिक मात्र है क्योंकि राष्ट्रपति धन विधेयक को पुनर्विचार हेतु वापस नहीं भेज सकता। विनियोग कानून सरकार को सार्वजनिक निधि से धन निकालने तथा इसको अधिकृत रूप में व्यय करने की शक्ति प्रदान करता है। ऐसी शक्ति के बिना सरकार

कोई व्यय नहीं कर सकती और महालेखाकार एवं लेखा परीक्षक ऐसे व्यय को जिसकी संसद ने अनुमति नहीं दी थी अनधिकृत या गैरकानूनी घोषित कर देगा। धारा 114 (3) में लिखा है कि 'संचित निधि से कोई भी धन बिना विनियोग के नहीं निकाला जा सकता।' अतएव विनियोग ऐक्ट का पास होना बजट निर्माण में एक आवश्यक चरण है।

वित्त अधिनियम (Finance Act): विनियोग कानून सरकार को संचित निधि से धन निकालने को शक्ति प्रदान करता है परन्तु अभी तक यह व्यवस्था नहीं की गई है कि यह धन कहाँ से आयेगा। अतः करारोपण द्वारा धन इकट्ठा करने की व्यवस्था की जाती है। इस उद्देश्य हेतु एक वित्त विधेयक सदन के सामने रखा जाता है। इस विधेयक में आगामी वर्ष के लिए सरकार के वित्तीय प्रस्ताव शामिल होते हैं। इसे भी संसद के सामने बजट के साथ ही पेश किया जाता है। इस पर धन विधेयक जैसी प्रक्रिया अपनाई जाती है। प्रवर समिति में इस विधेयक पर पूर्ण विस्तार से विचार होता है। समिति की रिपोर्ट आने पर सदन में इस पर धारावाहिक विचार होता है। संशोधन केवल किन्हीं करों को कम करने या समाप्त करने के बारे में ही रखे जा सकते हैं। वित्तीय प्रस्ताव उसी समय लागू हो जाते हैं ज्योंही बजट पेश होता है। वित्त विधेयक अप्रैल का महीना समाप्त होने से पूर्व पारित होना चाहिए। इसके पारित होने के बाद ही सरकार करों को इकट्ठा करने की अधिकारी बनती है।

विनियोग बिल एवं वित्त बिल पास हो जाने के बाद बजट की विधिकरण प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है।

बजट में सामान्य वार्षिक अनुमान होते हैं जो वार्षिक व्यय का अधिकांश भाग होते हैं। बजट के समय अनदेखी परिस्थितियों पर व्यय को पूरा करने के लिए अन्य चार प्रकार के अनुदान लोकसभा को पारित करने के लिए कहा जा सकता है। इन अनुदानों को *(i)* अनुपूरक अनुदान (Supplementary Grants), *(ii)* लेखा मतदान (Vote on Account), *(iii)* विशेष अनुदान (Exceptional Grants), तथा *(iv)* उधार पर मतदान (Votes on Credit) कहते हैं।

पूरक अनुदान (Supplementary Grants): यदि साल के विनियोग अधिनियम द्वारा प्राधिकृत धनराशि किसी सेवा के लिए कम पड़े या किसी नई सेवा के लिए खर्च आवश्यक हो जाए या किसी सेवा में बजट में नियत धनराशि से अधिक खर्च हो जाए तो हमारे संविधान की धारा 115 के अन्तर्गत राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि पूरक प्राक्कलनों का एक पूरक वित्तीय विवरण संसद के सामने पेश करवाए। यह विनियोग विधेयक की क्रियाविधि के अनुसार पारित किया जाएगा।

लेखा अनुदान (Votes on Account): संविधान की धारा 116 *(i)* (ए) के अन्तर्गत लोकसभा विनियोग विधेयक पारित होने तक वित्तीय वर्ष के किसी भाग के लिए अनुमानित व्यय के वास्ते अग्रिम अनुदान पारित कर सकती है। चूंकि विनियोग विधेयक पारित होने का कार्य 31 मार्च तक पूर्ण नहीं होता, अतएव लोकसभा के लिए आवश्यक हो जाता है कि यह उस अवधि तक के लिए अनुदान मंजूर करे जब तक बजट पास नहीं होता। विनियोग विधेयक पास होने तक कार्यपालिका को काम चलाने के लिए जो अनुदान स्वीकृत किया जाता है उसे लेखा अनुदान कहते हैं। यह ध्यान रहे कि लेखा अनुदान ऐसी सेवाओं के लिए ही सीमित है जिनको संसद की स्वीकृति मिल चुकी है। इसे प्रायः नई सेवाओं के लिए नहीं मांगा जाता। अनुमानित माँगें कुल वर्ष की जरूरतों का प्रायः 1/12 भाग होती हैं। विशेष परिस्थितियों में यह अधिक भी हो सकती हैं यदि खर्च को सारे साल पर समान रूप से नहीं फैलाया गया है।

विशेष अनुदान एवं ऋण पर मतदान (Exceptional grants and votes on credit): धारा 116 (बी) में लिखा है, "लोकसभा को किसी अप्रत्याशित माँग जो सेवा की विशालता या उसके अनिश्चित स्वरूप के कारण पहले से नहीं आँकी जा सकी और जिसके ब्यौरे वार्षिक वित्तीय विवरण में शामिल नहीं किए जा सके, को स्वीकृत करने का अधिकार होगा।" इसी धारा के अनुच्छेद (सी) में लिखा है, "लोकसभा को विशेष अनुदान पारित करने का अधिकार होगा जो वित्तीय वर्ष की किसी चालू सेवा का कोई भाग नहीं है।" ऐसी अप्रत्याशित घटनाओं के व्यय को भारत की आकस्मिक निधि में से राष्ट्रपति द्वारा स्वीकृत अग्रिम धन से पूरा किया जाता है। इन अग्रिम धनों को बाद में संसद द्वारा अधिकृत कराया जाता है।

बजट का क्रियान्वयन

(The Execution of the Budget)

बजट के पास हो जाने के बाद बजटीय प्रक्रिया का अगला चरण इसका क्रियान्वयन है। बजट को क्रियान्वित करना कार्यकारिणी का दायित्व है क्योंकि विधानमण्डल द्वारा इसको ही अनुदान राशि दी जाती है। बजट के क्रियान्वयन के दो महत्त्वपूर्ण नियम हैं-

1. यह विनियोग विधेयक की धाराओं के अनुसार हो; तथा
2. धन अत्यधिक ईमानदारी, दक्षता और सच्चाई से व्यय किया जाए। कोई खर्च अनुचित अथवा अनावश्यक न हो। आवश्यकता और किफायत का ध्यान रखा जाए।

बजट की क्रियान्वयन प्रक्रिया में निम्नलिखित क्रियाएँ सम्मिलित हैं-

1. **कर निर्णय एवं वसूली (Assessment and Collection):** करों को इकट्ठा करने से पूर्व यह निर्णय करना होता है कि विधानमण्डल द्वारा प्रदत्त शक्ति के अनुसार विभिन्न व्यक्तियों से कितनी कर राशि इकट्ठी की जानी है। इस प्रकार के निर्णय में करदाता-व्यक्तियों की सूची तैयार की जाती है और यह भी निर्णय किया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति एवं निकायों को कितना कर देना है। तदर्थ कार्यकारिणी को कर निर्णय का कार्य करने के लिए उपयुक्त संयंत्र की व्यवस्था करनी होती है। ऐसे संयंत्र की व्यवस्था करते समय करों के अपवंचन (evasion) को रोकने का प्रयत्न किया जाए।

   करों का निर्णय हो जाने के बाद सरकारी अधिकारी व्यक्तियों से वाजिब करों को इकट्ठा करते हैं। कर इकट्ठा करने का ढंग कर के स्वरूप के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। कुछ मामलों में जैसे आयात कर की वसूली ठीक वहीं करनी पड़ती है, जहाँ लाया हुआ सामान पकड़ा जाता है। दूसरे मामलों में करदाता व्यक्तियों को बिल भेज दिया जाता है और उन्हें निकटतम राजकोष में कर जमा कराने के लिए कहा जाता है। वेतनादि के करों को वेतन वितरण के कार्यालय में ही वेतन बिल से काट लिया जाता है। कुछ मामलों में सरकार के अधिकारी या एजेंट सीधे करदाता व्यक्ति के पास जाकर उससे वसूली करते हैं और इस प्रकार एकत्रित धन को वे राजकोष में जमा करा देते हैं।

   राजस्व विभाग सरकार द्वारा लगाए गए प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों पर दो सांविधिक बोर्डों, अर्थात् केन्द्रीय प्रत्यक्ष कर बोर्ड तथा केन्द्रीय उत्पाद शुल्क एवं सीमा शुल्क बोर्ड-द्वारा नियंत्रण एवं निगरानी करता है। कभी-कभी यह प्रश्न उठता है कि क्या कर निर्णय एवं कर इकट्ठा करने के दोनों कार्य एक ही अधिकारियों को या अलग-अलग अधिकारियों को दिए जाएँ। जो व्यक्ति पहले विचार का समर्थन करते हैं उनके तर्क हैं कि-

   (i) इस प्रणाली के अन्तर्गत अधिक ईमानदारी और उचित व्यवहार होगा;

   (ii) इससे सरकार को कर इकट्ठा करने पर अधिक नियन्त्रण प्राप्त होगा; तथा

   (iii) इससे लेखा परीक्षण में सुविधा रहेगी।

   परन्तु यह प्रणाली दोषपूर्ण भी है क्योंकि

   (i) दोनों प्रकार की क्रियाएँ भिन्न-भिन्न स्वरूप की हैं, अतः उनके लिए विभिन्न संगठन होने चाहिए; तथा

   (ii) यदि एक ही अधिकारी को दोनों कार्य करने हैं तो उस पर कार्यभार अधिक हो जाएगा।

   उत्तम ढंग यही है कि दोनों कार्य एक अकेली सेवा के अन्तर्गत गठित किए जाएँ परन्तु उस गठन में दो अलग प्रभाग हों जो दोनों क्रियाओं को अलग-अलग करें। भारत में यही प्रणाली है। केन्द्र तथा राज्यों में वित्त मन्त्री के अधीन राजस्व विभाग है जो केन्द्रीय राजस्व बोर्ड (Central Board of Revenue) के माध्यम से देश के प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों के प्रशासन का नियंत्रण एवं पर्यवेक्षण करता है।

2. **निधियों का सुरक्षण (Custody of Funds):** सभी राजस्व को जो इकट्ठा किया जाता है सुरक्षित प्रकार से रखना होता है। इस प्रबन्ध व्यवस्था में दो मुख्य बातें देखनी होती हैं: प्रथम, गबन की कोई संभावना न रहे; दूसरे, अदायगी की सुविधा हो, उसमें कोई देर न हो।

   पुराने समय में सार्वजनिक धन को राजकोष में विशेष रूप से बने मजबूत संदूकों में रखा जाता था। परन्तु बैंकिंग प्रणाली के विकास के साथ अब ऐसा करना आवश्यक नहीं रह गया है। इसके अतिरिक्त अब यह भी जरूरी नहीं है कि सभी वित्तीय लेन-देन नकद धन द्वारा हो क्योंकि अधिकांश कार्य चैकों द्वारा किया जा सकता है जिससे गबन की सम्भावना कम हो जाती है। अधिकांश देशों में सरकार की ओर से लेन-देन का कार्य एक केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जा सकता है। लन्दन में इस कार्य के लिए 'बैंक आफ लन्दन' है। परन्तु भारत में बैंकिंग सुविधाएँ पर्याप्त मात्रा में नहीं है। अतः सरकार की ओर से रुपया लेने देने के लिए केन्द्रीयकृत प्रणाली की व्यवस्था सम्भव नहीं है। भारत में रिज़र्व बैंक या जहाँ पर रिज़र्व बैंक की कोई शाखा नहीं है वहाँ स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया भारत सरकार के कोष सम्बन्धी कार्य को करता है।

कुछेक राष्ट्रीयकृत बैंकों को भी सरकार की ओर से राजस्व प्राप्ति का अधिकार दिया गया है। परन्तु चूंकि सभी स्थानों पर इन बैंकों की शाखाएँ नहीं हैं, अतः अब भी लगभग 1200 सब-ट्रेजरी तथा उन पर निगरानी हेतु 300 जिला कोष कार्य करते हैं।

3. **निधियों का भुगतान (Disbursement of Funds):** विविध देयों की अदायगी के लिए भुगतान कोष से धन निकालने की प्रक्रिया है। अवैध एवं अनुचित देयों की निकासियों के विरुद्ध प्रत्येक सावधानी बरती जानी चाहिए। अतः वित्त मंत्रालय द्वारा व्यय पर विशेष नियन्त्रण रखा जाता है। विधानमण्डल सरकार को समग्र रूप से, तकनीकी तौर से राष्ट्रपति को न कि अलग-अलग विभागों को अनुदान स्वीकृत करता है। वित्त मन्त्रालय विभाग के अध्यक्ष को उसके विभागीय व्यय के बारे में नियन्त्रक अधिकारी मनोनीत करता है। ये अधिकारी भुगतान-अधिकारियों को अनुदान नियत कर देते हैं। भुगतान अधिकारी कार्यालयों के अध्यक्ष होते हैं। नियंत्रक एवं भुगतान अधिकारियों को अनुदानों की सूचना बजट पास होने के तुरन्त बाद दे दी जाती है। अनुदान को व्यय की विभिन्न मदों में जैसे अधिकारियों के वेतन, प्रतिष्ठान व्यय, आकस्मिक व्यय आदि में विभक्त कर दिया जाता है। इन विनियोगों को वित्तीय नियंत्रण हेतु इससे भी आगे उपशीर्षकों में वर्गीकृत कर देते हैं। व्यय के नियन्त्रण की मूलभूत इकाई 'उपशीर्षक' (Sub-Head) है। भुगतान अधिकारी को विनियोगों के कुछ उपशीर्षकों का भार दे दिया जाता है। वह कोष से धन भी निकाल सकता है।

   भुगतान अधिकारी पर बड़ा दायित्व है। धन निकालने से पूर्व उसे देखना होता है कि-

   (i) किया जाने वाला व्यय ऐसे व्यय को अधिकृत करने वाली एजेन्सी या अधिकारी द्वारा स्वीकृत व्यय है।

   (ii) किया जाने वाला व्यय विधानमण्डल द्वारा स्वीकृत राशि की सीमा के भीतर है।

   (iii) देयों की अदायगी उचित है।

   उसे विभिन्न लेन-देनों का लेखा भी रखना होता है। इनके बारे में वह विभागाध्यक्ष एवं महालेखाकार को रिपोर्ट भी भेजता है। कोषाधिकारी को भी अदायगी करते समय काफी चौकन्ना रहना होता है कि अदायगी के वारन्ट, चालान या चैक पर अधिकृत अधिकारी के हस्ताक्षर हैं या नहीं। उसे सभी वसूलियों एवं भुगतानों का भी लेखा रखना होता है।

   विभागाध्यक्ष की व्यय के ऊपर नियंत्रण शक्ति भुगतान अधिकारियों को धन अनुदान विभक्त करके समाप्त नहीं हो जाती। वह अपने विभाग के व्यय के ऊपर सतत नियन्त्रण रखता है। भुगतान अधिकारियों को अपने विभाग के नियंत्रणकर्त्ता को मासिक लेखा प्रस्तुत करने होते हैं। नियंत्रणकर्त्ता इन लेखों को विभिन्न शीर्षकों एवं उपशीर्षकों में वर्गीकृत कराता है जिससे उसे अपने विभाग की समग्र वित्तीय स्थिति का पता लग जाता है। वह इन लेखों की प्रतिलिपि महालेखाकार को भी भेजता है और वित्त मंत्रालय को भी। विभागीय लेखों का कोषों से प्राप्त लेखों के साथ मिलान किया जाता है। इससे नियंत्रक अधिकारी को अपने विभाग में व्यय पर निगरानी रखने का मौका मिलता है और वह फ़िजूलखर्ची या असावधानी को रोक सकता है। इस प्रकार नियंत्रक अधिकारी (विभागाध्यक्ष) भुगतान अधिकारी (कार्यालय अध्यक्ष) तथा कोषाधिकारी निधियों के उचित भुगतान से सम्बन्धित हैं।

4. **लेखा (Accounting):** लेखा का अर्थ है कि वित्तीय लेन-देनों का क्रमबद्ध रिकार्ड रखा जाए। समुचित बजटीय नियंत्रण के लिए एक अच्छी लेखा प्रणाली अनिवार्य है। रसीदों एवं व्ययिक पर्चों (Vouchers) के आधार पर तैयार किए क्रमबद्ध लेखाओं के द्वारा ही लेन-देनों की वैधता एवं ईमानदारी की जाँच हो सकती है। दूसरे, इन लेखाओं के द्वारा ही यह पता लग सकता है कि क्या बजट की धाराओं का ठीक प्रकार से पालन किया गया है या नहीं। क्या कुछ व्यय किया गया है और जो कुछ व्यय किया गया है वह बजटीय सीमाओं के भीतर था या नहीं। तीसरे, लेखाओं से नीति-निर्माण और प्रोग्राम बनाने के लिए आवश्यक वित्तीय स्थितियों एवं क्रियाओं के बारे में महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है। फ्रांसिस आके (Francis Oakey) के अनुसार, "लेखा वित्तीय स्थितियों एवं क्रियाओं से सम्बन्धित तत्वों को तुरन्त और स्पष्ट प्रस्तुत करने का विज्ञान है जिनकी प्रबन्ध के आधार रूप में आवश्यकता होती है।" डॉ० एल० डी० व्हाइट (L.D. White) के शब्दों में, "लेखा प्रणाली के प्रमुख कार्य हैं-वित्तीय रिकार्ड रखना, निधियों से सम्बन्धित व्यक्तियों का संरक्षण, संगठन की वित्तीय दशा को प्रगट करना, व्यय की दरों में आवश्यक रद्दो-बदल को सुविधाजनक बनाना, अधिकारियों को सूचना देना जिसके आधार पर वे भावी वित्तीय एवं क्रियागत प्रोग्रामों का निर्धारण कर सकें तथा लेखा परीक्षण में सहायता देना।"

5. **लेखा परीक्षण (Audit):** बजट के क्रियान्वयन में अंतिम चरण लेखा परीक्षण है। लेखा परीक्षण की परिभाषा इस प्रकार की गई है कि यह "इस बात का पता लगाने की प्रक्रिया है कि क्या प्रशासन ने अपनी निधियों को उस विधान जिसने धनराशि विनियोजित की थी, के अनुसार खर्च किया है या कर रहा है।" यह दायित्व को लागू करने का साधन है। लेखा विभाग का अधिकारी महालेखा परीक्षक होता है। उसका कार्य केवल यही देखना नहीं है कि व्यय को सीमा के भीतर किया गया है जो सीमा संसद ने निर्धारित की थी तथा व्यय करते समय वित्तीय नियमों का पालन किया गया है अपितु अपने को इस बारे में भी विश्वस्त करना है कि धन को सोच-समझकर मितव्ययिता से खर्च किया गया है। महानियंत्रक एवं लेखा परीक्षक संसद के एजेन्ट के रूप में कार्य करते हैं। संसद अपनी तीन समितियों-सार्वजनिक लेखा समिति, प्राक्कलन समिति तथा सार्वजनिक उद्योगों की समिति द्वारा व्यय पर नियंत्रण करती है। इन समितियों का वर्णन अगले अध्याय में किया जाएगा।

इंग्लैण्ड में बजटीय प्रक्रिया

(Budgetary Process in England)

इंग्लैण्ड में बजट की तैयारी प्रत्येक वर्ष शरद ऋतु में आरम्भ कर दी जाती है जब गश्ती चिट्ठी द्वारा राजकोष सभी विभागों को आगामी वर्ष के लिए अपनी आवश्यकताओं सम्बन्धी आंकड़ें भेजने के लिए कहता है। जब राजकोष के पास सभी प्राक्कलन आ जाते हैं तो यह उनका पिछले वर्ष के आंकड़ों से मिलान करता है। राजकोषाधिकारी विभाग अधिकारियों से मिलकर इन अनुमानों को कम करा सकते हैं। इसी दौरान विभाग आय के प्राक्कलन तैयार करते हैं। सामान्यतया व्यय की राशि आय की राशि से अधिक होती है, अतएव या तो व्यय कम किया जाने या राजस्व के नये स्त्रोतों को ढूंढ़ने की आवश्यकता होती है। चांसलर आफ एक्सचेकर इस बारे में निर्णय करता है और तदुपरान्त वह मंत्रिमंडल के सामने बजट प्रस्तुत करता है। मंत्रिमंडल उसके प्रस्तावों तथा बजट की प्रमुख बातों को सुनने तथा बजट में निहित विविध समस्याओं पर चर्चा करने के बाद बजट को अन्तिम रूप दे देता है और चांसलर को इसे संसद के सामने प्रस्तुत करने के लिए अधिकृत कर देता है।

फरवरी के दूसरे-तीसरे सप्ताह में चांसलर बजट को कामन सभा में रखता है। कुछ समय बाद वह सदन की सम्पूर्ण समिति के सामने विशद भाषण देता है जिसमें वह गत वर्ष की वित्तीय स्थिति पर समीक्षा करता है तथा अगले वर्ष की नीति पर प्रकाश डालता है।

व्यय प्राक्कलन प्रस्तुत हो जाने के बाद सदन स्वयं को सम्भरण समिति (Committee of Supply) में परिवर्तित कर लेता है और अनुमानों पर विचार आरम्भ करता है। इन प्राक्कलनों पर अलग-अलग श्रेणियों में जो विभिन्न सेवाओं के समकक्ष होती हैं, विचार किया जाता है। इन माँगों को जिन्हें 'वोट' (Votes) कहा जाता है विभागाध्यक्ष द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इन 'वोटों' पर बहस होती है, परन्तु बहस वित्तीय मामलों से सम्बन्धित न होकर सरकार की नीति की आलोचना से सम्बन्धित होती है। सदस्य किसी माँग को कम करने या नामंजूर करने की माँग कर सकते हैं परन्तु वे उसे बढ़ाने के लिए नहीं कह सकते। सामान्यतया किसी व्यय को घटाने या नामंजूर करने का प्रस्ताव पास नहीं होता क्योंकि सम्बन्धित मंत्री इसके लिए तैयार नहीं होता। परिणामस्वरूप, प्राक्कलन बिना किसी रद्दो-बदल के पास हो जाते हैं। प्राक्कलनों पर चर्चा छब्बीस दिनों के भीतर समाप्त हो जानी चाहिए। इस समय सीमा की समाप्ति पर वाद-विवाद बन्द हो जाता है और सभी प्राक्कलन पास समझे जाते हैं।

राजस्व का विचार करते समय सदन सम्पूर्ण सदन की समिति जिसे मार्गोपाय समिति (Committee in Ways and Means) कहते हैं, के रूप में बैठता है। राजस्व के प्रस्तावों को क्रमगत विस्तार सहित विचारा जाता है। इनके पास हो जाने के बाद सदन को प्रस्ताव के रूप में सूचना दे दी जाती है।

सम्भरण समिति द्वारा व्यय के सभी प्राक्कलन तथा मार्गोपाय समिति द्वारा राजस्व के सभी प्रस्ताव पास हो जाने के बाद उन्हें विनियोग विधेयक तथा राजस्व विधेयक का रूप दिया जाता है। राजस्व विधेयक करों के सभी प्रस्तावों से सम्बन्धित होता है। विनियोग विधेयक व्यय से सम्बन्धित होता है। इन दोनों विधेयकों को जो धन विधेयक होते हैं सदन के सामने रखा जाता है और वहाँ पर सामान्य चरणों-प्रथम, द्वितीय एवं त तीय पठनों के बाद इन्हें पारित कर दिया जाता है।

कामन सभा से पारित होने के बाद इन विधेयकों को लार्ड सदन में भेजा जाता है जिसके पास इन्हें बिना किसी संशोधन के पारित करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं है। 1991 के विधेयक के अन्तर्गत यदि सदन को इसका अधिवेशन समाप्त होने से

एक मास पूर्व धन विधेयक मिल जाता है तो इस अवधि की समाप्ति पर विधेयक को शाही मंजूरी के लिए भेज दिया जाता है चाहे लार्ड सदन इससे सहमत हो या असहमत।

ब्रिटिश एवं भारतीय प्रणालियों की तुलना (The British and Indian Systems Compared): विस्त त रूप में, भारतीय एवं ब्रिटिश बजटीय पद्धति समान है परन्तु इन दोनों में कुछ निम्नलिखित अंतर हैं-

1. ब्रिटेन में सारी पावतियों और खर्च के लिए केवल एक बजट तैयार किया जाता है जबकि भारत में रेलवे के लिए एक अलग बजट तैयार किया जाता है और रेल मंत्री उसे प्रस्तुत करता है।
2. भारत में बजट पेश करते समय ही वित्त मंत्री का भाषण होता है किन्तु इंग्लैण्ड में चांसलर आफ एक्सचेकर का बजट भाषण सम्भरण समिति के सामने प्राक्कलन प्रस्तुत करते समय नहीं होता बल्कि उस समय होता है जब बजट का राजस्व भाग अर्थोपाय समिति के सामने पेश किया जाता है।
3. भारत में बजट दोनों सदनों के सामने रखा जाता है और राज्य सभा भी उस पर चर्चा करती है हालांकि मांगों पर मत देने का अधिकार एकमात्र लोकसभा को ही प्राप्त है। किन्तु इंग्लैण्ड में लार्ड सदन में न तो बजट पेश किया जाता है और न वहाँ उस पर चर्चा ही होती है।
4. भारत में लोकसभा द्वारा पारित होने के बाद बजट राष्ट्रपति को उसकी स्वीकृति के लिए चौदह दिन के बाद पहुँच जाता है जबकि इंग्लैण्ड में कामन सभा द्वारा पारित होने के तीस दिन बाद यह रानी के पास पहुंचता है।
5. इंग्लैण्ड में राजस्व की मार्गोपाय समिति तथा व्यय की माँगों पर सम्भरण समिति में मत लिया जाता है जिसमें सदन के सारे सदस्य होते हैं परन्तु भारत में ऐसी कोई प्रथा नहीं है कि लोकसभा समितियों में रूपान्तरित हो जाए। यह शक्ति लोकसभा के लिए सुरक्षित है। 1993-94 के बजट में विभिन्न विभागों की माँगो पर विस्त त विचार करने हेतु संसदीय समितियों की स्थापना की गई है।

शेष बजटीय प्रक्रिया दोनों देशों में समान है। वस्तुतः भारतीय प्रक्रिया ब्रिटिश नमूने पर आधारित है।

अध्याय-27
निष्पादक बजट और कार्यक्रम बजट
(Performance and Programme Budget)

निष्पादक बजट की धारणा वित्त प्रशासन में अभी कुछ ही वर्षों से आयी है, परन्तु आज यह इसका एक अंग हो गया है। जब हम वित्त प्रशासन में सुधार की बात करते हैं तो निष्पादक बजट का नाम स्वतः ही आ जाता है। निष्पादक बजट परम्परागत बजट से बहुत भिन्न है। परम्परागत बजट जिसे 'लाइन-आइटम बजट' भी कहते हैं, कर्मचारी, भवन, सज्जा आदि व्यय की मदों को ध्यान में रखकर बनाया जाता है। इस बजट से इतना ही पता चलता है कि कितना सार्वजनिक धन कर्मचारियों पर खर्च हुआ, कितना अन्य पदों पर। इससे यह ज्ञात नहीं होता कि सार्वजनिक धन के व्यय से कितनी उपलब्धियाँ प्राप्त हुई है। इसी कमी को निष्पादक बजट पूरा करता है। निष्पादक बजट विशिष्ट उद्देश्यों व कार्यों पर केन्द्रित रहता है। यह बताता है कि कितने कार्य सम्पादित करने का विचार है। स्पष्ट है कि परम्परागत बजट से निष्पादक बजट बहुत सुघढ़ है।

परम्परागत बजट की कमियाँ

परम्परागत बजट या 'लाइन-आइटम बजट' उस काल की देन थी, जब सरकार के कार्य संकीर्ण होते थे। अतः सार्वजनिक व्यय कम रहता था, और प्रयत्न भी यही किया जाता था कि कम से कम खर्चा हो। साथ ही, वित्त प्रशासन मध्यम व निम्न श्रेणी के कर्मचारियों को सदैव शंका ही द ष्टि से देखता था, तथा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने नियन्त्रण की एक विशाल शं खला उत्पन्न कर ली थी। निश्चय ही, इससे प्रशासन की गति मन्द हो गयी, पर औपनिवेशिक शासन को इससे क्यों परेशानी होती?

स्वतन्त्र भारत में औपनिवेशिक उद्देश्य अर्थहीन बन गये। अपनी चतुर्मुखी उन्नति के लिए भारत में पंचवर्षीय योजनाओं का सहारा लिया गया और इन योजनाओं के अन्तर्गत सार्वजनिक व्यय बेतहाशा बढ़ने लगा। इस नयी राजनीतिक परिस्थिति में मितव्ययता तथा उत्तरदायित्व के पुराने विचार महत्त्वहीन हो गये। वास्तव में इन विचारों से देश की प्रगति में बाधा ही पड़ने लगी, क्योंकि जैसी कहावत है कि पैसा बचाने के चक्कर में रुपया खो देते हैं। ब्रिटिश काल में व्याप्त अविश्वास तथा सन्देह के प्रशासनिक द ष्टिकोण स्वतन्त्र भारत में बाधक सिद्ध होने लगे। आज आवश्यकता यह है कि हम अपने विकास कार्यक्रमों को जल्दी-जल्दी पूरा करें ताकि इनके फल लोगों तक पहुँच सकें। ऐसे समय सन्देह एवं शंका की प्रक्रियाएँ उपयोगी सिद्ध नहीं होतीं। कहने का तात्पर्य यह है कि वित्त प्रशासन की परम्परागत अवधारणाएँ पंचवर्षीय योजनाओं के सन्दर्भ में बाधक सिद्ध होने लगीं।

इन्हीं सब बुराइयों से बचने के लिए निष्पादक बजट का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है।

निष्पादक बजट का अर्थ

निष्पादक बजट की परिभाषा सीधी-सी है। इस प्रकार का बजट सार्वजनिक व्यय को कार्यों, प्रोग्रामों तथा कृतियों में प्रकट करता या दिखाता है। इस प्रकार निष्पादक बजट परम्परागत बजट से इस अर्थ में भिन्न है कि परम्परागत बजट केवल यह बताता है कितना रुपया कर्मचारियों पर खर्च हुआ, कितना फर्नीचर पर, कितना सज्जा आदि पर। भारतीय प्रशासकीय सुधार आयोग (1966-1970) के अनुसार निष्पादक बजट सरकारी क्रियाओं को कार्यों, कार्यक्रमों तथा परियोजनाओं में प्रकट करने की एक प्रक्रिया है। इस प्रकार के बजट का वर्णन सबसे पहले अमेरिका के हूवर कमीशन ने 1949 में किया था। हूवर कमीशन ने सिफारिश की थी कि बजट को कार्यों, क्रियाओं तथा परियोजनाओं की रूपरेखा में होना चाहिए। जब बजट इस भाँति बनने लगेगा तो यह स्पष्ट होने लगेगा कि क्या कार्य सम्पादित किये गये हैं या क्या सेवाएँ दी जा रही हैं।

निष्पादक बजट, बजट बनाने का एक नया तरीका प्रस्तुत करता है। परम्परागत बजट तो यह बताता है कि कितना खर्चा कर्मचारियों पर हुआ, कितना स्टेशनरी पर, कितना गाड़ियों पर, आदि। इस प्रकार का बजट तो केवल साधनों तक ही अपने

को सीमित कर लेता है। मुख्य चीज तो यह है कि कर्मचारियों, स्टेशनरी आदि पर खर्चा किस काम को पूरा करने पर किया गया; अर्थात् सम्पादित होने वाला काम निष्पादक बजट का केन्द्र बिन्दु हो जाता है।

निष्पादक बजट एक संगठन के उद्देश्यों का विश्लेषण करता है, और फिर इसके अनेक कार्यों के अन्तर्गत व्यय दिखाया जाता है। यहाँ यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि कार्य (function), कार्यक्रम (programme) तथा परियोजना (activity or project) के विशेष अर्थ होते हैं। 'कार्य' के अन्तर्गत कार्यक्रम तथा परियोजनाएँ आती हैं। उदाहरण के तौर पर हम यह कह सकते हैं कि शिक्षा विभाग का कार्य है-शिक्षा। इस कार्य के अन्तर्गत 'कार्यक्रम' हो सकता है-प्राथमिक शिक्षा; लेकिन इस कार्यक्रम के अन्तर्गत 'परियोजनाएँ' भी आती हैं, जैसे स्कूल भवन निर्माण, शिक्षकों का प्रशिक्षण आदि। अर्थ यह है कि कार्य एक संगठन के उद्देश्यों को व्यक्त करता है, और इसके अन्दर कार्यक्रम और परियोजनाएँ आती हैं।

प्रक्रिया

निष्पाद बजट के वर्गीकरण की प्रक्रिया में निम्नलिखित पग उठाने पड़ते हैं-

1. सर्वप्रथम किसी विभाग अथवा मन्त्रालय के द्वारा किए जाने वाले कार्यों, कार्य क्षेत्र एवं सभी उद्देश्यों की पूर्ण सूची तैयार करना।
2. इस सूची से प्रकार्यात्मक वर्गीकरण करना, जिससे संबंधित मन्त्रालय, विभाग या सार्वजनिक उद्योग द्वारा किए जाने वाले कार्यों का क्षेत्र स्पष्ट रूप से मालूम हो सके।
3. प्रोग्रामों एवं क्रियाओं का इस प्रकार से वर्णन करना जिससे प्राथमिकता के द ष्टिकोण से उपलब्ध धनराशि को विभाजित किया जा सके।
4. प्रोग्रामों एवं क्रियाओं को इस प्रकार वर्गीकृत करना जिससे लेखों एवं लागत को ठीक प्रकार से संयोजित किया जा सके।

निष्पाद बजट की रूपरेखा निम्न प्रकार होती है-

1. प्रस्तावना-उद्देश्यों का वर्णन।
2. वित्तीय आवश्यकताएँ-
   (i) प्रोग्राम, (ii) क्रियाओं का वर्गीकरण, (iii) वित्तीय साधन।
3. वित्तीय आवश्यकताओं की व्याख्या-
   (i) गतिविधि का नाम, वास्तविक, अनुमानित व्यय, बजट अनुमान, (वर्तमान वर्ष) (अगले वर्ष)
   (ii) क्रिया का स्वरूप एवं उद्देश्य।
   भौतिक कार्य (इनपुट एवं आउटपुट)।
   कार्यभार तत्व, इसके मापदण्ड एवं मानक।
   पिछले वर्ष एवं वर्तमान वर्ष में प्रगति (वास्तविक Vs लक्ष्य)
   भिन्नता की व्याख्या।
   अगले वर्ष में लक्ष्य (Targets)।
   इनपुट के लिए आवश्यकताएँ (स्टाफ, सामग्री आदि)।
   विस्त त कार्य योजनाएँ एवं अनुसूची।

निष्पाद बजट के लाभ

(Advantages of Performance Budgeting)

निष्पाद बजट के महत्त्वपूर्ण लाभ निम्नलिखित हैं-

1. इससे प्रत्येक प्रोग्राम एवं क्रिया के वित्तीय एवं भौतिक तत्वों के मध्य सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। वर्तमान बजट प्रणाली में ऐसा सह-सम्बन्ध सम्भव नहीं है।

2. इसमें बजट निर्माण की प्रक्रिया में तथा सरकार के सभी स्तरों पर प्रोग्रामों की वास्तविक प्रगति का पुनरवलोकन करने में सहायता मिलती है।
3. इससे निर्णय लेने तथा प्रोग्रामों के प्रबन्ध में सुधार हो सकता है।
4. इससे विभिन्न परियोजनाओं एवं प्रोग्रामों के कुशल वित्तीय प्रबन्ध में सहायता मिलती है। इससे धन का दुरुपयोग कम हो जाता है जो वर्तमान बजट प्रणाली में वित्तीय अनुदान के व्यपगत (Lapse) नियम के कारण होता है।
5. इससे सरकार के उद्देश्यों का अच्छा मूल्यांकन सुगम हो जाता है जिससे विधानमण्डल को सरकार के कार्यों का मूल्यांकन करने में सहायता मिलती है।
6. यह प्रशासन में उत्तरदायित्व सुनिश्चित करता है। कौन किस कार्य के लिए उत्तरदायी है तथा किसको क्या-क्या अधिकार प्राप्त हैं-यह निष्पाद बजट स्पष्ट कर देता है।
7. यह सरकारी व्यय तथा आय के विकल्पों का सही चित्र प्रस्तुत करता है।
8. यह स्पष्ट रूप से प्रकट करता है कि गत वर्ष इकाई गत एवं प्रोग्रामगत दोनों प्रकार से किस लागत पर क्या कुछ प्राप्त किया गया है।

प्रशासकीय सुधार आयोग (1969-70) ने निष्पाद बजट के निम्नलिखित लाभ बताए हैं-

1. निष्पाद बजट उन उद्देश्यों व लक्ष्यों को पूर्ण स्पष्टता से प्रकट करता है जिन पर व्यय किया जाना है।
2. यह विधानमण्डल द्वारा बजट का अच्छी प्रकार से पुनरवलोकन एवं मूल्यांकन करने में सहायता देता है।
3. यह बजट निर्माण में सुधार करता है तथा इससे सभी स्तरों पर सरकार की निर्णय प्रणाली सुगम हो जाती है।
4. इससे प्रबन्धकारिणी का उत्तरदायित्व बढ़ जाता है और यह इसके साथ ही वित्तीय क्रिया के प्रबन्धकीय नियन्त्रण में एक अतिरिक्त उपकरण है।
5. यह लेखा परीक्षण को अधिक उद्देशीय एवं प्रभावी बनाता है।

समस्याएँ (Problems)

1. उपलब्धि बजट में कार्यात्मक वर्गीकरण पहला तथा मूल कदम होता है किंतु कभी-कभी, राजनीतिक और संगठनात्मक वास्तविकता स्पष्ट श्रेणीकरण में बाधा बनती है। हालाँकि यह वर्गीकरण के उद्देश्य से अत्यधिक उपयोगी होता है। अतः पहली समस्या यह है कि अनुकूल और अपनाई जा सकने वाली कार्यात्मक श्रेणी की पहचान की जाए।
2. उपलब्धि बजट निर्णय करने में सबसे बड़ी समस्या का समाधान नहीं करता और वह समस्या है परियोजनाओं, कार्यों अथवा क्रियाओं का तुलनात्मक मूल्यांकन जब तक कि इनका समर्थन लागत लाभ विश्लेषण के द्वारा न किया गया हो। किंतु लागत लाभ विश्लेषण अपने में पूर्ण नहीं है, खासकर ऐसी स्थितियों में जहाँ भारी मात्रा में खर्च तथा उपयोगिताएँ परोक्ष और अमूर्त होती हैं।
3. जिस वर्गीकरण का विकास किया जाता है, वे कभी-कभी इतनी विस्त त हो सकती हैं कि उसे उपक्रमों के महत्त्वपूर्ण कार्यक्रमों और क्रियाओं का कुछ महत्त्वपूर्ण ज्ञान ही न हो और इस प्रकार बजट संबंधी निर्णयों और प्रबंध के लिए वह एक द ढ़ आधार का कार्य न कर सके।
4. ये भी संभावना है कि महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम और प्रबंधकीय विचार प ष्ठभूमि में छोड़ दिए जाएँ, क्योंकि उपलब्धि बजट में अधिक विकेंद्रीयकरण और केवल बजट के उद्देश्य से कार्यात्मक श्रेणियों का द ढ़िकरण की प्रव त्ति होती है।

अतः उपलब्धि बजट में महत्त्वपूर्ण बात वह नहीं है कि इसमें कृत्रिम, आर्थिक, संख्यात्मक अथवा लेखन-विधि संबंधी मापन और परिमापन की तकनीकों का प्रयोग होता है, अपितु महत्त्वपूर्ण बात प्रश्नात्मक तथा आलोचनात्मक व्यवहार बनाने की है।

निष्पादक बजट एवं कार्यक्रम बजट
(Performance and Programme Budget)

निष्पादक बजट कई नामों से जाना जाता है। पहले इसे कार्यकारी बजट या कर्मण्यता बजट कहते थे। हूवर आयोग ने इस प्रकार के बजट को निष्पादक बजट की संज्ञा दी थी। कुछ वर्षों से 'कार्यक्रम बजट' शब्द भी लोकप्रिय हो गया है।

प्रारंभ में तो निष्पादक बजट व कार्यक्रम बजट पर्यायवाची ही थे, परंतु कालांतर में इनमें भेद बताए जाने लगे। यह कहा जाने लगा कि कार्यक्रम बजट निष्पादक बजट पर सुधार है। निष्पादक बजट तथा कार्यक्रम बजट में निम्नलिखित भेद-

1. निष्पादक बजट संगठन के कार्यों पर जोर देता है, कार्यक्रम बजट, इसके विपरीत, संगठन के कार्यों को तो साधन मात्र मानता है तथा उत्पाद विश्लेषण पर जोर देता है, अर्थात् जो कार्य किए जाने हैं उनका क्या महत्त्व है, यह कार्यक्रम बजट बनाने का प्रयत्न करता है।
2. निष्पादक बजट प्रबंध के आंतरिक कार्यों को सुधारने पर ध्यान देता है तथा इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु अनेक तकनीकों का प्रयोग करता है। कार्यक्रम बजट, इसके विपरीत, पद्धति विश्लेषण पर विश्वास करता है।

केन्द्रीय बजट 2002-2003
(Central Budget 2002-2003)

प्रश्न 6. केन्द्रीय बजट 2002-2003 को संक्षेप में बताये।

(Give brief description of Central Budget 2002-2003.)

उत्तर- वित्त मंत्री श्री यशवन्त सिन्हा ने वर्ष 2002-2003 के लिए केन्द्रीय बजट संसद में 28 फरवरी, 2002 को प्रस्तुत किया।

बजट की व हद् रणनीति
(Board Strategy of Budget)

- कृषि एवं खाद्य आर्थिक सुधारों को जारी रखना।
- आधारिक संरचना में सार्वजनिक एवं निजी विनियोग को प्रोत्साहित करना।
- वित्तीय क्षेत्र एवं पूंजी बाजार को सुद ढ़ बनाना।
- संरचनात्मक सुधारों को सघन बनाना तथा औद्योगिक विकास को पुनर्गति देना।
- गरीबों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना।
- कर सुधारों का एकीकरण करना और केन्द्र तथा राज्य स्तर पर राजकोषीय समायोजन को जारी रखना।

आम बजट 2002-2003

सस्ता	महंगा
● इस्पात उत्पाद ● कम्प्यूटर	● रसोई गैस (40 रु०/सिलेण्डर)
● शक्कर (बाजार) ● तांबा	● केबल टीवी
● जस्ता ● पेट्रोल (1 रु०/लीटर)	● हेल्थ क्लब
● डीजल (50 पैसे)	● ग्रेनाइट
● सिल्क ● चाय	● सिगरेट
● हार्डवेयर उपकरण	● यूरिया
● डायबिटीज की दवाएं	● डी० ओ० पी० व एम० ओ० पी०
● कैंसर प्रतिरोधी दवाएं	● डाक दर
● विदेशी शराब	● राशन की चीनी
● कृषि उपकरण	● पोलिस्टर कपड़ा
● सेल्यूलर ● कैमरे ● सीमेंट	● सी० एन० जी० और डीजल इंजन
● पेजर ● टायर ● जूट	● मिट्टी का तेल (1.50 रु०/लीटर)

2002-2003

रुपया आता है	पैसे में	रुपया आता है	पैसे में
उधार और अन्य देनदारियां	29	ब्याज	25
उत्पाद शुल्क	19	रक्षा	14
गैर कर राजस्व	15	आर्थिक सहायता	8
सीमा शुल्क	10	राज्य का हिस्सा (करों व शुल्कों में)	13
निगम कर	10	केन्द्रीय योजना	14
आय कर	9	गैर योजना व्यय	12
गैर ऋण पूंजी प्राप्तियां	6	योजना सहायता (राज्य व संघ क्षेत्र की)	10
अन्य कर	2	गैर योजना सहायता (राज्य व राज्य संघ क्षेत्र)	4
	100		100

कार्यक्रम बजट
(Programme Budget)

कार्यक्रम बजट-प्रक्रिया को सर्वप्रथम संयुक्त राज्य अमेरिका के कई संघीय उपक्रमों में आरम्भ किया गया। परन्तु सरकारी स्तर पर पूर्णतया संघीय सरकार के पी० पी० बी० एस० अथवा नियोजन-कार्यक्रम-बजट-व्यवस्था (Planning-Programming-Budgeting-System) के माध्यम से 1960 वाले दशक में ही अपनाया जा सका। मूल तौर पर इसका विकास अमेरिका के प्रतिरक्षा विभाग में किया गया था, इस बजट व्यवस्था का उद्देश्य प्रबन्धकों की इस बात में सहायता करना था कि वे अपने बजट के संसाधनों का कैसे आबंटन कर सकें, इस पर वे अक्लमंद, पारदर्शी तथा प्रभावी निर्णय कर सकें।

कार्यक्रम बजट-प्रक्रिया अन्य बजट-प्रक्रियाओं से इसलिए भिन्न है कि इसका केन्द्र-बिन्दु प्रभावकारिता है। कार्य-निष्पादन जैसी अन्य बजट प्रक्रियाओं जो कुशलता को प्रोत्साहित करती हैं, पर्याप्त नहीं समझी जाती है। पी० पी० बी० एस० के समर्थकों का कहना है कि सरकार को कुशलता की अपेक्षा प्रभावकारिता को प्रथम प्राथमिकता देनी चाहिए। प्रभावकारिता, या सेवाओं का वास्तविक वितरण अधिक महत्त्वपूर्ण है। एक कुशल सेना का कोई लाभ नहीं जब तक कि वह विजयी सेना न हो। लर्नर तथा जॉन वानत (A.W. Lerner and John Wanat) का विचार है कि कार्यक्रम-बजट से जुड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है: कि संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए धन खर्च करने का सबसे उत्तम तरीका क्या है? कार्यक्रम बजट को तैयार करने के लिए अमुक पग उठाने पड़ते हैं: सर्वप्रथम संगठन को यह निश्चित करना होगा कि उसके लक्ष्य क्या हैं। तब प्रत्येक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उसके कर्मचारी इस बात की पहचान करते हैं कि उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए क्या-क्या विकल्प हैं। प्रत्येक विकल्प के लागत और लाभ की संख्यात्मक ढंग से तुलना की जाती है, जिस विकल्प पर कम से कम लागत कर अधिक से अधिक लाभ (या प्रभावकारिता) प्राप्त होता हो, उसको बजट में सम्मिलित कर लिया जाता है।

बजट मसौदे में कार्यक्रम मूल लेखाकरण इकाई होता है। उदाहरणतया-एक वातावरण सुरक्षा अभिकरण बजट को प्रदूषण अनुसंधान, विधि लागू करना, लोक शिक्षण और सामान्य प्रशासन जैसी श्रेणियों में बांट देगा। प्रदूषण अनुसंधान के विस्त त कार्यक्रम को शोर, प्रदूषण, जल प्रदूषण तथा वायु प्रदूषण जैसी उप-श्रेणियों में उप-विभाजित किया जायेगा। तब इनको निश्चित कार्यक्रमों तथा उनके विकल्पों में धन खर्च करने के लिए बांटा जायेगा। प्रत्येक विकल्प पर विचार किया जायेगा कि उनमें से कौन-सा बजट में सम्मिलित किया जाये। कभी-कभी यह स्पष्टीकरण भी दिये जायेंगें कि एक निश्चित विकल्प को क्यों चुना गया। कार्यक्रमों के विकल्पों की संख्यात्मक तुलना पी० पी० बी० एस० की एक बड़ी महत्त्वपूर्ण विशेषता है। लागत-लाभ विश्लेषण (cost-benefit analysis) तथा व्यवस्था विश्लेषण (systems analysis) कार्यक्रम बजट-प्रक्रिया में केन्द्रीय महत्त्व रखते हैं।

व्यवस्था सम्बन्धी धारणा (Systems concept) कार्यक्रम बजट-प्रक्रिया का आधार होती है। यह इस कल्पना को लेकर चलती है कि सरकार के सभी तत्वों को निकट अंतर्ग्रथन (Intertwined) है ताकि एक नीति के एक पक्ष में परिवर्तन से शेष सभी पर

प्रभाव पड़ता है। लीवाईन, पीटर्ज तथा थामसन (C.H. Levine, B. Guy Peters and Frank J. Thompson) उस कार्यक्रम बजट-प्रक्रिया जिसका अमेरिका की संघीय सरकार में पालन किया जा रहा है, की छः मुख्य विशेषतायें बताते हैं:

1. सरकार के मुख्य उद्देश्यों तथा लक्ष्यों की पहचान करना अनिवार्य है। कार्यक्रम बजट-प्रक्रिया सरकार के केन्द्रीय लक्ष्यों तथा प्राथमिकताओं से आरम्भ होती है, न कि विभागों या अभिकरणों द्वारा की गई पहल से जैसा कि परम्परागत-बजट में होता है।
2. निश्चित लक्ष्यों के अनुकूल कार्यक्रमों का विकास किया जाना चाहिए, और इनको किस प्रकार प्राप्त किया जायेगा? कार्यक्रमों की विश्लेषणात्मक व्याख्या होनी चाहिए और यह जरूरी नहीं कि वे वर्तमान संगठनों के अंतर्गत रहें।
3. कार्यक्रमों में संसाधनों का आबंटन करना अनिवार्य है। निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए बजट में समूची लागत का ब्यौरा देना जरूरी है। यह दिखाना अनिवार्य है कि यह लागत लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उचित तथा प्रभावकारी साधन है।
4. कार्यक्रम बजट-प्रक्रिया में संगठनों का अधिक महत्व नहीं है। यह इस धारणा को लेकर नहीं चलती कि प्रत्येक कार्यक्रम एक ही अभिकरण के भीतर रखना जरूरी है अथवा कि एक अभिकरण को केवल एक ही कार्यक्रम से जोड़ना चाहिए।
5. कार्यक्रम बजट-प्रक्रिया की काल-अवधि एक वर्ष से आगे चली जाती है जो कि परम्परागत बजट में सामान्य अवधि मानी जाती है। बजट बनाते समय कार्यक्रमों के दूरगामी तथा मध्यकालीन परिणामों पर ध्यान देना अनिवार्य है।
6. बजट बनाने वाले व्यवस्थित ढंग से विकल्पित कार्यक्रमों का विश्लेषण करते हैं। अधिक प्रभावकारी तथा कुशल स्वरूप के लिए वे वर्तमान कार्यक्रम संरचनाओं के विकल्पों की छानबीन करते हैं। उनसे यह आशा की जाती है कि वे अपने कार्यक्रमों का औचित्य सिद्ध करें ताकि ये देखा जा सके कि वे कार्यक्रम उनके विकल्पों से बेहतर है।

कार्यक्रम बजट के दोष

(Defects of the Programme Budget)

बावजूद इसके कि पी० पी० बी० एस० लागत प्रभावी है और कार्यक्रमों को पूरा करना इसका लक्ष्य है, फिर भी यह प्रक्रिया अधिक सफलता प्राप्त नहीं कर सकी। संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार ने इसको जानसन (Johnson) प्रशासन काल में अपनाया था, परन्तु 1970 से प्रारम्भ होने वाले दशक के शुरू में ही इसे छोड़ दिया। इसके जो दोष हैं, वे इसके कुछ एक लाभों से कहीं अधिक हैं। इसके मुख्य दोष इस प्रकार हैं:

1. कार्यक्रम बजट प्रक्रिया बहुत महंगी है।
2. कार्यक्रम बजट बनाने के लिए जिस प्रयास तथा समय की आवश्यकता होती है, वह कम नहीं है, और वह अन्य प्रकार के बजटों के बनाने के प्रयासों और समय से कहीं अधिक है।
3. कभी-कभी कार्यक्रमों से होने वाले लाभों के संख्यात्मक मापन विकसित करने असम्भव हो जाते हैं।
4. चूंकि यह बजट-प्रक्रिया विवश करती है कि सरकारी पदसोपान के उच्च स्तरों पर निर्णय किये जायें, इसलिए अधिकतर विभाग तथा अभिकरण इस केन्द्रीकरण की प्रव त्ति को पसन्द नहीं करते।
5. सभी विकसित रणनीतियों का विश्लेषण करने की खोज एक विभाग या अभिकरण को विवश करती है कि वह अपने वर्तमान कार्यक्रमों को आलोचना के लिए नंगा करे।
6. विकल्पित नीतियों के कारण सम्बन्धित विभाग अथवा अभिकरण की कार्य सार्थकता कम हो जाती है। इसे अपनी नीति चयनों को लिखित रूप में उचित ठहराना पड़ता है जिसके कारण विभिन्न समूहों के साथ व्यवहार करते समय वह अस्पष्टता का सामरिक प्रयोग करने में सीमित हो जाता है।

परन्तु कई संगठनों में पी० पी० बी० एस० की कुछ तकनीकें अभी भी बची हुई हैं। यदि किसी संगठन के पास यथा-उचित कुशल कर्मचारी हैं तो इसकी तकनीकें बजट के नये प्रस्तावों और सुझावों के मूल्यांकन के लिए विशेषतया मूल्यवान है।

इस अध्याय के प्रारम्भ में हमने वित्तीय प्रशासन को पांच सुनिश्चित चरणों में बांटा था-बजट को बनाना अथवा तैयार करना; बजट का विधानमण्डल द्वारा पारित किया जाना; बजट को लागू करना या क्रियान्वयन; राजकोष प्रबंधन; तथा लेखाकरण और लेखापरीक्षण। अब आने वाले प ष्ठों में इन पर एक-एक करके विचार किया जायेगा।

भारत में निष्पादन बजट

(Performance Budgeting in India)

निष्पाद बजट की अवधारणा का आरम्भ संयुक्त राज्य अमेरिका में हुआ। 1950 से अमेरिका की सरकार ने इस प्रकार के बजट को स्वीकार कर लिया है। एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के अनेक देशों ने भी इसको अपना लिया है।

भारत में निष्पाद बजट को 1955 के दशक में मान्यता प्राप्त हुई। अनुमान समिति ने अपनी 20वीं रिपोर्ट में यह सिफारिश की कि विकास की बढ़ती हुई क्रियाओं के संदर्भ में भारत में निष्पाद बजट श्रेयस्कर रहेगा। यही सिफारिश अनुमान समिति ने 1960 में 73वीं रिपोर्ट में दोहराई। 1964 में भारत ने अमेरिकी विशेषज्ञ फ्रैंक क्राउज (Frank Krause) को यह जानने के लिए आमंत्रित किया कि भारत में निष्पाद बजट को बनाया जा सकता है या नहीं। क्राउज ने निष्पाद बजट को आरम्भ करने की सिफारिश की। 1969 में प्रशासकीय सुधार आयोग ने वित्त प्रशासन सम्बन्धी अपनी रिपोर्ट में केन्द्र तथा राज्यों दोनों में निष्पाद बजट अपनाने का सुझाव दिया। आयोग ने कहा कि वित्त मन्त्रालय को निष्पाद बजट अपनाने में पहल करनी चाहिए तथा राज्यों को भी इस दिशा में प्ररित करना चाहिए। केन्द्रीय सरकार ने 1968 में इस सिफारिश को मान लिया तथा चार मन्त्रालयों में निष्पाद बजट तैयार किए गए। 1977-78 में केन्द्रीय सरकार के 38 विकासीय विभागों ने निष्पाद बजट प्रस्तुत किए। कुछ राज्य सरकारों ने भी कुछ विभागों में निष्पाद बजट प्रणाली आरम्भ की।

भारत में निष्पाद बजट का मूल्यांकन

(An Assessment)

भारत में निष्पाद बजट अपना तो लिया गया है परन्तु जो लाभ इससे होने वाले थे वे नहीं हुए। वास्तव में इसके क्रियान्वयन में निम्नलिखित दोष पाए गए हैं-

1. इनपुट और आउटपुट में कोई सम्बन्ध नहीं है।
2. महत्त्वपूर्ण प्रोग्रामों के बारे में इकाई लागत संख्या को नहीं अपनाया गया है।
3. उद्देश्यों को सही प्रकार से निर्धारित नहीं किया जाता तथा निष्पादन को वैज्ञानिक ढंग से नहीं मापा जाता। वास्तव में वैज्ञानिक मानक निष्पादन के मापने तथा उद्देश्यों को निर्धारित करने की एक प्राथमिक आवश्यकता है।
4. निष्पाद बजट में गत वर्षों एवं चालू वर्ष की उपलब्धियों एवं उद्देश्यों को दिखलाया जाता है। भारत में अनेक मामलों में उपलब्धियों को नहीं दर्शाया जाता जिससे प्रबन्धकीय नियन्त्रण में बाधा आती है।
5. निष्पाद बजट की प्रविधि को प्रत्येक विभाग द्वारा नहीं अपनाया गया है जिससे इसकी उपयोगिता कम हो गई है।
6. यद्यपि अनेक परियोजनाएँ कई वर्षों तक चलती हैं परन्तु निष्पाद बजट में भावी वर्ष की लागतों को नहीं दिखलाया जाता।

यदि निष्पाद बजट को उपयोगी बनाना है तो इन दोषों को दूर करना होगा। निष्पाद बजट को प्रशासकीय एवं वित्तीय नियन्त्रण तथा विकास प्रोग्रामों के क्रियान्वयन एवं उपलब्धियों के मूल्यांकन हेतु एक लाभदायक प्रबन्धकीय उपकरण बनाया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त इससे संसद द्वारा कार्यकारिणी को उत्तरदायी ठहराने के लिए सहायता मिलनी चाहिए। नियोजन एवं बजट निर्माण के मध्य पूर्ण तालमेल पंचवर्षीय योजनाओं के प्रोग्रामों एवं परियोजनाओं के दक्ष क्रियान्वयन के लिए आवश्यक है। प्रशासकीय सुधार आयोग ने लेखा प्रणाली में भी सुधार करने का सुझाव दिया था। लेखा प्रणाली में सुधार करने के लिए विभिन्न मन्त्रालयों एवं विभागों के प्रशासकीय संगठन का भी पुनर्गठन करने की अति आवश्यकता है। इस दिशा में 'ओ एण्ड एम' इकाई महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।

अध्याय-28
वित्त पर संसदीय नियन्त्रण
(Parliamentary and Administrative Control over Finance in India and U.K.)

वित्त प्रशासन की अन्तिम सोपान पर संसदीय नियन्त्रण है। जैसे कि ऊपर लिखा जा चुका है कि कार्यपालिका बजट का निर्माण करती है, इसे विधानमण्डल द्वारा स्वीकृत किए जाने के उपरान्त कार्यान्वित करती है और कर अथवा राजस्व को एकत्रित करती है, परन्तु बजट को कार्यान्वित करते समय व्यय पर नियन्त्रण रखना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि राजस्व को एकत्रित करने से यह अधिक महत्त्वपूर्ण विषय है। व्यय नियन्त्रण के दो मुख्य उद्देश्य हैं एक तो यह है कि कहीं व्यय विधानमण्डल द्वारा स्वीकृत अनुदानों से अधिक न हो और यदि करना भी पड़े तो इसके लिए विधान मण्डल से पुनः स्वीकृति ली जाए। दूसरे व्यय किसी प्रकार से अनुचित न हो और विधानमण्डल से पुनः स्वीकृति ली जाए। दूसरे व्यय किसी प्रकार से अनुचित न हो और विधानमण्डल द्वारा स्वीकृत अनुदानों को खर्च करते समय आवश्यकता तथा मितव्ययियता को ध्यान में रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त व्यवस्थापिका जनता का प्रतिनिधित्व करती है और इसके द्वारा नियन्त्रण वास्तव में अप्रत्यक्ष रूप में जनता द्वारा नियन्त्रण है।

भारत में संसदीय पद्धति की व्यवस्था के कारण कार्यपालिका संसद् की आज्ञा के बिना किसी प्रकार का कोई व्यय नहीं कर सकती और न ही कोई कर लगा सकती है। संसद् के सदस्य किसी समय भी देश की आर्थिक, प्रशासनिक अथवा अन्य किसी स्थिति के बारे में मन्त्रियों से प्रश्न पूछ सकते हैं तथा मन्त्रियों को उन्हें उत्तर देना पड़ता है। इस प्रकार देश की वित्त-व्यवस्था पर संसद् का पूर्ण नियन्त्रण होना आवश्यक है।

संसद् द्वारा देश की वित्त व्यवस्था पर दो अवस्थाओं में नियन्त्रण किया गया जाता है-(क) विनियोग विधेयक (Appropriation Act) के पारित किए जाने से पहले (ख) विनियोग विधेयक अथवा बजट के पास होने के पश्चात्। लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली में जहाँ प्रभुसत्ता संसद् में निहित होती है इन दोनों प्रकार का नियन्त्रण अनिवार्य है।

विनियोग विधेयक के पास होने से पहले नियन्त्रण

(Control before Passing the Appropriation Bill)

इस स्थिति में ससद् निम्न प्रकार से नियन्त्रण करती है।

1. **सामान्य वाद-विवाद (General Discussion):** वित्त व्यवस्था पर संसदीय नियन्त्रण का महत्त्वपूर्ण साधन वित्तीयस अनुमानों पर संसद् विशेषकर लोकसभा में वाद-विवाद हैं। जब वित्तमन्त्री भाषण के साथ बजट अनुमान लोक सभा में प्रस्तुत करता है तो इन अनुमानों पर सामान्य रूप में वाद-विवाद होता है। इस समय संसद् के सदस्य सरकार की नीतियों तथा कार्य-प्रणाली पर विचार प्रकट करते है और सरकार की नीतियों की आलोचना करते हैं।
2. **मांगों पर मतदान (Voting on Demand):** सामान्य वाद-विवाद के बाद सरकार के सभी विभागों के अनुमानों पर अलग-अलग बहस होती है और मतदान होता है। ऐसी स्थिति में संसद् के सदस्य कई प्रकार के प्रश्न पूद सकते हैं और कई प्रकार के प्रस्ताव (a) नीति सम्बन्धी कटौती प्रस्ताव (Policy Cut Motion), (b) मितव्ययिता कटौती प्रस्ताव (Economy Cut Motion), (c) प्रतीक कटौती प्रस्ताव (Token Cut Motion) आदि पेश कर सकते है और इन प्रस्तावों

द्वारा सरकार द्वारा पेश की गई मांगों में संसद् कर कर सकती थी या अस्वीकार कर सकती है। यदि संसद् (लोकसभा या राज्यों में विधानसभा) इनमें से किसी भी मांग को किसी प्रस्ताव के अनुसार कम कर दे या अस्वीकार कर दे तो इसे सरकार के विरूद्ध विश्वास समझा जाता है और मन्त्रिमण्डल को त्यागपत्र देना पड़ता है। इस प्रकार बजट अनुमानों की स्वीकृति तथा अस्वीकृति पर मन्त्रिमण्डल का अस्तित्व निर्भर करता है। इसके अतिरिक्त मन्त्रियों को अपने-अपने विभागों के सम्बन्ध में पूछे गए प्रश्नों के उत्तर देने पड़ते हैं।

3. **विनियोग बिल को पास करना (To Pass Appropriation Bill):** संसदीय नियन्त्रण संसद् में बजट अनुमानों की स्वीकृति तक ही सीमित नहीं है। इससे सरकार को धन-राशि प्राप्त करने का अधिकार नहीं मिलता। इस कार्य के लिए सरकार को बजट अनुमान की मांगों की स्वीकृति के पश्चात् विनियोग बिल को संसद् में प्रस्तुत करना पड़ता है। इस स्तर पर चाहे कोई वाद-विवाद नहीं होता और न ही संशोधन का प्रस्ताव पेश किया जा सकता है, परन्तु इसे स्वीकृत करना या न करना संसद् की इच्छा पर निर्भर करता है। यदि लोकसभा मतदान के समय इसके पक्ष में बहुमत न हो तो यह अस्वीकृत हो जाता है। विनियोग बिल को लोकसभा द्वारा अस्वीकृत होना सरकार के विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव समझा जाता है तथा मन्त्रिमण्डल को त्यागपत्र देना पड़ता है।

4. **पूरक अनुदान की स्वीकृति (Passing of Supplementary Grants):** बजट अनुमानों की भांति पूरक अनुमानों द्वारा भी संसद् वित्तीय व्यवस्था करती है। जिस प्रकार बजट अनुमानों को पारित करने के लिए विशेष प्रक्रिया को अपनाया जाता है। उसी प्रकार से पूरक अनुदानों को पास किया जाता है। जब सरकार को आवश्यकताओं की बजट अनुमानों द्वारा पारित धनराशि से पूर्ति नहीं होती तो यह सरकार के समक्ष पूरक अनुदान की मांग रखती है। संसद् में इन मांगों पर वाद-विवाद होता है। संसद् सदस्य सम्बन्धित मन्त्रियों से उन मांगों के बारे में किसी प्रकार के प्रश्न पूछ सकते है। मन्त्रियों को उनके उत्तर देने पड़ते हैं। यदि संसद् किसी पूरक अनुदान की माँग को अस्वीकार कर दे तो मन्त्रिमण्डल के विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव समझा जाता है। और इसे त्यागपत्र देना पड़ता है।

अनुमान समिति

(Estimate Committee)

राष्ट्रीय वित्त पर संसदीय नियन्त्रण का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम अनुमान समिति है। इस समिति का मुख्य कार्य संसद् के प्रत्येक कार्य को मितव्ययिता (Economy) के साथ करने के बारे मे सलाह देना है। इस प्रकार की समिति की आवश्यकता को इंग्लैड में इस शताब्दी के आरम्भ में अनुभव किया गया और 1912 में इसकी स्थापना की गई। इसकी स्थापना सरकार के व्यय में मितव्ययिता लाने की द ष्टि से की गई थी। भारत में इस समिति की स्थापना पहली बार 1938 में की गई क्योंकि ब्रिटिश सरकार यह नहीं चाहती थी कि उसकी नीतियों की आलोचना हो, इसलिए यह समिति ठीक प्रकार से कार्य न कर सकी। इसके पश्चात् कई बार इस समिति की स्थापना की मांग की गई, परन्तु अंग्रेज सरकार ने इसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया। 1950 में नये संविधान के कार्यान्वित हो जाने के पश्चात् अनुमान समिति की स्थापना करने की मांग अधिक बल पकड़ गई। अन्त में 10 अप्रैल, 1950 को भूतपूर्व वित्तमन्त्री डॉ० जान मथाई (Joan Mathai) के परामर्श के अनुसार अनुमान समिति की स्थापना की गई। इस समिति का मुख्य उद्देश्य सरकार को ऐसी सलाह देना है जिससे सरकार के निश्चित उद्देश्यों को न्यूनतम अथवा कम से कम व्यय करके पूरा किया जा सके। इसके द्वारा संसद् सरकार के समस्त व्यय तथा प्रत्येक विभाग को व्यय पर नियन्त्रण करती है।

संगठन

(Composition)

इस समिति के 30 सदस्य हैं जिनका निर्वाचन प्रत्येक वर्ष के आरम्भ में लोकसभा के सदस्य अपने में से आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) प्रणाली द्वारा करते है। समिति के सदस्यों में से एक सदस्य को लोकसभा का अध्यक्ष अथवा स्पीकार (Speaker), समिति का अध्यक्ष मनोनीत करता है। यदि लोकसभा का उपाध्यक्ष (Deputy Speaker) इस समिति का सदस्य चुना गया हो तो वह इसका पदेन (Ex-officio) अध्यक्ष है।

कार्य

(Functions)

अनुमान समिति के निम्नलिखित कार्य हैं।

1. प्रशासन में मितव्ययिता तथा कार्यकुशलता लाने के लिए लोकसभा को सुझाव देना।
2. प्रशासन में कार्यकुशलता तथा मितव्ययिता लाने के लिए सरकार की वर्तमान नीति के स्थान पर कोई अन्य सुझाव देना।
3 इस बात का परीक्षण करना कि प्रशासकीय कार्य में लगाया गया धन अनुमान में निहित नीति की सीमाओं के अर्न्तगत हैं या नहीं।
4. अनुमानों को संसद् के समझ रखे जाने की विधि के सम्बन्ध में सुझाव देना।

अनुमान समिति के कार्य करने की विधि

(Working of The Estimate Committee)

यह समिति अपना कार्य करने के लिए एक निश्चित विधि अपनाती है। यह साधारणतया मन्त्रालयों, सरकारी विभागों या सार्वजनिक उद्यमों (Public Undertaking) की योजनाओं का परीक्षण करती है। यह किसी भी योजना का परीक्षण करते समय उस मन्त्रालय को किसी कर्मचारी को योजना का स्पष्टीकरण करने के लिए बुला सकती है। इस कार्य के लिए उस मन्त्रालय के कर्मचारी को ही बुलाया जाता है जिसके मन्त्रालय से सम्बन्धित विषय पर यह समिति विचार कर रही हो। कई तकनीकी (Technical) विषयों को सम्बन्ध में नियन्त्रक महालेखा परीक्षक की सहायता भी लेती है। समस्त नीति का विस्त त रूप में परीक्षण करने के पश्चात् यह समिति अपनी रिपोर्ट लोकसभा के स्पीकार (Speaker) को पेश करती हैं। वह इसे सदन में प्रस्तुत करता है।

अपने कार्य को सुगम बनाने के लिए वह अपने कार्य को उप-समितियों (Sub-Committees) में विभाजित करती है क्योंकि अनुमान समिति संसद की एक महत्त्वपूर्ण समिति है, इसलिए सरकार इस समिति के सुझावों की ओर विशेष ध्यान देती है। प्रायः इसके सुझावों को कार्यान्वित करने का प्रयत्न करती है। जब यह समिति अपनी रिपोर्ट किसी विशेष मंत्रालय के संबंध में देती है तो सम्बन्धित मन्त्रालय समय-समय पर इसके अनुसार किये गए कार्यों की सूचना समिति को देता है। यह समिति उस मन्त्रालय द्वारा किए कार्य का पुनर्निरीक्षण करती है तथा उनके संबंध में एक नई रिपोर्ट लोकसभा को देती है। यदि सरकार इस समिति के किसी सुझाव को स्वीकार करने के योग्य न समझे तो सरकार समिति से उस पर पुनर्विचार करने की प्रार्थना करती है। यदि समिति कोई निर्णय न करे तो अन्तिम निर्णय संसद ही करती है।

महत्त्व (Importance)

अनुमान समिति के महत्त्व में दिन-प्रतिदिन व द्धि होती जा रही है। इसका मुख्य कारण यह है कि सरकार यह अनुभव करती है कि जब तक वह समिति द्वारा किए गए सुझावों को स्वीकार नहीं करती, संसद में इसकी आलोचना होती रहेगी। दूसरे, इस समिति में लगभग सभी दलों के प्रभावशाली नेता होते हैं जिसके फलस्वरूप उसके द्वारा रखे गए सुझावों को सभी दलों का समर्थन प्राप्त होता है। तीसरे, यह समिति सभी योजनाओं का परीक्षण नियन्त्रण, महालेखा परीक्षक (Comptroller and Auditor General) तथा दूसरे निपुण सरकारी कर्मचारियों की सहायता से करती है, इसलिए इस द्वारा रखी गई योजनाओं को विशेष महत्त्व दिया जाता है।

विनियोग विधेयक एवं बजट के पास होने के पश्चात् नियंत्रण

(Control after passing the Appropriation Act or The Budget)

विनियोग अधिनियम के पास होने से पूर्व संसदीय नियंत्रण एक औपचारिक कार्यवाही है। चाहे कई बार सरकार संसद के सदस्यों द्वारा दिए गए सुझावों एवं प्रस्तुत किए गए प्रस्तावों को स्वीकार कर लेती है और उनके अनुसार अपनी नीतियों में परिवर्तन कर लेती है, परंतु व्यावहारिक रूप में स्थिति भिन्न है। वास्तव में मंत्रिमंडल को लोकसभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त होने के कारण जो भी बजट अनुमान तथा वित्त नीति सरकार द्वारा लोक सभा में प्रस्तुत की जाती है वह पास हो जाती है।

विरोधी दल द्वारा की गई आलोचना का कोई विशेष प्रभाव नहीं होता है और न ही इस स्तर पर सरकार की वित्तीय नीति को परखा जा सकता है। इसलिए वास्तव में संसद द्वारा वित्तीय नियंत्रण विनियोग पास होने के पश्चात् ही आरंभ होता है। परंतु ऐसी दशा में भी संसद की कुछ अपनी ही विशेषताएं हैं। एक तो संसद के सदस्यों को वित्तीय मामलों का न तो ज्ञान होता है और न ही संसद के पास इतना समय होता है कि वह वित्तीय मामलों एवं बजट अनुमानों का विस्तारपूर्वक निरीक्षण कर सके। ऐसी दशा में वित्तीय व्यवस्था पर विस्त त रूप में निरीक्षण के लिए संसद द्वारा कई समितियों, अनुमान समिति, सार्वजनिक लेखा-समिति, सार्वजनिक उद्यमों सम्बन्धी समिति आदि की स्थापना की गई है। इन समितियों के अतिरिक्त संसद नियन्त्रक एवं महालेखा-समिति परीक्षक द्वारा तथा विभागों के लेखांकन {हिसाब-किताब (Accounts)} की जांच-पड़ताल करवाती है और उस द्वारा प्रस्तुत की गई रिपोर्ट पर विचार करती है।

सार्वजनिक लेखा समिति
(Public Accounts Committee)

संसद की दूसरी वित्त समिति सार्वजनिक लेखा समिति है। जिस प्रकार अनुमान समिति सरकार द्वारा व्यय करने से पहले इसका परीक्षण करती है, उसी प्रकार सार्वजनिक समिति व्यय करने के पश्चात् उनकी जांच-पड़ताल करती है कि जनता के धन का प्रयोग वैधानिक साधनों द्वारा हुआ है या नहीं। वह इस बात की पड़ताल करती है जो भी खर्च संसद की स्वीक ति से हुआ है या नहीं या उस इकाई (Agency) द्वारा किया गया है कि नहीं जिसको संसद द्वारा शक्ति प्रदान की गई है। इस समिति का मुख्य उद्देश्य यह देखना है कि जनता के रूपये का उचित प्रयोग हुआ है या नहीं।

इस प्रणाली की स्थापना भी ब्रिटिश प्रणाली के आधार पर की गई है। इंग्लैण्ड में इस समिति की स्थापना 1861 ई० में ग्लैडस्टोन (Gladstone) द्वारा की गई थी, भारत में इस समिति को प्रथम बार 1919 ई० में माण्टेगयू-चैम्सफोर्ड सुधारों (Montague-Chelmsford Reforms) के अनुसार केन्द्र तथा प्रांतों के स्तर पर स्थापित किया गया। स्वतंत्रता के पश्चात् नवीन संविधान की धारा 118 (1) के अन्तर्गत संसद को सार्वजनिक लेखा समिति तथा राज्यों के विधानमण्डलों को धारा 208 के अंतर्गत इस प्रकार की समितियां बनाने की शक्ति प्रदान की गई।

संगठन (Composition)

आरंभ से इस समिति के सदस्यों की संख्या 15 थी, परंतु 1955 में राज्यसभा के बल देने पर इसकी संख्या 22 की दी गई जिनमें से 15 लोकसभा द्वारा तथा 7 राज्यसभा द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के आधार पर चुने जाते हैं। कोई भी मंत्री इस समिति का सदस्य नहीं बन सकता। इस समिति के सदस्यों में से किसी एक सदस्य को लोकसभा का अध्यक्ष (Speaker) समिति का अध्यक्ष मनोनीत करता है। यदि लोकसभा का उपाध्यक्ष (Deputy Speaker) इस समिति का सदस्य हो तो वह समिति पदेन अध्यक्ष (Ex-officio President) बन जाता है। अध्यक्ष को निर्णायक मत (Casting Vote) देने का अधिकार है।

कार्य (Functions)

सार्वजनिक लेखा समिति के निम्नलिखित कार्य हैं-

1. यह समिति इस बात की देखभाल करती है कि जो धनराशि खर्च की गई है, वह संसद द्वारा स्वीक त की गई है या नहीं।
2. समिति यह देखती है कि जिस अधिकारी द्वारा खर्च किया गया है, वह अधिकारी खर्च करने का अधिकार भी रखता है या नहीं।
3. यह समिति सरकारी निगमों तथा परियोजनाओं द्वारा खर्च की जांच-पड़ताल महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट को ध्यान में रखते हुए करती है।
4. यह समिति उन विवरणों, तुलनापत्रों तथा हानि-लाभ के विवरणों की जांच-पड़ताल करती है जिन्हें किसी विशेष निगम, व्यापारिक संस्था एवं परियोजना की वित्त व्यवस्था को नियमित करने वाले वैधानिक नियमों के अनुसार तैयार किया गया हो या राष्ट्रपति उन्हें स्वीकार करना आवश्यक समझे।

5. यह समिति सरकार के अधीन किसी भी संस्था के खर्च की जांच-पड़ताल कर सकती है तथा उसकी रिपोर्ट संसद के समक्ष प्रस्तुत करती है।
6. यह समिति उन स्वायत्त संस्थाओं की आय तथा व्यय के प्रपत्रों की जांच-पड़ताल करती है जिनका लेखा-परीक्षण भारत के नियंत्रक लेखा-परीक्षक द्वारा किया जाता है।
7. यह उन विषयों के संबंध में नियंत्रक-महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन (Report) पर विचार करती है जिनके संबंध में राष्ट्रपति इससे किसी भी आय प्राप्ति का लेखा परीक्षण करने की मांग करे।

कार्य-विधि (Working Procedure)

यह समिति अपना कार्य करने के लिए सरकारी या किसी दूसरी संस्था से कर्मचारी को, जिसके हिसाब-किताब की यह पड़ताल कर रही हो, सफाई पेश करने के लिए बुला सकती है या कुछ ऐसे अभिलेखों की मांग कर सकती है जिनकी उसे जांच के कार्य में आवश्यकता हो। इसके अतिरिक्त जो अभिलेख इस समिति के विचाराधीन हो, उस पर यह प्रश्न पूछ सकती है। व्यवहार में जिन मंत्रालयों तथा विभागों के अभिलेखों की यह समिति जांच करती है उन मंत्रालयों को सचित या अन्य अधिकारी स्पष्टीकरण करने के लिए समिति के समक्ष उपस्थित होते हैं तथा समिति द्वारा पूछे गए प्रश्नों का उत्तर देते हैं। समिति अपनी जांच नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन के आधार पर करती है तथा नियंत्रक महालेखा परीक्षक इस कार्य में समिति की सहायता करता है। समिति का मुख्य कार्य नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट की जांच-पड़ताल करना है ताकि यह ज्ञात हो सके कि सरकार द्वारा किया गया व्यय संसद द्वारा स्वीक त मांगों की सीमाओं के अन्तर्गत किया गया है या नहीं। समिति जांच पड़ताल के पश्चात् अपनी रिपोर्ट संसद के समक्ष रख देती है। सरकार बिना किसी भेदभाव के उस रिपोर्ट को स्वीकार कर लेती है और यदि उससे सहमत न हो तो समिति से पुनर्विचार के लिए प्रार्थना करती है। सरकार प्रायः समिति द्वारा दिये गये सुझावों को स्वीकार करती है। यदि सरकार समिति द्वारा रखे गए सुझावों को कार्यान्वित करने में कठिनाई अनुभव करे तो इसके लिए कारण बताती है और समिति से पुनर्विचार के लिए प्रार्थना करती है। समिति इस पर फिर से विचार करती है। यदि फिर भी सरकार तथा समिति के द ष्टिकोण में भिन्नता हो तो मामला संसद के समक्ष रखा जाता है जिसका निर्णय अन्तिम होता है।

महत्त्व (Importance)

इस प्रकार सार्वजनिक लेखा समिति सरकार के प्रत्येक कार्य पर किए गए व्यय पर द ष्टि रखती है और संसद के प्रतिनिधि के रूप में सरकार के अभिलेखों की जांच करती है। इसे जनता की धनराशि का संरक्षक कहा जा सकता है। वास्तव में इस समिति ने सरकार की कई त्रुटियों तथा इसके द्वारा नियमों के उल्लंघन पर प्रकाश डाला है जैसा कि 1948 तथा 1949 में इण्डियन हाई कमिश्नर (Indian High Commissioner) द्वारा इंग्लैण्ड में शराब पर बिना किसी टैण्डर (Tenders) के व्यय करना। इसके अतिरिक्त समय-समय पर इसके अन्य लोकापवादों (Scandals) पर प्रकाश डाला है जैसे इंग्लैण्ड में भारत के राजदूत द्वारा किए गए जीप स्कैंडल, हीराकुण्ड डैम में फजूलखर्ची, डाक व तार विभाग में भ्रष्टाचार आदि। पिछले दो-तीन वर्षों में इस समिति ने बहुत ही सराहनीय कार्य किया है तथा केन्द्रीय सरकार के मन्त्रियों द्वारा वित्त नियमों की उल्लंघना करने पर प्रकाश डाला है जिसके लिए मंत्रियों को संसद के प्रति उत्तरदायी होना पड़ा है। वास्तव में यह समिति देश की वित्त-व्यवस्था पर एक महान प्रतिबंध है और प्रायः अधिकारी अपनी शक्ति का अनुचित प्रयोग इस समिति के भय से नहीं करते। इसका देश की आर्थिक स्थिति पर पूर्ण नियंत्रण है। अशोक चंदा के शब्दों में, "इस समिति ने लोक-व्यय पर नियंत्रण करने वाली एक महान शक्ति का रूप धारण कर लिया है।"

सार्वजनिक उद्यमों से सम्बन्धित समिति
(Committee for Public Sector Undertaking)

सार्वजनिक उद्यमों की वित्त व्यवस्था तथा सामान्य नीति पर संसदीय नियंत्रण के लिए संसद द्वारा इस समिति की स्थापना 1 मई, सन् 1964 को की गई। इससे पहले सार्वजनिक उद्यमों पर नियन्त्रण करने के लिए संसद की कोई विशेष समिति नहीं

थी तथा यह कार्य अनुमान समिति तथा सार्वजनिक लेखा समिति द्वारा किया जाता था। संसद के सदस्य इस व्यवस्था से संतुष्ट नहीं थे। वे कई वर्षों तक एक प थक समिति की व्यवस्था करने की निरंतर मांग करते रहे। अन्ततः संसद ने सन् 1963 के अंत में सार्वजनिक उद्यमों के लिए एक प थक् समिति बनाने के पक्ष में एक प्रस्ताव पास किया जिसके फलस्वरूप इस समिति की स्थापना की गई।

इस समिति के सदस्यों की संख्या 15 थी जिनमें से 10 लोकसभा द्वारा तथा 5 राज्य सभा द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के आधार पर चुने जाते थे। 1 अप्रैल, 1974 से इसके सदस्यों की संख्या 22 हो गई है। जिनमें से 15 लोक सभा द्वारा पांच राज्य सभा द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधि प्रणाली द्वारा चुने जाते हैं। आरंभ में इस समिति के सदस्यों में से $1/3$ सदस्य प्रतिवर्ष निव त्त हो जाते हैं और उनके स्थान पर नए सदस्य निर्वाचित किए जाते हैं।

कार्य (Functions)

इस समिति के निम्न कार्य हैं-

1. सार्वजनिक उद्यमों की रिपोर्टों (Reports) तथा अभिलेखों (Accounts) की जांच पड़ताल करना।
2. सार्वजनिक उद्यमों के सम्बन्ध में यदि कोई नियन्त्रक-महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट हो तो उसकी जांच करना।
3. सार्वजनिक उद्यमों की स्वायत्तता तथा कार्यकुशलता के सम्बन्ध में यह जांच करना कि इन उद्यमों का शासन संचालन एवं प्रबन्ध व्यवस्था व्यावसायिक सिद्धान्तों तथा उपयुक्त वाणिज्यिक नियमों के अनुसार है कि नहीं।
4. सार्वजनिक उद्यमों से सम्बन्धित अन्य ऐसे कार्यों की जो अनुमान समितियां सार्वजनिक समिति कों सौंपे गए हों तथा वे कार्य जो समय-समय पर लोकसभा के अध्यक्ष (Speaker) द्वारा समिति को सौंपे गए हों, जांच पड़ताल करना।

परन्तु यह समिति सार्वजनिक उद्यमों के दिन-प्रतिदिन के शासन सम्बन्धी कार्यों, व्यावसायिक एवं वाणिज्यिक कार्यों एवं व्यावसायिक कार्यों तथा आन्तरिक मामलों पर विचार नहीं करती।

भारत का नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक
(Comptroller and Auditor General of India)

भारत में संसदीय शासन पद्धति की व्यवस्था की गई है जिसके अनुसार सरकार संसद की आज्ञा के बिना किसी प्रकार का कोई भी व्यय नहीं कर सकती और न ही कोई कर लगा सकती है। वस्तुतः सरकार प्रशासन तथा वित्त-सम्बन्धी मामलों के बारे में संसद के प्रति उत्तरदायी है। संसद के सदस्य किसी भी समय देश की आर्थिक, प्रशासनिक एवं अन्य किसी स्थिति के बारे में सरकार से प्रश्न पूछ सकती है तथा मन्त्रियों को उत्तर देना पड़ता है। देश की वित्त-व्यवस्था पर संसद का पूर्ण नियन्त्रण होना आवश्यक है, परंतु संसद सदस्यों को वित्तीय समस्याओं (Financial Problems) का ज्ञान नहीं होता और न ही वे सरकार के स्थायी कर्मचारियों की भांति पूर्ण काल के लिए काम करते हैं, इसलिए संसद को सरकार की वित्त नीति एवं व्यवस्था पर नियन्त्रण करने के लिए वित्त प्रशासन में निपुण नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक (Comptroller and Auditor General) की सहायता लेनी पड़ती है। नियन्त्रण एवं महालेखा परीक्षक संसद के प्रतिनिधि के रूप में तथा लोगों के अधिकारों के रक्षक के रूप में सरकार की आर्थिक नीति तथा वित्त-व्यवस्था पर नियन्त्रण करता है। सरकार का कोई भी विभाग अथवा अधिकारी नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक की स्वीक ति के बिना एक पैसा भी खर्च नहीं कर सकता तथा खर्च के पश्चात् उसे इसके लिए नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक के प्रति उत्तरदायी होना पड़ता है।

वित्त पर प्रशासकीय नियन्त्रण
(Administrative Control over Finance)

शासन विभाग या कार्यकारिणी सरकार या सभा (Executive Government)

वित्तीय मामलों में भारत सरकार की नीतियों को कार्यान्वित करने का अन्तिम उत्तरदायित्व प्रशासन पर ही है। जो कुछ भी व्यय होता है, वह तो नीति के आधार पर ही होता है। इस प्रकार सरकार संसद की नीति को कार्यान्वित करती है। सभी वित्तीय

प्रश्न जिन्हें मंत्रिमंडल की स्वीक ति मिलती है, वे मंत्रिमंडल की एक समिति, जिसे आर्थिक समिति (Economic Committee) कहते हैं, के समक्ष जाते हैं। इस समिति में वित्तमंत्री के अतिरिक्त, पांच अन्य मंत्री होते हैं, जिनका संबंध विशेषतः आर्थिक मामलों से होता है। इस विधि में निर्मित हुई इस आर्थिक समिति के प्रमुख कार्य हैं-आर्थिक क्षेत्र में सरकार की सभी क्रियाओं का निर्देशन एवं समन्वय करना, केन्द्र तथा राज्य सरकारों के विकास कार्यों में प्राथमिकता का निर्धारण करना तथा साधनों के विकास के संबंध में सिफारिश करना। इस प्रकार आर्थिक समिति द्वारा ही सरकार वित्तीय-नियंत्रण रखने में सफल होती है।

वित्त मंत्रालय (Finance Ministry)

व्यय नियंत्रण का तीसरा साधन भारत में वित्त-मंत्रालय है। राज्यों में वित्त विभाग इस कार्य को सम्पादित करता है। वित्त-मंत्रालय का यह कर्त्तव्य है कि वह इस बात पर द ष्टि रखे कि विभिन्न विभागों में सार्वजनिक व्यय के संबंध में मितव्ययिता से काम लिया जा रहा है कि नहीं। वित्त-मंत्रालय इस संबंध में प्रत्येक विभाग को सावधान किये रहता है कि बजट की सीमाओं से बाहर न जायें और जितना व्यय एक वर्ष में कर सकते हैं, उससे अधिक न हो जाये। सरकार के उन सभी विभागों से वित्त-मंत्रालय समय-समय पर व्यय के संबंध में रिपोर्ट लेता रहता है, जिन्हें व्यय करने का अधिकार है। वित्त-मंत्रालय का व्यय के नियंत्रण के संबंध में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य यह भी है कि वह सभी विभागों के व्यय के तरीकों का अध्ययन करके उसमें सामंजस्य स्थापित करे अथवा उसका सुधार करे। देश की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को देखते हुए वित्त-मंत्रालय विभिन्न विभागों की व्यय विधि में आवश्यक संशोधन करने के लिए सलाह भी देता है। राज्य स्तर पर भी वित्त विभाग उन्हीं कर्त्तव्यों का पालन करता है।

वित्त-मंत्रालय द्वारा वित्तीय नियंत्रण की सफलता अधिकांश इस बात पर निर्भर रहती है कि वित्तमंत्री का मंत्रिमंडल पर कितना प्रभाव है। यदि वित्तमंत्री की नीतियों का सम्मान नहीं किया जा सकता तो ऐसी स्थिति में नियंत्रण अधिक प्रभावकारी नहीं कर सकता। किंतु इसका अभिप्राय यह नहीं माना जा सकता कि वित्त विभाग ही अन्य विभागों की नीतियों का निर्देशन करे। नीतियों के संबंध में तो अन्तिम निर्णय सम्पूर्ण मंत्रिमंडल का मान्य होता है न किसी एक विभाग विशेष का।

इस प्रकार से वित्त-मंत्रालय सार्वजनिक आय-व्यय दोनों पर ही अपना नियंत्रण रखने का प्रयास करता है। भारतवर्ष में केन्द्रीय वित्त-मंत्रालय दो विभागों में संगठित है-

1. **राजस्व और व्यय का विभाग (Department of Revenue and Expenditure):** इस विभाग में राजस्व तथा व्यय का नियंत्रण होता है।
2. **आर्थिक कार्य का विभाग (Department of Economic Affairs):** इस विभाग का काम बजट अनुमानों को तैयार करना एवं कार्यान्वित (Execute) करना होता है।

अंकेक्षण एवं लेखा विभाग (Audit and Accounts Department)

शासन विभाग जिस धन को प्राप्त करके खर्च करता है, उसकी देखभाल के लिए जांच विभाग होता है। जांच विभाग का कार्य शासन विभाग से पूर्णरूप से स्वतंत्र होता है। यह विभाग, शासन विभाग की गलतियों को लोक सभा की नजरों में लाने के लिए स्वतंत्र है। वास्तव में यह होता भी इसी कार्य के लिए है। यदि हिसाब में कोई गलती होती है तो नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक (Comptroller and Auditor General) उसको सार्वजनिक हिसाब समिति (Public Account Committee) की नजरों में लाता है। इस प्रकार महालेखा परीक्षक व्यवस्थापक सभा के बदले में कार्य करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जांच विभाग भी लोक सभा की ही भांति इस पर पूर्ण नियंत्रण रखता है।

महालेखा परीक्षक शासन-विभाग के लिए कार्य करता है। शासन-विभाग अपने नीचे काम करने वाले विभिन्न अधिकारियों की आर्थिक-शक्ति को निश्चित करता है तथा आर्थिक कार्यों को करने, हिसाब करने, सार्वजनिक धन को प्राप्त करने तथा खर्च करने के नियम बनाता है। यह देखने के लिए कि सरकार की सब आज्ञाओं का उचित रूप से पालन हो रहा है कि नहीं, महालेखा परीक्षक ही होता है। यदि किसी विभाग के हिसाब में कोई गलती होती है, तो उसको सरकार की नजरों में लाने का काम लेखा परीक्षक का ही है।

ग्रेट ब्रिटेन में राष्ट्रीय व्यय पर नियंत्रण का विकास एक क्रमिक प्रक्रिया द्वारा सम्पन्न हुआ। इसके लिए 1866 में नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक का कार्यालय स्थापित किया गया जो कार्यपालिका से स्वतंत्र रहकर विभागीय लेखों की परीक्षा कर उन पर प्रतिवेदन देता है। इस प्रतिवेदन की परीक्षा करने के लिए एक स्थायी जनलेखा समिति बनाई गई। व्यय पर संसदीय नियंत्रण को पूर्ण तथा व्यापक बनाने के लिए सदन को प्रस्तुत किए जाने वाले अनुमानों की विस्त त परीक्षा को भी आवश्यक माना गया ताकि प्रशासन और योजनाओं तथा कार्यक्रमों की क्रियान्विति में मितव्ययता लाई जा सके। सन् 1912 में एक प्राक्कलन या अनुमान समिति गठित की गई जिसका कार्य सदन द्वारा मतदान किए जाने के बाद अनुमानों की परीक्षा करना था। नीति पर विचार समिति के अधिकार क्षेत्र से बाहर रखा गया।

भारत में भी नियन्त्रण की इन संस्थाओं के विकास का ऐसा ही इतिहास है। सन् 1921 में केन्द्रीय व्यवस्था में निर्वाचित बहुमत का प्रावधान किया गया है और उसे पूर्ति पर मत देने का अधिकार दिया गया। इस अधिकार के साथ ही लोक लेखा समिति का संगठन भी आवश्यक हो गया जिसमें निर्वाचित और सरकारी दोनों प्रकार के सदस्यों को स्थान दिया गया। प्राक्कलन या अनुमान समिति की रचना 1950 में हुई। इसका उद्देश्य वार्षिक बजट के अनुमानों का विस्त त परीक्षण करना है ताकि वह उनमें निहित योजनाओं और कार्यक्रमों के लिए मितव्ययता का सुझाव दे सके।

अध्याय-29
प्रशासनिक संस्कृति
(Administrative Culture)

ऐसे तो प्रशासनिक संस्कृति का सम्बन्ध प्रशासन से जुड़ा हुआ है, लेकिन अध्ययन के रूप में यह एक नवीन धारणा है, प्रशासनिक संस्कृति को स्पष्ट करने के पूर्व, संस्कृति को स्पष्ञ करना जरूरी है, धारणा शब्दों में संस्कृति का अर्थ-रहने, सहने, खाने-पीने, बोलने-चालने, उठने-बैठने, सोचने और व्यवहार करने का ढंग, संस्कृति को ध्यान में रखते हुए प्रशासनिक संस्कृति को परिभाषित करते हुए कहा जा सकता है कि कानून के निर्माण, संशोधन एवं क्रियान्वन के सम्बन्ध में प्रशासन द्वारा अपनाई गई पद्धति या व्यवहार प्रशासनिक संस्कृति है, दूसरे शब्दों में प्रशासन के कार्य करने का ढंग ही प्रशासनिक संस्कृति है।

प्रशासनिक संस्कृति की विशेषताएँ

1. प्रत्येक देश के प्रशासनिक संस्कृति में अन्तर देखने को मिलता है, ऐसे विकसित, विकासशील और अविकसित देशों के प्रशासनिक संस्कृति में एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींची जा सकती है। इन देशों के प्रशानिक संस्कृति के बीच अन्तर होने का महत्त्वपूर्ण कारण प्रशासन के समक्ष उपस्थित कार्य एवं लक्ष्य है, स्पष्ट है कि प्रशासनिक संस्कृति का जुड़ाव उसके कार्य एवं लक्ष्य से होता है।
2. प्रशासनिक संस्कृति एक परिवर्तनशील अवधारणा है इसे परिवर्तनशील अवधारणा इसिलए कहा जाता है कि प्रशासन के कार्य करने का ढंग, परिस्थिति और काल के अनुसार बदलता रहता है, जाहिर है परिस्थिति एवं काल के अनुसार प्रशासनिक संस्कृति भी बदलती रहती है।
3. प्रशासनिक संस्कृति का स्वरूप देश की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक वातावरण पर भी निर्भर करता है अर्थात् जिस देश की समाजार्थिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक स्थिति जैसी होगी, 'खुले व मुक्त समाज' के प्रशासनिक संस्कृतिक और 'बंद समाज' के प्रशासनिक संस्कृति के बीच अन्तर होता है।
4. प्रशासनिक संस्कृति का स्वरूप विचारधारा से भी जुड़ा है, प्रायः यह देखा जाता है कि किसी देश की राजनीतिक व्यवस्था विचारधारा पर ही आधारित होती है और प्रशासन राजनीतिक व्यवस्था का ही एक उपव्यवस्था है, अतः जब जिस विचारधारा आधारित राजनीतिक दल की सरकार बनती है, तो वहाँ पर प्रशासनिक संस्कृति का स्वरूप बदल जाता है।
5. प्रशासनिक संस्कृति में आंशिक बदलाव करिश्माई व्यक्तित्व के कारण भी देखने को मिलता है, प्रायः यह देखा जाता है कि सत्ता के उच्च पद पर जैसा व्यक्तित्व रहता है वहाँ की प्रशासनिक संस्कृति वैसी ही होने लगती है।
6. जनता की जागरूकता से भी प्रशासनिक संस्कृति में बदलाव आता है, यही कारण है कि जहाँ की जनता शिक्षित होती है वह प्रशासनिक व्यवस्था जागरूक एवं गतिशील होती है।

प्रशासनिक संस्कृति की विशेषताएँ अन्य ढंग से भी प्रस्तुत की जा सकती हैं जो निम्नलिखित हैं:

1. कानून व नियम में अटूट विश्वास
2. लालफीताशाही
3. प्रत्येक पद के लिए निर्धारित सत्ता
4. प्राविधिक विशेषता
5. सत्ता का आधार राज्य व शासक का कानून

6. आजीविका अर्जित करने वालों का समूह
7. कागजी कार्यवाही

सर्वप्रथम, नौकरशाहों का कानूनों और नियमों में अटूट विश्वास होता है, क्योंकि उनको प्रारम्भ से ही इस बात का प्रशिक्षण दिया जाता है कि जो भी कार्य किया जाए, कानून एवं नियमों के हिसाब से किया जाए, द्वितीय, प्रशासनिक अधिकारी 'लालफीताशाही' के शिकार होते हैं अर्थात्, इनके कार्य करने की प्रक्रिया में अत्यधिक औपचारिकताएँ पायी जाती हैं इससे कार्य-सम्पादन में अनावश्यक विलम्ब होता है, त तीय, प्रत्येक प्रशासनिक अधिकारी की सत्ता परिभाषित और निर्धारित होती है, जिससे बाहर जाकर वह कार्य नहीं कर सकते, चतुर्थ, प्रशासनिक अधिकारियों के काम करने का एक विशिष्ट ढँग होता है, एक विशेष कुशलता में प्रशिक्षित, उसे बार-बार दोहराने वाला तथा अपने पद को आजीवन मानने वाला अधिकारी एक विशेष कार्य में योग्य बन जाता है, वस्तुतः एक सरकारी कर्मचारी अपना समस्त जीवन एक विशिष्ट कार्य में ही लगा देता है।

पंचम, प्रशासनिक अधिकारियों को कार्य करने का अधिकार राज्य व शासन के कानून से प्राप्त है, अतः इनके कार्यों 17 में अवरोध डालने का अर्थ होता है राज्य के कानूनों का उल्लंघन, इस कारण प्रशासनिक अधिकारी निर्भय होकर स्वतंत्रतापूर्वक अपने कार्यों को सम्पादित करते हैं, जिसका कभी-कभी ये नजायज फायदा उठाते हैं, षष्ट, हमारे प्रशासनिक अधिकारियों की नियुक्ति की प्रक्रिया ऐसी है कि 'समाज सेवा' का भाव पनप नहीं पाता है, वस्तुतः इस पद पर इनके आने का उद्देश्य आजीविका का अर्जन करना होता है, ऐसी स्थिति में इनका जनता के कल्याण से कोई खास लेना-देना नहीं होता है, सप्तम व अन्त में, आधुनिक कार्यालय की प्रबन्ध-व्यवस्था लिखित दस्तावेजों तथा फाइलों पर ही आधारित है, जो भविष्य में कुशल निर्णय लेने में सहायक होते हैं, पर व्यवहार में कभी-कभी यह कागजी कार्यवाही आमजनों के परेशानी का कारण बन जाती है।

उपर्युक्त विशेषताओं के विश्लेषण के पश्चात् 'प्रशासनिक संस्कृति' का जो स्वरूप हम लोगों के समक्ष प्रस्तुत होता है, उसे लोक कल्याणकारी राज्य के हित में नहीं कहा जा सकता है, फिर वर्तमान में 'भ्रष्टाचार' के भी प्रशासनिक-संस्कृतिका हिस्सा बन जाने से स्थिति और भी चिंताजनक हो गई है, आज 'भ्रष्टाचार' प्रशासन में ऊपर से नीचे तक विद्यमान हो गया है, चाहे वो भ्रष्टाचार रिश्वत लेने से सम्बन्धित हो या फिर राजनीतिज्ञों से साँठ-गाँठ कर अपना कार्य सम्पादित करने से, हम यह कहें कि आज हमारे देश में 'प्रशासनिक-संस्कृति' का अर्थ हो गया है- "No work, but all facitlities" तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगा।

प्रशासनिक-संस्कृति के इस नकारात्मक स्वरूप को देखते हुए ही भारत में शुरू से प्रशासनिक सुधार की बातें की जाती रही हैं, इसी क्रम में 1964 में 'संथानम् समिति' के सुझावों के आधार पर 'केन्द्रीय सतर्कता आयोग' (Central Vigilance Commission) की स्थापना की गई, जिसका कार्य लोक सेवकों के विरुद्ध लगाये गये आरोपों की जाँच करना तथा दोषी अधिकारियों के विरुद्ध मुकदमा चलाने के सम्बन्ध में था, इसी प्रकार प्रशासन से भ्रष्टाचार व भाई-भतीजावाद को मिटाने हेतु 'ओम्बड्समेन (Ombudsman) की तर्ज पर **लोकपाल और लोक आयुक्त'** की बात की जाती रही है, 1996 में गठित 'प्रशासनिक सुधार आयोग' (Administrative Reforms Committee) द्वारा तो इस क्रम में 578 सुझाव प्रस्तुत किए जा चुके हैं।

अगर इन सारे प्रयासों को ईमानदारी से व्यावहारिक रूप में 'अमली जामा' पहनाया जाये तो इसमें कोई संदेह नहीं कि एक सशक्त प्रशासनिक-संस्कृति का विकास हमारे देश में होगा, वैसी प्रशासनिक-संस्कृति, जिसमें हमारे प्रशासक ईमानदार, उत्तरदायी और नागरिक-मित्र बनकर कार्य करेंगे।

प्रशासनिक संस्कृति : एक अवलोकन

प्रशासनिक संस्कृति के स्वरूप में एकरूपता का अभाव पाया जाता है, क्योंकि यह हर देश और परिस्थिति के मुताबिक अपने स्वरूप को अख्तियार करता रहता है। यही कारण है कि विकसित देशों की प्रशासनिक संस्कृति अविकसित एवं विकासशील देशों की प्रशासनिक संस्कृति से भिन्न होती है, ऐसे विकसित देशों के प्रशासनिक स्वरूप में भी एकरूपता का अभाव पाया जाता है, ऐसे सैद्धान्तिक तौर पर अमरीका, फ्रांस, इंग्लैण्ड जैसे विकसित देशों की संस्कृति में समानता है, वहाँ का प्रशासन समान पद सोपानीय व्यवस्था पर आधारित है, उन देशों में प्रशासन अपने लक्ष्य एवं कार्य के प्रति ज्यादा चौकस एवं प्रतिबद्ध होती है। प्रशासन में परम्परगत तत्वों (जाति, संप्रदाय, वर्ण आदि) का सामान्यतः गौण स्थान है, प्रशासन के कार्यों में राजनीति हस्तक्षेप

का अभाव है, प्रशासन के पास नए-नए उपकरण आदि है, इसका परिणाम है कि विकसित देशों की राजनीतिक संस्कृति एक विशेष प्रकार की विभिन्नकृत एवं विशेषीकृत स्वरूप धारण किया है।

जबकि विकासशील देशों की प्रशासनिक संस्कृति में परम्परागत तत्वों (जाति, धर्म, भाषा, वर्ण) का प्रभाव द ष्टिगोचर होता है, प्रशासन में अपने लक्ष्यों एवं उद्देश्यों के प्रति प्रतिबद्धता का अभावन देखने को मिलता है। इन देशों के प्रशासनिक संस्कृति में लालफीताशाही, लक्ष्य के प्रति अप्रतिबद्धता, मालिकाना मनोव त्ति, कर्त्तव्यपरायणता का अभाव आदि विशेषताएँ देखने को मिलती है, इन देशों में प्रशासनिक संस्कृति में स्पष्ट रूप से भाई-भतीजावाद व्यक्तिगत, स्वार्थ आदि तत्वों का प्रभाव द ष्टिगोचर होता है, भारतीय प्रशासनिक संस्कृति में भी एकरूपता का अभाव है, इसका कारण यह है कि भारत जैसे विशाल देश में सामाजिक आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर काफी विषमता है, बंगला में जो प्रशासनिक संस्कृति है वह बिहार में नहीं है जो विहार में है- वह दिल्ली में नहीं।

अविकसित देशों की प्रशासनिक संस्कृति स्पष्ट रूप से पिछड़ापन के दौर में है, वहाँ लोकतांत्रिक व्यवस्था एवं जनता की जागरूकता पूर्णतः सुषुप्ता अवस्था में है, प्रशासनिक संस्कृति परम्परागत तत्वों के प्रभाव में निर्धारित होती है, कानून या शासन के आदेश से नहीं।

इस संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि विकसित, विकासशील और अविकसित देशों की प्रशासनिक संस्कृति में अन्तर होता है।

अध्याय-30
प्रशासनिक भ्रष्टाचार
(Administrative Corruption)

भ्रष्टाचार का शाब्दिक अर्थ है 'भ्रष्ट' अथवा 'बिगड़ा हुआ आचरण'। लोक प्रशासन में इसका अभिप्राय ऐसे आचरण से है, जिसकी आशा लोक सेवकों से नहीं की जाती है। यदि लोक प्रशासक अपनी शक्ति, सत्ता एवं स्थिति का प्रयोग जन सामान्य के लाभों की अपेक्षा अपने व्यक्तिगत लाभों के लिए करने लगे तो यही 'भ्रष्ट आचरण' माना जाएगा। ये भ्रष्ट आचरण अनेक प्रकार के हो सकते हैं-उदाहरण के लिए, किसी व्यक्ति का कोई कार्य कर देने या कार्य न करने पर घूंस अथवा दूसरे प्रकार का आर्थिक लाभ लेना, अपने सम्बन्धियों को नौकरी दिलाना, रिश्वत, भेंट स्वीकार करना, बेईमानी, गबन, अनुचित एवं अवैध रीतियों से पैसा लेना, व्यापारिक संस्थाओं पर इस द ष्टि से अहसान करना ताकि वहां लोक सेवकों के पुत्र-पुत्रियों को रोजगार मिल सके, अपनी सरकारी स्थिति और प्रभाव का स्वार्थ-सिद्धि के लिए दुरूपयोग करना, आदि।

भ्रष्टाचार की परिभाषा भारतीय दण्ड संहिता की धारा 161 में इस प्रकार की गयी है-"जो व्यक्ति शासकीय कर्मचारी होते हुए या होने की आशा में अपने या अन्य किसी व्यक्ति के लिए विधिक पारिश्रमिक से अधिक कोई घूंस लेता है या स्वीकार करता है अथवा लेने के लिए तैयार हो जाता है या लेने का प्रयत्न करता है या किसी व्यक्ति के प्रति पक्षपात या उपेक्षा या किसी व्यक्ति की कोई सेवा या कुसेवा का प्रयास, केन्द्रीय या अन्य राज्य सरकार या संसद या विधानमण्डल या किसी लोक सेवक के संदर्भ में करता है तो उसे तीन वर्ष तक के कारावास का दण्ड या अर्थदण्ड या दोनों दिए जा सकेंगे।"

("Who ever being or expecting to be public servant, accepts or obtains, or agrees to accept or attempts to obtain from any person for himself or any other person, any gratification whatever, other than legal remuneration, as a motive a reward for doing or forbearing to show, in the exercise of the official function favours or disfavours to any person or for rendering or attempting to render any source or disservice to any person, with the central or any state government or parliament or the legislature of any state or any public servant as such .....is corrupt.")

भ्रष्टाचार से तात्पर्य है किसी सरकारी कर्मचारी द्वारा अपने सार्वजनिक पद पर अथवा स्थिति का दुरूपयोग करते हुए किसी प्रकार का आर्थिक या अन्य प्रकार का लाभ उठाना। "यह ऐसा व्यवहार है जिसमें सरकारी कर्मचारी व्यक्तिगत आर्थिक लाभ उठाने के लिए सार्वजनिक कर्त्तव्यों से विचलित होता है अथवा नियमों का ऐसा उल्लंघन करता है जिससे कुछ विशेष प्रकार के निजि लाभ प्राप्त हो सकें।"

'भ्रष्टाचार' को दो रूपों-संकीर्ण एवं व्यापक-में लिया जाता है। संकीर्ण रूप में इसका अर्थ केवल घूंस अथवा आर्थिक लाभ प्राप्त करना माना जाता है। भ्रष्टाचार के व्यापक रूप में अपने निजी स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों के लिए सार्वजनिक पद अथवा सत्ता का दुरूपयोग करते हुए नकद धनराशि अथवा भेटों और उपहारों के रूप में सब प्रकार की बेईमानी से प्राप्त लाभों का समावेश होता है। लोक प्रशासन में इस शब्द का प्रयोग इसी व्यापक अर्थ में किया जाता है।

भारत में भ्रष्टाचार की व्यापकता
(Intensity of Corruption in India)

किसी न किसी रूप में भ्रष्टाचार मानव में सदैव कायम रहा है। कौटिल्य ने अपनी पुस्तकें 'अर्थशास्त्र' में भ्रष्टाचार में 40 प्रकारों का उल्लेख किया गया है। उसके शब्दों में "जिस प्रकार जिह्वा पर रखे हुए शहद का स्वाद न लेना असम्भव है उसी प्रकार किसी शासकीय अधिकारी के लिए राज्य के राजस्व के एक अंश का भक्षण न करना असंभव है।"

प्राचीन एवं मध्यकाल में लोक प्रशासन का क्षेत्र अत्यन्त सीमित था, फलस्वरूप भ्रष्टाचार की कम गुंजाइश थी। वर्तमान युग में लोक प्रशासन के क्षेत्र का विलक्षण विकास होने के कारण भ्रष्टाचार की मात्रा में भी असाधारण व द्धि हुई है। भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन काल से ही भ्रष्टाचार देश में सर्वत्र फैल गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापारी जो उस समय प्रशासक भी थे, सम्पत्ति जोड़ने पर उतारू थे। भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का तंत्र भ्रष्ट एवं पतित हो गया था, फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने भारत का प्रशासन अपने हाथों में ले लिया। लगभग डेढ़ सौ वर्षो के शासन में अंग्रेजों ने भारत में श्रेष्ठ प्रशासकीय तंत्र की स्थापना कीं लेकिन ब्रिटिश भारतीय प्रशासन में राजत्व, पुलिस एवं आबकारी विभागों को व्यापक स्वविवेकी शक्तियों प्राप्त थी। फलस्वरूप उनके भ्रष्ट होने की पर्याप्त गुंजाइश थी। न्यायपालिका की छोटी अदालतों का भी यही हाल था। द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारंभ होने तक भ्रष्टाचार अधिकांशतः प्रशासन के निम्न स्तर तक ही सीमित था। द्वितीय विश्वयुद्ध जनित परिस्थतियों ने भ्रष्टाचार के लिए अधिक अवसर उत्पन्न कर दिये। नियम तथा कानूनों की अवहेलना की गयी तथा प्रत्येक चीज की युद्ध के कार्यो से गौण माना गया। इतने अफसरों को अपनी सत्ता का स्वार्थपूर्ति में प्रयेाग करने का अवसर दिया। वस्तुओं का इतना अभाव हो गया कि सरकार ने बाध्य होकर व्यापार करने हेतु लाइसेन्स देना प्रारंभ कर दिया। लाइसेंस आवश्यक थे अतः बेईमान एवं चालाक व्यक्तियों ने बिना हिचकिचाहट के अभावग्रस्त वस्तुओं में व्यापार करने के लाइसेंस प्राप्त करने के लिए अधिकारियों को रिश्वत देना प्रारंभ कर दिया।

इस कथन में कि भारत का प्रशासन भ्रष्ट है बहुत अधिक मात्रा में सत्यता है। ब्रिटिश शासन में भारत की आर्थिक दशा शोचनीय थी, परन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् से भारत राष्ट्र के चरित्र का पतन बहुत तेजी से हो रहा है। इस समय स्थिति यह है कि भारत की जनता को राज्य के संरक्षण पर भी अविश्वास होने लगा है। आचार्य क पलानी ने इस भयंकर सत्य को लोक सभा में इन शब्दों में व्यक्त किया था-

"I feel the danger in even greater than that on our borders. What happened in NEFA was in no small degree but to wide spread corruption combined with inefficiency."

दुर्भाग्य से भारत द्वितीय शासन पद्धति (Biparty system) नहीं है जिसमें, यदि एक राजनीतिक दल पर से जनता का विश्वास उठ जाये तो दूसरा राजनीतिक दल शासन की कमान को अपने हाथों में संभाल ले। भारत में सरकारी दल को ऐसा कोई भय नहीं है और उसकी इस बात का पूर्ण विश्वास है कि कोई भी शक्ति उनकी सत्ता को समाप्त नहीं कर सकती। इस तथ्य से भ्रष्टाचार को और अधिक प्रोत्साहन मिलता है।

जीवन को प्रत्येक क्षेत्र में राजनीतिक हस्तक्षेप का बोलबाला है। ऐसी परिस्थितियों में भारतीय संविधान के मौलिक अधिकारों का भी कोई विशेष महत्त्व नहीं रह जाता, आज परिस्थिति यह है कि मानव लोभ के लिए जीवन के सर्वोच्च गुणों को बलिदानकर सकता है। जिन नैतिक बंधनों से समस्त व्यक्ति एक साथ मिले हुए थे वे समस्त बंधन ढीले हो चुके हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व राष्ट्र का उद्देश्य स्वतंत्रता प्राप्त करना था जिसके कारण उसने अनेकों बलिदान किए किन्तु बलिदान की भावना का स्थान स्वार्थ ने ले लिया है मनुष्यों का इतना पतन हो गया है कि उनके जीवन का धरातल पशुओं के धरातल तक आ गया है। स्थिति इतनी भयंकर हो गई है कि केवल ईश्वरीय शक्ति ही वर्तमान स्थिति का निराकरण कर सकती है।

स्वतंत्रता के बाद देश में विप्लवकारी स्थिति का प्राधान्य रहा। देश का विभाजन हुआ, साम्प्रदायिक दंगे हुए, काश्मीर का युद्ध, जनसंख्या का स्थानांतरण तथा रियासतों के एकीकरण की समस्या आयी। इन सबके फलस्वरूप 'कानून का शासन खण्डित हो गया तथा लोक सेवकों में भ्रष्टाचार के लिए नवीन मार्ग खुल गए। स्वाधीन भारत में कल्याणकारी एवं समाजवादी राज्य का आदर्श अपनाया गया जिसमें राज्य के कार्यो में असाधारण व द्धि हुई। खास तौर से आर्थिक क्षेत्र में राज्य के कार्यो में व द्धि होने से नियम, लाइसेंस, परमिट का युग प्रारंभ हुआ और भ्रष्टाचार के नये आयाम प्रकट हुए।

राज्य के केन्द्रीय स्तर के मंत्री, संसद तथा विधायिका के सदस्यों का नवीन वर्ग भी भ्रष्ट लोक सेवकों के साथ मिल गया। संसद और विधानमण्डलों के निर्वाचित प्रतिनिधि जो कि नैतिकता एवं प्रशासन की एकता के संरक्षक थे, स्वयं ही भ्रष्टाचार, कुनबापरस्ती एवं स्वार्थो की पूर्ति में फंस गए। भारत में लम्बे समय तक ही एक राजनैतिक दल के हाथ में शक्ति का एकाधिकार रहा। इससे मंत्रियों, विधायकों एवं सांसदों को अपनी शक्ति का स्वयं के लाभ के लिए तथा परिवार, मित्रों एवं दल के साथियों के लाभ के लिए दुरूपयोग करने का अवसर मिल गया। व्यापार तथा उद्योगों में एकाधिकार की अपेक्षा राजनीति में एकाधिकार खतरनाक है। राजनीतिज्ञों को अहसानमंद बनाने वाले लोक सेवक बदले में निडर होकर हर प्रकार का भ्रष्ट व्यवहार करते हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में सरकारी कर्मचारियों के अतिरिक्त राजनीतिक नेताओं और मंत्रियों के जो गड़बड़-घोटाले प्रकाश में आये हैं। उनमें श्री क ष्णा मेनन का जीप काण्ड, उड़ीसा के मुख्यमंत्री बीजू पटनायक, जम्मू-कश्मीर के मुख्यमंत्री बख्शी गुलाम मुहम्मद, बिहार के क ष्ण बल्लभ सहाय, पंजाब के मुख्यमंत्री प्रतापसिंह कैरो, तमिलनाडु के मुख्यमंत्री करूणानिधि तथा महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री ए.आर. अन्तुले के मामले उल्लेखनीय हैं।

तीसरे आम चुनाव का एक केस है जिसमें कानपुर के एक उद्योगपति रामरतन गुप्ता ने कांग्रेस के टिकट पर गोंडा संसदीय चुनाव क्षेत्र से चुनाव लड़ा। इसके निर्वाचन के विरूद्ध चुनाव याचिका दायर की गयी। चुनाव ट्रिब्यूनल ने इस चुनाव पर विचार करने के बाद कहा कि "चुनावों के इतिहास में यह एक विशेष मामला है जिसमें कि दोबारा मतगणना करने पर एक उम्मीदवार 21,666 मतों से जीता हो। उसे चुनाव करने वाले कुछ सरकारी अधिकारियों का सहयोग मिला था।" ट्रिब्यूनल का विचार था कि "कांग्रेसी उम्मीदवार रामरतन गुप्ता को भ्रष्ट उपायों द्वारा सफलता के निकट लाने वाला रिटर्निंग आफिसर एम०सी० निगम था। उससे यह वायदा किया गया कि बदले में चुनाव के बाद उसे फैजाबाद का कमिश्नर बना दिया जाएगा। यद्यपि पहले उसको इस पदोन्नति के लिए मना किया जा चुका था।"

पंजाब के भूतपूर्व मंख्यमंत्री प्रतापसिंह कैरो के विरूद्ध जो आरोप लगाये गये, उनके संबंध में जांच आरोप इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि "मुख्यमंत्री ने अपनी स्थिति का अनुचित लाभ उठाया है। उनके पुत्र तथा परिवार के सदस्यों ने अपार संपत्ति एकत्रित करने में उसकी सत्ता व प्रभाव का उपयोग किया है। उसके साम्राज्य निर्माण के इस प्रयास में अन्य मंत्रियों तथा लोक सेवकों द्वारा भी गैर-कानूनी एवं भ्रष्ट रूप से सहायता दी गयी थी।"

1964 में के० सन्थानम् की अध्यक्षता में स्थापित भ्रष्टाचार निवारण समिति की रिपोर्ट के अनुसार 1958 से 1962 के चार वर्षो में 2 करोड़ 38 लाख 24 हजार 142 रूपये के लाइसेंस कपटपूर्ण उपायों से प्राप्त किए गए थे। बाजार में प्रत्येक लाइसेंस को उसकी कागजी कीमत से पांच गुनी कीमत पर बेचा जा सकता है। इस हिसाब से उपर्युक्त लाइसेंस द्वारा अनुचित साधनों से कमायी जाने वाली धनराशि की मात्रा 10 करोड़ रूपए थी। इसमें से कितना रूपया सरकारी कर्मचारियों की जेब गरम करने में गया, इसका सही अनुमान करना संभव नहीं है।

ब्रिटिश युग में प्रायः यह कहा जाता है कि भ्रष्टाचार चपरासियों तथा राजस्व विभाग में लघु कर्मचारियों तक ही सीमित था। किंतु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश की विकास योजनाओं के साथ-साथ भ्रष्टाचार का भी बड़ी तेजी से विकास हुआ है। यह उच्चेतम लोक सेवकों, मन्त्रियों और मुख्यमंत्रियों के स्तर तक पहुंच चुका है। आचार्य क पलानी ने ठीक ही कहा था कि "भ्रष्टाचार प्रशासन में केवल निम्न स्तरों पर है पर आज किसकी हिम्मत है जो यह कहे कि भ्रष्टाचार उच्च स्तरों में नहीं है।" ए.आर. अन्तुले के मामले से इस बात की पुष्टि हो जाती है। आज जनता कर्मचारियों के भ्रष्ट आचरण से दुखी होकर रिश्वत देने को अपना धर्म मानने लग गयी है। यदि अस्पताल में भर्ती होने के लिए और डॉक्टरों से आपरेशन कराने के लिए भी रोगी अथवा गरीब व्यक्तियों को रिश्वत देने को अपना धर्म मानने लग गयी है। यदि अस्पताल में भर्ती होने के लिए और डाक्टरों से आपरेशन कराने के लिए भी रोगी अथवा गरीब व्यक्तियों को रिश्वत का सहारा लेना पड़े तो यह कर्मचारी और राज-व्यवस्था दोनों के लिए शर्म की बात है। जनता अस्पताल (जयपुर) की अधीक्षक डॉ० गायत्री विजय को पकड़ा। डॉ० गायत्री विजय ने रिश्वत की यह राशि जयपुर के एक रिक्शा चालक यासीन खां की पुत्री रेहाना के ऑपरेशन के लिए मांगी थी।-राजस्थान पत्रिका (जोधपुर), 7 फरवरी, 1991, प० 1.

जुलाई, 1982 में भारत सरकार ने 'नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक फाइनेंस एण्ड पॉलिसी' को देश के काले धन की समस्या का अध्यापन करने का काम सौंपा था। इस संबंध में संस्थान की अध्ययन रिपोर्ट प्रकाशित हुई। यह सर्वविदित है कि 'काला धन' अर्थात् बिना लेखे-जोखे का धन, भ्रष्टाचार का परिणाम भी है और उसका एक बहुत बड़ा कारण या प्रेरक तत्व भी। उपरोक्त अध्ययन रिपोर्ट काले धन के जमा होने के कई कारणों की छानबीन की गयी है पर अन्ततोगत्वा उन्हें यह कहना पड़ा है कि काले धन की मुख्य जिम्मेदारी भ्रष्ट नेता और अफसरों की है। सिर्फ सन् 1983-84 के वर्ष में ही करीब 35,000 करोड़ रूपये यानि तीन खरब पचार अरब रूपये, जितना नया काला धन बना जो कुल वार्षिक राष्ट्रीय उत्पादन का 21 प्रतिशत थां इस काले धन के निर्माण का एक बहुत बड़ा कारण है विकास तथा निर्माण संबंधी योजनाओं के लिए स्वीक ति धनराशि के एक अच्छे-खासे का 'भ्रष्ट नेता, अधिकारी तथा ठेकेदारों द्वारा' बीच में ही हड़प लिया जाना। रिपोर्ट में आंकड़ों एवं तथ्यों का हवाल

देकर यह कहा गया कि "मंत्रीगण और ऊंचे अफसर अपने निजी लाभ के लिए इस तरह घूंस वसूल करते हैं मानो वह उसका प्राइवेट टैक्सी हो।"

संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति निक्सन को 'वाटर गेट काण्ड' के कारण त्यागपत्र देने को विवश होना पड़ा। 1975 में विमान निर्माण करने वाली लॉकहीड नामक अमरीकी कंपनी द्वारा जापान के प्रधानमंत्री को तथा हॉलैण्ड और इटली के शिखरस्थ राजनीतिज्ञों को कंपनी के विमान खरीदने के लिए दी गयी लाखों रूपये की धनराशि के रहस्यीदघाटन से यह स्पष्ट हुआ कि वर्तमान समय में बहुराष्ट्रीय व्यापारिक निगत राजनीतिज्ञों को कितने बड़े पैमाने पर भ्रष्ट करते हैं।

भूतपूर्व राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने एक साक्षात्कार में कहा कि यदि वे राष्ट्रपति पद के चुनाव में दुबारा उम्मीदवार बन जाते तो कतिपय राजनीतिक दल उनके चुनाव हेतु 30-40 करोड़ रूपए खर्च करने के लिए तैयार थे। क्या यह राजनीतिक क्षेत्र में भ्रष्टाचार और घोटालों की चरम अभिव्यक्ति नहीं है। (Indian Express, March 3, 1989, p.1.) इससे पूर्व बोफोर्स कांड ने हमारे रक्षा सौदों में व्याप्त रिश्वत और भ्रष्टाचार की पोल ही खोल दी थी। स्वीडिश रेडियो ने आरोप लगाया कि बोफोर्स कम्पनी और भारत के बीच तोपों की खरीद के अरबा डालर के समझौतों में भारतीय अधिकारियों को रिश्वत दिलायी गयी।

इंडिया टुडे के अनुसार भ्रष्टाचार विरोधी अभियान की अब तक की सबसे बड़ी उपलब्धि I.A.S. अधिकारी की गिरफ्तारी कही जानी चाहिए। राजस्थान राज्य के इतिहास में शायद यह पहला मौका है जब किसी आई० ए० एस० अफसर को भ्रष्टाचार के मामलों में गिरफ्तार किया गया । जयपुर जिला ग्रामीण विकास अभिकरण के निदेशक रहे बी० के० मीणा के कार्यकाल के दौरान 1 करोड़ 5 लाख रूपये की सरकारी राशि का घोटाला हुआ। यह राशि ट्राइसेम व स्फाइट योजना के तहत खर्च की जानी थी। जिला ग्रामीण विकास अभिकरण में 4 अगस्त, 1989 से 23 अक्टूबर, 1989 के बीच यह राशि करीब डेढ़ दर्जन फर्जी स्वयंसेवी संस्थाओं के नाम से उठायी गई।" (इण्डिया टुडे; जुलाई, 1990, प० 36.)

मई, 1992 में राजस्थान में एक अन्य आई०ए०एस० अधिकारी श्री रविशंकर श्रीवास्तव को भ्रष्टाचार के आरोप में निलम्बित किया गया। वे चुरू जिला ग्रामीण विकास अभिकरण के परियोजना निदेशक थे; उस समय उन्होंने सरकारी धन का दुरूपयोग किया। जांच के दौरान पता चला कि श्रीवास्तव एवं उनके मातहत अधिकारियों ने दफ्तर में मिठाई मंगवाने तक में सरकारी पैसा खर्च किया। जो पैसा ग्रामीण विकास अभिकरण के माध्यम से गरीब व ग्रामीण, पिछड़े लोगों के विकास कार्यो पर खर्च होना था उस धन से रंगीन टेलीविजन, बी०सी० आर० तीन आधुनिक टेलीफोन उपकरण, कीमती फर्नीचर, क्राकरी, रसोई के उपकरण, गैस स्टोव एवं गीजर जैसी घरेलू उपयोग की सामग्री खरीद ली गई। जांच में श्रीवास्तव के खिलाफ यह पाया गया कि बिना प्रावधान और बिना अनुमोदन के इस प्रकार हुई करीब एक करोड़ 38 लाख की राशि का घोटाला हुआ है। (राजस्थान पत्रिका, 21 मई, 1992)

प्रशासन में भ्रष्टाचार के कारणों का विश्लेषण
(Analysis of the causes of Corruption in Administration)

भारतीय लोक प्रशासन में रिश्वत एवं भ्रष्टाचार के व्यापक प्रसार में निम्न कारणों ने योग दिया है-

1. **युद्धकालीन अभाव तथा नियंत्रण:** द्वितीय विश्वयुद्ध के समय जब सेना के लिए सरकार भारी परिमाण में अनाज तथा अन्य सामग्री खरीदने लगी तो व्यापारी सरकारी माल के ठेके प्राप्त करने के लिए अधिकारियों की जेब गरम करने लगे। युद्धजनित परिस्थितियों के कारण अनाज आदि का राशन और नियंत्रण शुरू किया गया। इसके लिए सरकारी दुकानों के लाइसेंस और परमिट दिए जाने लगे। इससे भी भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिला। स्वाधीनता प्राप्त के बाद त्वरित आर्थिक विकास के लिए योजनाएं बनायी गयी और यह आवश्यक था कि देश के समस्त सुलभ साधनों पर नियंत्रण स्थापित किया जाये, उपभोक्ताओं को सब सामग्री राशन के आधार पर सीमित मात्रा में दी जायें। इसके लिए परमिट, लाइसेंस और कोटा पद्धति शुरू की गयी। इसके अनुसार कुछ विशेष व्यक्तियों को ही निश्चित मात्रा में कारखानों से वस्तुएं प्राप्त करने के परमिअ और अधिकार-पत्र दिये जाने लगे। इसके परिणामस्वरूप देश में व्यापक रूप से चोर-बाजारी शुरू हो गयी।
2. **भ्रष्टाचार-ब्रिटिश विरासत:** ब्रिटिशकालीन भारत में उच्चतम सरकारी कर्मचारियों में भ्रष्टचार कितने व्यापक रूप में प्रचलित था-यह इस बात से स्पष्ट है कि उस समय वायसराय या गवर्नर अपने पद से अपकाश ग्रहण करने से पहले

देशी रियासतों का दौरा, राजाओं से विदाई लेने के नाम पर किया करते थे, यद्यपि इसका वास्तविक प्रयोजन उनसे भेंट और उपहार प्राप्त करना होता था। लार्ड वेवेल ने 1945 में भारत का वायसराय बनने पर अपनी बेटी फेलेसिट एन के विवाह के निमंत्रण-पत्र प्रमुख धनी भारतीयों तथा 700 छोटी-बड़ी रियासतों के राजाओं को शादी से कई महीने पहले उन सब वस्तुओं की सूची के साथ भेज दिए थे जिन्हें वर-वधू उपहार के रूप में लेना पसंद करेंगे।

3. **नैतिक मूल्यों का ह्रासः** विकसित जनसमाज में शहरीकरण एवं औद्योगीकरण पर निरंतर बल दिया गया है, जिससे सामाजिक एवं वैयक्तिक मूल्यों का भौतिक, मूल्यों के आगे ह्रास होता है। भौतिक आवश्यकताएं बढ़ती जाती हैं और जो वस्तुएँ पूर्ण विलास की वस्तुएं मानी जाती थी, वे अब जीवन की आवश्यकताएं बनती चली जाती हैं। उनकी प्राप्ति के लिए धन की आवश्यकता होती है। ईमानदारी के तरीकों से धन कमाना काफी कठिन होता है अतः अनैतिक उपायों का सहारा लिया जाता है। पहले अनैतिक कार्य करने में व्यक्ति झिझकता था जबकि आज अनैतिक उपायों से लाभ अर्जित करने में उसे प्रसन्नता होती है।

4. **प्रशासन का विस्तारः** स्वतंत्रता के पश्चात् अकस्मात् ही ब्रिटिश एवं मुस्लिम अधिकारियों की एक बड़ी संख्या में कमी हो गयी जिसके फलस्वरूप एक बड़ी संख्या में विभिन्न श्रेणियों में अनुभव एवं योग्यता को ध्यान में रखे बिना भर्ती की गयी। सेवाओं की सुस्थापित परम्पराओं में इन कर्मचारियों की कोई आस्था नहीं थी।

5. **वेतनों की विषमताः** भारत में कर्मचारियों के वेतनों में काफी अन्तर है। उच्च वेतनों के फलस्वरूप उच्च अधिकारी आरामदेह जीवन व्यतीत करते हैं। प्रत्येक अधीनस्थ अपने वरिष्ठ अधिकारी का अनुसरण करना चाहता है। यदि उसका वेतन कम होता है तो वह अनुचित साधनों से आमदनी करता है। वेतनों में विषमता का व्यापकता अनैतिक एवं विनाशकारी प्रभाव होता है।

6. **पंचवर्षीय योजनाएं व मान्यताओं में परिवर्तनः** पंचवर्षीय योजनाओं की शुरूआत के साथ कर्मचारियों को अपने विभाग में खर्च करने के विस्त त अधिकार प्राप्त हुए। बड़े अधिकारी स्थानीय विकास के कार्यो में लाखों तथा करोड़ों रूपये खर्च कर सकते थे। स्थिति में यकायक परिवर्तन हो जाने से मनुष्य का मानसिक संतुलन नष्ट हो जाता है जिसके दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम होते हैं। सन्थानम के अनुसार, ("A society that goes in for a purposively initiated process in a fast rate of change has to pay a social price.") जहाँ पर खर्च करने की शक्ति तथा अपने विवेक को प्रयोग करने का अधिकार एक ही व्यक्ति में केन्द्रिय होता है। वहाँ पर भ्रष्टाचार के अवसर बहुत अधिक मात्रा में उत्पन्न हो जाते हैं। भ्रष्टाचार एक छूत की बीमारी के समान हैं जिनके दूषित प्रभाव समस्त प्रकार के कर्मचारियों में बहुत तेजी के साथ फैले जाते हैं। आज प्रत्येक अधिकारी जिसको नियुक्तियां करने का अधिकार प्राप्त है, अपने कुटुम्ब वालों की तथा मित्रों की बेरोजारी को दूर करने में लगा हुआ हैं जो भ्रष्टाचार ब्रिटिश शासन में केवल राजस्व, लोक निर्माण विभाग, उत्पादन शुल्क तथा पुलिस विभागों में पाया जाता था स्वतंत्र भारत के समस्त कर्मचारियों में पाया जाता है। आधुनिक युग में अधिकारियों के विशेष अधिकार उनके वास्तविक अधिकारों से भी अधिक हैं।

7. **राजनीतिक हस्तक्षेप (Political Interference):** आज प्रशासन के प्रत्येक क्षेत्र में राजनीतिक हस्तक्षेप है। प्रशासकों के समक्ष भी कठोर समस्या है। यदि वे जन-साधारण से संपर्क स्थापित नहीं करते हैं तो सामुदायिक योजनाएं पूरी नहीं की जा सकती। यदि वे सम्पर्क स्थापित करते हैं तो उनको राजनीति में प्रवेश करने के लिए बाध्य किया जाता है। ईमानदार अधिकारियों को दूषित परिणाम भुगतने पड़ते हैं यदि वे राजनीति में प्रवेश करने से इंकार कर देते हैं। संसद के तथा राज्य की व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्य भी भ्रष्टाचार से मुक्त नहीं है। कांग्रेस सदस्य श्री वाकर अली ने लोक सभा में भाषण देते हुए कहा था-

"Corruption was rampant even among the members of parliament and legislators but no one talked out it because we have become a supreme body of vested interests."

राजनीतिज्ञ, नेता ग्राम पंचायतों के प्रधान तथा सरपंच समस्त मामलों में नियुक्तियां, पदोन्नितियां, छात्रव तियों, परीक्षा परिणामों, न्यायिक निर्णयों, ग्राम पंचायतों के मामलों, तकावी, योजनाओं में हस्तक्षेप करते हैं।

मुंदरा डील, सिराजउद्दीन मामला, रामप्यारे ऐपीसोड, दास कमीशन रिपोर्ट, नेफा डिबैकिल, जीप, स्कैंडल, कैरों हत्या कांड इत्यादि में मंत्रियों पर भारी मात्रा में कीचड़ उछाली गई है। पंजाब के भूतपूर्व मंत्री श्री पटनायक तथा मित्रा, केन्द्रीय मंत्री श्री के०डी० मालविया, उपमंत्री श्रीमति तारकेश्वरी सिन्हा इत्यादि पर भ्रष्टाचार का आरोप लगाया गया तथा उनको

अपने स्थानों से त्याग-पत्र देने पड़े।

8. **पार्टी कोष (Party fund):** पार्टी के नाम पर चन्दा इकट्ठा करना अपने काले करतूतों पर केवल पर्दा डालना है जिस दल के हाथों में सत्ता होती है, उसको ही सदा सबसे अधिक लाभ पहुंचता है। 'Journal of Public Administration' के अनुसार पिछले निर्वाचन में बड़े-बड़े पूंजीपतियों तथा बड़े व्यापारियों से कांग्रेस ने पांच करोड़ रूपया एकत्रित किया। इस प्रकार के चंदों के न तो निश्चित नियम हैं और न उनका विधिवत हिसाब ही रखा जाता है।

9. **रिश्वत में सांझेदारी (Partnership in bribery):** सन्थानम समिति की रिपोर्ट में कहा गया है कि लोक निर्माण विभाग में यह प्रथा पड़ गई है कि ठेकेदारों से 7% से लेकर 11% तक उनके बिलों की धनराशि रिश्वत के रूप में वसूली की जाती है। यह अवैध धन समस्त कर्मचारियों में (सुप्रीन्टेडिंग इंजीनियर से लेकर साधारण चपरासी तक) बंट जाती है जिन विभागों में कर निर्धारित किया जाता तथा वसूल किया जाता है, उन विभागों में भ्रष्टाचार का क्षेत्र अधिक व्यापक रहता हैं करों जिनके कारण करों की चोरी करने में सहयोग मिलता है, दे दिया जाता है, जब बड़े अधिकारी भी लूट के माल में भागीदार होते हैं तो वे अपने अधीन कर्मचारियों पर किस प्रकार नियंत्रण रख सकते हैं। इस विषय के श्री जे०बी० क पलानी ने लोक सभा के एक मनोरंजन कहानी सुनाई थी। गांधी आश्रम एक रेशम का लघु उद्योग चला रहा था। रेलवे प्रशासन ने इस कारखाने में तैयार हुए रेशमी माल बुक करने से इन्कार कर दिया जब तक की उनको उनके भाग की अवैध धन राशि न मिल गई। आचार्य क पलानी स्वयं उस आश्रम के अध्यक्ष तथा श्री जवाहरलाल नेहरू रक्षक थे।

10. **लाल फीता शाही (Red Tapism):** आवश्यकता से अधिक देरी लगाकर तथा लम्बी औपचारिकता के द्वारा अधिकारी वर्ग ईमानदारी व्यक्तियों को परेशान करता है। यदि कर्मचारियों को रिश्वत के रूप में कोई धनराशि मिल जाती है तो वे उस प्रक्रिया को सरल बना देते हैं। इस तथ्य के विषय में श्री सन्थानम ने अपनी रिपोर्ट में कहा है-

    "Certain sections of staff are reported to have go into the habit of not doing anything in the matter till they are suitably persuaded..... There is a general impression that it is difficult to get things done without resorting to Corruption."

    जब उच्च अधिकारी के द्वारा किसी पत्र पर निर्णय भी हो जाता है तो भी आधीन कर्मचारियों के द्वारा उस समय तक उसको दबाकर रखा जाता है जब तक उनको कोई अनुचित लाभ नहीं होता। मैसूर सरकार द्वारा नियुक्त की गई Resounces and Economy Committee ने अपनी रिपोर्ट में कहा है।

    "Delay and corruption constitute in our opinion a connected phenomenon and arise together under an administration which is insufficiently integrated, supervised and inspected. An elaborated administrative machinery functioning under out moded and complex rules enables — the officials to make difficulties and delays until they are paid."

11. **एक मात्र अधिकार की मनोव त्तियाँ (Monopolistic Tendencies):** प्रत्येक क्षेत्र में चाहे वह अधिक हो अथवा प्रशासकीय एकमात्र अधिकार की मनोव त्तियां दिन-प्रतिदिन बढ़ रही हैं। आज के मुकाबले के युग में एक उद्योगपति दूसरे उद्योगपतियों को नष्ट करके स्वये का विस्तार करने का अभिलाषी है। ऐसा करने के लिए या तो उसे अपना माल सस्ता बेचना पड़ता है अथवा केवल अपने लिए लाइसेंस अथवा परमिट की व्यवस्था करके समस्त उद्योग धंधे पर अपना एकमात्र रिश्वत देनी पड़ती है। वह अपनी हानि अनुचित साधनों से पूरी करता है जैसे बोगस परमिट प्राप्त करके, करों को चुराकर, गंदी वस्तुओं को मिलाकर इत्यादि। आजकल हमको प्रत्येक क्षेत्र में यह द श्य देखने को मिलता है बड़े व्यापारियों ने माल का भारी स्टाक एकत्र कर लिया है और वे मनमाने ढंग से बेच करके जनता पर शोषण करते हैं। उनके अवैध लाभ में सरकार भी साझीदार होती है। अतः वह उनके विरूद्ध प्रभावशाली कार्रवाई नहीं कर सकती। एकमात्र अधिकार को प्रोत्साहन देने के लिए प्रशासन पद्धति को अधिक टैकनीकल तथा पेचीदा बनाया जा रहा है।

12. **सेवाओं को संवैधानिक संरक्षण (Legal Protection to Services):** सन्थानम समिति ने अपनी रिपोर्ट में बतलाया कि भारत में कर्मचारियों को बहुत से प्रगतिशील देशों की अपेक्षा अधिक संरक्षण प्रदान किया जाता है। किसी कर्मचारियों को बर्खास्त करना सरल कार्य नहीं है। संविधान तथा कानूनों ने इतना संरक्षण प्रदान किया है कि प्रशासकीय अधिकारी बेईमान कर्मचारियों के विरूद्ध कोई कार्यवाई करने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं जब उनको ऐसे कर्मचारियों का पता चल भी लग जाता है। रिपोर्ट में कहा गया है-"It was distressing to hear heads of the departments confess that, even

when they were normally convinced that one of the officials working under them, was corrupt they were unable to do anything because of the difficults in obtaining formal proof, finding or conviction."

13. **नियमों की पेचीदगी (Complexity of Rules):** प्रशासन के नियम इतने पेचीदा बनाए जा रहे हैं कि अशिक्षित व्यक्तियों का तो कहना ही क्या शिक्षित व्यक्ति भी उनको ठीक प्रकार से नहीं समझ सकते। नियमों को सरल बनाया जा सकता है परंतु केवल कुछ उद्योगपतियों का एकमात्र अधिकार समाप्त हो जाएगा। भारत की जनता, वकीलों तथा उनके क्लर्कों की क पा पर निर्भर करती है।

14. **पुलिस का अत्याचार (Heavy handedness of the Police):** भारत की पुलिस ईमानदार व्यक्तियों को सहयोग देने के बजाय उनको अधिक परेशान करती है तथा गलत आदमियों को प्रोत्साहित करती है हाल ही में भिंड, मुरेना, उत्तरप्रदेश के कुछ जिलों के प्रतिनिधियों ने ग ह मंत्री श्री गुलजारी लाल नन्दा को एक स्मरण पत्र (Memorandum) प्रस्तुत किया जिससे उन्होंने, इस भेद को प्रकट किया कि इन स्थानों की पुलिस डाकुओं से मिली हुई है, जो व्यक्ति पुलिस की शिकायत करने का साहस करते हैं, उनकी हत्या कर दी जाती है उनके नाम डाकुओं की सूची में दर्ज कर दिए जाते हैं। इस प्रकार पुलिस उनकी हत्या के लिए सरकार से इनाम भी प्राप्त कर लेती है।

15. **भ्रष्ट कर्मचारियों का संरक्षण करना (Shileding of Corrupt Admmitrators):** हमारे भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू में यह दुर्बलता थी कि अपने आधीन कार्य करने वाले अधिकारियों का संरक्षण करते थे। एक बार जब इस प्रश्नप को संसद में उठाया गया था तो उन्होंने कहा था कि अधिकारी इतने योग्य तथा अच्छा कार्य करने वाले थे कि अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् उनकी सेवाएँ ऊंच वेतन पर प्राइवेट उद्योगपति तथा व्यापारी प्राप्त करते थे। वे इस वास्तविकता को नहीं जानते थे कि उनको इसलिए ऊंचा वेतन दिया जाता है कि सरकार के गोपनीय भेदोंको उद्योगपति जान सके। उन्होंने श्री प्रताप सिंह कैरो, श्री क ष्ण मैनन, श्री लाल तथा अन्य अधिकारियों को अनुचित संरक्षण देने का प्रयत्न किया।

भ्रष्टाचार के रूप
(Form of Corruption)

भ्रष्टाचार के अगणित रूप में हैं। यह आवश्यक नहीं कि भ्रष्टाचार धन के ही रूप में हो और न ही यह आवश्यक है कि किसी मंत्री या अधिकारी को व्यक्तिगत लाभ के रूप में हो। किसी मंत्री या अधिकारी या उसके संबंधी या मित्रों को उनके व्यक्तिगत लाभ के लिए धन दिया जा सकता है। कभी-कभी उसे राजनीतिक दलों के लिए धन एकत्र करना पड़ता है। इस प्रकार जो धन या सुविधा प्राप्त होती है उसके बदले सत्ताधारी दानदाता के किसी कार्य या हित की पूर्ति कर देता है, जैसे उसकी फाइल पर शीघ्र निर्णय देना, परमिट, लाइसेंस या ठेका प्रदान करना या किसी के विरूद्ध की गयी या प्रस्तावित कार्रवाई को समाप्त कर देना, आदि। हर प्रकार का भ्रष्टाचार सत्ता का दुरूपयोग है। मंत्री या अधिकारी अपनी स्थिति का लाभ उठाकर अपने रिश्तेदारों को लोक सेवाओं या उन बड़ी निजी कम्पनियों में नौकरी दिलवा सकता है जिनको सरकार से काम पड़ते रहते हैं। अनेक पदनिव त्त अधिकारियों को ऊँचे-ऊँचे वेतनों पर निजी क्षेत्रों में नियुक्त किया जाता है। यह केवल उनके प्रशासकीय अनुभव के कारण ही नहीं होता, अपितु उनसे प्रशासन में पहुँच हो जाती है और शासन से कार्य कराने में इन पदनिव त्त अधिकारियों को सम्पर्क अधिकारी के रूप में प्रयोग किया जाता है।

बहुत-से व्यावसायिक एवं औद्योगिक प्रतिष्ठानों ने पर्वतीय नगरों, तीर्थस्थानों एवं बड़े नगरों में अतिथि ग ह बनवा रखे हैं। अनेक मंत्री एवं उच्च अधिकारी इनमें अवकाश, तीर्थयात्रा एवं शासकीय दौरे के समय ठहरते हैं। इस आतिथ्य के प्रतिफलस्वरूप आतिथेय एवं शासकीय अधिकारियों में एक प्रकार की मित्रता हो जाती है, जो देखने में भले ही निर्दोष हो परंतु सम्बन्धित अधिकारी को उसको बोध न होते हुए भी अनजाने ही उसकी सच्चरित्रता के लिए हानिकारण सिद्ध होती है। अधिकारी के जो छोटे-छोटे कार्य किये जाते हैं, जिनके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि आतिथेय का उनमें कुछ खर्च ही नहीं होता, उनके यही परिणाम होते हैं। जैसे-जैसे मित्रता बढ़ती जाती है, आतिथेय द्वारा शासकीय अधिकारी को दिये जाने वाले उपहारों की मात्रा एवं मूल्य भी बढ़ते जाते हैं, और वे मित्रता के प्रतीक माने जाते है; परन्तु थोड़े समय के पश्चात वे अधिकारी के कर्त्तव्यों पर भार बन जाते हैं। यदि कोई शासकीय कर्मचारी किसी आतिथेय के प्रति कुछ कारणों से अपने को अनुग हित करता है तो उसकी सच्चरित्रता को बड़ा धक्का लगता है, और जिन शासकीय कार्यो को करने में कठिनाई होती है उन कार्यो को आतिथेय

के लिए अस्वीकार करना अधिकारी के लिए असम्भव हो जाता है।

शीघ्र काम कराने के लिए धन देना भ्रष्टाचार, विशेषकर परमिट एवं लाइसेंस प्राप्त करने का एक आम तरीका है। इस प्रकार की रिश्वत देने वाला कोई गैर-कानूनी कार्य नहीं करना चाहता अपितु वह अपने मामले से सम्बन्धित कागजात को शीघ्रतापूर्वक निपटाने का इच्छुक होता है। कुछ कर्मचारी वर्गों में तो जब तक किसी मामले को निपटाने के लिए उनसे संपर्क स्थापित नहीं किया जाता या खुशामद नहीं की जाती तब तक उस कार्य को न करने की उनमें आदत-सी पड़ जाती है।

प्रशासन की तरफ से निर्माण, क्रय एवं विक्रय तथा अन्य दैनिक कार्यों सम्बन्धी ठेकों में एक निश्चित प्रतिशत उस कार्य से समबन्धित सरकारी व्यक्तियों द्वारा लिया जाता है एवं सभी सम्बन्धित अधिकारियों द्वारा उसे एक स्वीक त अनुपात में आपस में बाँट लिया जाता है। सार्वजनिक निर्माण विभागों के निर्माण कार्यों में 7 से 11 प्रतिशत तक इस प्रकार दिया जाता है और इसमें एक्जीक्यूटिव इंजीनियर से लेकर मिस्त्री तक का हिस्सा होता है। कभी-कभी तो ऊँचे पद के इंजीनियर का भी इसमें हिस्सा होता है। इसके अतिरिक्त रेलवे में वैगन देने, पार्सलों को भेजने, विशेषकर शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं के पार्सलों पर रिश्वत सम्बन्धी समान रिवाज प्रचलित है। जब किसी वस्तु का क्रय किया जाता है तब घटिया वस्तु को स्वीकार कराने के लिए भी कुछ प्रतिशत दिया जाता है।

अनेक विभागों में किसी स्थान विशेष पर नियुक्ति सरकारी कर्मचारियों के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण होती है। अपनी इच्छा एवं महत्त्व के स्थान पर नियुक्ति के लिए बहुत-सी शासकीय कर्मचारियों द्वारा रिश्वत दी जाती है। पुलिस, सार्वजनिक निर्माण आदि विभागों में तो पदों की नीलामी तक होती है।

व्यक्तिगत फाइलें एवं गोपनीय रिपोर्ट शासकीय विभागों में भ्रष्टाचार का अन्य साधन है। ये अधीनस्थों के सिर पर सदैव लटकने वाली तलवार की भाँति है। जब कोई अधिकारी दौरे पर जाता है तब वह अपने अधीनस्थों से यह अपेक्षा करता है कि वे उसकी सुविधा का ध्यान रखे। इसका यह अर्थ है कि अधीनस्थ अधिकारी ही उस पर खर्चा करे। उन्हें इस प्रकार के व्यय के लिए धन का प्रबन्ध करना पड़ता है। इसका सहज परिणाम भ्रष्टाचार है। यदि कोई ईमानदार अधीनस्थ अपने वरिष्ठ अधिकारी को इस प्रकार की सेवा से अनुग हित लिख दी जाये। इसी प्रकार के कारणों तथा वरिष्ठ अधिकारी से अनुचित लाभ प्राप्त करने के लिए अनेक अधीनस्थ कर्मचारियों द्वारा उसकी व्यक्तिगत रूप से जी-हुजूरी की जाती है। एक शीर्षस्थ राजस्व अधिकारी के सम्बन्ध में एक कहानी कही जाती है कि उसने अपने एक अधीनस्थ को कैम्प में मछली भिजवाने के लिए कहा। उसके अधीनस्थ ने अपनी असमर्थता व्यक्त की। इस पर उसकी व्यक्तिगत फाइल पर यह टिप्पणी लिख दी गयी कि वह अयोग्य है।

भ्रष्टाचार का एक अन्य प्रकार शासकीय कर्मचारियों द्वारा सार्वजनिक धन का अपव्यय करना है। अनेक अवसरों पर जब मंत्री एवं वरिष्ठ अधिकारी दौरे पर जाते हैं तो कनिष्ठ अधिकारियों द्वारा इन अवसरों पर भ्रमण हेतु आने वाले अधिकारियों के मनोरंजन के लिए अनाप-शनाप धन व्यय किया जाता है। इस प्रकार के मुक्तहस्त व्ययों का उद्देश्य केवल यही है कि सम्बन्धित मंत्रियों एवं अधिकारियों से अपने अनुचित हित साधन किये जायें।

केन्द्रीय निरीक्षण आयोग ने भ्रष्टाचार के निम्न 27 प्रकारों का उल्लेख किया:

1. निम्नस्तरीय वस्तुओं या कार्य को स्वीकार करना;
2. सार्वजनिक धन और भण्डार का दुरूपयोग करना;
3. जिन व्यक्तियों से अधिकारियों के कार्यालय स्तर के सम्बन्ध हैं उनके आर्थिक दायित्वों को वहन करना;
4. ऐसे ठेकेदारों या फर्मों से कर्ज लेना जिनसे उनके कार्यालय स्तरीय सम्बन्ध होते हैं;
5. ठेकेदारों एवं फर्मों को रिआयतें देना;
6. झूठे, दौरे, भत्ते एवं ग ह-किराया आदि का दावा करना;
7. अपनी आमदनी से अधिक वस्तुओं को रखना;
8. बिना पूर्व-अनुमति या पूर्व-सूचना के अचल सम्पत्ति आदि का क्रय करना;
9. प्रमाद या अन्य कारण से शासन को हानि पहुँचाना;

10. शासकीय पद या सत्ता का दुरूपयोग;
11. भर्ती, नियुक्ति, स्थानान्तरण एवं पदोन्नति के सम्बन्ध में गैर-कानूनी रूप से धन लेना;
12. शासकीय कर्मचारियों को व्यक्तिगत कार्यों में प्रयोग करना;
13. जन्म-तिथि एवं समुदाय सम्बन्धी जाली प्रमाणपत्र तैयार करना;
14. रेल एवं वायुयान में स्थान सुरक्षित करने में अनियमितता;
15. मनीऑर्डर, बीमा एवं मूल्य-देय पार्सलों आदि को न देना;
16. नये डाक टिकटों को हटाकर पुराने टिकट लगाना;
17. आयात एवं निर्यात लाइसेंस देने में असहयोग एवं अनियमितता;
18. शासकीय कर्मचारियों की जानकारी एवं सहयोग से विभिन्न फर्मो द्वारा आयातित एवं निर्धारित कोटे का दुरूपयोग;
19. टेलीफोन कनेक्शन देने में अनियमितता;
20. अनैतिक आचरण;
21. उपहार ग्रहण करना;
22. आर्थिक लाभ के लिए आय-कर, सम्पत्ति-कर आदि का कम मूल्यांकन प्रस्तुत करना;
23. स्कूटर एवं कार खरीदने के लिए स्वीक त अग्रिम धनराशियों का दुरूपयोग;
24. विस्थापितों के दावों के निपटाने में अनुचित विलम्ब;
25. विस्थापितों के दावों का गलत मूल्यांकन;
26. आवासीय भूमि के हिस्सों के क्रय एवं विक्रय के सम्बन्ध में धोखा देना; तथा
27. शासकीय क्वार्टरों का अनधिक त कब्जा एवं उन्हें अनधिक त रूप से किराये पर उठाना।

वर्तमान विधिक संरचना
(Various Measures)

लोक कर्मचारियों के सम्बन्ध में भ्रष्टाचार निरोधक अधिनियम, 1947 ने भ्रष्टाचार के क्षेत्र की निम्नलिखित परिभाषा दी है:

एक लोक सेवक अपने कर्त्तव्य के सम्पादन में आपराधिक दुराचरण (criminal misconduct) का दोषी होता है-

1. यदि वह आदतन अपने लिए या अन्य किसी व्यक्ति से अपने लिए या अन्य व्यक्ति के लिए ऐसी धनराशि, जो विधिक पारिश्रमिक के अतिरिक्त होती है, किसी उद्देश्य या पुरस्कार के रूप में जैसा भारतीय दण्ड विधान की धारा 161 में उल्लिखित है, स्वीकार करता है या प्राप्त करता है या स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाता है;
2. यदि वह आदतन अपने लिए या अन्य किसी व्यक्ति से अपने लिए या अन्य व्यक्ति के लिए कोई मूल्यवान वस्तु बिना कारण या किसी ऐसे कारण के लिए, जो वह जानता है कि अनुचित है, किसी जान-पहचान के व्यक्ति या किसी सम्पादिन कार्य या व्यापार से सम्बन्धित या उसके या किसी ऐसे लोक सेवक के, जिसका वह अधीनस्थ है, कार्यालय सम्बन्धी कार्यों या किसी ऐसे अन्य व्यक्ति से जिसे वह जानता है या जिससे सम्बन्धित व्यक्ति का हित है या सम्बन्धित है, ग्रहण करता है; तथा
3. यदि वह बेइमानी या जालसाजी से धन का दुरूपयोग करता है या लोक सेवक के रूप में अपने पद का दुरूपयोग करते हुए अपने या अन्य किसी व्यक्ति के लिए महत्त्वपूर्ण वस्तु या आर्थिक लाभ प्राप्त करता है।

भ्रष्टाचार निरोधक अधिनियम, 1947 के प्रावधानों की जकड़ मजबूत करने के लिए 1988 में इसमें संशोधन किया गया। 'लोक सेवक' की परिभाषा भी अब अधिक विस्त त कर दी गयी है, जो उचित भी है। अब मंत्री और सांसद भी लोक सेवक हैं।

विभिन्न प्रयत्न (Various Efforts)

1. **बक्सी टेकचन्द समिति की नियुक्ति (Appointment Bakshi Take Chand Committee):** इस समिति की नियुक्ति सन् 1949 में की गई। सन् 1946 में भ्रष्टाचार रोक अधिनियम (Prevention of Corruption Act) - पास किया गया था। इस समिति का उद्देश्य इस अधिनियम को क्रियात्मक रूप प्रदान करना था। इसको विशेष पुलिस संगठन (S.P.E.) को अधिक प्रभावशाली बनाने की दिशा में भी सुझाव प्रस्तुत करने थे।

2. **विशेष पुलिस संगठन की नियुक्ति (Appointment of Special Police Establishment):** सन् 1946 में केन्द्रीय सरकार ने ग ह मंत्री के अंतर्गत विशेष पुलिस संगठन (S.P.E.) की स्थापना की। इसका कर्त्तव्य कर्मचारियों में भ्रष्टाचार के कारणों का पता लगाना तथा ऐसे दोषी कर्मचारियों के विरूद्ध मुकदमा चलाना था। सन् 1949-50 में राजस्थान तथा विंधिया प्रदेश के कुछ मंत्री रंगे हाथ (red handed) पकड़े गए।

3. **क पलानी पूछताछ समिति की नियुक्ति (Appointment of Kriplani Inquiry Committee):** सन् 1953 में रेल-मंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने आचार्य क पलानी के अधीन रेलवे विभाग में भ्रष्टाचार की जांच करने के लिए एक समिति की नियुक्ति की।

4. **आचरण सम्बन्धी नियमः** विभिन्न श्रेणियों के लिए शासकीय कर्मचारी सम्बन्धी प थक-प थक परन्तु पर्याप्त साम्य रखने वाली आचरण संबंधी नियमावलियाँ प्रचलित हैंः

   i. अखिल भारतीय सेवा (आचरण) नियम, 1954;

   ii. केन्द्रीय नागरिक सेवा (आचरण) नियम, 1955;

   iii. रेल सेवा (आचरण) नियम, 1956।

   लोक सेवकों सम्बन्धी विभिन्न परिस्थितियों के बारे में शासन द्वारा समय-समय पर अनेक नियमों का निर्माण किया गया है एवं आदेश जारी किये गये हैंः

   i. 1860 में राजपत्रित एवं 1869 में अराजपत्रित कर्मचारियों द्वारा कर्ज लेने एवं कर्ज देने संबंधी;

   ii. 1876 में उपहार ग्रहण करने सम्बन्धी;

   iii. 1881 में मकानों एवं अन्य बहुमूल्य सम्पत्ति बेचने सम्बन्धी;

   iv. 1883 में शासन के अधीन किसी एक पद से अन्य व्यक्तियों के आर्थिक लाभ हेतु पद-त्याग करने सम्बन्धी;

   v. 1885 में अचल सम्पत्ति में धन लगाने एवं सट्टे सम्बन्धी;

   vi. 1845 में कम्पनियों के प्रबन्ध एवं विकास तथा निजी व्यापार एवं रोजगार सम्बन्धी;

   vii. 1885 में लोक सेवकों द्वारा चंदा एकत्र करने सम्बन्धी;

   viii. 1885 में कर्जदार एवं दिवालिया होने सम्बन्धी;

   ix. 1920 में पदनिव त्ति के पश्चात् व्यापारिक होने सम्बन्धी; तथा

   इन नियमों में निश्चय ही अनेक कमियाँ हैं। फलस्वरूप, इनके द्वारा भ्रष्टाचार को रोकना कठिन हो गया है।

5. **प्रशासकीय विजिलैंस विभाग की नियुक्ति (Appointment of Administrative Vigilance Division):** इसकी स्थापना अगस्त 1955 में हुई थीऔर इसकी शााखायें समस्त विभागों में स्थापित की गई। इसका कर्त्तव्यों विभागों के भष्टाचार के कारणों का पता लगाना था।

6. **विविन बोस आयेाग की नियुक्ति (Appointment of Vivin Bose Commission):** इसकी स्थापना सन् 1956 में कुछ महत्त्वपूर्ण उद्योगों में भ्रष्टाचार के कारणों को मालूम करने के लिए हुई थी। इसकी सिफारशों के परिणामस्वरूप कई उद्योगपतियों के विरूद्ध मुकदमे चलाए गए।

इन प्रयत्नों के परिणामस्वरूप अप्रैल 1957 से दिसम्बर सन् 1962 तक लगभग 44 हजार कर्मचारियों को भ्रष्टाचार के लिए विभिन्न दण्ड दिए गए। 1100 कर्मचारियों को कारावास का दण्ड मिला तथा शेष का बर्खास्तगी, अनिवार्य पदावकाश, पद-अवनति इत्यादि का दण्ड मिला। सन् 1963 के पहले चार महीने में तीन राजपत्रित तथा 49 गैर-राजपत्रित अधिकारियों पर विशेष पुलिस संगठन द्वारा अभियोग लगाए गए।

7. **सन्थानम समिति की नियुक्ति (Appointment of Santhanam Committee):** उपरोक्त साधन भ्रष्टाचार को रोकने में अपर्याप्त सिद्ध हुए। भ्रष्टाचार का विषय आज प्रत्येक नागरिक तथा व्यवस्थापिका के सदस्यों की जुबान पर है। समाचार पत्र तथा पब्लिक भाषण भी इस विषय से ही भरे रहते हैं। सन् 1961 में केन्द्रीय सरकार ने कस्तूरी सन्थानम की अध्यक्षता में एक समिति का निर्माण किया। इस समिति में संसद के 6 सदस्य तथा अनुभवी प्रशासकीय अधिकारी थे।

सन्थानम समिति ने भ्रष्टाचार उन्मूलन के लिए निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किए हैं।

i. कानूनों, नियमों तथा प्रशासनिक प्रक्रियाओं पर पुनर्विचार। इनको सरल बनाया जाना चाहिए तथा यह इतने स्पष्ट होने चाहिए कि इनके विषय से दो मत हो ही न सकें।

ii. भ्रष्टाचार के कारणों का अध्ययन किया जाकर उनको दूर करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

iii. परमिटस (Permits), लाइसेंस तथा ठेकों को देने में विशेष सावधानी बरती जानी चाहिए।

iv. पत्रों तथा फाईलों पर शीघ्र निर्णय होकर मामलों को समाप्त किया जाना चाहिए।

v. कम वेतन पाने वाले कर्मचारियों को उत्तरदायित्वों के कार्य नहीं सौंपे जाने चाहिए।

vi. गुप्त सूचना तथा सामान्य सूचना के बीच स्पष्ट भेद होना चाहिए।

vii. क्लेरिकल स्टाफ द्वारा कोई निर्णय नहीं होना चाहिए।

viii. कर्मचारियों की नियुक्तियों तथा पदोन्नतियों में विशेष सावधानी बरती जानी चाहिए।

ix. कर्मचारियों के जीविका उपार्जन तथा निवास स्थानों की उचित व्यवस्था होनी चाहिए।

x. किसी भी कर्मचारी की पद अवधि में, जहाँ तक संभव हो, व द्धि नहीं होनी चाहिए।

xi. भ्रष्टाचार के ऐसे प्रोपेगेंडा को प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिए। जिसका कोई आधार न हो।

xii. अधिकारियों से मुलाकात करने वालों का उचित लेखा-जोखा रखा जाना चाहिए।

xiii. परमिट्स (Permits), तकाबी तथा लाइसेंस इत्यादि फार्मो का शीघ्र सप्लाई की जानी चाहिए।

xiv. सम्पत्ति के खरीद और बेचने की कीमत दिखाने वालों पर उचित रोक लगायी जानी चाहिए।

xv. आय-कर तथा अन्य अनुमान पत्रों का प्रकाशित होना चाहिए।

xvi. अवकाश प्राप्त सरकारी नौकरों पर अवकाश (retirement) के पश्चात् व्यक्तिगत उद्योग धन्धों तथा व्यापारिक फर्मो में सेवा ग्रहण नहीं करने देना चाहिए।

xvii. निजी सम्पत्ति के समस्त पदाधिकारियों तथा मंत्रियों द्वारा घोषित किया जाना चाहिए।

xviii. जिन मंत्रियों पर दोषारोपण किया जाता है उनके द्वारा पद त्याग की व्यवस्था की जानी चाहिए।

xix. पार्टी कोषों की जनता को जानकारी होनी चाहिए।

xx. अधिक पढ़े व्यक्तियों को लिपिक वर्ग के कार्यो के लिए नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त निम्न प्रयास भी किए जाने आवश्यक हैं-

a. भ्रष्टाचार के विरोध में जबर्दस्त लोकमत उत्पन्न किया जाना चाहिए ताकि भ्रष्टाचारियों के दुष्कर्मो का भण्डाफोड़ किया जा सके,

b. चुनाव सुधार किए जाने चाहिए ताकि चुनाव लड़ने में बहुत राशि धनराशि व्यय न करनी पड़े। जब तक चुनाव धन से लड़े जायेंगे, तब तक भ्रष्टाचार चलता रहेगा;

c. भ्रष्टाचार के मामलों पर कार्यपालिका के प्रभाव से सर्वथा निष्पक्ष न्यायाधीशों द्वारा विचार करने और अपराधियों को कड़ा दण्ड देने की व्यवस्था होनी चाहिए। ओम्बडमेन जैसी स्वायत्त संस्था का निर्माण किया जाना चाहिए;

d. मंत्रियों एवं सरकारी प्रशासकों के लिए निश्चित आचार-संहिता का निर्माण और उसका पूरी कड़ाई से पालन किया जाना चाहिए;

e. सरकारी कर्मचारियों को उनके काम के अनुसार पूरा वेतन देने और उनकी नियुक्ति योग्यता के आधार पर करने की व्यवस्था होनी चाहिए;

f. सतर्कता आयोग (Vigilance Commission) का गठन किया जाना चाहिए।

8. **केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो:** प्रशासनिक भ्रष्टाचार पहली बार द्वितीय विश्व युद्ध काल (1939-45) में जनसाधारण की चिन्ता का कारण बना। इसकी विशिष्टता थी वस्तुओं का अभाव और कमी, जिसके परिणामस्वरूप सरकारी नियमन एवं नियन्त्रण लागू हुआ। ग ह मंत्री सरदार वल्लभभाई पटेल ने नवम्बर 1946 में ही स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि नियन्त्रण, रिश्वत और भ्रष्टाचार साथ-साथ चलते हैं। केन्द्रीय विधान सभा में दिल्ली पुलिस संस्थापन विधेयक (The Delhi Police Establishment Bill) का मार्गदर्शन करते हुए उन्होंने कहा: "जब तक अनेक नियन्त्रण और लाइसेंस हैं, जो हमारे जीवन की-सार्वजनिक जीवन तथा निजी जीवन की-समस्त शाखाओं पर नियन्त्रण करते हैं, तब तक आप रिश्वत और भ्रष्टाचार को रोक नहीं सकते। दिल्ली स्पेशल पुलिस संस्थान कानून, 1946 (The Delhi Special Police Establishment Act, 1946) के अंतर्गत एक प्रशासनिक तंत्र का गठन, लोक सेवकों द्वारा किए गए भ्रष्टाचार के मामलों की जाँच के लिए किया गया।

स्पेशल पुलिस संगठन 1963 तक रहा। उस वर्ष इस संगठन के स्थान पर केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो (Central Bureau of Investigation–C.B.I.) की स्थापना हुई, जो आज भारत में भ्रष्टाचार विरोधी सर्वाधिक प्रबल संगठन है। इसकी स्थापना की संस्तुति सन्थानम समिति ने की थी।

1963 में स्थापित सी.बी. आई कोई कानूनी संगठन नहीं है, जिसे दिल्ली स्पेशल पुलिस संस्थापन कानून, 1964 के अंतर्गत अधिकार प्राप्त हों। सी.बी. आई. तो अपराध और भ्रष्टाचार के मामलों के लिए मुख्य पुलिस एजेन्सी है। इसका प्रमुख अधिकारी एक निदेशक होता है, जिसकी सहायता के लिए अनेक अपर निदेशक, संयुक्त निदेशक, पुलिस अधीक्षक, उप-अधीक्षक तथा अन्य पुलिस अधिकारी होते हैं। वर्तमान में सी.बी.आई. आपराधिक मामलों की इन तीन श्रेणियों की जांच करती हैं:

i. भ्रष्टाचार का आरोप।

ii. आर्थिक अपराध, जिनमें धोखाधड़ी भी शामिल है।

iii. आतंकवाद, बम विस्फोट जैसे विशेष अपराध।

विगत कुछ समय से सी.बी.आई. पर कार्यभार बढ़ रहा है। इसलिए सी.बी.आई. को दो भागों में विभाजित करने की आवश्यकता है: एक भ्रष्टाचार के मामले देखे और दूसरा संगठित अपराधों के मामले देखे। प्रमुख अन्वेषणकर्ता होने के कारण सी.बी.आई. को स्वायत्तता प्रदान की जानी चाहिए और इसमें योग्य तथा ईमानदार अधिकारी नियुक्त किये जाने चाहिए।

9. **केन्द्रीय सतर्कता आयोग:** केन्द्रीय सतर्कता आयोग (Central Vigilance Commission) की स्थापना 1964 में, भारत सरकार में भ्रष्टाचार की रोकथाम और ईमानदारी को प्रोत्साहन देने के लिए की गयी। इसकी संस्तुति भ्रष्टाचार रोकने के उद्देश्य से गठित सन्थानम समिति (1946) ने की थी। केन्द्रीय सतर्कता आयोग के पास भ्रष्टाचार के मामलों की जाँच के लिए अपना निजी कोई संगठन नहीं है; उसे केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो (सी.बी.आई.) पर निर्भर रहना जरूरी होता है। भ्रष्टाचार में लिप्त लोक सेवकों के विरूद्ध अनुशासनात्मक कार्रवाई के मामलों में यह आयोग परामर्श देता है। यह परामर्श देने वाला संस्थान है, किंतु इसे अपने कार्य में संघ लोक सेवा आयोग के समान ही स्वतंत्रता एवं स्वायत्तता प्राप्त है। आयोग अपनी वार्षिक रिपोर्ट पेश करता है जिसमें वह उन मामलों का उल्लेख करता है जिनमें सरकार ने उसकी सलाह नहीं मानी हो। केन्द्रीय सतर्कता आयोग का जन्म न तो संविधान पर आधारित है और न कानून पर। इसका जन्म तो कार्यपालिका के एक प्रस्ताव (resolution) पर है जो इसकी कमजोरी का द्योतक है।

सरकार में भ्रष्टाचार विरोधी अभियान दो स्तरों पर संगठित होता है, जबकि केन्द्रीय सतर्कता आयोग भ्रष्टाचार के मामलों का पर्यवेक्षण एवं निरीक्षण करता है प्रत्येक लोक संगठन में ईमानदारी बनाये रखने की मुख्य जिम्मेदारी स्वयं उस एजेन्सी पर ही होती है और इसके लिए उसमें एक अधिकारी होता है जो मुख्य सतर्कता अधिकारी (Chief Vigilance Officer) कहलाता है। उसकी नियुक्ति केन्द्रीय सतर्कता आयोग की संस्तुति पर की जाती है।

केन्द्रीय सतर्कता आयोग का प्रमुख अधिकारी केन्द्रीय सतर्कता आयुक्त होता है जिसकी सहायता के लिए अन्य कार्यकारी होते हैं। इस आयोग का कार्य-क्षेत्र केवल राजपत्रित सरकारी अधिकारियों की गतिविधियों तक सीमित रहता है। जैसा कि कहा जा चुका है, केन्द्रीय सतर्कता आयोग के पास अपनी निजी जाँच एजेन्सी नहीं होती और उसे जाँच के लिए केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो पर निर्भर रहना पड़ता है। यह इसकी दूसरी कमजोरी है। यह भी देखा गया है कि सरकार केन्द्रीय सतर्कता आयुक्त को सेवानिव त्ति के पश्चात् अन्य सरकारी पदों पर नियुक्त कर देती है।

आजकल ज्वाइण्ट स्टॉक कम्पनियों के कुप्रबन्ध तथा आयात एवं निर्यात निगम सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण मामलों की भी छानबीन विशेष पुलिस संगठन द्वारा की जाती है। विशेष पुलिस संगठन की इस शाखा को, जो इन अपराधों से सम्बन्धित है, विस्त त और शक्तिशाली बनाना चाहिए जिससे विदेशी मुद्रा (Foreign Exchange) सम्बन्धी नियमों एवं तस्करी, कस्टम करों की चोरी, कम या अधिक मूल्य के बीजक बनाना आदि मामलों को निपटाने तथा निर्णीत करने में समय एवं श्रम की बचत हो।

10. **लोकपालः** जनता पार्टी की सरकार ने 1977 में सत्ता में आने के तुरंत बाद देश के सार्वजनिक जीवन से भ्रष्टाचार मिटाने के लिए लोकपाल (Lokpal) नामक संस्था की स्थापना का वचन दिया था। स्मरणीय है कि 1966 में प्रशासकीय सुधार आयोग ने प्रथम बार भारत में 'ओम्बुड्मैन' जैसी संस्था की स्थापना का सुझाव दिया था। तत्कालीन शासन इस प्रकार की संस्था की स्थापना के संबंध में काफी समय तक उदासीन रहा लेकिन 1971 में उसने लोकसभा में 'लोकपाल विधेयक' प्रस्तुत किया, किंतु लोकसभा के विघटन के साथ ही यह विधेयक स्वतः ही समाप्त हो गया। इस विधेयक में प्रधानमंत्री के विरूद्ध आरोपों की जाँच के संबंध में कोई व्यवस्था नहीं थी।

जनता सरकार ने जुलाई 1977 में लोकसभा में यह विधेयक प्रस्तुत किया। इस विधेयक की दो प्रमुख विशेषताएँ थी-प्रथम, प्रधानमंत्री भी लोकपाल के क्षेत्राधिकार के बाहर नहीं है अर्थात् प्रधानमंत्री के विरूद्ध भ्रष्टाचार के आरोप की जाँच करने का अधिकार लोकपाल को प्रदान किया गया था। यह व्यवस्था सर्वथा उचित है। आपातकाल के दौरान जो अनुचित कार्य हुए थे, उन्हें देखकर यह नितांत आवश्यक था कि स्वच्छ प्रशासन की द ष्टि से प्रधानमंत्री के मामले में भी लोकपाल को जाँच का अधिकार दिया जाय। द्वितीय, जाँच करने के लिए लोकपाल की अपनी स्वयं की प्रशासनिक व्यवस्था होगी। इसका यह अर्थ है कि लोकपाल को अपने कार्यो के लिए नियमित शासन-तंत्र पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं रहेगी। केन्दीय सतर्कता आयोग की यह एक गंभीर कमी है।

दुर्भाग्य का विषय है कि भारत में लोकपाल की स ष्टि दीर्घकाल से टलती जा रही है, यद्यपि इस दिशा में ठोस कदम उठाने का दिखावा अवश्य किया जाता रहेगा। देश के लोक प्रशासन में तेजी से फैलते हुए भ्रष्टाचार के प्रति सरकार की बढ़ती हुई उदासीनता के कारण ओम्बुड्मैन (Ombudsman) के प्रकार की किसी संस्था की स्थापना के लिए 1966 से ही हवा बह निकली थी। प्रशासनिक सुधार आयोग ने, जो 1966 में मोराजी देसाई की और बाद में के. हनुमन्थैया की अध्यक्षता में गठित किया गया था, शिकायतों के समाधान की आवश्यकता को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान की थी। इस आयोग ने अपने प्रथम प्रतिवेदन में ही लोकपाल एवं लोकायुक्त के द्विस्तरीय तंत्र की स्थापना की संस्तुति की थी : केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के मंत्रियों एवं सचिवों के विरूद्ध शिकायतों पर कार्रवाई करने के लिए लोकपाल और अन्य अधिकारियों के विरूद्ध शिकायतों पर कार्रवाई करने के लिए एक लोकायुक्त प्रत्येक राज्य में।

लोकपाल की नियुक्ति भारत के राष्ट्रपति के द्वारा, प्रधानमंत्री के परामर्श पर की जानी थी और प्रधान मंत्री वह परामर्श भारत के मुख्य न्यायाधीश तथा विपक्ष के नेता के साथ विचार-विमर्श करके देता। लोकपाल का पद भारत के मुख्य न्यायाधीश के समान होता। अवकाश ग्रहण करने के बाद लोकपाल सरकार के अधीन कोई पद ग्रहण नहीं कर सकता था, ताकि उसकी स्वाधीनता एवं निष्पक्षता अक्षुण्ण बनी रहे। लोकपाल अपने कार्य में पहल कर सकता था। पीड़ित व्यक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य के द्वारा भी शिकायत मिलने पर लोकपाल स्वयं ही प्रशासनिक कार्यो की जाँच कर सकता था। उल्लेखनीय है कि उस समय तक जनहित याचिका के सिद्धान्त को न्यायपालिका की स्वीक ति प्राप्त नहीं हुई थी।

लोकपाल विधेयक

सरकार ने कुछ ढुलमुलपन के बाद इन सिफारिशों को मान लिया और लोक सभा में लोकपाल विधेयक भी पेश कर दिया। संसद भंग कर दिये जाने के साथ ही यह विधेयक समाप्त हो गया। प्रधानमंत्री का पद इस विधेयक के क्षेत्र से बाहर रखा गया था। विडम्बना यह है कि किसी भी सरकार ने लोकपाल सम्बन्धी प्रस्ताव का सार्वजनिक रूप से विरोध नहीं किया है, और फिर भी इसे आवश्यक कानून बनाने के लिए सक्रियता नहीं दिखायी है।

प्रथम जनता सरकार (1977-79) ने जुलाई 1977 में लोकसभा में प्रस्तुत अपने लोकपाल बिल में भारत के प्रधानमंत्री को भी लोकपाल की जाँच की परिधि में लाने का प्रस्ताव किया था। आन्तरिक आपात काल (1975-77) के दौरान जो गलत काम किये गये थे उनके कारण यह नितान्त आवश्यक था कि स्वच्छ सार्वजनिक जीवन के हेतु प्रधानमंत्री को लोकपाल की जाँच से बाहर नहीं रखा जाय। विधेयक की दूसरी विशिष्टता यह थी कि इसमें लोकपाल के लिए अपना निजी स्वतंत्र प्रशासनिक तन्त्र का प्रावधान था कि जिसके द्वारा वह स्वयं अन्वेषण कार्य कर सकता था। इसका तात्पर्य यह हुआ कि लोकपाल को अपना कार्य सम्पन्न करने में सरकारी तन्त्र पर निर्भर रहने से मुक्ति मिल जानी थी। किन्तु जनता सरकार के गिरते ही यह विधेयक भी समाप्त हो गया।

लोकपाल के लिए की गयी प्रथम संतुष्टि को तीन दशक से अधिक समय व्यतीत हो चुका है और फिर भी, काफी ढोल पीटने के बावजूद लोकपाल का प्रादुर्भाव नहीं हो पाया है। लोकपाल विधेयक का काफी उतार-चढ़ाव वाला लम्बा इतिहास है। प्रशासनिक सुधार आयोग की संतुष्टि पर यह सर्वप्रथम 1968 में प्रस्तुत किया गया था। उसके बाद 1971, 1977, 1985, 1989 और 1995 में इसे पुनर्जीवित किया गया। लोकपाल की नियुक्ति के लिए आवश्यक कानून बनाने का वर्तमान प्रयास सातवाँ है।

देश के लोक प्रशासन में भ्रष्टाचार के स्तर और व्यापक क्षेत्र को द ष्टिगत रखते हुए, लोकपाल की नियुक्ति यथासंभव शीघ्रताशिघ्र की जानी चाहिए। यह अधिकारी प्रमाणित रूप से स्वतंत्र तथा निष्पक्ष होना चाहिए। उसकी नियुक्ति प्रधानमंत्री की संतुष्टि पर की जानी चाहिए और प्रधानमंत्री को अपनी संतुष्टि भारत के मुख्य न्यायाधीश एवं विपक्ष के नेता से विचार-विमर्श करके देना चाहिए। लोकपाल को भ्रष्टाचार, अन्याय अथवा पक्षपात के कार्यो के तमाम मामलों में कार्रवाई करनी चाहिए। वह अपने कार्यो में कार्यपालिका से स्वतंत्र होना चाहिए और उसके अधीनस्थ अन्वेषण तन्त्र भी निर्भीक एवं निष्पक्ष रहकर कार्य करने के लिए स्वतंत्र होना आवश्यक है। इसी प्रकार राज्य स्तर पर लोकायुक्तों को सजीव होना चाहिए। अभी तक ग्यारह राज्यों ने लोकायुक्तों की नियुक्ति की है, परन्तु उनके अधिकार तथा प्रभाव भिन्न-भिन्न हैं। इस विषय पर कर्नाटक का कानून आदर्श प्रतीत होता है।

सुधार के प्रस्तावों की स्वीक ति तब और अधिक सरल हो जाती है जब सत्तासीन दल उन्हें अपनी पार्टी के उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक समझता है। राजनीतिज्ञ के लिए अब तक कोई आचार संहिता नहीं बनायी गयी है। भारत में अभी तक भ्रष्ट राजनीतिज्ञ पर अभियोग लगाने के लिए नियमित तन्त्र नहीं है। इसका प्रावधान शीघ्रताशीघ्र होना चाहिए। किन्तु यह स्पष्ट कर दिया जाना आवश्यक है कि स्वभावतः उच्च स्तरीय ईमानदारी, निपुणता और लगन वाली सरकार ने लोकपाल को उपयोगी भूमिका का निर्वाह करना है। प्रशासनिक गलतियों का क्षेत्र जितना छोटा होगा उतनी ही अधिक उपयोगिता लोकपाल की होगी। जहाँ भ्रष्टाचार का विस्तार विस्तीर्ण हो और निपुणता अल्प हो, वहाँ तो सम्पूर्ण प्रशासन में सुधार आवश्यक है और लोकपाल इसके लिए पर्याप्त सक्षम नहीं है। लोकपाल प्रशासनिक सुधारों का विकल्प नहीं है।

11. **राज्यों में सतर्कता तन्त्रः** राज्य स्तर पर सतर्कता व्यवस्था का उल्लेख करना आवश्यक है। प्रत्येक राज्य में एक राज्य सतर्कता आयोग है जो 1964 से कार्यरत है। इस संबंध में उनकी कार्य-पद्धति और उनके संगठन एवं कार्यो सम्बन्धी समानता से यह स्पष्ट है कि उन्होंने केन्द्रीय शासन से मूलतः प्रेरणा एवं नेत त्व प्राप्त किया है। केन्द्र की भाँति ही प्रत्येक राज्य में विशेष पुलिस संगठन है। वास्तव में, देश में सच्चरित्रता सम्बन्धी संस्था द्वारा खोज की व्यवस्था का प्रेरणास्त्रोत केंद्र है और केन्द्रीय शासन ही इस विचार का समर्थन एवं नेत त्व कर रहा है।

    राज्य सतर्कता आयोगों का क्षेत्राधिकार राज्यों की कार्यपालिका शक्तियों सम्बन्धी मामलों से सम्बन्धित है। लेकिन इसके द्वारा राजनीतिक भ्रष्टाचार की जाँच नहीं की जा सकती, केन्द्रीय सतर्कता आयोग को भी यह शक्ति प्राप्त नहीं है।

जहाँ तक विभिन्न राज्यों के सतर्कता आयोगों की शक्तियों का सम्बन्ध है, उनमें थोड़ा-सा ही अन्तर है। सामान्यतः आयोग को निम्न अधिकार प्राप्त हैं:

i. ऐसे सभी मामलों की छानबीन करना जिसमें किसी लोक सेवक द्वारा अनुचित उद्देश्यों या भ्रष्ट तरीकों से कार्य करने सम्बन्धी सन्देह या आरोप हैं।

ii. निम्नलिखित मामलों में छानबीन की जा सकती है:

a. ऐसी शिकायत पर जहाँ किसी लोक सेवक द्वारा अनुचित भ्रष्ट उद्देश्यों के लिए अपनी सत्ता का प्रयोग किया गया हो, या आवश्यकतानुसार प्रयोग न किया गया हो;

b. किसी लोक सेवक (जिनमें अखिल भारतीय सेवाओं के अधिकारी भी शामिल हैं जो राज्य सरकारों के अधीन सेवारत हैं) के विरूद्ध भ्रष्टाचार, दुराचरण, सच्चरित्रता-अभाव सम्बन्धी या अन्य प्रकार के दोषारोपण या अन्य कोई गंभीर अपराध सम्बन्धी शिकायत;

c. ऐसी सभी शिकायतों, सूचनाओं, मामलों को जिन्हें वह उचित समझे, आगामी कार्रवाई के लिए सीधे अपने नियंत्रण में ले सकता है जिनका संबंध या तो-

(अ) राज्य विशेष के पुलिस संगठन के मामलों को पंजीक त करके उसकी जाँच करने से हो; या

(ब) किसी शिकायत, मामले की सूचना छानबीन हेतु राज्य विशेष के पुलिस संगठन या सम्बन्धित विभाग को देने से सम्बन्धित हो।

iii. प्रशासन में सच्चरित्रता बनाये रखने के लिए प्रशासनिक पद्धतियों एवं कार्यप्रणाली का पुनरीक्षण।

iv. सांख्यिकी एवं अन्य सूचनाएँ एकत्र करना जिससे सम्पूर्ण प्रशासन पर सामान्य नियन्त्रण एवं निरीक्षण रखा जा सके।

आयोग की अध्यक्षता राज्य सतर्कता आयुक्त करता है। वह उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के स्तर का होता है। उसका कार्यकाल 5 वर्ष है। इसके पश्चात् वह राज्य व केन्द्र के अधीन किसी पद को धारण करने का अधिकारी नहीं रहता। आयुक्त के अतिरिक्त विभागीय आयुक्त भी होते हैं जिनका कार्य विभागीय भ्रष्टाचार एवं समान प्रकार के अपराधों की छानबीन करना है।

आयोग राज्य शासन को अपने कार्य सम्बन्धी वार्षिक प्रतिवेदन देता है जो राज्य विधानमण्डल में विचारार्थ प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रतिवेदन द्वारा आयोग विशेष रूप से राज्य शासन का ध्यान उसके द्वारा दी गयी किसी सिफारिश को न मानने या क्रियान्वित न करने की ओर आक ष्ट करता है।

सच्चरित्रता सम्बन्धी खोज के संदर्भ में जिला-स्तर तक शासन द्वारा जो प्रयत्न किये जा रहे हैं, उनके सम्बन्ध में दो शब्द कहना आवश्यक है। सम्भागीय स्तर पर एक सम्भागीय सतर्कता आयुक्त की नियुक्ति की गयी है जो सम्भाग आयुक्त, पुलिस उपमहानिरीक्षक एवं सम्भागीय निरीक्षक अधिकारी के स्तर का होता है। जिला स्तर पर प्रत्येक जिले में एक जिला सतर्कता अधिकारी होता है जिसे जिलाधीश या डिप्टी कमिश्नर द्वारा नियुक्त किया जाता है। यह अधिकारी सम्भागीय सतर्कता आयोग के परामर्श से जिलाधीश के राजपत्रित अधीनस्थों में से नियुक्त किया जाता है।

इस प्रकार देश में सतर्कता का एक जाल-सा बिछा हुआ है। सच्चरित्रता की समस्या पर विचार हेतु प्रति वर्ष मुख्य सतर्कता आयुक्त की अध्यक्षता में सभी राज्यों के सतर्कता आयुक्तों का एक वार्षिक सम्मेलन होता है। यह वार्षिक सम्मेलन अत्यन्त लाभदायक है, क्योंकि यह पारस्परिक समस्याओं एवं अनुभवों के आदान-प्रदान के लिए अवसर प्रदान करता है। इससे केन्द्रीय एवं राज्य स्तरों पर शासन के भ्रष्टाचार निवारक कार्यो के प्रचार एवं प्रसार का अवसर प्राप्त होता है। इसके फलस्वरूप शासन के उद्देश्यों की ईमानदारी के प्रति जनता में विश्वास का संचार होता है।

खेद है, सतर्कता संगठन खोखले से है। भ्रष्टाचार बढ़ता ही जा रहा है। यह इतना व्यापक हो गया है कि यह कहना अधिक गलत नहीं होगा कि आज भ्रष्टाचारियों का ही जमाना है; यही फल-फूल रहे हैं। बोफोर्स, प्रतिभूति, चीनी जैसे

महाघोटालों का अन्तहीन क्रम देश के लिए लज्जा के विषय हैं। लोक प्रशासन में भ्रष्टाचार तब तक समाप्त नहीं होगा जब तक राजनीतिज्ञ, मंत्री व नेता राष्ट्रपिता तथा लोकनायक के विचारों की अवहेलना करते रहेंगे।

कुछ बड़े घोटालों की सूची नीचे दी गयी है-

प्रमुख उच्च स्तरीय घोटाले

	वर्ष	विवरण
1.	1949	216 करोड़ रूपयों का जीप घोटाला, जिसमें क ष्ण मेनन शामिल थे, जो उस समय ब्रिटेन में भारत के राजदूत थे।
2.	1956	सिराजुद्दीन वाला मामला जिसमें नेहरू सरकार में खदान तथा ईधन मंत्री केशदेव मालवीय मुख्य रूप से आरोपित थे।
3.	1958	फीरोज गांधी ने **भारतीय जीवन बीमा निगम** के घोटाले का पर्दाफाश किया। इसमें निगम को फर्जी शेयर बेचने का मामला था। नेहरू सरकार के मंत्री टी.टी. क ष्णमाचारी को त्यागपत्र देना पड़ा था।
4.	1964	पंजाब के मुख्यमंत्री प्रतापसिंह कैरों के विरूद्ध एस.आर. दास जाँच आयोग नियुक्त किया गया। कैरों को अपने पद पर रहते हुए अपने परिवार के लिए विशाल सम्पत्ति अर्जित करने के आरोप पर, पदत्याग करना पड़ा।
5.	1971	रूस्तम सोहराब **नागरवाला काण्ड**। भारतीय स्टेट बैंक से 60 लाख रूपयों की धोखाधड़ी की। भारतीय स्टेट बैंक के प्रधान रोकड़िये को प्रधान मन्त्री कार्यालय से टेलीफोन पर आदेश दिया गया कि बैंक से 60 लाख रूपये निकाल कर दे दे। नागरवाला उस रकम से भरा बक्स लेकर फरार हो गया। बाद में उसे 4 वर्ष की कठोर कैद की सजा दी गयी।
6.	1981	एच.डी. डब्लयू. **पनडुब्बी सौदा**। कुछ बिचौलियों को 100 करोड़ रूपये की रिश्वत दी गयी।
7.	1982	अब्दुल रहमान अन्तुले पर आरोप लगा कि उन्होंने सीमेण्ट तथा औद्योगिक एल्कोहल के लायसेंस देने के लिए रकमें वसूल कीं और इस प्रकार अपने द्वारा स्थापित ट्रस्ट के लिए करोड़ों रूपये ऐंठ लिए। न्यायालय का उनके विरूद्ध निर्णय होने पर उन्होंने पद त्याग दिया।
8.	1983	चुरहट **लॉटरी घोटाला**। इसमें कांग्रेसी मंत्री अर्जुन सिंह कथित रूप से आरोपित थे।
9.	1987	**फेयर फैक्स काण्ड,** जिसमें पूर्व वित्त मंत्री विश्वनाथ प्रताप सिंह द्वारा विदेशी मुद्रा विनिमय नियमन अधिनियम का उल्लंघन किये जाने की जाँच के आदेश दिये गये। उन्हें झूठा फँसाया गया था।
10.	1988	**बोफोर्स तोप** सौदा। इस तोप का 16,000 करोड़ रूपये का ठेका पाने के लिए राजीव गाँधी की सरकार को रिश्वत दिए जाने का आरोप था।
11.	1991	पुराने वेस्टलैण्ड **हेलिकोप्टरों** की खरीद।
12.	1992	5,000 करोड़ रू. के **प्रतिभूति** घोटाले का भण्डा फूटा। इसका सरगना हर्षद मेहता आरोपित हुआ। अनेक उच्च पदस्थ राजनीतिज्ञ और लोक सेवक इस सौदे में शामिल थे।
13.	1993	**कम्प्यूटर** सौदे में आरोपित कर्नाटक के मुख्य मंत्री एस.बी. बंगारप्पा को त्यागपत्र देने पर विवश किया गया।
14.	1994	**शक्कर घोटाले**-कल्पनाथ राय को ज्ञान प्रकाश समिति की रिपोर्ट के आधार पर इस्तीफा देने को मजबूर किया गया। समिति का आरोप था कि शक्कर की कीमतों में बेतहाशा बढ़ोत्तरी का मुख्य कारण समय पर आयात नहीं किया जाना था।
15.	1994	**दूरसंचार घोटाला**-सुखराम पर विपक्ष के सांसदों ने आरोप लगाया कि दूरसंचार के लिए आमन्त्रित निविदाओं में पक्षपात किया गया। सी.बी.आई. ने 1996 में छापे मारे। भारी सम्पत्ति मिली।

16. 1995 बिहार का 950 करोड़ का **चारा घोटाला**-महालेखाकार की रिपोर्ट के अनुसार बजट अनुदान की धनराशि और पशुपालन विभाग में विद्यमान राशि में भारी अन्तर पाया गया। शीर्षस्थ अधिकारी निलम्बित किये गये। मुख्य मंत्री लालू प्रसाद समेत 56 अभियुक्तों के विरूद्ध मुकदमे दायर किये गये।

17. 1995 **हवाला काण्ड**-अनेक राजनीतिज्ञों तथा नौकरशाहों पर हवाला एजेण्ट एस.के.जैन और जे.के.जैन के माध्यम से धन प्राप्त करने का अभियोग।

18. 1995 **आवास घोटाला**-तत्कालीन मंत्री शीला कौल और पी.के. थुंगन द्वारा आवासों का अनियमित आबंटन। शीला कौल ने उच्चतम न्यायालय के आदेश पर त्यागपत्र नहीं दिया, राष्ट्रपति के आदेश पर दिया। (17.4 करोड़ रू.)

19. 1995 **झारखण्ड मुक्ति मोर्चा रिश्वत काण्ड**-झारखण्ड मुक्ति मोर्चा के चार सांसदों-सूरज मण्डल, शैलेन्द्र महतो, शुबु सोरेन और साइमन मराण्डी-ने, जैसा कि आरोप है, नरसिंह राव सरकार के विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव के विरोध में मतदाने करने के लिए भारी धनराशियाँ प्राप्त की थी। (3 करोड़ रूपये)

20. 1996 **यूरिया घोटाला**-यूरिया के आयात के लिए अपरिचित तुर्की फर्म कोरसन लिमिटेड को 133 करोड़ रूपये अग्रिम दे दिये गये, जबकि यूरिया आया ही नहीं। इस फर्जी सौदे से प्रकट है कि वरिष्ठ राजनीतिज्ञ और अधिकारी किस प्रकार जन सम्पत्ति का अपव्यय करते हैं।

21. 1996 **मुम्बई पोर्ट ट्रस्ट घोटाला**-पोर्ट ट्रस्ट के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष ने, जैसा कि आरोप है, सरकार के आदेशों एवं निदेशों का उल्लंघन करके ट्रस्ट की वकील किरण चौधरी को प्रमुख व्यावसायिक भूमि का आबंटन कौड़ियों के दाम पर कर दिया, जिससे ट्रस्ट को भारी हानि हुई।

22. 2001 (मार्च) **तहलका घोटाला**-जिसमें नेताओं और सरकारी अधिकारियों को रिश्वत लेते हुए फिल्माया गया।

23. 2003 **कारगिल ताबूत घोटाला।**

अध्याय-31
प्रशासनिक सुधार
(Administrative Reforms)

प्रशासनिक सुधार

आज का राज्य प्रशासनिक राज्य है। आज प्रशासन मानव जीवन के हरेक पहलू से संबंध रखता है। नागरिक प्रशासन को एक ऐसे नैतिक एजेंट के रूप में देखता है जो उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए है एवं उसकी आकांक्षाओं और लक्ष्यों तक पहुँचने में उसकी सहायता करता है। किंतु लोगों की आवश्यकताएं तो निरंतर बदलती रहती है और प्रशासन अचल बना हुआ नहीं रह सकता है। इसे आवश्यक रूप से परिवेश के अनुसार बदलना ही है। प्रशासन में या तो स्वतः परिवर्तन हो सकता है या फिर क त्रिम रूप से परिवर्तन लाया जा सकता है। क त्रिम रूप से लाए गए परिवर्तनों को प्रायः प्रशासनिक सुधार कहते हैं।

परिभाषाएँ (Definitions)

हैराल्ड ई. कैडेन-प्रशासनिक सुधार प्रतिरोध के विरूद्ध प्रशासनिक परिवर्तन का क त्रिम अभिप्रेरण है।

आर्नी एफ. लीमन्स-प्रशासनिक सुधार यथार्थता और वांछनीयता के बीच के अंतर को पाटने के प्रयास में सरकारी तंत्र में किया गया अभिप्रेरित परिवर्तन है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम प्रशासनिक सुधार के निम्नलिखित अंतर-संबद्ध गुणों की पहचान कर सकते हैं।

1. **नैतिक प्रयोजनः** प्रशासनिक सुधार का इस अर्थ में एक नैतिक प्रयोजन है कि इसका लक्ष्य अधिक पूर्णता और परिशुद्धता प्राप्त करने के लिए प्रशासनिक संस्थाओं की हैसियत में व द्धि करता है।
2. **सातव्यः** हम प्रशासन में दो मूल प्रकार के परिवर्तनों की पहचान कर सकते हैं। नियत परिवर्तन एवं प्रासंगिक परिवर्तन। नियत परिवर्तन का अभिप्राय संव द्धि परिवर्तन है। संगठन में प्रासंगिक परिवर्तन सतत होते हैं। उनके क्षेत्र बहुत व्यापक एवं विविध होते हैं और उनके लिए शासन में काफी उलट-फेर की जाती है। प्रशासनिक सुधार का यही प्रासंगिक चरित्र होता है क्योंकि यह एक सतत क्रिया है।
3. **प्रशासनिक सुधार क त्रिम होता हैः** प्रशासनिक सुधार स्वतः परिवर्तित नहीं होता है। यह एक ऐसा परिवर्तन है जो प्रशासन की प्रभावनीयता बढ़ाने के लिए किसी बाह्य स्त्रोत से जान-बूझकर अभिप्रेरित कराया गया हो। जैसा कि कैडेन कहते हैं, यह परिवर्ती दशाओं के प्रति स्व-समंजनकारी संगठनात्मक अनुक्रिया नहीं है, बल्कि क त्रिम रूप से अभिप्रेरित परिवर्तन है जो स्वाभाविक प्रशासनिक प्रक्रिया के दोषपूर्ण कार्य-संचालन को ठीक करने के लिए आवश्यक है।
4. **परिवर्तन का प्रतिरोधः** परिवर्तन का प्रतिरोध एक सार्वत्रिक तथ्य है भले ही मानव शरीर हो अथवा लोक प्रशासन व्यवस्था। जब कभी कोई भी सुधार किया जाता है तब इसके विरूद्ध प्रतिरोध होता ही है। प्रशासनिक सुधार तो लगभग हमेशा ही प्रतिरोध का सामना करता है।

प्रशासनिक सुधार आवश्यक क्यों? (Why Administrative Reforms)

कैडेन के अनुसार निम्नलिखित कारणों से प्रशासनिक सुधार आवश्यक है।

1. मनुष्य चाहे जितनी भी उन्नति कर ले, कोई भी मानव संस्था पूर्ण नहीं होती है। वस्तुतः मानव संस्थाओं में बहुत सारे दोष होते हैं। ऐसे कई इतने भारी दोष होते हैं कि उन्हें दूर करना अनिवार्य होता है। प्रशासनिक सुधार वस्तुतः इस सिद्धांत

पर आधारित होता है कि सभी प्रशासनिक तंत्रों में चाहे उनका प्रदर्शन जितना भी अच्छा रहे, सुधार की गुंजाइश बनी रहती है।

2. प्रशासनिक सुधार के पीछे दूसरा सिद्धांत यह है कि बड़े संगठन, विशेषकर बड़े सरकारी संगठन आत्मसंतुष्ट नहीं तो रूढ़िवादी (परिमिति) तो हो ही जाते हैं। सतत परिवर्तनशील परिवेश अभिनव प्रवर्तन का प्रयास करने के बजाय घिसी-पिटी लीक पर चलने की ही व्यवस्था को विवश करते हैं। यदि संगठन सफल रहा हो तो वह सिद्ध सूत्र से चिपके रहना चाहता है। सभी संगठन ऐसे प्रशासनिक तंत्रों को पसंद करते हैं जो पर्याप्त अच्छी तरह चल रहे हों न कि ऐसे जोखिम भरे अभिनव परिवर्तनों को पसंद करते हैं जिनकी विश्वसनीयता स्थापित नहीं हो पाई है।

   इसी रूढ़िवादी प्रव त्ति के कारण संगठन परिवेश में हुए परिवर्तनों की ओर से आँखें फेर लेते हैं। संगठन स्पष्ट चेतावनी संकेतों की तब तक उपेक्षा करते हैं जब तक कि समस्या निदान के परे न चली जाए। इसी रूढ़िवादी प्रव त्ति के कारण प्रशासनिक सुधार आवश्यक हो जाता है।

3. जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, अधिकांश सरकारी संगठनों में रूढिस्वादी प्रव त्ति होती है और वे अभिनव परिवर्तनों के प्रति उदासीन बने रहते हैं। यदि कोई कार्य करने का बेहतर तरीका भी खोज लिया गया हो तो भी इसे आजमाने के प्रति अनिच्छा या अरूचि रहती है। संगठन किसी अभिनव परिवर्तन को तभी अपनाते हैं जब किसी राज्य संगठन द्वारा उसे परख और आजमा लिया गया हो। जब तक संदेह की यह छाया हट न जाए तब तक संगठन पुरानी और घिसी-पिटी पद्धतियों और प्रथाओं को ही जारी रखते हैं, भले इससे उन्हें नुकसान हो रहा हो। अभिनव परिवर्तन के प्रति इस प्रतिरोध के कारण ही प्रशासनिक सुधार आवश्यक हो जाता है।

उपयुक्त तीनों सिद्धांत शायद ही कभी गलत होते हों और लोक प्रशासन के अध्ययन एवं व्यवहार में प्रशासनिक सुधारों का स्थान बन गया है। इस आवश्यकता को महसूस किए जाने के कारण प्रशासनिक सुधारों का निरंतर संस्थानीकरण हो रहा है। प्रत्येक लोक प्रशासन को अपना सुधारक स्वयं होने के लिए प्रशिक्षित और प्रोत्साहित किया जा रहा है। प्रत्येक सरकारी संगठन में अद्युनातन प्रौद्योगिकी का ज्ञान रखने, अभिनव परिवर्तन को बढ़ावा देने एवं व्यावसायिक रूप से अनुमोदित सिफारिशों को अपनाने की अपेक्षा की जाती है। संक्षेप में, प्रशासनिक सुधारों की सुकल्पना का आगमन हो चुका है।

सुधारों के प्रकार (Types of Reforms)

अपने विस्तार और गहराई के विचार से प्रशासनिक सुधार भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं। सुधारों को वर्गीक त करने का एक तरीका उसकी विषय वस्तु पर ध्यान देना है। सामान्यतः निम्नलिखित प्रकार के प्रशासनिक सुधारों की पहचान की जा सकती है।

1. **संरचनात्मक सुधार**
2. **प्रक्रियात्मक सुधार**
3. **व्यवहारपरक सुधार**

1. **संरचनात्मक सुधारः** प्रत्येक प्रशासनिक संगठन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अवयव संरचना है, अर्थात् एक ऐसी युक्ति जो संगठन में कार्य-विभाजन, प्रत्यायोजन एवं विकेंद्रीकरण की व्यवस्था करती है। संरचनात्मक सुधारों का आशय ऐसे सुधार प्रस्तावों से है जो संरचना की प्रभावनीयता और कुशलता बढ़ाने के उद्देश्य से इसमें परिवर्तन लाना चाहते हैं।
2. **प्रक्रियात्मक सुधारः** किसी भी संगठन में समय बीतने के साथ प्रक्रियाएं सांस्थानीक त हो जाती है जैसे वित्तीय नियम, कार्मिक नीतियाँ, नत्थीकरण पद्धतियाँ आदि। संगठन पुरानी प्रक्रियाओं से चिपके रहना चाहते हैं। प्रक्रियात्मक सुधार लालफीताशाही को दूर करने के प्रयास में प्रक्रियाओं में परिवर्तन लाना चाहते हैं। उदाहरणः भारत में स्टाफ निरीक्षण इकाई सुधार लाने पर ध्यान केंद्रित करती है।
3. **व्यवहारपरक सुधारः** सभी बड़े संगठन एक अधिकारी तांत्रिक संरचना विकसित करना चाहते हैं। किसी भी अधिकारी तंत्र में इसका अवैयक्तिक चरित्र और व्यक्तियों को पर्याप्त महत्त्व का अभाव रहता ही है। व्यक्तियों के अमानवीयकरण के कारण अधिकारीतंत्र के सदस्यों में अभिप्रेरणा का अभाव उत्पन्न होता है जो लोगों को उनके द्वारा दी जा रही सेवाओं की गुणवत्ता पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालता है। व्यवहारपरक सुधार व्यक्ति की महत्ता और गरिमा को पुनः स्थापित करना चाहते

हैं ताकि एकता का वातावरण बने एवं समूहगत सद्भाव पनपे। इस प्रकार ये सुधार कर्मचारियों के अभिप्रेरणा स्तरों पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालते हैं।

ऊपर वर्णित भिन्न-भिन्न प्रकार के सुधारों पर अलग-अलग या संयुक्त रूप से विचार किया जा सकता है। यह कहना आवश्यक नहीं है कि यदि किसी को सुधारों से पूरा-पूरा लाभ उठाना हो तो सभी सुधारों पर एक साथ ही विचार किया जाना चाहिए।

प्रशासनिक सुधार की प्रक्रिया (Process of Administrative Reforms)

प्रशासनिक सुधार कोई छोटी-छोटी गतिविधि नहीं है। यह एक सतत प्रक्रिया है जो समाज में भिन्न-भिन्न प्रकार के परिवर्तनों के निरपेक्ष प्रदर्शन का न्यूनतम स्तर बनाए रखना और सुनिश्चित करना चाहती है। प्रशासनिक सुधार एक ऐसी प्रक्रिया है जिसे विभिन्न चरणों में विभक्त किया जा सकता है। गेराल्ड कैडेन ने प्रशासनिक सुधारों हेतु निम्न प्रक्रिया माडल बताया है। उनके अनुसार प्रशासनिक सुधारों के निम्न चार चरण होते हैं।

1. प्रशासनिक परिवर्तनों की आवश्यकता का बोध
2. लक्ष्यों और उद्देश्यों, योजनाओं और युक्तियों का निर्माण
3. सुधारों का क्रियान्वयन
4. सुधारक के उद्देश्यों के आधार पर सुधारों का मूल्यांकन

1. **प्रशासनिक परिवर्तन की आवश्यकता का बोधः** प्रशासनिक सुधार प्रक्रिया का पहला चरण प्रशासनिक परिवर्तन की आवश्यकता की उचित पहचान करना एवं उसे महत्त्व देना। इस आवश्यकता का बोध प्रायः तब होता है जब सेवार्थियों की माँगें बढ़ती हैं एवं उन्हें पूरी करने में प्रशासन असमर्थ हो जाता है।

   कैडेन के अनुसार प्रशासनिक सुधार आवश्यक हो जाते हैं जब प्रशासन-

   i. सेवार्थियों की माँगों को पूरा करने में असमर्थ हो जाए।
   ii. अपने समक्ष आने वाली भावी माँगों का अनुमान करने में असमर्थ हो जाए।
   iii. चालू और भावी गतिविधियों को जारी रखने के प्रभावी तरीकों से रहित हो।

   परिवर्तन की आवश्यकता का अनुमान करने में अनेक बाधाएं आती हैं। उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार हैः

   i. **कुप्रशासन के प्रति सहिष्णुताः** बहुधा अधिकांशतः समाज कुप्रशासन को काफी अंश तक बर्दाश्त करते हैं। शीर्ष प्रबंध प्रायः यथास्थिति बनाए रखने के पक्ष में होता है। अतः सुधार संबंधी अधिकांश विचारों को नापसंद किया जाता है और उन्हें आरंभ में ही कुचल दिया जाता है।
   ii. **संसाधनों का अभावः** संसाधनों के अभाव के कारण संगठन सुधारों हेतु अतिरिक्त धन व्यय करने के लिए तैयार नहीं भी हो सकते हैं।
   iii. **परिवर्तन का प्रतिरोधः** सुधार को वस्तुतः वर्तमान स्थिति से विचलन के रूप में देखा जाता है। औपचारिक संगठन व्यक्तियों को अनुगामी बनाना चाहते हैं सुधार प्रस्ताव और गैर-पारंपारिक चाहते हैं। और सुधारवादिों को काफी आलोचना, सामाजिक बहिष्कार और संगठनात्मक अभित्रास का सामना करना होता है। कैडेन ने ठीक ही कहा है 'सुधार अल्प-संख्यकों का कार्य होता है।'

   उपर्युक्त कारणों से सुधार प्रस्ताव प्रायः अनिश्चितता, विघटन एवं अव्यवस्था की स्थितियों में ही स्वीकार किए जाते हैं। उदाहरण के लिए, आर्थिक संकट, तीव्र शहरीकरण, दरिद्रता, बढ़ती अपराध-दर आदि ही असामान्य स्थितियों से निपटने के लिए प्रशासन में परिवर्तन ला सकते हैं।

2. **लक्ष्यों और उद्देश्यों का निर्माणः** प्रशासनिक परिवर्तन की आवश्यकता का बोध हो जाने पर समस्या का विश्लेषण आरंभ होता है। इसके कारणों की गहराई में जाना पड़ता है और निदानात्मक कार्य हेतु ठोस सुझाव दिए जाते हैं। सुधारों के लक्ष्य और उद्देश्य स्पष्ट रूप से बताए जाते हैं और सुधारों को क्रियान्वित करने की योजना और युक्ति बनाई जाती है।

   इस चरण की सफल समाप्ति हेतु कैडेन ने निम्नलिखित सुझाव दिए-

i. व्यवहार्य प्रस्तावों का निर्माण।

ii. प्रस्तावों की व्यवहार्यता के बारे में लोगों को बताना।

iii. विरोध का अनुमान करना और उसका मुकाबला करने के लिए आधार तैयार करना।

iv. मूल प्रस्तावों के विफल हो जाने की स्थिति में वैकल्पिक प्रस्ताव बनाए रखना।

कैडेन के अनुसार सुधारों की स्वीक ति की संभावना अधिक रहेगी। यदि निम्नलिखित शर्तें पूरी हों:

i. यदि सुधार स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार हो, उनमें स्थानीय लोग भाग लें एवं वर्तमान संस्थाओं के जरिए उनका क्रियान्वयन हो।

ii. यदि वर्तमान संस्थानों की खुलकर भर्त्सना न की जाए यानी सुधार पूर्व स्थिति के दोषों के बजाए सुधार के गुणों का बखान करने पर ध्यान दिया जाए।

3. **क्रियान्वयन:** कैडेन क्रियान्वयन के चार तरीकों का उल्लेख करते हैं।

i. राजनीतिक क्रांति के जरिए आरोपित सुधार?

ii. संगठन की अनन्यता को दूर करने के लिए लाए गए सुधार

iii. कानूनी व्यवस्था के जरिए सुधार

iv. अभिव त्ति में परिवर्तन के जरिए सुधार।

i. **राजनीतिक क्रांति के जरिए आरोपित सुधार:** राजनीतिक बल प्रशासन को बल स्वरूप प्रदान करते हैं एवं उस पर प्रभाव डालते हैं। जब प्रशासन में एक राजनीतिक दल के स्थान पर दूसरा राजनीतिक दल आता है तो लोक प्रशासन की संरचना और प्रक्रियाओं को प्रभावित करनेवाले परिवर्तन होंगे ही। जब किसी क्रांति के कारण राजनीतिक परिवर्तन होते हैं तो उनके बाद व्यापक प्रशासनिक सुधार होने की संभावना रहती है।

ii. **संगठनात्मक अनन्यता को दूर करने के लिए लाए गए सुधार:** सामान्य स्थिति में अधिकारी तंत्र को मामूली प्रशासनिक परिवर्तनों की आवश्यकता का बोध होता है। कार्य के दौरान ही तरह-तरह की बाधाओं का पता चला जाता है। संरचना और विनियमों का पता चल जाता है। संरचना और विनियमों में अत्यधिक अनम्यता को हटाने का प्रयास किया जाता है। ये परिवर्तन प्रायः अधिकारी तंत्र द्वारा लाए जाते हैं और वे प्रायः कार्मिक फेर-बदल, शोध-संवर्धन, संरचनाओं में बदलाव एवं चिंतन प्रोत्साहन एवं अभिनव परिवर्तन और पहल तथा बेहतर जब संपर्क के रूप में रहते हैं।

iii. **कानूनी व्यवस्था के जरिए सुधार:** कानूनी व्यवस्था में परिवर्तन के कारण प्रशासनिक सुधार आवश्यक हो जाता है। कोई भी नया कानून प्रशासन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन ला सकता है। कानून बनाते समय और विधायी बहसों एवं चर्चाओं के दौरान प्रस्ताविक सुधारों का भरपूर प्रचार होता है। प्रायः कानून या विधायन में परिवर्तन के पूर्व समितियों, आयोगों प्रेस आदि में काफी विचार-विमर्श और सोच-विचार किए जाते हैं।

iv. **अभिव त्ति में परिवर्तन के जरिए सुधार:** सभी प्रशासनिक संगठन कार्य करने की आदतें विकसित करते हैं। जो विभिन्न पदों पर कार्य कर रहे लोगों में सांस्थानीक त हो जाती है। संरचना, कानून और विनियमों में औपचारिक परिवर्तन वांछित परिणाम नहीं भी दे सकते हैं जब तक कि संगठन के सदस्य इन परिवर्तनों को स्वीकार न कर लें एवं उनकी सराहना न करें। जब तक लोगों की अभिव त्ति नहीं बदलती तब तक कोई भी सुधार सफल नहीं हो सकता है।

4. **सुधारों का मूल्यांकन:** सुधारों की केवल स्वीक ति एवं क्रियान्वयन से ही इस प्रक्रिया का अंत नहीं हो जाता है। क्रियान्वयन की प्रगति पर नजर रखी जानी चाहिए एवं समय-समय पर उसका मूल्यांकन होते रहना चाहिए। क्रियान्वयन प्रक्रियाओं के दौरान ही कई समस्याएँ एवं पेशे संबंधी बाधाएँ खड़ी हो सकती है। संगठन के इन संकेतों का आभास होना चाहिए एवं मल प्रस्तावों में आवश्यक संशोधन करने चाहिए। इसका यह अर्थ हुआ कि क्रियान्वयन प्रक्रिया को कई चरणों में संचालित किया जाना चाहिए। प्रत्येक चरण में प्रत्याशित परिणाम का पहले ही निर्धारण हो जाना चाहिए और क्रियान्वयन प्रक्रिया के आगे बढ़ने के साथ-साथ प्राप्त परिणाम की स्वीक त परिणामों से तुलना की जानी चाहिए।

भारत में प्रशासनिक सुधारों की प्रक ति (Nature of Administrative Reforms)

किसी भी देश में प्रशासनिक सुधार आवश्यक है। प्रत्येक देश का अपना एक विशेष परिवेश होता है जो सुधारकों की प्रक ति और चरित्र निर्धारित करता है। प्राचीन और पारंपरिक सामाजिक-सांस्क तिक परिवेश एवं दो सदी पुराने औपनिवेशिक शासन का ध्यान में रखते हुए हम भारतीय प्रशासनिक सुधारों के कुछ आधारभूत मुद्दों की रूपरेखा प्रस्तुत कर सकते हैं।

भारत में प्रशासनिक सुधारों ने निम्नलिखित बातों पर विशेष ध्यान दिया-

1. विरासत में मिले औपनिवेशिक प्रशासन को पुनर्गठित करना।
2. अनुचित दबावों से प्रशासन को बचाना।
3. प्रशासन की निष्पक्षता सुनिश्चित करना।
4. नए कार्य संस्क ति का स जन करना।
5. कमजोर वर्ग के प्रति प्रशासन को संवेदी करना।

1. **विरासत में मिले औपनिवेशिक प्रशासन को पुनर्गठित करना:** भारत को प्रशासन का औपनिवेशिक यंत्र विरासत में प्राप्त हुआ जिसका निर्माण अंग्रेजों ने भारतीयों पर शासन करने एवं उन्हें सताने के लिए किया था। औपनिवेशिक शासकों द्वारा निर्मित प्रशासनिक क्रियाविधियों ने समाज के प्रति औपनिवेशिक अधिकारीतंत्र की पूर्ण अभिव त्ति को प्रतिबिंबित किया। ये अभिव त्तियाँ ने केवल निर्मित संस्थाओं में अपितु सिविल सेवकों के व्यवहार में भी प्रतिबिंबित होती थी जो सिविल सेवक लोगों और स्वयं के बीच एक दूरी बनाए रखने में विश्वास रखते थे। इस प्रकार प्रशासन उन्हीं लोगों से विमुख बना रहा जिनकी सेवा करने के लिए वह अभिप्रेरित था। स्वतंत्र भारत ने संसदीय लोकतंत्र एवं संघीय शासन प्रणाली अपनाई। इसने एक प्रशासनिक ढाँचे की पूरी मरम्मत की आवश्यकता होती है। प्रशासकों और नागरिकों के बीच स्वस्थ संबंध कायम करने के लिए नई प्रशासनिक क्रियाविधियों की पहल की जाने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार भारत में प्रशासनिक सुधारों का मुख्य प्रयोजन ऐसे परिवर्तन लाना रहा है जो नागरिक और प्रशासन के बीच के अंतर को कम करें। सुधारों को प्रशासन के बीच के अंतर को कम करें। सुधारों को प्रशासन के लोकतंत्रीकरण एवं जिसके परिणामस्वरूप नागरिक और प्रशासन के बीच अविश्वास के अंत की ओर उन्मुख किया जाना चाहिए।
2. **अनुचित दबावों से प्रशासन को बचाना:** पिछले 50 वर्षो के दौरान भारतीय लोक प्रशासन सामाजिक और आर्थिक संबंधों को दर्ज करने की महत्त्वपूर्ण भूमिका में व्यस्त रहा है। इस भूमिका में उसने सामाजिक और राजनीतिक दबावों के रूप में अनेक बाधाओं का सामना किया है। इन दबावों ने भारतीय समाज को पुनर्गठित करने का लक्ष्य प्राप्त करने की लोक प्रशासन की क्षमता को प्रभावित किया है। अधिकांशतः ये दबाव दबाव-समूहों द्वारा डाले गए हैं जो सामाजिक लाभों के लिए एक-दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते हैं। इन दबाव समूहों के अनुचित दबावों ने समाज के जरूरतमंद लोगों को उपयुक्त सेवाएं प्रदान करने की प्रशासन की क्षमता को प्रभावित किया है। इस प्रसंग में भारतीय प्रशासनिक सुधारों का एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा यह सुनिश्चित करना है कि लोक प्रशासन शक्तिशाली ओर संगठित समूहों के नकारात्मक अनुचित और वर्गीय दबावों से मुक्त रहे। ज्ञातव्य है कि यदि धनवान लोगों के दबाव समूहों को लोक प्रशासन के कार्यो पर प्रभाव डालने दिया गया तो भारत में निर्धन लोगों की उपेक्षा होती रहेगी। प्रशासनिक सुधारों का मुख्य दायित्व यह सुनिश्चित करना है कि प्रशासनिक सुधारों का मुख्य दायित्व यह सुनिश्चित करना है कि प्रशासनिक संरचनाएं दबाव समूहों के अनुचित दबावों से मुक्त रहें और वे निष्पक्ष रूप से कार्य करें।
3. **प्रशासनिक में निष्पक्षता सुनिश्चित करना:** भारत के सामाजिक परिवेश में जाति, समुदाय, धर्म, भाषा, सम्प्रदाय एवं क्षेत्र संबंधी संकुचित प्रव त्तियाँ सबल हैं। आम सामाजिक व्यवस्था में मौजूद ये संकुचित प्रव त्तियाँ प्रशासनिक व्यवस्था में द ष्टिगोचर होती हैं। ये प्रव त्तियाँ लोक प्रशासन पर नकारात्मक प्रभाव डालती है और इसे पूर्व ग्रहपूर्ण बनाती है। भारत में प्रशासनिक सुधारों का एक महत्त्वपूर्ण दायित्व लोक प्रशासन को सामाजिक समूहों के साथ अपने बर्ताव में निष्पक्ष और दूरस्थ लक्ष्य हैं। फिर भी यह सच है कि भारत में आधुनिक लोक प्रशासन की जड़ें तभी मजबूत होगी जब वे सारे सामाजिक मूल्य समाप्त हो जाएँ जो एक निष्पक्ष और तटस्थ लोक प्रशासन के अभ्युदय में रोड़े अटकाते हों।
4. **एक नई संस्क ति का स जन:** एक औपनिवेशिक कार्य संस्क ति की विरासत पाने के कारण भारतीय प्रशासन एक सख्त पदसोपानिक ढाँचे के भीतर कार्य करने की प्रव त्ति रखता है। प्रशासनिक ढाँचे में ही सामान्यवादी श्रेष्ठता की धारणा वाला

सामान्यवादी-विशेषज्ञ द्विभाजन की औपनिवेशिक विरासत अंतर्निहित है। परिवेश के परिवर्तन एवं लोगों द्वारा बढ़ती हुई माँगों को देखते हुए यह आवश्यक है कि प्रशासन अधिक अनौपचारिक हो जाए एवं सामान्यवादी-विशेषज्ञ द्वि-भाजन को तर्कसंगत बनाया जाए। यह सुनिश्चित करना प्रशासनिक सुधारों का तत्काल दायित्व है कि एक नई कार्य संस्क ति का आरंभ है। जिनमें ईमानदारी और व्यवसायवाद के मूल्य व्याप्त हो जहाँ प्रशासन के भीतर हैसियत संबंधी अंतर कम हों। प्रशासनिक सुधारों को सामान्यवादी-विशेषज्ञ द्विभाजन को ध्यान केंद्रित करना चाहिए जहाँ दलीय कार्य को व्यर्थ हैसियत भेद से अधिक महत्त्व मिले।

5. **कमजोर वर्गों की ओर प्रशासन को संवेदी बनाना:** स्वतंत्र भारत ने एक ऐसी नई सामाजिक-आर्थिक प्रशासनिक व्यवस्था बनाने का दायित्व ग्रहण किया है जहाँ अमीर और गरीब के बीच का अंतर कम हो एवं एक समतावादी समाज कायम हो। इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रशासन को दलित के उत्थान में प्रयास करना होगा। निस्संदेह व्यवहार में कई बाधाएं आती हैं जो लोक प्रशासन को समाज के कमजोर तबकों की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने से रोकती है। भारत में प्रशासनिक सुधारों को कमजोर तबकों के उत्थान हेतु निर्मित विभिन्न कार्यक्रमों के कुशल क्रियान्वयन पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए। संस्थात्मक और प्रक्रियात्मक दोनों ही स्तरों पर सुधार लाने होंगे ताकि विकास कार्यक्रमों का तीव्र और प्रभावोत्पादक क्रियान्वयन सुनिश्चित हो सके। **"भारत में प्रशासनिक सुधार बहुआयामी है"** निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि लोक प्रशासन को निष्पक्ष बनाया जाना चाहिए तथा इसे आर्थिक दबाव समूहों एवं जाति और धर्म के आधार पर बने समूहों से मुक्त रखा जाना चाहिए तथा इसे आर्थिक दबाव समूहों एवं जाति और धर्म के आधार पर बने समूहों से मुक्त रखा जाना चाहिए।

   साथ ही भारत में प्रशासनिक सुधारों को कुछ भारतीय समाज में रहे सामाजिक परिवर्तन एवं आर्थिक नियोजन के संदर्भ में अप्रसांगिक हो गए हैं। भारत में प्रशासनिक सुधारों का मुख्य दायित्व लोगों की लोकतांत्रिक भावनाओं एवं समाज के कमजोर वर्गों की माँगों के प्रति सकारात्मक रूप से संवेदी होने की हमारी क्षमता से उत्पन्न होता है।

प्रशासनिक सुधार का इतिहास
(History of Administrative Reforms)

ऐसे कई कारण हैं जिसने राज्य सरकारों, राजनीतिज्ञों तथा प्रशासकों का ध्यान प्रशासनिक सुधारों की ओर आक ष्ट किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से प्रशासनिक पद्धति को सुधारने के कई प्रयत्न किये गये। सर्वप्रथम सन् 1948 में बचत समिति (Economy Committee) की स्थापना की गयी, जिसका प्रमुख कार्य सार्वजनिक सेवाओं में अत्याधिक खर्च की समस्या को हल करना था। इस समिति के अध्यक्ष प्रसिद्ध उद्योगपति श्री कस्तूरभाई लालभाई थे और व्यवस्थापिका सभा, व्यापारी वर्ग तथा अधिकारी वर्ग के कुछ लोग इसके सदस्य थे।

गोरवाला रिपोर्ट, 1951
(Gorwala Report, 1951)

भारतीय प्रशासन का अध्ययन करने के लिए सर्वप्रथम गंभीर प्रयास एक भूतपूर्व भारतीय सिविल सेवा के अधिकारी श्री ए.डी. गोरवाला ने किया। उन्होंने 70 प ष्ठों वाला एक प्रतिवेदन "लोक प्रशासन पर प्रतिवेदन" सरकार के सामने प्रस्तुत किया। उन्होंने प्रचलित लोक प्रशासन की व्यवस्था और नौकरशाही की मूल धारणाओं को किसी प्रकार क्षति पहुँचाये बिना उसमें व्याप्त बुराइयों को दूर करने के लिए तथा उन्हें सक्षम बनाने के लिए मुख्यरूप से निम्नलिखित सुझाव दिये हैं:

1. नीति निर्माण एवं उसकी क्रियान्विति में स्पष्ट अंतर हो।
2. विभागों के अध्यक्षों के कार्यो में कोई भी मंत्रालय हस्तक्षेप न करे।
3. वित्त मंत्रालय के अधिकारियों का अच्छी रीति से चुनाव किया जाये।
4. सचिवालय स्तर पर समन्वय का कार्य ठीक ढंग से हो।
5. प्रशासकीय मंत्रालयों को अधिक स्वतंत्रता दी जाये, उन पर वित्त मंत्रालय का सूक्ष्म नियंत्रण न हो।

6. मंत्री-परिषद (कैबिनेट) की कार्य प्रणाली में सुधार किया जाये।
7. मंत्री एवं सचिव के संबंध को मधुर बनाया जाए।
8. संसदीय नियंत्रण को श्रेष्ठतर बनाने के लिए अनुमान समिति एवं लोक लेखा समिति के माध्यम को अपनाया जाए।
9. जाँच एवं निरीक्षण का कार्य वरिष्ठ अधिकारियों के द्वारा हो।
10. अधिक अधिकारी एवं कम क्लर्क रखे जाएँ।
11. कनिष्ठ अधिकारियों को अधिक कार्य एवं उत्तरदायित्व सौंपा जाए।
12. व्हिटले परिषदों की स्थापना की जाए। अल्प वेतन वाले कर्मचारियों के लिए कल्याण-अधिकारियों की नियुक्ति की जाए।
13. अच्छे वेतन, पुरस्कार दिये जाएँ एवं दण्ड द्वारा अनुशासन स्थापित किया जाए।
14. प्रशिक्षण तथा संगठन प्रणाली के निदेशक की नियुक्ति की जाए एंव उसे स्टाफ दिया जाए।
15. भारतीय प्रशासन सेवा के प्रशिक्षण स्कूल के संगठन को और अधिक श्रेष्ठ बनाया जाये तथा उसके लिए एक पूर्णकालिक प्रधानाचार्य की नियुक्ति की जाए।
16. अधिकारियों की भर्ती सामान्य प्रशासकों के रूप में की जाए, विशेषज्ञों के रूप में नहीं जैसा आर्थिक सिविल सेवा अथवा औद्योगिक विशेषज्ञों की सेवा में होता है।
17. प्रतियोगी परीक्षाओं में मौखिक परीक्षाओं के स्थान पर मनोवैज्ञानिक परीक्षाएँ ली जाएँ।
18. विशेष विषयों के स्थान पर सामान्य विषयों के प्रश्न पत्रों के अधिक अंक निर्धारित किये जाएँ।
19. विश्वविद्यालयों, सरकारी विभागों तथा लोक सेवा आयोग द्वारा किये जाने वाले चुनाव में उन्नत तकनीकें अपनाई जाएँ।
20. अखिल भारतीय सेवाओं के अधिकारी, राज्यों को सौंपे जायें न कि राज्य स्वयं नियुक्ति करें। श्री गोरवाला का कथन था कि उपर्युक्त सुझावों को यदि लागू किया गया तो उससे नौकरशाही की कार्यप्रणाली शक्तिशाली होगी और उसकी गति में प्रगति आ जायेगी।

डॉ. पी.डी. शर्मा के शब्दों में "श्री गोरवाला ने केंद्र एवं राज्य दोनों स्तरों पर मौलिक प्रशासनिक सुधारों के लिए योजनाबद्ध सुझाव दिये किन्तु भारत सरकार ने इन्हें क्रियान्वित करने में अधिक रूचि नहीं दिखायी।"

गोपालस्वामी प्रतिवेदन, 1952
(Gopalswami Report, 1952)

सरकारी तंत्र की कार्यकुशलता की अभिव द्धि पर प्रतिवेदन देने का कार्य एक सिविल सेवा अधिकारी श्री गोपालस्वामी आयंगर को सन् 1952 में सौंपा गया। इस प्रतिवेदन में श्री आर.एस. गोपालस्वामी ने केन्द्रीय सरकार के सम्पूर्ण प्रशासनिक संगठन तथा कार्य प्रणाली की आलोचनात्मक समीक्षा की। उन्होंने मुख्यरूप से सुझाव दिया कि केन्द्र में संगठन एवं प्रणाली की स्थापना की जाय। यह एक गुप्त दस्तावेज था। जिसे कि आयंगर रिपोर्ट के पूरक के रूप में रखा गया था। इस रिपोर्ट में केन्द्रीय सरकार के तंत्र के काम करने की साधारण क्रिया का विस्त त पुनरावलोकन किया गया। सचिवालय के सुधार के लिये कई योजनाएँ इस रिपोर्ट में थी। इसमें 28 विभागों को 20 मंत्रालयों के अन्तर्गत संगठित करने का सुझाव था। संगठन के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए दिन-प्रतिदिन के प्रशासनिक कार्यो को उन विभागों से अलग रखने को कहा गया। आयंगर द्वारा निकाली गयी प्रशासन संबंधी बातें बहुत सीमा तक एक कागजी योजना ही रही, क्योंकि इसे कुछ अंशों में ही कार्य रूप में परिणत किया गया। आयंगर के मौलिक सुझाव "संगठन और विधियों" के उपविभाग को सन् 1964 में बनाया गया। आयगर के सुझाव संभवतः अपने समय से बहुत आगे थे। इस रिपोर्ट में उन्होंने लिखा कि सरकार के सन्मुख उपस्थित होने वाली समस्यायें स्थायी नहीं होती। भूत की अपेक्षा अब बहुत द्रुतगति से उनके परिवर्तित होने की संभावना है और फलतः प्रशासन से संगठन एवं विधियों में भी इन परिवर्तनों के अनुरूप ही बदलने की आवश्यकता है।"

पाल एच. एपलबी का प्रतिवेदन
(Report of Paul H. Appleby)

लोक प्रशासन के अमरीकी विशेषज्ञ पाल एच. एपलबी ने सन् 1953 और 1956 में क्रमशः अपनी प्रथम एवं द्वितीय रिपोर्ट भारत सरकार को दी। इस रिपोर्ट का सरकारी क्षेत्रों तथा शिक्षित जनता पर विशेष प्रभाव पड़ा। इससे प्रशासनिक सुधारों में महत्त्वपूर्ण मोड़ आया। एपलबी ने अपनी रिपोर्ट में "भारत सरकार को संसार की दर्जनों अत्यंत उन्नत सरकारों की श्रेणी में रखा" और कहा कि भारत इन सेवाओं (I.C.S./I.A.S.) में उस ब्रिटिश सेवा के समकक्ष है जिसे कि संसार में सामान्य सिविल सेवकों का सर्वोत्तम समुदाय रखने की विशिष्टता प्राप्त है। "उन्होंने कहा कि कार्मिक प्रशासन बहुत कुछ सामन्तवादी विरासत में मिला है, मूलरूप से वह एकाडमिक और इन्टेलेक्चूअल है।" लोक सेवा आयोग के द्वारा जो चुनाव होता है उसका ढंग ठीक नहीं है। आयोग को भर्ती के विषय में सक्रिय होने का सुझाव दिया। उन्होंने महालेखा परीक्षक के नीरस कार्यो की आलोचना की और कहा कि वित्त मंत्रालय में प्रत्यायोजन (Delegation) का अभाव पाया जाता है। विकास कार्यो को लागू करने के लिए विभिन्न मंत्रालयों में समन्वय नहीं पाया जाता। उनके सुझाव निम्नलिखित हैं:

संगठन तथा प्रबन्ध (Organisation and Management)

उपयुक्त मंत्री के अधीन संगठन तथा प्रबंध अथवा लोक प्रशासन का कार्यालय स्थापित किया जाय, जिसे सरकार का द ढ़ समर्थन प्राप्त हो। इस कार्यालय की आवश्यकता इसलिए है कि इसके द्वारा सरकारी ढाँचे में तथा प्रशासनिक पद्धतियों में सरलता से सुधार लाया जा सके, तत्सम्बंधी अध्ययन जारी रखा जा सके तथा क्षमता एवं उत्तरदायित्व को केन्द्रित किया जा सके। प्रशासन के इस नये ढाँचे की पहुँच प्रशासन के सभी कार्यालय तक हो। इस कारण परंपरागत वित्तीय समीक्षा अथवा कर्मचारी वर्ग पर नियंत्रणों द्वारा इस उद्देश्य की प्राप्ति की आवश्यकता नहीं रहेगी।

विशेषज्ञों की नियुक्ति

बाहरी विशेषज्ञों के एक दल द्वारा आगे ओर विशिष्ट अध्ययन जारी रखने की व्यवस्था की जाए।

लोक प्रशासन की संस्था का निर्माण

भारत में एक लोक प्रशासन की संस्था अर्थात् इंडियन इंस्टीट्यूट आफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन की स्थापना की जाए जो लोक प्रशासन को एक व्यवसाय के रूप में अपनाये जाने की ओर राष्ट्र का ध्यान केन्द्रित कर सके। ऐसा संगठन अपनी व्यावसायिक पत्रिकाओं के माध्यम से प्रशासकीय ज्ञान की अभिव द्धि करें। इसे स्वीकार करते हुए भारत ने दिल्ली में लोक प्रशासन की संस्था की स्थापना की।

प्रशिक्षित करना

लोक प्रशासन में स्नातकों को प्रशिक्षित करने का कार्यक्रम बनाया जाए। इस प्रकार के प्रशिक्षित युवकों को सार्वजनिक सेवाओं में प्रविष्ठ कराया जाए। इससे चुने हुए विश्वविद्यालयों तथा सरकार के बीच घनिष्ठता तथा कार्य करने का सम्बंध स्थापित होगा।

सामुदायिक प्रोजेक्ट को लागू करें

सामुदायिक प्रयोजनाओं को लागू करने तथा उनकी स्थिति को मजबूत बनाने तथा इनके प्रबंध में लचीलापन तथा विवेक लाने के लिए आवश्यक है कि प्रशासनिक उत्तरदायित्व को संगठित किया जाये।

उत्तरदायित्व को संगठित करना

सभी विकास एवं सामाजिक कार्यो के क्षेत्रों में उत्तरदायित्व को संगठित किया जाय। यह कार्य मंत्रालयों की परस्पर सम्बद्धताओं एवं समीक्षाओं (Reviews) को सरल बनाकर तथा कम करके, सरकार के विभिन्न स्तरो में समीक्षा की रीति में सुधार करके तथा प्रशासनिक कार्यों से सम्बद्ध कागजों के आवागमन की प्रणाली में सुधार करके सम्पन्न किया जा सकता है।

प्रशासनिक पदसोपान के ढांचों को व्यापक बनाया जाए

प्रशासनिक पद-सोपानों को ऐसा वास्तविक एवं पिरामिडीय (Pyramidal) स्वरूप प्रदान किया जाये जिसमें प्रशासन के अधिकांश स्तरों पर अधिक कार्यकारी (Executive) अधिकारी हो, प्रशासन के स्तरों में व द्धि की जाये तथा सभी स्तरों के बीच,

विशेषतः निम्न स्तरों के बीच की खाइयों (Gaps) की वर्तमान व्यापक चौड़ाई को कम किया जाय। इससे मध्यम पदक्रम (Middle grade) के अधिक कर्मचारियों की तथा पदों के एक पूर्णतया नये ढाँचे की स्थापना होगी।

कर्मचारियों का चयन

वर्गो एवं पदों की सीमाओं से निर्धारण को समाप्त किया जाए। चयन (Selection) की कसौटी को विविधता प्रदान की जाय। विशेषरूप से कार्य की ओर झुकाव पर अधिक जोर दिया जाये और भर्ती को अधिक विचारपूर्ण बनाया जाये। उन व्यक्तियों में से चयन किया जाय जिन्हें लोक सेवा आयोग योग्य समझे। इसी प्रकार कर्मचारियों के अनुशासन के सम्बन्ध में प्रशासनिक अभिकरणों को अधिक अधिकार प्रदान किये जाएँ।

कार्मिक वर्ग में सुधार

कार्मिक-वर्ग में सुधार का ऐसा व्यापक एवं दीर्घकालिक कार्यक्रम बनाया जाए जिसका उद्देश्य सरकार के अधीन काम करने वाले सभी व्यक्तियों की सम्भावनाओं एवं (Potentialities) शक्तियों को अधिकतम करना हो।

राजस्व अधिकारियों की भर्ती

उपयुक्त व्यक्ति उपलब्ध होने पर यथाशीघ्र राजस्व अधिकारियों की भर्ती की जाय, उनको प्रशिक्षित किया जाय। इसमें उनकी संख्या की कोई सीमा उस समय तक निर्धारित न की जाए जब तक कि कर संग्रह पूर्णतया सामान्य न हो।

लगान निर्धारण

राज्यों के साथ मिलकर ऐसी तालमेलयुक्त कार्यवाइयाँ की जाएँ कि जिससे लगान-निर्धारण तथा करों की दरों को एक ठोस एवं उचित चालू दर तक लाया जा सके, क षि आयकर लागू किया जा सके, भूमि के लगान की सीमाएँ बाँधी जा सकें तथा राज्यों में कर-संग्रह करने वाले प्रशासन में सुधार किया जा सकें, ताकि कर के अनुमानों एवं कर की वास्तविकताओं के बीच की खाई को छोटा करके तालमेल के अनुपात तक लाया जा सके।

जाँच-पड़ताल की उचित व्यवस्था

कार्य करने वाले अभिकरणों को उच्च उत्तरदायित्व सौंपे जाने के फलस्वरूप यह भी आवश्यक है कि कार्यो के मध्य अथवा बाद में उनकी जाँच-पड़ताल की समुचित रीतियों का निश्चय किया जाए।

योजना आयोग

उनके अनुसार योजना आयोग का कार्य योजना बनाना है। योजनाओं को क्रियान्वित करना उसका कार्य नहीं है। डॉ. एपलबी के इस सुझाव को मानते हुए योजना आयोग की कार्यकारिणी को उत्तरदायित्वों से मुक्त कर दिया।

अत्यधिक कर्मचारी

एपलबी ने कहा है कि भारत सरकार ने अत्यधिक कर्मचारियों को रखा है, उनमें बेइमानी प्रवेश कर गयी है, वे अकुशल हो गये हैं तथा उनमें अनावश्यक लाल-फीताशाही बढ़ गयी है। अपनी रिपोर्ट में उन्होंनें भ्रष्टाचार पर भी अध्ययन किया है। भ्रष्टाचार की रोकथाम के लिए उन्होंने दफ्तरी व्यवस्था में कुछ परिवर्तन करने का सुझाव दिया। उन्होंनें कहा कि उत्तरदायित्वों का विभाजन किया जाये। एक संगठनात्मक इकाई के वेतन-चेकों को प्राप्त करने, प्रमाणित करने की जिम्मेदारी एक साथ नहीं सौंपना चाहिए।

सरकारी निगमों को स्वायत्तता

उनका विचार था कि सरकारी निगमों को अधिक स्वायत्तता प्रदान की जाये। निगमों के दैनिक प्रशासन में आवश्यकता से अधिक हस्तक्षेप नहीं किया जाये। नीतियों के सम्बन्ध में सरकारी निगमों को सरकार के प्रति उत्तरदायी रखा जाये। सरकारी निगमों को विवेकपूर्ण निर्णय करने के अधिक से अधिक अवसर प्रदान किये जाये एवं कम से कम संसदीय नियंत्रण हो।

शक्तियों का प्रत्यायोजन

शक्तियों का कम से कम प्रत्यायोजन किया जाये। अधिक मात्रा में प्रत्यायोजन करने से उत्तरदायित्व के क्षेत्र में शिथिलता आ जाती है।

संसद का कार्य

संसद का मूल कार्य नियंत्रण के स्थान पर निर्देशन होना चाहिए। संसद को अधिकारियों के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

प्रशासनिक सुधार आयोग, 1966
(Administrative Reforms Commission, 1966)

देश की प्रशासनिक जाँच तथा आवश्यकतानुसार प्रशासन में सुधार एवं पुनर्गठन के संबंध में सिफारिशें करने के लिए एक उच्चाधिकारयुक्त प्रशासनिक सुधार आयोग की स्थापना 5 जनवरी 1966 को की गयी। प्रशासनिक सुधार आयोग के प्रथम सभापति श्री मोरारजी देसाई थे। इसके अन्य चार सदस्य थे-सर्वश्री के. हनुमन्तैया, हरिश्चन्द्र माथुर, जी.एस. पाठक तथा एच. बी. कामथ। श्री बी. शंकर इसके सदस्य सचिव थे। अंतिम को छोड़कर सभी संसद सदस्य थे। श्री जी.एस. पाठक जब 24 जनवरी 1966 को केन्द्र सरकार के कानून मंत्री बने तो उनके स्थान पर राज्य सभा के सदस्य श्री देववत मुखर्जी को 27 अप्रैल 1966 को आयोग का सदस्य बनाया गया। श्री बी. शंकर 12 मार्च, 1966 को पूर्णरूपेण सदस्य बन गये। श्री वी.वी. चारी को आयोग का सचिव पद दिया गया। 17 मार्च 1967 को के. हनुमन्तैया को सभापति बनाया गया क्योंकि श्री मोरारजी देसाई ने उप-प्रधानमंत्री पर ग्रहण करने के कारण त्याग पत्र दे दिया था। 12 जून 1968 को श्री हरिशचन्द्र माथुर की म त्यु हो गयी। उनके स्थान पर 16 सितम्बर 1968 को राज्यसभा के सदस्य श्री टी.एन. सिंह को नियुक्त किया गया।

आयोग के कार्य
(Functions of the Commission)

लोक सेवाओं में कार्यकुशलता और ईमानदारी के उच्चस्तर को प्राप्त करने के लिए आयोग को निम्नलिखित क्षेत्रों पर सुझाव देने के लिए कहा गया था-

1. भारत का सरकारी तंत्र एवं उसकी कार्य करने की प्रणालियाँ
2. सभी स्तरों पर नियोजन की व्यवस्था
3. केन्द्र राज्य संबंध
4. वित्तीय प्रशासन
5. कार्मिक प्रशासन
6. आर्थिक प्रशासन
7. राज्य-स्तरों का प्रशासन
8. जिला प्रशासन
9. क षि प्रशासन
10. नागरिकों के कष्टों व शिकायतों को दूर करने की समस्याएँ।

उपर्युक्त कामों की सूची के अतिरिक्त प्रत्येक शीर्षक के अन्तर्गत 41 मसले और निश्चित किये गये। रेलवे, प्रतिरक्षा एवं परराष्ट्र (External affairs), मंत्रालय तथा सुरक्षा एवं गुप्तचर कार्यो के प्रशासन को आयोग की जाँच से अलग रखा गया क्योंकि इनके जाँच का कार्य अलग हो रहा था।

आयोग ने अपने जीवनकाल में 20 अध्ययन मंडल, 13 कार्यकारी समूह तथा एक कार्यशक्ति दल नियुक्त किया था। इन अध्ययन दलों में संसद के सदस्य, नागरिक सेवक, व्यावसायिक व्यक्ति और जनता के प्रतिनिधि थे। इन अध्ययन दलों की मिली-जुली प्रक ति की रचना इस कारण की गयी थी कि लोक प्रशासन की समस्याओं की जाँच ईमानदारीपूर्ण संतुलित एवं वास्तविक रूप

से हो सके। आयोग की सफलता को देखकर कुछ मंत्रालयों द्वारा यह प्रार्थना की गयी थी कि उनके विषय में भी अध्ययन किया जाय। इस कारण नवम्बर 1966 में सुरक्षा विषयों पर, जून 1967 में संघीय प्रदेशों पर तथा सितम्बर 1967 में रेलवे पर भी अध्ययन दल नियुक्त किये गये। आयोग के इन सभी निकायों में लगभग 206 प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। इनमें 6 केन्द्रीय मंत्री, 7 मुख्यमंत्री तथा 3 राज्य मंत्री थे। इसके साथ ही उच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधिश, एटार्नी जनरल, रिजर्व बैंक के गवर्नर, विश्वविद्यालय के कुलपति, प्रोफेसर आदि नियुक्त किये गये थे। आयोग के कार्यालय में अधिकारी एवं कर्मचारियों की संख्या 169 थी, जिसमें 1 सचिव, 1 संयुक्त सचिव, 9 उप सचिव, 1 अवर सचिव (Under Secretary), 42 रिसर्च अधिकारी तथा अन्य साधारण कर्मचारी थे। इसमें कुल व्यय 66,59,231 रूपये हुए। आयोग ने औसतन पाँच महीने में एक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इस आधार पर यदि कहा जाये कि आयोग को काम करने में अधिक समय लगा तो यह कहना निर्रथक है। आयोग ने 5 जनवरी 1966 से 30 जून 1970 तक कार्य किया और अपना प्रथम प्रतिवेदन नागरिकों के कष्ट निवारण की समस्या के लिए 20 अक्टूबर 1966 को सरकार के सन्मुख प्रस्तुत किया।

आयोग के विभिन्न प्रतिवेदन
(Various Reports of the Commission)

आयोग ने कुल मिलाकर 20 प्रतिवेदन प्रस्तुत किये। इन प्रतिवेदनों में कुल 537 सिफारिशें थी। आयोग ने विभिन्न सिफारिशें प्रस्तुत करते समय निम्नलिखित मूलभूत सिद्धांतों को ध्यान में रखा था-

1. आयोग सिफारिश करते समय प्रशासनिक अपर्याप्त अथवा न्यूनता को ध्यान में रखेगा और विचार करेगा कि क्या मंत्री अपनी पूरी क्षमता का उपयोग करते हुए भी लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है अथवा नही?
2. आवश्यकता के अनुरूप प्रशासनिक व्यवस्था अथवा प्रक्रिया को ढालना।
3. आयोग के प्रस्तावित सुधार, प्रचलित प्रशासनिक सामाजिक एवं राजनीतिक चुनौतियों के अनुरूप हो।
4. कार्यकुशलता सुधारने, मितव्ययिता एवं प्रशासनिक स्तर को ऊँचा उठाने की ओर ध्यान देना।
5. वर्तमान एवं नवीनीक त प्रशासन के बीच संतुलन की ओर ध्यान देना।
6. प्रशासन पर जनता की प्रतिक्रिया को सुधारने की ओर ध्यान देगा।
7. प्रशासन में सुधार करेगा।
8. वर्तमान तथा भविष्य की आवश्यकताओं का ध्यान रखेगा।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए प्रशासनिक सुधार आयोग ने निम्नलिखित प्रतिवेदन शासन को निम्नांकित तारीखों पर प्रस्तुत किये थे।

क्रमांक	प्रतिवेदन का नाम	शासन को प्रस्तुत करने की तारीख
1.	नागरिकों के कष्टों व शिकायतों को दूर करने की समस्या (अंतरिम)	20-10-1967
2.	नियोजन की दफ्तरी व्यवस्था (अंतरिम)	29-4-1967
3.	सरकारी क्षेत्र के उद्यम	17-10-1967
4.	वित्त, लेखे तथा लेखा-परीक्षण	13-1-1968
5.	नियोजन की दफ्तरी व्यवस्था (अंतरिम)	14-3-1968
6.	आर्थिक प्रशासन	20-7-1968
7.	भारत सरकार की दफ्तरी व्यवस्था और उसकी कार्यविधियाँ	16-9-1968
8.	जीवन बीमा प्रशासन	10-12-1968
9.	केन्द्रीय प्रत्यक्ष कर प्रशासन	6-1-1969
10.	संघीय क्षेत्रों तथा नेफा का प्रशासन	28-11-1969
11.	कार्मिक वर्ग प्रशासन	18-4-1969
12.	वित्तीय तथा प्रशासकीय शक्तियों का हस्तांतरण	12-6-1969

13.	केन्द्र-राज्य सम्बन्ध	19-6-1969
14.	राज्य प्रशासन	4-11-1969
15.	छोटे पैमाने का क्षेत्र	24-12-1969
16.	रेलवे	30-1-1970
17.	राजकोष	27-2-1970
18.	भारतीय रिजर्व बैंक	11-3-1970
19.	डाक तथा तार	15-5-1970
20.	वैज्ञानिक विभाग	3-6-1970

प्रशासनिक सुधार आयोग की रिपोर्ट की सिफारिशें

(Recommendation of the Report of Administrative Reforms Commission)

प्रशासनिक सुधार आयोग की रिपोर्ट की सिफारिशों का सारांश निम्नलिखित है-

1. विभिन्न मंत्रालयों में संगठन तथा प्रणाली को पुनः सक्रिय किया जाय। इन इकाइयों के माध्यम से कर्मचारी वर्ग को प्रबंध की आधुनिक विधियों का प्रशिक्षण दिया जाय।
2. केन्द्रीय सुधार अभिकरण में ठोस एवं द श्य सुधारों का एक विशिष्ट कोष्ठ स्थापित किया जाय।
3. केन्द्रीय सुधार अभिकरण को कार्य करने, भर्ती करने तथा अपने संगठनात्मक ढाँचे के तरीकों में अनुसंधान प्रमुख होना चाहिए।
4. उप-प्रधानमंत्री के अधीन प्रशासनिक सुधारों के विभाग को रखा जाय।
5. प्रशासनिक सुधारों एवं प्रगतियों के अध्ययन का कार्य स्वायत्तता प्राप्त व्यावसायिक संस्थाओं के हाथ में सौंपा जाना लाभप्रद हो सकता है, जैसे-लोकप्रशासन का भारतीय अनुसंधान, व्यावहारिक मानव-शक्ति अनुसंधान संस्थान, प्रशासनिक स्टाफ कालेज, हैदराबाद, इसी प्रकार कलकत्ता एवं अहमदाबाद के प्रबंध संस्थान तथा कुछ चुने हुए विश्वविद्यालय।
6. प्रशासनिक सुधारों की एक परिषद स्थापित की जाये जो प्रशासनिक सुधार अभिकरण के कार्यक्रमों को बनाने, योजनाओं के निर्माण, लोक प्रबंधों की समस्याओं पर अनुसंधान करने में सहायता दे। परिषद में आठ सदस्यों हों। इनमें कुछ संसद सदस्य, कुछ अनुभवी प्रशासक तथा लोक प्रशासन में रूचि रखने वाले विद्वान हो। इनमें प्रधानमंत्री करेगा और वह स्वयं यह भी देखेगा कि प्रशासनिक सुधार आयोग की सिफारिशें किस प्रकार लागू हो रही है।
7. प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा स्वेच्छा या स्व-विवेक के दुरूपयोग को देखने के लिए, लोक सेवाओं में सत्यनिष्ठा, सिविल सेवा की क्षमता, नागरिकों पर किये गये अन्याय को देखने एवं जाँच करने के लिए "लोकपाल" तथा "लोकायुक्त" को नियुक्त करने की सिफारिश आयोग ने की।
8. भारतीय प्रशासकीय सेवा एक सामान्यतावादी सर्वगुण सम्पन्न अधिकारी (Generalist all rounder) बन गयी है जो सरकारी क्षेत्र के उद्यमों का प्रबंध नहीं कर सकती। वह भारी उद्योगों, इस्पात तथा खान, पेट्रोलियम तथा रसायन जैसे तकनीकी प्रक ति के मंत्रालयों या विभागों में नीति-निर्माण संबंध कार्यो को सम्पन्न नहीं कर सकती। अतः आयोग ने सिफारिश की है कि ऐसे कार्यो के प्रमुख पदों पर उन्हीं व्यक्तियों की नियुक्तियाँ की जानी चाहिये जिन्हें की सम्बद्ध विषय का विशिष्ट अनुभव अथवा विशिष्ट ज्ञान हो। आयोग के शब्दों में, विशिष्टीकरण पर जोर देने तथा उच्च प्रशासन में विशिष्ट कौशल की आवश्यकता पर जोर देने से हमारा आशय, किसी भी प्रकार, यह नहीं है कि सामान्यतावादी अधिकारी पूर्णतया फालतू या आवश्यकता से अधिक है। एक तथ्य जिसे हम सर्वाधिक प्रकाश में लाना चाहेंगे "यह है कि कुछ पदों और पदों की श्रेणियों को केवल सामान्यतावादी श्रेणी के अधिकारियों के लिए अब और अधिक समय तक सुरक्षित नहीं माना जाना चाहिए.....। कार्यों की योजना में सामान्यतावादी अधिकारियों का अपना स्थान है और यह कि महत्त्वपूर्ण स्थान है, किंतु वैसे ही महत्त्वपूर्ण स्थान विशेषज्ञों तथा टैक्नोलॉजी विशेषज्ञों का भी है।

9. वरिष्ठ प्रबंधकीय पद सभी के लिए खोल दिये जाना चाहिए। उन्हें किसी विशेष श्रेणी या वर्ग के लिए सुरक्षित न रखा जाये। प्रशासन में विशेषज्ञों को स्थान दिया जाए।
10. आयोग ने वर्तमान कार्मिक वर्ग की वर्तमान व्यवस्था की कमियों की ओर ध्यान आक ष्ट किया और भारतीय प्रशासन सेवा के ढाँचे में पुनर्गठन के लिए समुचित सुझाव दिये। आयोग का सुझाव था कि "भारतीय प्रशासन सेवा के लिए कार्यात्मक क्षेत्र का निर्धारण कर दिया जाना चाहिए। इस क्षेत्र में भू-राजस्व प्रशासन, मेजिस्ट्रेट सम्बन्धी कार्य तथा नियामकीय कार्य सम्मिलित किये जाना चाहिए, किन्तु ये कार्य राज्यों के केवल उन क्षेत्रों तक ही सीमित रहना चाहिए जिनकी देखभाल अन्य कार्यात्मक सेवाओं के अधिकारियों द्वारा नहीं की जाती है।"
11. भारत सरकार के वर्तमान युग में गठित विभागों का पुनर्गठन किया जाना चाहिए। मंत्री-परिषद की संख्या प्रधानमंत्री को मिलाकर 16 हो। सभी मंत्रियों की कुल संख्या 40 हो और उसे विशेष परिस्थितियों में 45 की जा सकती है। मंत्रियों के वर्तमान में तीन स्तर को जारी रखा गया। मंत्रियों को विभाग देने के पूर्व सम्बन्धित मंत्रियों से प्रधानमंत्री परामर्श अवश्य कर ले। निर्णय लेने का कार्य दो से अधिक मंत्रियों को न दिया जाये। प्रधानमंत्रियों के पास प्रमुख विभाग रहना चाहिए और उसे विभिन्न मंत्रालयों के बीच तालमेल बनाये रखने का कार्य करना चाहिए। समय-समय पर प्रधानमंत्री विभिन्न मंत्रियों से कार्यों के विषय में मिलते रहे।
12. जिस मंत्रालय में एक से अधिक विभाग अथवा सचिव हों, उसमें पूर्णतया समन्वय बनाये रखने का कार्य एक ऐसे विभाग अथवा सचिव को सौंपा जाना चाहिए जो इस कार्य के लिए सर्वाधिक उपयुक्त हो।

संगठन तथा पद्धति (O & M)

अर्थ

यह शब्द दो अर्थों में प्रयोग किया जाता है। व्यापक अर्थ में इसका तात्पर्य 'संगठन तथा प्रबंध' है, जिसमें प्रबंध की सभी प्रक्रियाओं (जैसे-योजना बनाना, संगठन करना, समन्वय करना, प्रेरित करना, संचालन तथा नियंत्रण करना आदि) का अध्ययन सम्मिलित है। किन्तु **संकुचित अर्थ** में इसका तात्पर्य "**संगठन और पद्धतियाँ**" होता है। उस समय इसका संबंध केवल लोक निकायों या निजी संस्थानों के संगठन तथा उनकी कार्यालय संबंधी कार्यविधियों से ही होता है। चाहे जिस अर्थ में O&M का प्रयोग किया जाए, दोनो का उद्देश्य सुधार करना है। लोक निकायों या निजी संस्थानों के संगठन का तथा कार्यालय में उनके द्वारा अपनायी जा रही कार्य-विधि का जो अध्ययन कर्मचारी करते हैं उसे संगठन तथा पद्धति की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार ओ एवं एम कार्य के दो तत्व हैं-संगठन तथा 'पद्धतियाँ'। वस्तुतः O & M के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्यों में से एक यह है कि किसी संगठन की इस उद्देश्य से समीक्षा की जानी चाहिए कि वह पूर्ण व्यवस्थित हो जाए। फिर भी O & M का कार्य किसी इकाई के केवल आंतरिक ढाँचे का सुधार करने तक ही सीमित है।

परंपरानुसार किसी उच्चतम स्तर के ढाँचे का पुनर्संगठन करना O & M के अधीन नहीं आता है। यह कार्य अधिक उच्च निकायों के लिए छोड़ दिया जाता है। जैसे-संयुक्त राज्य अमेरिका में हूवर आयोग, ब्रिटेन में हाल्डेन समिति और भारत में एक सदस्यीय आयंगर समिति, जहाँ तक पद्धतियों का संबंध है O & M इकाइयों से यह आशा की जाती है कि वे कार्य की प्रक्रियाओं तथा कार्य की पद्धतियों की समीक्षा करें ताकि उनमें सुधार किया जा सके। ऐसा करते समय कार्य सरलीकरण तथा कार्य-माप की प्रसिद्ध तकनीकें अपनायी जाती हैं। अतः सीमित अर्थ में प्रस्तुत किए जाने पर O & M कार्य-अध्ययन, प्रवर्तन अनुसंधान, तथा स्वचालन जैसी तकनीकों के वर्ग में आता है। ये तकनीकें अपने-अपने तरीके से प्रशासन में सुधार करने के प्रयास करते हैं। संक्षेप में O & M के साधारण कार्य हैं-समीक्षा के अधीन संगठन की संरचना का परीक्षण और प्रशासकीय व लिपिक संबंधी कार्यविधियों और रीतियों, कार्यालय के यंत्रीकरण और सज्जा तथा कार्यालय की रूप रेखा, कार्य करने की परिस्थितियों का अध्ययन करना।

कार्य अध्ययन का संबंध अनुसंधान, अभिलेख, माप तथा सुधार संबंध क्रमिक क्रिया-कलापों के निम्नलिखित तत्त्वों से है-श्रमिक जो कार्य करता है, प्रयोग में आने वाले यंत्र तथा उपकरण, सामग्री तथा कार्य करने की अवस्थाएं, प्रवर्तन अनुसंधान किसी संगठन के भीतर की समस्याओं का विश्लेषण करता है, तथा उनके संबंध में वैज्ञानिक द ष्टिकोण का प्रतिपादन करता है जिससे प्रबंध को सर्वाधिक प्रभावशाली प्रवर्तन सूचना प्राप्त हो सके। लेकिन O & M की उपर्युक्त व्याख्या अत्यधिक सीमित है। कई बार इस शब्द का प्रयोग 'प्रबंध के सुधार' के लिए किया जाता है। इस अर्थ में O & M केवल एक तकनीक ही नहीं रह जाता

है अपितु वह कार्य बन जाता है अर्थात् प्रशासन को सुधारने का कार्य। इस संबंध में मिलवर्ड कहते हैं-"यह केवल प्रबंध के उपकरण अर्थात् शीर्षस्थ प्रबंध के अभिकर्ता (Agent) के रूप में ही नहीं होता बल्कि प्रबंधकों, लेखा परीक्षकों या अन्य लोगों की सेवा करता है जिन्हें इसकी आवश्कयता है और जिनके पास समय तथा आवश्यक विशेषज्ञ नहीं है। एजेण्ट तथा सेवा संबंधी यह दुहरा उद्देश्य स्थिति को जरा कठिन बना देता है। कुछ कम्पनियों में तो एजेण्ट होते हैं तथा अन्य में केवल सेवा ही होती है। किन्तु फिर भी दोनों कार्यो का संयोजन करने की आवश्यकता होती है। O & M की अंतर्वस्तुओं के विषय में ही नहीं बल्कि प्रभावशीलता तथा कार्यकुशलता का सुधार करने संबंधी अन्य तकनीकों से इसके संबंधों के विषय में विस्त त मतभेद हैं।" ऐपल्बी ने O & M इकाई के लिए एक व्यापक कार्यक्षेत्र की कल्पना की थी और इसकी स्थापना के लिए उसने भारत सरकार से निम्नलिखित सिफारिश की थी।

"मैं यह सिफारिश करता हूँ कि भारत सरकार एक केंद्रीय कार्यालय की स्थापना पर विचार करें जिसे संरचना प्रबंध तथा कार्यविधि के संबंध में विस्त त तथा गंभीर नेत त्व प्रदान करने का उत्तरदायित्व सौंपे जाए। अत्यधिक तकनीकी तथा वैज्ञानिक ढंग के स्तर पर वह कार्य-माप, कार्य-प्रवाह, कार्यालय-प्रबंध, नस्तीकरण प्रणाली (Filling system) स्थान प्रबंध तथा अन्य ऐसी ही बातों पर ध्यान दे, दूसरे स्तर पर इसे सामान्य सरकारी संरचना संबंधी अध्ययनों एवं प्रस्तावों का भार सौंपा जाना चाहिए। मुझे आशा है कि इस स्तर पर भी यह नौकरशाही के भीतर तथा नौकरशाही और जनता के बीच प्रजातांत्रिक तरीकों तथा रीतियों के विकास के लिए उत्तरदायी होंगी।"

कार्य

संगठन तथा पद्धति कार्यालय का प्रयोजन प्रबंध को सुधारने हेतु सूत्र अधिकारियां की सहायता करना है। सारांश में O & M के कार्य इस प्रकार हैं-"व्यय कम करने में सहयोग, मानव-शक्ति की बचत, कार्यविधि का सरलीकरण, सामग्री की बचत, कार्य की गति में व द्धि तथा संगठन में सुधार। इनके तरीके निम्न हैं।

1. **शोध तथा विकासः** केंद्रीय संगठन तथा पद्धति कार्यालय का प्रधानतः यह मुख्य कर्त्तव्य है कि उन प्रशासकीय प्रणालियों का विकास करे जिनका संबंध संगठन, कर्मचारी वर्ग, बजट तथा लेखा निर्माण, प्रदत्तीकरण समन्वय, पर्यवेक्षण, इत्यादि कार्यो से है। इसके अतिरिक्त कार्य प्रबंध, कार्य सरलीकरण, सांख्यिकीय पद्धतियाँ तथा उत्क ष्टता नियंत्रण जैसी तकनीकों का प्रयोग, कार्यालय के यंत्रों के प्रयोग, उत्तम रूपरेखा, उचित लेखा प्रबंध तथा प्रमाणों, मापों और मूल्य-नियंत्रण की अच्छी प्रणाली के संबंध में नवीन विचार प्रदान करें जिससे कार्याय के प्रबंध में सुधार हो सके।
2. **प्रशिक्षणः** ओ एण्ड एम के किसी संगठन में O & M की तकनीकों के माध्यम से कर्मचारियों को प्रशिक्षण देना, सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है। ऐसे प्रशिक्षण के दो उपयोगी काम हैं:
    i. इससे प्रशासन की विभिन्न O & M इकाइयों के कर्मचारी वर्ग के लिए योग्य व्यक्ति तैयार करने में सहायता प्राप्त होती है।
    ii. O & M की रीतियों में सूत्र अधिकारियों को प्रशिक्षण देकर योग्य व्यक्तियों के एक समूह को ही नहीं निर्मित करना बल्कि अप्रत्यक्ष रूप से O & M कार्यक्रमों में रूचि प्रोत्साहित करता है तथा प्रशासकीय संगठन का सामान्य स्तर ऊँचा उठाने में सहायता देना है।
3. **अनुसंधानः** विभिन्न प्रशासकीय इकाइयों में संगठन, प्रक्रियाओं तथा रीतियों का विश्लेषण करना O & M कार्यालय का मुख्य कार्य है। केंद्रीय कार्यालय प्रायः ऐसे अनुसंधानों का संचालन करता है जिनमें स्थानीय ज्ञान की अपेक्षा अधिक विस्त त तथा विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता होती है। वे विभाग या कार्यालय, जिनके साथ अपनी निजी O & M सेवा नहीं होती है, यदि अनुसंधान संबंधी कार्यो के लिए प्रार्थना करते हैं तो उनका तथा अन्य संस्थाओं का काम निकल सकता है।
4. **प्रबंध-सुधार कार्यक्रमों का समन्वयः** विकेन्द्रित O & M कार्यक्रम के लिए यह आवश्यक है कि समन्वय के लिए अर्थात् अतिच्छादन रोकने विरोधों को दूर करने, झगड़ों से बचने, आदि के लिए कोई व्यवस्था होनी चाहिए। केंद्रीय O & M इकाई का मुख्य दायित्व कार्यक्रम में रूचि प्रोत्साहित करना तथा समझदार अधिकारियों को योजना बनाने एवं उनके O & M प्रयत्नों को कार्यान्वित करने में सहायता देना। संक्षेप में, "केंद्रीय ओ एण्ड एम इकाई निर्देश का अन्तिम बिन्दु है।"

5. **सूचना:** ओ एण्ड एम कार्यालय का एक महत्त्वपूर्ण कार्य सूचना का प्रसार करना है। इसे सरकार के सभी स्तरों पर केंद्रीय, राज्य तथा स्थानीय बल्कि विदेशों में भी सम्पादित ओ एण्ड एम के कार्य से संबंधित सूचना के वितरण केंद्र का कार्य करना है। संक्षेप में, इसे उपयुक्त सूचनाएं एकत्र करनी चाहिए तथा एक पुस्तकालय की स्थापना करनी चाहिए और आवश्यकतानुसार सूचना तथा सामग्री प्रदान करने में सहायता देनी चाहिए।
6. **प्रकाशन:** केंद्रीय O & M कार्यालय मार्गदर्शकों, नियमावलियों, अन्वेषण सामग्री, हस्त-पुस्तिकाओं, विवरण पत्रिकाओं, पाक्षिक पत्रिकाओं और ओ एण्ड एम के सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों से संबंधित साहित्य का प्रकाशन करके सहायता प्रदान करता है।

प्रक ति

ओ एण्ड एम कार्य का स्वरूप निम्नलिखित ढंग से अभिव्यक्त किया जा सकता है।

1. **O & M एक सेवा कार्य है:** संगठन तथा प्रणाली इकाई का कार्य एक सेवा के रूप में है। यह इकाई सरकार करके विभिन्न मंत्रालयों, विभागों तथा कार्यकलापों की कार्यक्षमता में व द्धि हेतु सुझाव देकर उन्हें सहायता पहुँचाती है। ओ एण्ड एम के सुझाव थोपे नहीं जा सकते।
2. **O & M एक परामर्श कार्य है:** O & M की प्रक ति का एक अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व यह है कि उसका कार्य परामर्श देना मात्र है, नीति निर्धारण से उसका कोई संबंध नहीं होता। अतः इसका कार्य **स्टाफ** संबंधी है, न कि सूत्र संबंधी। उसे केवल परामर्श देना चाहिए। यदि कोई विशेष विभाग यथोचित कारण के बिना इन इकाइयों से परामर्श नहीं करता है तो सुझाव रूप में उच्च स्तर पर किसी कार्यवाही की व्यवस्था होनी चाहिए, बल प्रयोग कभी नहीं किया जाना चाहिए।
3. **O & M सकारात्मक कार्य है:** O & M इकाइयों का कार्य सकारात्मक है, न कि नकारात्मक। इनकी प्रव त्ति सुधारात्मक है न कि दोष-खोजी। इसका कार्य आलोचना करना नहीं है। इस प्रकार साधारण अर्थों में ओ एण्ड एम निरीक्षण तथा लेखा परीक्षण से भिन्न है।
4. **O & M प्रशासन में सुधार के विभिन्न प्रयत्नों का अंगमात्र है:** यह नहीं समझना चाहिए कि O & M संगठन संबंधी सभी बीमारियों की रामबाण औषधि है अथवा अकेली O & M इकाई ही समस्त प्रशासन में सुधार करने के लिए उत्तरदायी है, वस्तुतः O & M इकाई तो कार्य सुधार हेतु किए गए सरकार के सम्पूर्ण प्रयत्नों का केवल एक अंश मात्र है।
5. **अत्यधिक रहस्यमय और तकनीकी नहीं:** O & M सुझाव को अत्यधिक रहस्यमय और तकनीकी रहस्यमय और तकनीकी बनाने की भूल नहीं करनी चाहिए। उसे "सामान्य बुद्धि पर आधारित सिफारिशें" ही देनी चाहिए। उनका कार्य इतना अधिक तकनीकी न बन जाए कि केवल विशेषज्ञ ही उसे समझ सकें।

उपयोगिता अथवा लाभ

1. **प्रशासकीय सुधार का महत्त्वपूर्ण साधन:** प्रशासन में सुधार करने हेतु निरंतर प्रयत्न करते रहने के लिए यह एक साधन प्रदान करता है। ऐसे सुधार यह अपनी विभिन्न शाखाओं के संगठन तथा उनमें कार्यपद्धतियों की आलोचनात्मक समीक्षा करके करता है। इस प्रणाली का सार यह है कि यह समीक्षा विशेषज्ञ पदाधिकारियों द्वारा की जाती है।
2. **क्रियाविधि को आधुनिकतम बनाना:** O & M संभाग द्वारा विभागीय प्रक्रिया सरल बनायी जाती है तथा इसके द्वारा सरकारी कार्यालयों की संरचना तथा उनके द्वारा अपनायी गयी कार्यविधि दोनों को ही आधुनिकतम बनाए रखने में योग दिया जाता है जिससे वह बदलते परिप्रेक्ष्य में कदम मिलाकर चल सके।
3. **अनुभव का भण्डार:** ओ एण्ड एम अनुसंधान केंद्रों के रूप में कार्य करते हैं। इनके पास पर्याप्त अनुभव एकत्रित हो जाता है। इस प्रकार एकत्रित किया हुआ अनुभव कार्यालय एवं संस्थाओं को संगठित करते समय पर्याप्त लाभ का सिद्ध होता है।

स्थिति

यह एक विचारणीय प्रश्न है कि ओ एण्ड एम का कार्य प थक् विभाग द्वारा किया जाए अथवा वह कार्य विभागीय कर्मचारियों द्वारा ही किया जाए? यह तर्क दिया जाता है कि यदि विभागीय कर्मचारी ओ एण्ड एम कार्यों का भी संपादन करें तो वे अधिक व्यावहारिक सुझाव दे सकेंगे, चूंकि उन्हें विभाग की कार्यप्रणाली का समुचित ज्ञान होता है। परंतु अधिकांश विद्वानों का मत है कि इस विभाग को प थक् ही रखना चाहिए। इसके पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं।

1. **समयः** विभाग के वरिष्ठ कर्मचारियों के पास प्रायः समयाभाव रहता है इसलिए ओ एण्ड एम गतिविधियों के संबंध में वे पूर्ण रूप से ध्यान नहीं दे सकते। इसके विपरीत ओ एण्ड एम के प थक् होने से इसके कर्मचारी अपना पूरा समय दे सकते हैं और विभाग के बारे में वस्तुपरक द ष्टिकोण अपना सकते हैं।
2. **स्वतंत्रताः** विभाग के कर्मचारी संगठन संबंधी आवश्यकताओं पर इस स्वतंत्रता के साथ विचार नहीं कर सकते जितने कि ओ एण्ड एम विभाग के कर्मचारी कर सकते हैं। जो व्यक्ति विभाग की प्रक्रियाओं से स्वयं संबंधित नहीं है उनसे हम अच्छे निष्कर्षो की आशा कर सकते हैं।
3. **अनुभवः** ओ एण्ड एम के अंतर्गत कार्य करने वाले लोगों में विभिन्न क्षेत्रों का अनुभव होता है जिससे वे विभाग के कर्मचारियों को नवीनतम एवं मितव्ययी विधियों से अवगत करा सकते हैं।

कर्मचारी

ओ एण्ड एम इकाई में कार्य करने वाले कर्मचारियों का चयन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारक है। हर एक कर्मचारी एक अच्छा ओ एण्ड एम विशेषज्ञ नहीं बन सकता। अतः ओ एण्ड एम इकाई में कार्य करने वाले अधिकारी में निम्न गुण होने चाहिएः

1. उसमें सभी स्तरों पर लोगों में घुल-मिल जाने की योग्यता होनी चाहिए।
2. उसमें ऐसे गुण होने चाहिए कि वह पदाधिकारियों के उत्साहपूर्वक सहयोग प्राप्त कर सके।
3. उसमें बुद्धि तथा विचारों की कल्पना औसत से अधिक नहीं होनी चाहिए।
4. उसमें लेखन तथा मौखिक रूप से मत अभिव्यक्त की योग्यता होनी चाहिए।
5. ओ एण्ड एम का पदाधिकारी अच्छा स्त्रोत भी होना चाहिए।
6. उसे सरकारी संगठन तथा कार्यालय का कार्य संबंधी ज्ञान होना चाहिए।
7. शिक्षा संबंधी प ष्टभूमि की अपेक्षा O & M कार्य का उसे प्रशिक्षण प्राप्त होना चाहिए।
8. सामान्यतः नवयुवकों को ओ एण्ड एम इकाइयों में नियुक्त करना चाहिए। अधिक आयुवाले वरिष्ठ व्यक्तियों में नवीन विचार तथा तकनीकें ग्रहण करने की शक्ति कम होती है।

डॉ. अवस्थी एवं माहेश्वीर के शब्दों में, "ओ एण्ड एम के व्यक्ति को धैर्यवान, परिश्रमी, विचारशील, सूक्ष्मावलोकी, साहसी, समझौतावादी, चतुर तथा सहयोग करने और उसका प्रयोग करने की क्षमता युक्त होना चाहिए।"

ओ एण्ड एम तकनीकें

1. **सर्वेक्षण (Survey):** सर्वेक्षण वह मुख्य तकनीक है जिसके द्वारा कोई भी ओ एण्ड एम विश्लेषण अपने दायित्वों का पालन करता है। सर्वेक्षण विधि से किसी संगठन की वर्तमान स्थिति के बारे में पहले सब तथ्यों को संकलित करने का प्रयास किया जाता है। इसके बाद संगठन और प्रबंध की समस्याओं का निर्धारण करके इनके कारणों और समाधानों का पता लगाया जाता है।

   प्रबंध सर्वेक्षण कई प्रकार का होता है जैसे-

   i. प्रारम्भिक सर्वेक्षण
   ii. पूरा सर्वेक्षण
   iii. संगठन सर्वेक्षण
   iv. कार्यात्मक सर्वेक्षण
   v. कार्यविधि सर्वेक्षण

   सर्वेक्षण के लिए साक्षात्कार (Interview) प्रश्नावली (Questionnaire) तथा निरीक्षण (Inspection) की विधियों का प्रयोग करते हुए सभी आवश्यक सामग्री एकत्रित कर ली जाती है। इसके बाद विश्लेषणकर्ता इस सामग्री का इस ढंग से विश्लेषण करते हैं कि संगठन समस्याएँ उत्पन्न करने वाले और अच्छे एवं बुरे तत्वों का तथा समस्याओं के मूल कारणों

का पता लगाया जा सके। इस विश्लेषण के आधार पर विशेषज्ञ किसी समस्या के समाधान के बारे में अपने विभिन्न सुझाव तथा उपाय प्रस्तुत करते हैं।

2. **निरीक्षण:** ओ एण्ड एम शाखा के विश्लेषण विशेषज्ञ विभागीय अधिकारियों के साथ मिलकर उनके कार्यालय का निरीक्षण करते हैं। कर्मचारियों के काम में सुधार के लिए और अपेक्षित मापदण्डों के अनुसार निश्चित काम कर्मचारियों से लेने के उपाय बताकर उनको सहायता देते हैं। ओ एण्ड एम शाखा का निरीक्षण विभागाध्यक्षों के निरीक्षण से सर्वथा भिन्न होता है। इसका उद्देश्य प्रबंधकों को इस बात में सहायता देना होता है कि किन कारणों से काम में कमी आ रही है और इसे किस प्रकार दूर किया जा सकता है।

3. **फॉर्म नियंत्रण:** आज के युग में शासन चलाने के लिए अनेक फॉर्मों (प्रपत्रों) की आवश्यकता होती है। फॉर्म नियंत्रण का लक्ष्य यह है कि सरल फॉर्मों के माध्यम से उत्तम कार्यो पद्धति प्राप्त की जाए। इसके लिए ओ एण्ड एम इकाई अनेक कदम उठाती है। उदाहरणार्थ-अनावश्यक फॉर्मो को हटा देना, आवश्यक फॉर्मो के स्वरूप में सुधार करना, फॉर्मो के छापे जाने में मिव्ययिता के सुझाव देना आदि।

4. **कार्य-माप:** यह ऐसी रीति है जिससे किसी कार्यालय द्वारा किए जाने वाले कार्यो तथा इसे करने वाले व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन किया जाता है। इसमें यह देखा जाता है कि एक व्यक्ति अपना पूरा कार्य ठीक ढंग से निश्चित अवधि के भीतर पूरा कर रहा है या नहीं। इसमें एक ओर तो किसी नापे जाने वाले कार्य की सही व्याख्या और लक्षण किया जाता है तथा दूसरी ओर इस कार्य को करने में लगाए जाने वाले काम के घण्टों का पूरा हिसाब रखा जाता है। यह तकनीक यांत्रिक और ऐसे लिपिकीय कार्यो में सफलतापूर्वक प्रयुक्त की जा सकती है, जिसमें किसी कार्य को बार-बार दोहराया जाता है। इस तकनीक की सफलता इस बात पर निर्भर है कि किए जाने वाले कार्य के तथा काम के घण्टों का पूरा प्रामाणिक तथा विस्त त रिकार्ड रखा जाए।

   कार्यमाप के लिए तीन प्रकार की पद्धतियाँ प्रचलित हैं-

   i. परीक्षण करने और गलती करके सीखने की पद्धति
   ii. सांख्यिकीय पद्धति
   iii. समय अध्ययन

   इसमें तीसरी विधि का प्रयोग बार-बार दुहराई जाने वाली ऐसी यांत्रिक क्रियाओं के लिए होता है, जो बड़े कारखानों में उत्पादन के लिए प्रयोग में लाई जाती है। यह कार्य-माप प्रबंधकों के लिए बड़ी उपयोगी पद्धति है, क्योंकि इसकी सहायता से प्रबंधकों को यह पता लग जाता है कि किसी निश्चित समय में एक व्यक्ति द्वारा कितना कार्य किया जा सकता है। इसके आधार पर वह अपने समूचे कार्य की योजना और बजट बना सकता है और पहले से ही यह निश्चित कर सकता है कि किस काम को कितनी अवधि में पूरा किया जा सकता है।

5. **कार्य सरलीकरण:** प्रक्रिया के सरलीकरण द्वारा प्रबंधक की बहुत सी समस्याओं पर काबू पा लिया जा सकता है। कार्य सरलीकरण से तात्पर्य है काम करने की कम थकाने वाली विधियों का विकास करना। डॉ. अवस्थी एवं माहेश्वरीका कहना है कि '**कार्य सरलीकरण O & M का हृदय है।**" प्रबंध की एक प्रमुख समस्या 'लालफीताशाही' की बुराई को कम करना है। इस समस्या का प्रत्यक्ष संबंध कार्य सरलीकरण से है। इसके अंतर्गत कार्यविधि की समस्या को सरल तथा मितव्ययी बनाने की कोशिश की जाती है। इसमें प्रक्रियाओं का अनवरत् रूप से मूल्यांकन होता रहता है। कार्यसरलीकरण वितरण चार्ट तथा प्रक्रिया चार्ट का मिश्रण है।

6. **स्वचालन:** स्वचालन कार्य की विलम्ब संबंधी समस्याओं को हल करने का एक उपाय है। इसमें कार्यालयों की बहुत-सी क्रियाएं मनुष्यों द्वारा न की जाकर मशीनों अथवा यंत्रों द्वारा की जाती है, जैसे-सूची बनाना, सारणी तैयार करना, छाँटना, छिद्र करना संगणना आदि।

   स्वचालन धीरे-धीरे बड़े संगठनों की कार्यविधियों का रूप बदल रहा है। कार्यालय में स्वचालन के प्रयोग के कुछ उदाहरण हैं। विद्युद्णु द्वारा विवरण तैयार करना (Electronic Data Processing), छिद्रित कार्ड (Punched Card) बनाना, एकीक त विवरण तैयार करना आदि। इन कार्यो के लिए विद्युद्णु संगणक (Electronic Computers) काम में लाए जाते हैं।

7. **नस्तीकरण प्रणालीः** नस्तीकरण प्रणाली अभिलेखों को क्रमबद्ध अनुक्रम में व्यवस्थित करने की रीति है। नस्ती में से कोई विशेष अभिलेख सरलता से खोज निकालने के लिए यह प्रणाली आवश्यक है। नस्ती का एकमात्र लाभ यह है कि आवश्यकता पड़ने पर अभिलेख तुरंत मिल जाते हैं। नस्ती की व्यवस्था का सीधा प्रभाव दैनिक कार्यो की गति तथा कार्यकुशलता पर पड़ता है। अनुपयुक्त नस्ती व्यवस्था से कार्यवाही में विलम्ब होता है तथा निर्णय में बाधा व कार्य में अवरोध उत्पन्न होता है। अतएव ओ एण्ड एम इकाई कार्यालयों को नस्तीकरण के मामले में सहायता देती है और उसकी विधि सिखाती है।

   नस्ती संबंधी सामग्री को चार मोटे भागों में वर्गीक त किया जा सकता है-

   i. ऐतिहासिक या अभिलेखीय

   ii. स्थायी

   iii. अस्थायी

   iv. केवल प्रचलित मूल्य

   अभिलेख प्रबंध की एक महत्त्वपूर्ण तकनीक माइक्रोफिल्मिंग है।

कार्य अध्ययन

उच्चतर उत्पादन हेतु कार्य का सूक्ष्म विश्लेषण करने की क्रिया को कार्य अध्ययन करते हैं। इसका उद्देश्य क्रमबद्ध पद्धतियों तथा किसी वैज्ञानिक तरीके से कार्य का सरलतम, सुगमतम अधिक प्रभावशाली तथा अधिक मितव्ययी मार्ग खोज निकालना है। संकीर्ण या व्यापक अर्थ में यह कार्य का विश्लेषण करने की केवल एक क्रमबद्ध तथा विवेकपूर्ण तकनीक है। इस शब्द के प्रयोग में "पद्धति अध्ययन (Method Study) तथा कार्यमाप (Work Measurement) की तकनीकें सम्मिलित हैं जिनका प्रयोग किसी कार्य विशेष को पूरा करने में मानवीय तथा भौतिक साधनों का अधिकतम प्रयोग करने के लिए किया जाता है।" इस अर्थ में कार्य अध्ययन की प थक् किंतु वे अन्योन्याश्रित तकनीकें भी आती हैं जिनका नाम पद्धति अध्ययन तथा कार्यमाप है। पद्धति अध्ययन का लक्ष्य कार्य की पद्धतियों में सुधार करना है ताकि कर्मचारी वर्ग, उपकरण, लेखन-सामग्री, स्थान इत्यादि का अधिक अच्छा उपयोग हो सके। कार्यमाप का संबंध कार्यभार (Task) की कार्य वस्तु (Work-content) से है, जो मानवीय प्रभावशीलता को निर्धारित करता है। इनमें मानवीय शक्ति की आवश्यकताओं को निश्चित करने के लिए कार्यपालन में आवश्यक समय की मात्रा को माप लिया जाता है। विस्त त अर्थ में कार्य अध्ययन शब्द के अधीन सभी "क्रमबद्ध कार्यकलाप होता है जिसका संबंध कार्य के अनुसंधन, अभिलेख, माप तथा सुधार से है।" इस अर्थ में कार्य अध्ययन में कार्य के वे सभी पहलू आ जाते हैं जिनका प्रभाव उपलब्ध साधनों के उपयोग पर पड़ता है, और इनमें संगठन का विश्लेषण पद्धति अध्ययन, कार्य माप, कार्य सरलीकरण, प्रपत्र विश्लेषण, स्थान, कर्मचारीवर्ग तथा उपकरण का उपयोग तथा कार्य अनुसंधान के अन्य तत्व आ सकते हैं। संघीय वित्त मंत्रालय की कर्मचारी निरीक्षण इकाई इस शब्द का प्रयोग विस्त त अर्थ में करती है।

विशेष प्रकार के कार्य अध्ययन में तीन मुख्य तत्व होते हैं पद्धति अध्ययन, कार्य माप तथा संगठन का विश्लेषण कर्मचारी निरीक्षण इकाई में कार्य अध्ययन में व्यवहारतः तीन अंतः संबंधी तत्व होते हैं।

1. कार्य पद्धतियों या उस तरीके का अध्ययन जिससे कार्य का अपेक्षाक त सरलीकरण एवं सुधार की द ष्टि से अध्ययन किया जाता है। इन अध्ययनों का परिणाम यह होता है कि खर्चीले तथा प्रभावहीन कार्य की कार्यविधियाँ अधिक युक्तिपूर्ण तथा सरल पद्धतियों को अपना लेने के कारण समाप्त होती जाती है। इस प्रकार के क्रियाकलाप को पद्धति अध्ययन कहते हैं।

2. व्यक्ति और इकाई द्वारा किए गए कार्य के लिए उचित तथा वास्तविक मानदण्ड के अनुसार किए गए कार्य की मात्रा का विश्लेषण करके कर्मचारीवर्ग की आवश्यकताओं का मूल्यांकन करना। इस पद्धति में कार्यमाप तथा कार्य सम्पादन के प्रमापों का विकास शामिल है।

3. विद्यमान संगठनात्मक संरचना के कार्य का विश्लेषण और किसी ऐसे संगठनात्मक नमूने का विकास जिससे कार्य की संशोधित कार्यविधियों के लाभ प्राप्त हो सकें।

कार्यमाप

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने इसकी इस प्रकार परिभाषा दी है। "कार्यमाप किसी विशिष्ट कार्य की विषय-वस्तु को पूरी करने के लिए आकल्पित की गई तकनीकों का ऐसा प्रयोग है जो किसी योग्य कर्मचारी द्वारा निश्चित स्तर पर उसे कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक समय निर्धारित करके किया जाता है।" कार्य माप को कभी-कभी कार्य संपादन का मूल्यांकन या कार्य सम्पादन का विश्लेषण या कभी-कभी कार्य सम्पादन का लेखा परीक्षण भी कहते हैं। इसका प्रयोजन प्रशासन को वे साधन प्रदान करना है जिनके द्वारा वह कार्य उत्पादन तथा मानव शक्ति के बीच समुचित प्रबंध स्थापित कर सके। इसे किसी रूप में भी किसी कार्य में लागू किया जा सकता है। फिर भी सामान्यतः यह तकनीक ऐसे कार्य संबंध में अधिक अच्छी तरह प्रयोग में लायी जा सकती है जो मापी तथा पहचानी जा सके, तथा जिन्हें पुनरावर्तनीय इकाइयों का रूप दिया जा सकता हो। दूसरी ओर, कुछ प्रकार के क्रियाकलाप तथा/या पद ऐसे होते हैं, जो कार्य-माप की तकनीकों की आवश्यकता को नहीं समझते हैं। इस श्रेणी में चोटी के प्रशासकीय पद अंवेषण योजना, अग्निशमन सेवा आदि संबंधी कार्य आते हैं।

उद्देश्य

1. कार्य अनुसूचीयन तथा वैयक्तिक दायित्वों पर उत्तम आन्तरिक नियंत्रण।
2. आधुनिक प्रभावशाली तरीके से बजट-निर्माण, व्ययों का पूर्वानुमान तथा आवंटन।
3. पद्धति सरलीकरण तथा संगठनात्मक प्रभार के लिए आधार का निर्माण तथा भावी कार्यवाही के लिए लाभदायक आधार सामग्री प्रदान करना।
4. यथार्थ तथा उचित उत्साहवर्द्धक योजनाएँ बनाने में सहायता देना।

लाभ

1. कार्य को पूरा करने के तदर्थ मानदण्डों के स्थान पर अधिक युक्तिपूर्ण मानदण्डों की स्थापना की जाती है।
2. कार्य को कुशलतापूर्वक निपटाने के लिए आवश्यक मानव शक्ति और कार्यभार के बीच संतुलन स्थापित किया जाता है।
3. सम्पादित कार्य के आंतरिक मूल्य के साथ कार्य के लिए आवश्यक कर्मचारियों के नमूने की उपयुक्तता का निर्धारण।
4. कार्य सम्पादन के लिए उपयुक्त साधनों का विकास तथा कर्मचारी वर्ग की शक्ति में सुविधा संबंधी संशोधन करना।

माप की इकाइयाँ

माप की दो इकाइयाँ हैं-कार्य इकाई (work unit) तथा समय इकाई (Time Unit)। कार्य इकाई के चयन में माप किए जाने वाले कार्य के स्तर विशेष का प्रभाव पड़ता है। क्रिया, प्रक्रिया तथा प्रवर्तन-क्रम स्तरों का ही अधिक प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार जिस कार्य इकाई का माप करना है उसमें कार्य के ये क्रम हो सकते हैं-प्रार्थनापत्र जिसकी समीक्षा की गयी हो, लिखा गया कोई पत्र या कोर्ट परीक्षित प्रमाणक (Voucher) या कोई विशेष प्रक्रिया जिसका कार्य से निकट का संबंध हो। समय इकाई प्रायः घण्टा तथा मिन्टों से संबंध रखती है। कभी-कभी यह आवश्यक होता है कि कार्य का संबंध समय की बड़ी-बड़ी इकाइयों से स्थापित किया जाय, जैसे एक दिन, एक सप्ताह या एक माह, किंतु प्रायः घण्टे की इकाई का ही प्रयोग किया जाता है। कार्य इकाइयों का माप समय के अनुपात में प्रकट किया जाता है, जैसे कितने समय के भीतर कितना उत्पादन हुआ है। अनुपात यह देखकर प्रकट किया जा सकता है कि कार्य की एक इकाई को या कुछ इकाइयों को पूरा होने में कितना समय लगा या अनुपात इस तरह भी प्राप्त किया जा सकता है कि एक समय इकाई में कितना कार्य हुआ, और इस प्रकार इसे हम यह कहकर भी स्पष्ट कर सकते हैं कि प्रति घण्टा या प्रतिदिन इतना कार्य हुआ है।

तकनीकें

1. अनुभवजन्य अनुमान पद्धति
2. सांख्यिकी माप या कार्य प्रतिदर्श पद्धति
3. विराम घड़ी प्रमाण द्वारा माप या समय अध्ययन पद्धति

1. **अनुभवजन्य अनुमान पद्धतिः** इस पद्धति के अंतर्गत प्रमाप प्रायः सामान्य अवलोकन, जाँच तथा त्रुटि, अनुभव एवं पर्यवेक्षकों, प्रवर्तकों व विश्लेषकों के सम्मिलित निर्णयों पर आधारित होता है।

   इस पद्धति के लाभ हैंः

   i. इसमें जटिल वैश्लेषिक तकनीकों का प्रयोग नहीं करना पड़ता।

   ii. निर्णय अपेक्षाक त शीघ्र होते हैं तथा माप में खर्च भी अधिक नहीं होता।

   हानियाँः इस पर निर्भर रहना संदेहपूर्ण है क्योंकि यह पद्धति कितनी ठीक रहेगी यह कहा नहीं जा सकता तथा प्रस्तावित प्रमापों के विषय में मतभेद दूर करने के लिए तथ्य न होने पर कठिनाइयाँ आती हैं।

2. **कार्य-प्रतिदर्श पद्धतिः** यह सांख्यिकी पद्धति है इसे क्रिया प्रतिदर्श भी कहते हैं जिसमें लंबे समय तक कार्य का अवलोकन करके उसका माप प्राप्त करने के स्थान पर कार्य के प्रतिदर्शन या सैम्पल से काम लिया जाता है। इस तरीके का सिद्धांत यह है कि यदि सैम्पल कार्य के समय के वास्तविक योग का प्रतिनिधि है और शुद्ध तकनीकों के अनुसार प्राप्त किया गया है तो एक सैम्पल माप के प्रयोजनों के लिए काफी शुद्ध होता है। सैम्पल के अवलोकन का प्रयोग करने के फलस्वरूप कार्य का परीक्षण करने में समय लगता है, और जब समुचित रीति से सैम्पल का परीक्षण किया जाता है तो कर्मचारियों को कम से कम परेशानी होती है। कार्य-प्रतिदर्श पद्धति में कार्य की चेष्टाओं की विशेषताओं का अध्ययन यह देखने के लिए करना पड़ता है कि कर्मचारियों (या एक कर्मचारी) का समय किस प्रकार बाँटा गया है। कार्य के सैम्पल का लक्ष्य यह देखना है कि सम्पूर्ण प्रयत्न (work effect) को विभिन्न चेष्टाओं में किस प्रकार वितरित किया गया है, कितना समय उत्पादक तथा कितना अनुत्पादक है, क्या अनुत्पादक समय का अनुपात बहुत अधिक है, और क्या जितना समय व्यतीत किया गया है वह प्राप्त परिणाम के अनुसार उचित है।

3. **समय पद्धति अध्ययनः** समय अध्ययन पद्धति का प्रयोग दैनिक, पुनरावर्ती तथा बड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाले प्रवर्तनों के लिए वहाँ किया जाता है जहाँ श्रम मूल्य उत्पादन मूल्य की इकाई का एक महत्त्वपूर्ण भाग होता है। इस पद्धति में विशेषतः प्रशिक्षित टेकनीशियनों की आवश्यकता होती है, और इसमें कार्य समय तथा धन काफी मात्रा में लगता है। कम प्रमाणिक कार्यो के लिए पद्धति इतनी अधिक खर्चीली है कि व्यय को देखते हुए कोई लाभ नहीं होता।

   कार्य पद्धति का चरम रूप 'निर्मित विराम-घड़ी प्रमाप' है। इन मापदण्डों या प्रमापों का विकास परिष्क त समय-माप पद्धतियों में कार्य का अध्ययन विस्तार से किया जाता है और-

   i. उसका वर्गीकरण बुनियादी पत्रों तथा गतियों में किया जाता है।

   ii. कार्य-सम्पादन के कुशलतम मार्ग का भी विकास किया जाता है और उसमें उपकरणों, कार्य-स्थान तथा कार्य-प्रवाह की गुंजाइश होती है।

   iii. विराम घड़ी या माइक्रोमोशन अध्ययनों द्वारा विस्तार से समय दर्ज करके शुद्ध समय मूल्य प्राप्त किए जाते हैं।

   iv. कार्य संबंधी सारे तत्वों की गणना एकत्र करके, समय का औसत निकालकर तथा समन्वय करके तथा थकान, विश्राम के घण्टे और कार्य प्रवाह के विलम्बों से उत्पन्न अनुत्पादक समयों कके लिए तत्वों को सामान्य एवं समतल करके प्रमाणिक समय-उत्पादन के अनुपात निकाले जाते हैं।

सूचना प्रौद्योगिकी

सूचना तकनीक के क्षेत्र में पिछले एक दशक में आई क्रांति ने अब अपना प्रभाव देखना शुरू कर दिया है। आज एक छोटे से कम्प्यूटर का पुश बटल दबाकर विश्व के किसी भी कोने से संपर्क कायम किया जा सकता है। एक छोटे से मोबाइल फोन से आप न केवल संदेश, बल्कि चाहें तो अपने अतिगोपनीय दस्तावेज की फोटो कॉपी इच्छित व्यक्ति तक पहुँचा सकते हैं। सूचना औद्योगिकी ने दैनिक कार्य-प्रणाली से लेकर चिकित्सा, स्वास्थ्य, कृषि, बैंकिंग, बीमा के साथ-साथ शिक्षा के क्षेत्र में भी व्यापक परिवर्तन का आधार बनता जा रहा है। घर बैठे किसी भी पुस्तकालय की पुस्तक पढ़ना अथवा किसी भी चिकित्सक से परामर्श लेना अब साधारण-सी बात हो गई है। इंटरनेट के माध्यम से विश्व के किसी भी बेहतरीन डिपार्टमेंटल स्टोर से खरीदारी करना पड़ोस की दूकान से सामान खरीदने से ज्यादा सरल हो गया है। सूचना क्रांति की ध्वज वाहक बनने वाली इस तकनीक के विभिन्न आयामों की चर्चा इस लेख में सारगर्भित रूप से की गई है।

सूचना के क्षेत्र में इस नई क्रांति का सूत्रपात 19वीं शताब्दी के टेलीग्राफ के आविष्कार के साथ हो गया था। बाद में रेडियो, ट्रांजिस्टर, टेलीफोन, सेल्युलर फोन, कम्प्यूटर, दूर संचार उपग्रह, टेलीविजन, इंटरनेट, वीडियोफोन, प्रिंटर, मल्टीमीडिया इत्यादि ने इस प्रौद्योगिकी को वर्तमान क्रांतिकारी स्वरूप प्रदान किया। इन सबमें कम्प्यूटर के बिना सूचना प्रौद्योगिकी के वर्तमान स्वरूप की कल्पना करना बेमानी है। आज पूरे विश्व में औद्योगिक रूप से विकसित समाज ऐसे सूचना समाज में परिवर्तित होता जा रहा है। जो कम्प्यूटर के बिना एक सेकंड भी जीवित नहीं रह सकता। कम्प्यूटर आज सूचना-तंत्र का एक प्रमुख हिस्सा हो गया है।

कम्प्यूटर

भारत में कम्प्यूटर का प्रवेश सन् 1950 में इकाई संसाधन मशीनों तथा डेस्क टाप कम्प्यूटर्स के रूप में हुआ आज जो हम उन्नत कम्प्यूटर देख रहे हैं उसकी प्रारंभिक रूप सेवा सन् 1642 में 18 वर्षीय वैज्ञानिक ब्लेज पास्वल ने एक यांत्रिक संगणक के रूप में प्रस्तुत किया था। इस यंत्र का नाम पास्कल रखा गया था। सन् 1833 में ब्रिटेन के गणितज्ञ चार्ल्स बेवेज ने एक मशीन का आविष्कार किया जिसको एनेलिटिक इंजन नाम दिया गया। पूर्णतः स्वचालित इस इंजन में इनपुट, मेमोरी, अर्थमेटिक आउटपुट तथा केट्रोल यूनिटें थी। यह मशीन 20 स्थानों तक शुद्ध और 60 जोड़ प्रति मिनट गति से गणना करती थी। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद गणना करने वाले यंत्रों की बढ़ती मांग को देखते हुए अमरीकी वैज्ञानिक डॉ. हारवर्ड माइकन ने अंतर्राष्ट्रीय व्यापार कंपनी के सहयोग से सन् 1944 में हारवर्ड विश्वविद्यालय में पहले कम्प्यूटर मार्क-1 (Mark-1) का विकास किया। यह कम्प्यूटर चार्ल्स बेवेज के सिद्धांत पर आधारित था। इसमें इनपुट अर्थात् आँकड़ों के भरने के लिए छिद्रित टेपों तथा कार्डो का उपयोग किया गया था। सन् 1945 में डॉ. जान माचले ने इलेक्ट्रिोनिक कैलकुलेटर तैयार किया जिसे ई.एन.आई.ए.सी. नाम दिया गया। सन् 1950 में अमरीका के निजी उद्यमियों ने कम्प्यूटर उत्पादन के क्षेत्र में कदम रखा। लगभग इसी समय भारत में भी कम्प्यूटर ने प्रवेश किया।

कम्प्यूटर का विकास

वर्तमान में कम्प्यूटर प्रयोग किया जा रहा है वह चौथे चरण का कम्प्यूटर है। पाँचवें चरण के कम्प्यूटर के विकास के लिए शोध तथा अनुसंधान जारी है। पहल पीढ़ी के कम्प्यूटरों का निर्माण सन् 1944 में किया गया था। ये वैक्यूम ट्यूब-बल्बों पर आधारित थे। इन कम्प्यूटरों में इलेक्ट्रानों के प्रवाह का प्रयोग किया गया था। सन् 1948 में ट्रांजिस्टर के आविष्कार के बाद सन् 1956 में दूसरी पीढ़ी ने कम्प्यूटर का विकास किया। इस कम्प्यूटर में ट्रांजिस्टर का प्रयोग किया गया। सन् 1965 में कम्प्यूटर की तीसरी पीढ़ी अस्तित्व में आई। इन कम्प्यूटरों में सिलिकॉन चिप्स का उपयोग किया गया था। अभी तक कम्प्यूटरों का प्रयोग शोधशालाओं में वैज्ञानिकों द्वारा किया जाता था, किन्तु सिलिकॉन चिप्स का प्रयोग शुरू होने के बाद इसी वर्ष कम्प्यूटर बाजार में जनसाधारण के लिए उपलब्ध हुए। कम्प्यूटर की चौथी पीढ़ी सन् 1971 के बाद अस्तित्व में आई। अब वैज्ञानिक पाँचवीं पीढ़ी के विकास की दिशा में संलग्न है।

जनवरी 2000 में पुणे में संपन्न विज्ञान कांग्रेस में अप्रवासी वैज्ञानिक ई.सी.जी.सुदर्शन ने लगभग 5 वर्षों के अंदर विकसित हो जाने वाले पाँचवी। पीढ़ी के क्वांटम कम्प्यूटर की क्रिया-विधि की जानकारी दी थी।

भारत में इंटरनेट

भारत में इंटरनेट सुविधा की शुरूआत 5 अगस्त, 1995 में हुई। 1991 में आर्थिक उदारीकरण की प्रक्रिया की शुरूआत के साथ-साथ भारत को सूचना राजमार्ग के रूप में इंटरनेट की सुविधा मिलना भारत को सूचना राजमार्ग के रूप में इंटरनेट की सुविधा मिलना भारत के लिए एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी। उदारीकरण के लाभ का जन-जन तक पहुँचाने की राष्ट्रीय नीति के अंतर्गत सन् 1995 से इसे जनसाधारण के लिए मुक्त कर दिया गया। पूर्व में यह सुविधा केवल शिक्षण संस्थानों, अनुसंधानशालाओं तथा सरकारी उपक्रमों का अर्नेट एवं निकनेट के द्वारा ही उपलब्ध थी।

वर्तमान भारत में इंटरनेट की सुविधा विदेश संचार निगम लिमिटेड (VSNL) के द्वारा उपलब्ध कराई जाती है। इंटरनेट की सुविधा प्राप्त करने के लिए एक टेलीफोन लाइन, कम्प्यूटर, मोडेम तथा इंटरनेट तक पहुँचाने वाला सॉफ्टवेयर जिसे ब्राउजर कहते हैं, कि आवश्यकता होती है। इंटरनेट का कनेक्शन मिलने के बाद उपभोक्ता इंटरनेट पर उपलब्ध हर प्रकार की सूचना को इच्छानुसार प्राप्त कर सकता है। ये सूचनाएँ शिक्षा, विज्ञान, राजनीति, व्यापार से लेकर खेलकूद, चिकित्सक से परामर्श, नौकरी की तलाश तक विस्त त है।

भारत में विदेश संचार निगम लिमिटेड द्वारा इंटरनेट सेवा के लिए मुम्बई स्थित इंटरनेट एक्सेस नोड को अमरीका और यूरोप के इंटरनेट नोड के क्रमशः उपग्रह तथा समुद्र के नीचे बिछी केबिलों को जोड़ा गया है। भारत के अन्य स्थानों पर रिमोट कंट्रोल एक्सेल नोड स्थापित किए गए हैं। नोड से जुड़ाव के लिए दूर संचार विभाग द्वारा इंटरसिटी लिंक का प्रयोग किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त विदेश संचार निगम द्वारा गेटते पैकेज स्विच सर्विस (G.P.S.S.) रिमोट एरिया मैसेज नेटवर्क (RAMN), आई. नेट के डोमेस्टिक पैकेज स्विच नेटवर्क (DPSN) तथा हाई स्पीड री-सेट नेटवर्क (HRN) इत्यादि से भी जुड़ाव कायम किया जा रहा है, ताकि इसका और विस्तार दिया जा सके।

भारत में इंटरनेट का प्रवेश और विस्तार

भारत में इंटरनेट का प्रवेश हुए अभी सिर्फ 10 वर्ष ही हुए हैं। इस द ष्टि से अभी भारत में इंटरनेट के विस्तार की काफी संभावनाएँ हैं। हमारे देश में इंटरनेट पर उपलब्ध सुविधाओं को प्रचलित करने के लिए नित नई वेबसाइटों आ रही हैं। 1988-99 में भारत में कुल 90 हजार डाटकाम कंपनियाँ रजिस्टर्ड थी। वर्ष 2000 के अंत तक इन कंपनियों की संख्या में 200 प्रतिशत की व द्धि हुई है।

नवंबर 1998 में भारत में निजी इंटरनेट सर्विस प्रोवाइडर (ISP) के आने से पूर्व देश में 1,70,000 इंटरनेट उपभोक्ता थे। 1999 की मई तक उपभोक्ताओं की संख्या में 1,30,000 की व द्धि हुई। मई 1999 में ही 5,00,000 अन्य लोग इंटरनेट से जुड़ने के लिए प्रतीक्षारत् थे। इन्हें ढाँचागत सुविधाओं की कमी के कारण कनेक्शन नहीं दिया जा रहा है। नासकाम (National Association of Software and Services Companies-NASSCOM) द्वारा करवाए गए ताजा सर्वेक्षण के अनुसार देश में वर्तमान इंटरनेट कनेक्शनों की कुल संख्या 6.10 लाख है। जिसके मार्च 2001 तक बढ़कर 14 लाख हो जाने की संभावना है। इसी अवधि में इंटरनेट का उपयोग करने वालों की संख्या 21 लाख से बढ़कर 50 लाख हो जाने की संभावना है। नासकाम के आकलन के अनुसार वित्तीय वर्ष, 1999-2000 में भारत में लगभग 450 करोड़ रूपये का सौदा ई कॉमर्स के द्वारा हुआ है। वर्ष 2000-2001 में इस सौदे में 500 प्रतिशत की व द्धि होना संभावित है। फरवरी, 2000 मुम्बई में आयोजित एक पत्रकार संगठन में जानकारी प्राप्त हुई कि वर्ष 1999-2000 में देश में सॉफ्टवेयर उद्योग का कुल कारोबार 5.7 अरब डॉलर था जो वर्ष 2000-2001 में बढ़कर 8.85 करोड़ अरब डॉलर(लगभग 38,500 करोड़ रूपये) हो जाना संभावित है।

इंटरनेट पर मिलने वाली सुविधाएँ

ई-मेल-ई-मेल (Electronic Mail) सूचना संप्रेक्षण का एकरूप है। इस प्रणाली में नेटवर्क के द्वारा एक कम्प्यूटर को दूसरे कम्प्यूटर से जोड़कर तत्काल सूचना को संप्रेषित करने की सुविधा प्राप्त की जाती है। एक कम्प्यूटर से भेजी गई सूचना को दूसरे कम्प्यूटर से पढ़ा जा सकता है। मुद्रित किया जा सकता है तथा आवश्यकता होने पर सुरक्षित किया जा सकता है। ई-मेल प्रणाली में मोडेम को महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। जब एक कम्प्यूटर सुदूरवर्ती दूसरे कम्प्यूटर के साथ संलग्न मोडेम कम्प्यूटर में भंडारित डिजीटन सूचना कोड को टेलीफोन लाइन द्वारा एनलॉग रूप में परिवर्तित कर दूसरे कम्प्यूटर तक भेजता है। दूसरी ओर दूसरे कम्प्यूटर में डिजीटल रूप में बदलकर भंडारित करता है। इस प्रणाली में एक कम्प्यूटर से दूसरे कम्प्यूटर में संदेश भेजने के लिए दूसरे कम्प्यूटर तक प्रेषित करना है, तो उनके पते की जानकारी होनी जरूरी है। ई-मेल का महत्त्व व्यवसाय एवं औद्योगिक क्षेत्रों में सर्वाधिक है इसके प्रयोग से कम व्यय में ही संदेशों का आदान-प्रदान हो जाता है। एक प ष्ठ ई-मेल का व्यय लगभग 5 रूपया आता है। जो फैक्स, टेलेक्स, एस.टी.डी. अथवा कूरियर से सस्ता है।

भारत में ई-मेल का सर्वाधिक प्रयोग ऑटोमोबाइल, इंजीनियरिंग के क्षेत्र में होता है। भारत में ई-मेल से अधिक तीव्र गति से संदेश पहुँचाने वाली वर्तमान में कोई सेवा नहीं है। ई-मेल के माध्यम से ध्वनि रूप में संदेश भेजने की सुविधा देने वाले टाओटाक नामक सॉफ्टवेयर के साथ एक साउंड कार्ड माइक्रोफोन तथा स्पीकर्स की आवश्यकता होती है। भारत में वर्तमान में 8 कंपनियाँ ई-मेल सुविधा उपलब्ध करा रही है। इनमें विप्रो, वीटीमेल, एक्ससेस, ग्लोबमेल, एक्स ई-मेल तथा स्प्रिंट मेल प्रमुख हैं।

इसके अतिरिक्त विदेश संचार निगम लिमिटेड (VSNL) में एकाउट के द्वारा इंटरनेट पर ई-मेल की सुविधा प्राप्त की जा सकती है। इंटरनेट पर ई-मेल सुविधा का कोई अतिरिक्त शुल्क नहीं देना होता है। वी.एस.एन.एल. द्वारा उपलब्ध कराई गई ई-मेल सुविधा का व्यावसायिक इस्तेमाल करने पर शुल्क देना होता है।

ई-कॉमर्स-ई-कॉमर्स इंटरनेट आधारित उपभोक्ता बाजार की एक नई कार्यप्रणाली है जिसके अतंर्गत इंटरनेट पर ठीक उसी प्रकार वस्तुओं का क्रय-विक्रय किया जाता है। भारत में ई-कॉमर्स अभी प्रारंभिक अवस्था में है। फिर भी इस वर्ष ई-कॉमर्स द्वारा भारत में किया जााने वाला कुल व्यापार 500 करोड़ रूपये तक पहुँच जाने की आशा है। ई-कॉमर्स के माध्यम से सेवाएँ देने वाली भारतीय कंपनियों में मुख्य हैं। अम ल, आई० सी० आई० तथा राष्ट्रीय स्टॉक एकसचेंज, भारत में ई-कॉमर्स से संबंधित विनियमों तथा कानूनों का अत्यधिक अभाव है जिसके कारण इस माध्यम का विस्तार नहीं हो पा रहा है। हाल की में केंद्र सरकार द्वारा ई-कॉमर्स को विस्तार देने की दिशा में कुछ ठोस पहल की गई है।

ई-कामर्स प्रणाली का मुख्य आधार इलेक्ट्रॉनिक डाटा-इंटरचेंज है जिसके अतंर्गत आँकड़ों को परिवर्तित करने तथा स्थानांतरित करने की सुविधा होती है। इस प्रणाली के अंतर्गत ग्राहक जब वेबसाइट पर उपलब्ध सामान को पसंद करके क्रय करता है, तो उसे भुगतान के लिए कम्पयूटर पर उपलब्ध एक फार्म भरना होता है। इस फार्म मे अपना क्रेडिट कार्ड नंबर, देय राशि, पाने वाली फर्म का नाम इत्यादि सूचनाएँ अंकित करनी होती हैं। फार्म के भरते ही ग्राहक के खाते से धनराशि निकलकर विक्रेता के खाते में स्थानांतरित हो जाती है। इलेक्ट्रॉनिक डाटा इंटरचेंज के अंतर्गत अभी हाल में एक नई प्रणाली का सूत्रपात हुआ है। इस प्रणाली के अंतर्गत क्रेता कम्प्यूटर पर अपने डिजिटल हस्ताक्षर द्वारा चेक कहा जाता है। यह प्रणाली उन्हों देशों में लागू है जहाँ डिजिटल हस्ताक्षर को कानूनी मान्यता मिली हुई है।

पेजिंग एंव सेल्युलर: सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में व्यापारिक रूप से परिवर्तन लाने में पेजिग एवं सेलयुलर प्रणालियों का विशेष योगदान है। इन दोनों प्रणालियों में संदेश भेजने के लिए रेडियो तरंगों को प्रयोग किया जाता है। वर्तमान में इस प्रणाली में वैप (Wireless Application Protocal-WAP) नामक तकनीक का समायोजन कर इसे और भी अधिक सक्षम बना दिया गया है। वैप तकनीक की शुरूआत 1999 के प्रथम तिपाही में की गई है। इस तकनीक के माध्यम से सेल्युलर फोन के द्वारा इंटरनेट से जुड़ाव कायम किया जा सकता है। इसमें फैक्स तथा ई-मेल की सुविधा प्राप्त की जा सकती है। इधर बीच वैप का प्रसार काफी तेजी से हुआ हैं अब तक विश्व की लगभग 9 हजार वेबसाइटों से जुड़ने जा रही है। ऐअर रेल ने इंडिया टुडे ऑन वाहन, इंडिया इंफोलाइन तथा इंडिया गाइड के साथ समझौता किया है। भारत में इंटरनेट सेवा प्रदान करने वाली सत्यम् ऑन लाइन द्वारा शीघ्र ही वैप गेटवे की स्थापना देश में की जा रही है। वैप तकनीक पर आधारित फोन गति तथा वैड विड्थ के मामले में कुछ कमजोर है। भारत में वर्तमान में जी० एस० एम० तकनीक का प्रयोग हो रहा है जिसके माध्यम से मात्र 9.6 किलोवाइट्स प्रति सेकंड की गति से सूचनाओं का प्रेषण किया जा सकता है। मई 2000 में जी० पी० आर० एस० नाम नई तकनीक का प्रयोग शुरू हुआ है। जिसकी गति 176.2 किलोबाइट्स प्रति मिनट है। इस तकनीक के लिए अंतर्राष्ट्रीय संस्था मोटोरोला तथा बी० वी० एल० में एक समझौता अभी हाल में ही संपन्न हुआ है। जहाँ तक डाटा ट्रांसमिशन का प्रश्न है तीसरी पीढ़ी की तकनीक जिसे ब्राइबैंड मोबाइल कहा जाता है शीघ्र ही बाजार में आ चुका है।

मोबाइल फोन: देश में वर्तमान में लगभग 1.90 करोड़ लोग मोबाइल फोन का प्रयोग कर रहे हैं। इनकी संख्या में लगातार तेजी से व द्धि हो रही है। 1999 की प्रथम छमाही में लगभग 80,000 लोग मोबाइल फोन से जुड़े, किन्तु बाद के 6 माह में इनकी संख्या प्रतिमाह 70,000 की व द्धि हुई है। जनवरी 2000 में लगभग 87,000 लोग मोबाइल फोन से जुड़े, जबकि फरवरी-मार्च 2000 में प्रतिमाह एक लाख लोग इस सेवा से जुड़े। एक सर्वेक्षण के अनुसाद देश के सेल्यूलर फोन के बाजार में 80 प्रतिशत की व द्धि दर्ज की गई है। गत वर्ष सेल्युयर फोन बाजार का कुल कारोबार 2,252 करोड़ रूपये का था जिसमें हैंट सेटों के बिक्री से 536 करोड़ रूपये अर्जित किए गए।

सेटेलाइट फोन: मोबाइल अथवा सेल्यूलर फोन की भाँति सेटेलाइट फोन भी दूर संचार प्रौद्यागिकी की अनुपम देन है। उपग्रह आधारित मोबाइल फोन के क्षेत्र सेल्यूलर फोन से कहीं अधिक विस्त त तथा व्यापक आधार वाला होता है। सेटेलाइट फोन के माध्यम से किसी भी अन्य स्थान पर तुरंत संपर्क कायम कर सकता है। इस प्रणाली की विशेषता यह है कि एक ही हैंडसेट से फोन, फैक्स तथा पेजिंग सेवा का उपयोग किया जा सकता है।

फैक्स: संचार प्रौद्यागिकी के क्षेत्र में फैक्स एक लोकप्रिय प्रणाली है। फैक्स का उपयोग मुख्यतया दस्तावेजों को भेजने मे किया जाता है। इस उपकरण की सहायता से टेलीफोन नेटवर्क के द्वारा किसी दस्तावेज को दूरवर्ती स्थान पर बिल्कुल इस प्रकार से भेजा जाता है जिस प्रकार से हम किसी दस्तावेज फोटोस्टेट मशीन से प्रतिलिपि प्राप्त करते हैं। फैक्स की प्रणाली त्वरित एवं सस्ती हैं।

वर्ल्ड वाइड वेब: मेल के बाद इंटरनेट पर प्राप्त सर्वाधिक लोकप्रिय सुविधा वर्ल्ड वेब हैं। कम्प्यूटर की दुनिया में इसे W.W.W. कहा जाता है। पहल W.W.W. में केवल लिखित सामग्री ही उपलब्ध थी, किन्तु वर्तमान मे अब वेब पर चित्र, कार्टून, ध्वनि इत्यादि के माध्यम से जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

यूजनेट: यूजनेट ऐसी सुविधा है जिसकी सहायता में नेटवर्क मे निहित सूचनाओं के भंडार को किसी विषय पर आधारित समूह में आ जा सकता है तथा एक विषय पर रूचि रखने वाले व्यक्ति सूचनाओं का आदान-प्रदान एवं विचार-विमर्श कर सकते हैं। यह सुविधा ई-मेल सुविधा की भाँति है, किन्तु इसका विस्तार अधिक है। ई-मेल सुविधा जहाँ एक-से-एक सीमित है। वही यूजनेट सुविधा एक-से-अधिक तक विस्त त है।

टेलनेट: टेलनेट एक ऐसी सुविधा है जिसके माध्यम से जुड़े विश्व के किसी भी कम्प्यूटर पर 'लॉग इन' कर उस पर इस प्राकर कार्य कर सकते हैं। जैसे उक्त कम्प्यूटर का 'की' बोर्ड आपके पास है। इसीलिए इस सुविधित को 'रिमोट लॉग इन' भी कहते हैं। टेलनेट के माध्यम से विश्व के किसी भी पुस्तकालय में उपलब्ध पुस्तक को पढ़ा जा सकता है और उसके किसी पेज का प्रिंट आउट भी निकाला जा सकता है।

पुशनेट: पुशनेट की सहायता से उपभोक्ता अपना संदेश इलेक्ट्रॉनिक बुलेटिन बोर्ड पर भेज सकता है। इस संदेश को इंटरनेट से जुड़ा कोई भी उपभोक्ता पढ़ सकता है। यद्यपि पशुनेट की सुविधा के लिए इंटरनेट की आवश्यकता नहीं होती।

ई-फैक्स: ई–फैक्स सूचना प्रौद्यागिकी की एक नई विधा है। ई–फैक्स की सुविधा इलेक्ट्रॉनिक डाटा इंटरचेंज के माध्यम से उपलब्ध होती है। ई–फैक्स का उपकरण फैक्स मशीन के साथ नेटवर्क डिवाइस जैसी एक छोटी–सी युक्ति लगाने मात्र से काम करने लगता है। जब कोई दस्तावेज ई–फैक्स मशीन पर रखा जाता है, तो स्वयं उस पते को खोज लेता है जहाँ उस दस्तावेज को भेजना होता है। यदि दस्तावेज को एक साथ कई स्थानों पर प्रेषित किया जाना है, तो सर्विस प्रोवाटडर इसे एक साथ कई स्थानों पर प्रेषित कर देता है। ई–फैक्स मशीनों की प्रेषण गति सामान्य फैक्स मशीनों की तुलना में काफी अधिक होती है। इससे समय की काफी बचत होती है। ई–फैक्स अभी भारत में अधिक प्रचलित नहीं हो पाया है।

टेलीटेक्स्ट: टेलीटेक्स्ट वास्तव में एक ऐसी इलेक्ट्रानिक पत्रिका है। जिसे घर बैठे कम्प्यूटर स्क्रीन पर सबसे पहले सूचनाओं की क्रम सूची आती है जिसे देखकर यह जाना जा सकता है कि किस विषय से संबंधित सूचना किस प ष्ठ पर है इसके द्वारा रेलवे की समय–सारणी, बाजार भाव, शेयर बाजार, समारोहों, कार्यक्रमों, बैठकों, टेलीफोन डायरेक्टरी, विमानों की समय–सारणी इत्यादि के बारे में जानकारी प्राप्त की जा सकती है। भारत में टेलीटेक्स्ट सेवा दूरदर्शन, इलेक्ट्रॉनिक विभाग तथा भारत सरकार के उपग्रह नेटवर्क के लिए स्थापित भारतीय राष्ट्रीय सूचना विज्ञान केन्द्र के संयुक्त प्रयास से किया गया है। सभी सूचनाओं को हर समय अद्यतन बनाए रखने तथा उपलब्ध कराने के लिए भारत में एक सूचना बैंक की स्थापना की जा रही है। यह केन्द्र सभी संस्थानों तथा एजेंसियों की सूचनाओं को अद्यतन रूप से प्राप्त कर मेमोरी में संग हीत करेगा तथा इनका प्रेषण करेगा। वर्तमान में देश मे यह सुविधा अंग्रेजी में चुने हुए स्थानों पर प्राप्त है। शीघ्र इस सुविधा को हिंदी भाषा में भी दिए जाने की योजना है।

मल्टी–मीटिया–मल्टी–मीडिया एक तकनीक हैं जो वर्तमान में आधुनिक कम्प्यूटर का एक आवश्यक अंग बन चुका है। पर्व में मल्टी–मीडिया का अर्थ संचार के विभिन्न साधनों के मिले–जुले स्वरूप मे लगाया जाता था, किन्तु सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र मे इस शब्द का अर्थ एक ही कम्प्यूटर पर टेक्स्ट, ग्राफिक्स, एमीनेशन, आडियो, वीडियों इत्यादि सुविधाओं के प्राप्त होने से लगाया जाता है। मल्टी–मीडिया तकनीक से युक्त कम्प्यूटरों पर टेलीविजन के कार्यक्रम देखे जा सकते हैं, संगीत सुन जा सकता है। सी० डी० लगाकर विभिन्न विषयों की जानकारी ली जा सकती है। आम व्यक्तिगत कम्प्यूटरों की तुलना में मल्टी–मीडिया कम्प्यूटरों में ध्वनि ब्लास्टर कार्ड, स्पीकर माइक्रोफोन एवं कांपैक्ट डिस्क ड्राइव शामिल होत हैं, जिन्हें संयुक्त रूप से मल्टी–मीडिया प्रोग्राम का प्रयोग किया जाता है। जिसे सी० डी० रोम कहा जाता है।

उत्पादन सूचना मनोरंजन शिक्षा तथा स जनात्मक कार्यों में मल्टी–मीडिया का जबरदस्त उपभोग है। मल्टी–मीडिया प्रोग्राम दो तरह के हो सकते हैं। लीनियर एवं इंटरएक्टिव प्रोग्रामों में विषय की प्रस्तुति एक बंधे बंधाए रूप मे होती है। इस उपभोक्ता का कोई हस्तक्षेप नहीं होता, जबकि इंटरएक्टिव प्रोग्रामों में उपभोक्ता हस्तक्षेप कर सकता है। मल्टी–मीडिया की डिजिटल तकनीक ने मनोरंजन के क्षेत्र मे जबरदस्त क्रॉति लाई है। फिल्मों तथा विज्ञापन फिल्मों में काल्पनिक द श्यों को वास्तविक रूप

में प्रस्तुत किया जाना आज मल्टी–मीडिया के कारण की संभव हुआ है। बहुचर्चित फिल्म (जुरासिक पार्क) के अधिकाशं दुश्य इसी तकनीक द्वारा तैयार किए गए है।

शिक्षा के क्षेत्र में सूचना प्रौद्यागिकी: सूचना प्रौद्यागिकी के क्षेत्र में हुए क्रांतिकारी परिवर्तनों ने अब शिक्षा का पाठशालाओं और विश्वविद्यालय के दायरे से निकालकर कम्प्यूटर और उसके बटन पर लाकर समेट दिया है। शिक्षा की इस पद्धति को आन लाइन एजूकेशन अथवा साइबर शिक्षा कहा जाता है। ऑन लाइन एजूकेशन को आमतौर पर तीन चरणों में बाँटा जा सकता है। एक तो कम्प्यूटर पर डिस्क लगाकर शिक्षा प्राप्त करना, दूसरा कम्प्यूटर द्वारा विश्वविद्यालय अथवा शैक्षिक कार्यक्रम चलाने वाले संस्थानों से जुड़ाव बनाकर शिक्षा प्राप्त करना, तीसरा इच्छानुसार विषय से संबंधित शिक्षक से कम्प्यूटर द्वारा संपर्क स्थापित कर तथा वार्तालाप कर शिक्षा प्राप्त करना। विश्व स्तर पर होमवर्क हेल्प डाटकॉम, गेट एजूकेटेड डाटकॉम तथा टेक्स्वट प्रेप हेल्प डाटकॉप इत्यादि कई वेबसाइटों पर शिक्षा देने का काम हो रहा है। भारत में इस माध्यम से शिक्षा तथा प्रशिक्षण देने का काम करने वाली संस्थाओं की वेबसाइटों में प्रमुख हैं। एस० टी० वाई० एल० यू० आई० एन० सी० डाटकॉम, स्कूल नेट इंडिया डाटकाम, कैरियर लांचर डाटकाम, आई० आई० टी० बंगलौर तथा एन० आई० आई० टी० बगलौर द्वारा पिछले वर्ष ही ऑन लाइन एजूकेशन की व्यवस्था की शुरूआत की गई है।

इसके अतिरिक्त इनटेल एच० सी० एल० इंफोसिस्टम सफल, माइक्रोसाफ्ट तथा नेशनल इंस्ट्रीट्यूट ऑफ इंफोर्मेशन टेक्नोलॉजी द्वारा भी इस दिशा में तेजी से कार्य किया जा रहा है। इंटरनेट पर अनेक ऐसी वेबसाइटें मौजूद हैं जिनका उपयोग शिक्षा के क्षेत्र में किया जा सकता है। विश्व की अधिकांश बड़ी तथ प्रसिद्ध लाइब्रेरिया इंटरनेट से जुड़ चुकी है। जिनकी पुस्तकों को किसी भी समय न केवल पढ़ा जा सकता है, बल्कि उनका प्रिंट आउट भी निकाला जा सकता है।

भारत में सूचना प्रौद्यागिकी का विस्तार

भारत का दूरसंचार नेटवर्क एशिया के विशालतम नेटवर्कों में लगभग 1,49,000 किमी० रेडियों प्रणाली तथा 1,08,032 किमी० लंबी आप्टिक फालबर प्रणाली कार्यरत है। देश के 18,000 से अधिक केन्द्र एन० एस० डी सुविधा तथा विश्व के लगभग सभी देशों के लिए आई० एस० डी० सुविधा उपलब्ध है। अंतर्राष्ट्रीय जगत् में संचार प्रणाली में आते हुए बदलाव तथा उदारीकरण के प्रति विश्व के अन्य देशों की नीतियों में आए परिवर्तनों को देखते हुए भारत को भी सूचना प्रौद्योगिकी से संबंधित अपनी नीतियों मे बदलाव लाना पड़ा।

1994 में इंटरनेट सुविधा को प्राप्त करने के बाद 15 अगस्त, 1995 में यह सुविधा विदेश संचार निगम लिमिटेड के अंतर्गत करते हुए जनसाधारण के लिए मुक्त कर दी गई। 1994 में ही देश के लिए नई दूरसंचार की नीति की घोषणा की गई। नीति मे सूचना प्रौद्योगिकी संयोजन पर विचार करते हुए एक आधुनिक और कुशल दूरसंचार बुनियादी ढाँचे का निर्माण कर भारत को सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में महाशक्ति बनाने की ओर अग्रसर करने के लिए प्रतिबद्धता की घोषणा की गई। वर्तमान सरकार द्वारा सत्ता प्राप्त करने के तुरंत बाद घोषित राष्ट्रीय एजेंडा में सूचना प्रौद्यागिकी के विस्तार के लिए आधारभूत ढाँचे को उपलब्ध कराने की बात की गई थी। इसी के तहत योजना आयोग के तत्कालीन उपाध्यक्ष जसवंत सिंह की अध्यक्षता के सूचना प्रौद्योगिकी पर कार्यदल का गठन किया गया था।

इस कार्यदल ने 3 नवंबर, 1998 को अपनी अंतिम रिपोर्ट प्रधानमंत्री को सौंपी थी। कार्यदल द्वारा इसके पर्व जुलाई 1998 में एक अंतरिम रिपोर्ट में सूचना प्रौद्योगिकी उद्योग को ढाँचागत उद्योग का दर्जा देने तथा सूचना प्रौद्योगिकी से संबंधित इकाइयों को शुल्कमुक्त आयात की अनुमति देने की अनुशंसा की गई थी। इसके अतिरिक्त कार्यदल मे कम्प्यूटर तथा सॉफ्टवेयर के निर्माण में संलग्न कंपनियों को 6 वर्ष के लिए कर मुक्त करने की अनुशंसा भी की थी। इसके अतिरिक्त देश में सूचना प्रौद्यागिकी को पर्याप्त रूप में विकसित होने के लिए आवश्यक सुविधाएँ मुहैया कराने की सिफारिश भी कार्यदल ने की थी। कार्यदल की संस्तुतियों में से अधिकाशं संस्तुतियों को केन्द्र सरकार द्वारा स्वीकृति दे दी गई है। इसके साथ ही केंद्र सरकार द्वारा वर्ष 1999 में देश में प्रति 500 व्यक्ति पर एक पर्सनल कम्प्यूटर की उपलब्धता थी। सॉफ्टवेयर तथा सेवाओं के निर्यात का लक्ष्य वर्ष 2008 तक प्रतिवर्ष 50 अरब डॉलर का कर देने का निर्धारित किया गया है। वर्ष 1999-2000 मे देश में सॉफ्टवेयर उद्योग का कुल कारोबार 5.7 अरब डॉलर का था। जो वर्ष 2000-2001 में बढ़कर 80.85 अरब डॉलर तक हो जाना संभावित है। विश्व से सॉफ्टवेयर उद्योग में भारत का अंश भाग 0.5 प्रतिशत है जिसे 22 प्रतिशत तक करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।

देश में वर्तमान में इंटरनेट कनेक्शनों की संख्या लगभग 7 लाख है। जो वर्ष 2000-2001 में बढ़कर 14 लाख हो जाने की संभावना है। इसी अवधि में देश मे इंटरनेट का उपयोग करने वालीं की संख्या वर्तमान स्तर 21 लाख से बढ़कर 50 लाख हो जाने की संभावना है। इसी प्रकार देश में सेल्युलर फोन के उपभोक्ताओं की संख्या मार्च 1999 में 10 लाख थी, जो फरवरी 2000 में बढ़कर 15 लाख हो गई है। देश में सेल्युलर फोन एक इस्तेमाल को बढ़ावा देने के उद्देश्य से वर्ष 2000-2001 के बजट में इसके आयात शुल्क को 25 प्रतिश्ता से हटाकर 5 प्रतिशत तक कर दिया गया है।

देश में सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में एक सार्थक पहल करते हुए गत 16 मई, 2000 को लोक सभा द्वारा सूचना प्रौद्योगिकी विधेयक 2000 पारित किया गया है। राज्य सभा द्वारा 17 मई, 2000 को इस विधेयक को पारित करने के बाद यह विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति की प्रतीक्षा में है इस विधेयक के अंतर्गत ई–मेल, इलेक्ट्रॉनिक दस्तावेजों तथा डिजिटल हस्ताक्षरों को कानूनी मान्यता दी गई है। साथ ही सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में बढ़ते साइबर अपराधों पर रोक लगाने के लिए कड़े दंड का प्रावधान किया गया है। देश में सूचना प्रौद्योगिकी के समुचित विकास के लिए इस विधेयक की आवश्यकता पिछले 5 वर्षों से महसूस की जा रही थी। इस विधेयक के अधिनियक बन जाने से देश में सूचना प्रौद्योगिकी उद्योग को जबरदस्त विस्तार मिलने की संभावना है।

अध्याय-32
शिकायत निर्वारण संस्थाएँ
(Grievance Redressal Institutions)

आज दैनिक जीवन में नागरिकों और प्रशासन के बीच निरंतर सम्पर्क रहता है। किसी प्रशासनिक विभाग के साथ नागरिक सम्पर्क के कई उद्देश्य हो सकते हैं, जैसे पानी की सप्लाई, बिजली का कनेक्शन और स्वास्थ्य सेवाएँ प्राप्त करने जैसे सामान्य काम तथा किसी मामले में सलाह और मदद लेने अथवा ऋण, बीज, उर्वरक आदि लेने जैसे व्यक्तिगत काम। सम्पर्कों में जितनी व द्धि होती है, सरकारी नियंत्रण और कायदे-कानून भी उतने ही बढ़ते चले जाते हैं। यह कहा जा सकता है कि इन्हीं नियंत्रणों के दौरान प्रशासक की छवि बनती या बिगड़ती है। जगन्नाथ और मखीजा ने स्पष्ट किया है, "प्रशासन की छवि का बनना-बिगड़ना बहुत कुछ इन संपर्कों पर ही निर्भर करता है। अहं और घमंड भरा रुख, चिढ़ जाना, असभ्य व्यवहार, उचित उत्तर न देना, रूखे तरीके से किसी काम के लिए मना करना, काम टालना और देरी करना-ये सब बातें नागरिकों की द ष्टि में प्रशासक की छवि खराब करती है।"

नागरिकों और प्रशासकों के बीच अलगाव के कई कारण हैं। व्यक्तिगत व्यवहार प्रशासनिक ढाँचा या प्रशासनिक प्रक्रिया तथा कायदे-कानून इस अलगाव के कारण बन सकते हैं। लोगों की अपेक्षाओं और प्रशासन की कार्यकुशलता में बहुत अंतर होने से नागरिकों में असंतोष पैदा होता है। आधुनिक काल में यह बात काफी आम हो गई है। यही असंतोष अक्सर शिकायत का रूप ले लेना है। इसका मतलब है कि नागरिक किसी स्थिति को गलत और दमनपूर्ण मानता है। कभी-कभी जब सरकारी नीतियाँ समाज के किसी संगठित समूह के हितों के प्रतिकूल जाती हैं, तो नागरिकों को नीति से ही शिकायत हो जाती है। इन शिकायतों का समाधान यही है कि विभिन्न दबाव ग्रुपों के जरिए सरकार पर जोर डालकर नीतियाँ बदलवायी जाएँ या उनमें अपेक्षित सुधार किया जाए।

लोग सामान्यतः यह बात भी सोचते हैं कि नीतियों पर उचित तरीके से अमल नहीं किया जा रहा है। कई बार प्रशासनिक प्रक्रिया बड़ी बोझिल और काम करने का तरीका अन्यायपूर्ण लगता है। भ्रष्टाचार के कारण राजनीति और प्रशासन में ईमानदारी तथा निष्ठा की कमी एक अन्य समस्या है। कायदे-कानूनों का कट्टर तरीके से पालन, नागरिकों की शिकायतों तथा प्रतिवेदनों की प्राप्ति तक स्वीकार न करना, विभिन्न मामलों के निपटान में अनावश्यक देरी आदि से लोगों का प्रशासन में विश्वास उठ जाता है।

मोहित भट्टाचार्य के अनुसार, प्रशासन के प्रति लोगों की आम धारणा में निम्न बातें शामिल हैं-

1. कर्मचारियों, खास तौर से निचले स्तर के कर्मचारियों का मदद न करने का रवैया
2. नागरिकों को अपना काम करवाने की सही सरकारी प्रक्रिया की जानकारी न होना
3. अनावश्यक देरी और इंतजार
4. प्रशासन में पक्षपात
5. कर्मचारियों में भ्रष्टाचार
6. काम करवाने में बिचौलियों पर भरोसा करना
7. प्रशासन में गरीबों और अमीरों के बीच भेदभाव-अमीर लोगों की प्रशासन में पहुँच होती है और कर्मचारियों की आम प्रव त्ति गरीबों को टालने और उनकी जरूरतों और हितों को अनदेखा करने की होती है।

डब्ल्यू० ए० रौबसन (W.A. Robson) के अनुसार, "आम नागरिक यह सोचता है कि नौकरशाही अभी भी परंपरागत बुराइयों से मुक्त नहीं हुई है। अधिकारियों में खुद को बहुत बड़ा समझने की प्रव त्ति होती है- या वे अपने पद के नाजायज लाभों के बारे में ऐसा सोचते हैं। नागरिकों की सुविधाओं और भावनाओं के प्रति वे बिल्कुल उदासीन होते हैं। कायदे-कानून और औपचारिकताओं का पालन वे सनक की हद तक करते हैं। लोकतांत्रिक प्रक्रिया में शासकों और लोगों के बीच जो संबंध होने चाहिए, वे उन्हें नहीं समझ पाते।" अगर प्रशासन के प्रति नागरिकों के असंतोष को दूर करने के प्रयास नहीं किये गए तो इससे समाज में व्याप्त तनाव और अव्यवस्था और बढ़ जाएगी। इससे विकास की गतिविधियों में नागरिकों का सहयोग भी मिल सकेगा। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए, सरकार हर स्तर पर नागरिकों की शिकायतें दूर करने का प्रयास कर रही है। प्रशासनिक सुधार समिति ने नागरिकों की शिकायतें दूर करने के बारे में अपनी अंतरिम रिर्पोट में कहा है कि अगर देश की शक्ति उसकी सम द्धि में निहित है तो लोकतंत्र की सुरक्षा और स्थिरता नागरिकों के संतुष्ट होने पर ही निर्भर करती है।

नागरिकों की शिकायतें दूर करने के तरीके
(Methods)

अब तक हमने नागरिकों और प्रशासन के संबंधों के बदलते स्वरूप और नागरिकों के प्रशासन के प्रति असंतोष के कारणों की चर्चा की। जैसा कहा जा चुका है कि सरकारी गतिविधियाँ बढ़ने के साथ-साथ नौकरशाही जीवन के हर पक्ष में छा गयी है। उच्च सरकारी अधिकारियों ने भी नागरिक प्रशासन की समस्याओं को महसूस किया है और इन समस्याओं का समाधान तलाशने के लिए समय-समय पर समितियाँ और आयोग बनाये जाते रहे हैं। उदाहरण के लिए भारत में 1962 में भ्रष्टाचार रोकने के उपाय सुझाने के लिए संथानम (Santhanam) समिति गठित की गई। समिति की राय थी कि सरकारी कर्मचारियों को विभिन्न स्तरों पर अपने विवेक से निर्णय लेने के जो अधिकार दिये गये हैं, उनके इस्तेमाल से "लोगों को परेशान करने, अनियमितताएँ बरतने और भ्रष्टाचार" की गुंजाइश बनती है। प्रशासनिक सुधार आयोग ने लोगों की इन शिकायतों पर भी गौर किया कि प्रशासन में भ्रष्टाचार, व्यापक स्तर पर कार्यकुशलता के अभाव तथा जनता की जरूरतों पर ध्यान ने देने की प्रव त्ति है। ऐसी स्थितियों के हावी होने की स्थिति में यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि अगर प्रशासक किसी नागरिक के मामले न्यायपूर्ण और वैध तरीके से नहीं निपटाता तो नागरिक क्या कर सकता है। इसलिए यह जरूरत महसूस की गई कि नागरिकों की शिकायतें दूर करने के उचित तरीके निर्धारित किये जाएँ और ऐसी कारगर संस्थागत मशीनरी बने जो नौकरशाही को नियंत्रण में रखे और कुप्रशासन को जनता की जरूरतों के अनुरूप काम करने वाले प्रशासन में बदले।

यह कहा जा सकता है कि लोकतंत्र में चुनाव ऐसे दीर्घकालीन उपाय हैं जिनके जरिये जनता सत्ता को अपने नियंत्रण में रख सकती है। मताधिकार नागरिकों का ऐसा शक्तिशाली हथियार है जिससे वे अपनी अपेक्षाओं के अनुरूप काम न करने वाली सरकार को सत्ता से हटा सकते हैं। लेकिन यह उपाय पाँच साल में केवल एक बार इस्तेमाल किया जा सकता है इसलिए इससे नागरिकों की तात्कालिक समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता।

भारत में नागरिकों के पास प्रशासन पर नियंत्रण रखने के मुख्य रूप से तीन महत्त्वपूर्ण तरीके या रास्ते हैं। ये हैं- विधायिकाओं के जरिए न्यायालयों के जरिए और प्रशासनिक उपाय। इनके अलावा, प्रशासनिक भ्रष्टाचार और नागरिकों की शिकायतें दूर करने के लिए अनेक संस्थाएँ भी हैं, जैसे केन्द्रीय सतर्कता आयोग, लोकपाल, लोकायुक्त आदि। अब हम इन तरीकों की चर्चा करेंगे।

संसद/विधानमंडलों के ज़रिए शिकायतें दूर किया जाना

आधुनिक संसदीय लोकतंत्रों का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण यह है कि संसद/विधायिका को नागरिकों की शिकायतें दूर करने का मंच माना जाता है। भारतीय संसद नागरिकों के विशाल समूह की शिकायतों पर चर्चा करने का उपयोगी मंच रही है। राज्यों में भी, नागरिक अपनी शिकायतों के जल्दी निपटाने के लिए विधानमंडलों का सहारा लेते हैं। शिकायतों को संसद/विधायिकाओं में प्रश्नों, विशेष बहसों, स्थगन बहसों और विधायी समितियों के जरिए उठाया जाता है। अब हम इनमें कुछ की संक्षेप में चर्चा करते हैं।

1. **संसदीय प्रश्नः** संसदीय प्रणाली की सरकार में जनता के चुने हुए प्रतिनिधि संसद में प्रश्नकाल के दौरान सरकार की कमियों को बताते हैं। जब संसद का सत्र चल रहा होता है तो जनता से जुड़े कई मामले जैसे पुलिस की ज्यादतियाँ

और दमन के मामले, उठाये जाते हैं। इस समय कोई भी सदस्य संसद/विधानमंडल में कोई भी प्रश्न पूछ कर किसी भी मामले में जानकारी माँग सकता है। लोगों की शिकायतों को समाधान ही सही दिशा में ले जाने का यह महत्त्वपूर्ण तरीका है। प्रश्न राष्ट्रीय, राज्य संबंधी या स्थानीय महत्व के हो सकते हैं।

2. **विशेष बहसः** इन बहसों के जरिए प्रशासनिक गलतियों, कुप्रशासन और अकुशल प्रशासन के मामलों को उठाया जाता है और उन पर चर्चा की जाती है।

3. **ध्यानाकर्षण प्रस्तावः** यह बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव है और इसके जरिए किसी सार्वजनिक हित के तुरंत ध्यान देने की जरूरत वाले मुद्दे पर मंत्री का ध्यान आकर्षित किया जाता है। इस प्रस्ताव से विभिन्न मुद्दों पर जानकारी प्राप्त की जाती है और सरकार के कामों की गलतियों का पता चलता है।

इसके अलावा बजट पर बहस के दौरान जनता की शिकायतें उठायी जाती हैं और विभिन्न प्रस्तावों के जरिए सरकारी नीतियों की आलोचना की जाती है। सरकारी आश्वासनों के बारे में भी एक समिति होती है जो इस बात का हिसाब-किताब रखती है कि मंत्रियों ने सदन में क्या-क्या आश्वासन दिये और संसद को इस बात की रिपोर्ट पेश करती है कि इनमें कितने आश्वासन पूरे किये गए। इस समिति की स्थापना 1953 में की गई थी। संसद की एक प्रतिवेदन समिति भी होती है जो लोकसभा को दिये गए प्रतिवेदनों की जाँच कर उन्हें संबद्ध मंत्रालय या विभाग में जाँच के लिए भेजती है। इससे सरकार को जनहित के मामलों पर ज्यादा ध्यान देने और उन पर तुरंत कार्यवाही करने में मदद मिलती है।

इस विधायी उपायों की उपयोगिता इस तथ्य से सीमित हो जाती है कि संसद/विधानमंडलों के सत्र के दौरान ही इन्हें उठाया जा सकता है। इनमें व्यक्तिगत शिकायतें नहीं उठायी जा सकतीं, जब तक कि इन शिकायतों में सामान्य नीति संबंधी मामला न बनता हो।

मंत्रालयों/विभागों में शिकायतें दूर करने की प्रणाली

अब हम जनता की शिकायतों से सीधे जुड़े हुए कुछ मंत्रालयों/विभागों में शिकायतें दूर करने की प्रणाली की चर्चा करते हैं। लोक प्रशासन की कार्यप्रणाली में कमियों को देखते हुए और जनता के साथ लगातार संपर्क वाले संगठनों में लोगों की शिकायतें दूर करने की कारगर प्रणाली मजबूत करने के लिए मार्च, 1985 में एक अलग प्रशासनिक सुधार और सार्वजनिक शिकायतों का विभाग बनाया गया। जनता से ज्यादा संपर्क वाले कार्यालयों/विभागों में शिकायत कक्ष बनाए गए हैं। एक वरिष्ठ अधिकारी, जिसे शिकायत अधिकारी/निदेशक कहा जाता है, इन मामलों पर निगरानी रखता है। विभिन्न मंत्रालयों और विभागों में, प्रशासनिक सुधार और सार्वजनिक शिकायतों के विभाग और संबद्ध मंत्रालय/विभाग के बीच लगातार बैठकें करके शिकायतें दूर करने का प्रयास किया गया है।

नागरिकों और प्रशासन के बीच संबंध मजबूत करने के लिए अनेक उपाय शुरू किए गए हैं। इन में, जहाँ तक संभव हो, मौके पर ही शिकायत को दूर करना शामिल है। इसके अलावा सार्वजनिक सहायता काउन्टर बनाए गए हैं और कार्यप्रणाली को सुचारू तथा आसान बनाने के प्रयास किये गए हैं। केंद्र और राज्य सरकारों ने सार्वजनिक शिकायतों पर निगरानी रखने की प्रणाली को सक्रिय बनाने और नये तरीके तथा कार्यप्रणाली विकसित करने की दिशा में प्रयास किये हैं। टेलीफोन सलाहकार परिषद् बनायी गई है जिनमें जनता और प्रशासन के प्रतिनिधि समय-समय पर मिलते हैं इससे अनेक समस्याओं को हल करने में मदद मिलती है। इसी तरह ग ह मंत्रालय में आप्रवासी विभाग में पिछले कुछ वर्षों से लोगों की शिकायतें सुनने की नई प्रणाली शुरू की गयी है। लोगों की समस्याओं की अधिकारियों के सामने सार्वजनिक सुनवाई होती है। ऐसा देखा गया है कि ज्यादातर मामलों का तुरंत समाधान हो जाता है। 80 प्रतिशत मामलों में 24 घंटे के अंदर जरूरी कार्रवाई कर ली जाती है। दिल्ली विकास प्राधिकरण में, जहाँ अनेक तरीके की शिकायतें आती हैं और जिसका भूमि प्रबंध, मकान बनाने तथा महानगर के विकास और नियोजन में एकाधिकार है, ऐसी प्रणाली शुरू की गई है। ठीक ऐसे ही कई राष्ट्रीयकृत बैंकों में विभिन्न केंद्रों पर केंद्रीकृत ग्राहक सेवा चलाई गई है जिसमें किसी भी बैंक के खिलाफ लोगों की शिकायतों को सुना जाता है और उनकी जाँच की जाती है।

राज्यों में भी नागरिकों की शिकायतें दूर करने के लिए आवश्यक कदम उठाए गये हैं। विशेष समितियाँ और सलाहकार परिषदें बनाई गई हैं जिनमें जनता के चुने हुए प्रतिनिधि भी शामिल किए जाते हैं। ये समितियाँ सार्वजनिक शिकायतों के मामले में समाधान प्रस्तुत करती हैं। उत्तर प्रदेश में मुख्यमंत्री सचिवालय के सीधे नियंत्रण में सार्वजनिक शिकायत निदेशालय बनाया

गया है। पंजाब में लोगों की शिकायतों को तुरंत निपटाने के लिए पिछले दिनों एक नयी प्रणाली शुरू की गई है। जिसमें जनता सरकार की कार्यप्रणाली के प्रति कोई भी शिकायत आकाशवाणी के जरिए व्यक्त कर सकती है।

यहाँ ये बताना जरूरी है कि उचित प्रशासनिक सुधार और शिकायतें दूर करने में सरकार की मदद करने में स्वयंसेवी संगठनों की महत्त्वपूर्ण भूमिका महसूस की गयी है। स्वास्थ्य और परिवार कल्याण, पेंशन तथा पेंशनभोगियों के कल्याण जैसे कुछ विभागों में स्वयंसेवी एजेंसियों के बारे में स्थायी समितियाँ गठित की गई हैं।

पिछले कुछ वर्षों से प्रचार माध्यमों ने सार्वजनिक राय को प्रभावित करने और सामाजिक चेतना जगाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। समाचार पत्र शिकायतों की अभिव्यक्ति के महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली माध्यम बन गये हैं जो सामयिक मुद्दों पर ध्यान केंद्रित कराते हैं और जिनमें उठाये गये मामलों पर फिर संबद्ध प्रशासनिक विभाग विचार करते हैं। अखबारों की खबरों के ज़रिए कानून और व्यवस्था की स्थिति, कोई मनमानी प्रशासनिक कार्रवाई या बेहतर सुविधाओं की माँग जैसे मामले संबद्ध अधिकारियों तक पहुँचते हैं। समाचार पत्रों के अलावा टेलीविजन और रेडियो भी प्रशासन की कार्यप्रणाली के बारे में लोगों की प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करने और शिकायतों को दूर करने की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

न्यायिक उपाय

राज्य की गतिविधियों में बहुत अधिक व द्धि होने से प्रशासन के पास अनेक कामों को करने तथा अपने विवेक से निर्णय करने के अधिकार और सत्ता आ गई है। इसलिए यह जरूरी हो गया है कि प्रशासन के मनमाने निर्णयों से नागरिकों के हितों की रक्षा की जाए। न्यायपालिका लोगों के अधिकारों की सुरक्षा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। **एल० डी० व्हाइट** के अनुसार, "कर्मचारियों और उनके कामों पर बाहरी औपचारिक नियंत्रण के दो मुख्य रूप हैं- विधायी संस्थाओं (संसद/विधानमंडल आदि) द्वारा तथा न्यायालयों द्वारा। विधायिका का क्षेत्र मुख्य रूप से कार्यपालिका की नीतियों और व्यय पर नियंत्रण रखना है। न्यायपालिका का काम यह देखना है कि प्रशासनिक काम वैध तरीके से हो रहे है या नहीं। इस तरह न्यायपालिका यह सुनिश्चित करती है कि नागरिकों के संवैधानिक और अन्य अधिकारों को गैर-कानूनी तरीके से कम या समाप्त किया जाए।" नागरिकों की ज्यादातर शिकायतें तब होती हैं जब प्रशासन अपने मन से निर्णय लेने के अधिकार के तहत कोई काम करता है। न्यायपालिका ऐसे मामलों में हस्तक्षेप करती है जब कोई अधिकारी या कर्मचारी अपने अधिकार-क्षेत्र के विपरीत काम करता है या कानून की गलत व्याख्या पर किसी नागरिक को नुकसान पहुँचाता है, पद का दुरूपयोग करता है या गलत तरीके से काम करता है।

न्यायपालिका नागरिक की शिकायत पर संबद्ध सरकारी अधिकारी पर मुकदमा चला सकती है। न्यायपालिका प्रशासनिक कार्य के क्षेत्र और कार्य करने के तरीके पर विचार कर उसकी वैधता की जाँच कर सकता है। न्यायालय तब उचित आदेश या निर्देश देकर नागरिक के अधिकारों को लागू करवा सकता है। लेकिन अदालत में ऐसे ही मामले लाए जा सकते हैं जहाँ आरोप लगाया गया हो कि प्रशासनिक कार्य गलत इरादे से किया गया था या संबद्ध प्रशासनिक अधिकारी को यह काम करने का अधिकार नहीं था या काम संविधान या कानून के प्रावधानों के अनुरूप नहीं था।

प्रशासनिक अधिकारियों के कुछ कार्यों के लिए क्षतिपूर्ति की माँग की जा सकती है, जब ऐसे अवैध या गैर-कानूनी कार्य को समाज को नुकसान पहुँचाने वाला बता कर चुनौती दी गई हो।

असाधारण उपचार

ये ऐसे "रिट" (Writ) आदेश होते हैं जिन्हें न्यायालय, सरकारी अधिकारियों द्वारा नागरिकों के अधिकारों का उल्लंघन किये जाने की स्थिति में इन अधिकारों की सुरक्षा के लिए जारी करते हैं। "रिट" न्यायालय के ऐसे आदेश होते हैं जो, जिनके खिलाफ जारी किये जाते हैं उन्हें किसी काम को करने का निर्देश दिया जाता है। इनमें निम्न तरीके के आदेश शामिल हैं:

1. **बंदी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus):** यह उस व्यक्ति के खिलाफ जारी किया जाता है जिसने किसी व्यक्ति को गैर कानूनी तथा अवैध रूप से बंदी बना रखा हो। इस आदेश में न्यायालय बंदी बनाने वाले व्यक्ति को आदेश देता है कि बंदी बनाए गए व्यक्ति को अदालत में पेश करे।

2. **परमादेश (Mandamus):** यह अदालत द्वारा जारी ऐसा आदेश है जिसमें किसी सरकारी अधिकारी या किसी निचली अदालत या अन्य किसी अधिकारी से अपना कानूनी दायित्व पूरा करने को कहा गया होता है।
3. **निषेध (Prohibition):** यह किसी निचली अदालत को दिया गया ऐसा आदेश है जिसमें उसे अपने अधिकार क्षेत्र के बाहर कोई काम नहीं करने को कहा गया होता है।
4. **अधिकार-पृच्छा (Quo Warranto):** अदालत इस आदेश के जरिए किसी व्यक्ति से किसी सार्वजनिक पद पर उसके अधिकार के दावे की वैधता के बारे में पूछ सकती है।

लेकिन न्यायिक नियंत्रण की कुछ सीमाएँ हैं। सभी प्रशासनिक निर्णयों पर विचार करना न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र में नहीं आता और न्यायालय किसी प्रशासनिक निर्णय से नुकसान उठाने वाले व्यक्तियों की शिकायत पर ही हस्तक्षेप कर सकते हैं। साथ ही न्यायिक प्रक्रिया धीमी, बोझिल और महंगी भी मानी जाती है।

लोकहित मुकदमे
(Public Interest Litigation)

भारत में पिछले दिनों यह उपयोगी न्यायिक पहल की गई है। नागरिकों की शिकायतों पर न्यायिक उपचार दिलाने वाला यह प्रगतिशील उपाय भारत में ही नहीं, अमेरिका और इंग्लैंड में भी उपलब्ध है। उच्चतम न्यायालय ने 1978 में उदार रवैया अपनाते हुए सार्वजनिक दायित्व को पूरा करने में कोई कमी और संविधान के उल्लंघन के कारण सार्वजनिक जीवन में हुए नुकसान की स्थिति में नागरिकों को न्यायिक उपचार दिलाने की बात को समर्थन दिया। मरीज़ों को अस्पताल में उचित दवा न मिलना, जेलों का गलत प्रबंध, प्रशासन का पर्यावरण प्रदूषण रोकने में विफल रहना, शैक्षिक संस्थाओं के प्रशासन में अनियमितताओं जैसे कुप्रशासन के मामलों में शिकायतें लोकहित के मामलों के तहत उठायी जा सकती हैं। उच्चतम न्यायालय के नियमों में संशोधन कर बाद में यह प्रावधान भी रखा गया कि कोई भी नागरिक या ग्रुप किसी सरकारी कानून से नुकसान उठा रहे समुदाय की ओर से अपील कर सकता है। इस तरह, भले ही किसी नागरिक की प्रशासन से कोई व्यक्तिगत शिकायत न भी हो पर वह फिर भी ऐसे मामले में शिकायत कर सकता है जब उसकी राय में प्रशासनिक अन्याय हो रहा है।

न्यायमूर्ति भगवती के अनुसार भारत में सामाजिक-आर्थिक बाधाओं के कारण लोग न्यायालयों तक नहीं पहुँच पाते, इसलिए यह जरूरी है कि न्यायिक उपचारों का लोकतांत्रिकरण किया जाए, न्याय प्राप्त करने में प्रक्रिया संबंधी तकनीकी अड़चनें दुर की जाएँ और लोकहित में मामले उठाने की प्रव त्ति को बढ़ावा दिया जाए ताकि वंचित और शोषित लोग भी अपने सामाजिक-आर्थिक अधिकार पा सकें और ये अधिकार उनके लिए वास्तव में सार्थक हो सकें, झूठी आशाएँ भर न रहें। उनकी राय में, "अगर हमें सार्वजनिक दायित्वों का पालन करवाना है और समाज और समूह के अधिकारों को सुरक्षित रखना है तो हमें सार्वजनिक हित में सोचने वाले लोगों को सामान्य अथवा समूह के हित के लिए अदालतों में जाने का अधिकार देना ही होगा, भले ही उनके खुद के हितों पर सीधे-सीधे कोई असर न पड़ रहा हो। तभी हम उनके उत्साह और पहल का लाभ उठा सकतें हैं।"

जहाँ तक भारत का प्रश्न है, देश में कुप्रशासन का मुकाबला करने के लिए अदालतों में मामला दायर करने के कानूनों का उदार होना जरूरी है ताकि सार्वजनिक हित के लिए काम करने को तैयार लोग आगे आ सकें और कुप्रशासन को उजागर कर सकें अथवा किसी उद्देश्य के लिए कुछ काम कर सकें। लोकहितकारीवाद का एक उदाहरण 1982 का (मुन्ना बनाम उत्तर प्रदेश सरकार) मामला था। इस मामले में एक सामाजिक कार्यकर्ता ने कुछ विचाराधीन बाल कैदियों को राहत दिलाने के लिए उच्चतम न्यायालय में याचिका पेश की। यह याचिका एक समाचार पत्र की उस खबर पर आधारित थी जिसमें कानपुर सैंट्रल जेल में बाल-कैदियों पर दुर्व्यवहार किये जाने के गंभीर आरोप लगाए गए थे। उच्चतम न्यायालय ने इस मामले में निर्देश दिये। इस नीति का उद्देश्य भारत में नागरिकों, खास तौर से गरीब और अशिक्षित लोगों को, अतिरिक्त सुरक्षा और सामाजिक न्याय दिलाना है।

प्रशासनिक ट्राइब्यूनल
(Administrative Tribunals)

सामान्य कानूनी अदालतों के अलावा कुछ देशों में प्रशासनिक कार्यवाही के खिलाफ शिकायतों का फैसला करने के लिए प्रशासनिक अदालतें और ट्राइब्यूनल बनाए गए हैं। उदाहरण के लिए, फ्रांस में प्रशासन और नागरिकों के व्यक्तिगत विवादों

पर फैसला लिया जाता है। इन मामलों में अगर किसी सरकारी अधिकारी द्वारा अपनी सरकारी कार्यक्षमता में किये गए किसी काम से किसी नागरिक को नुकसान होता है तो अधिकारी पर मुकदमा चलाया जा सकता है। ट्राइब्यूनलों में निर्णय हर संभव शीघ्रता से लिए जाते हैं। ये आम न्यायालयों से कम खर्चीले हैं और इनमें लोगों की शिकायतों पर तुरंत कार्रवाई होती है।

भारत में विभिन्न कानूनों के जरिए प्रशासनिक ट्राइब्यूनल बने हैं जो नागरिकों की विशिष्ट शिकायतों पर फैसला देते हैं। ऐसे कुछ ट्राइब्यूनल हैं- औद्योगिक ट्राइब्यूनल, आयकर ट्राइब्यूनल, रेल दर ट्राइब्यूनल आदि।

नागरिकों और प्रशासनिक एजेंसियों के बीच विवादों को निपटाने वाले ट्राइब्यूनलों को सामान्य अदालतों की तुलना में कम खर्चीला और कार्यकुशल माना जाता है। इनके प्रमुख विशेष मामलों की बारीकियाँ समझने वाले विशेषज्ञ होते हैं। ट्राइब्यूनलों का कार्य अर्द्ध-न्यायिक है जबकि अदालतों के काम न्यायिक होते हैं। ट्राइब्यूनल प्रशासनिक अधिकारी ही हैं जो न्यायिक दायित्व निभा रहे होते हैं। उदाहरण के लिए, चुनाव विवाद, करों का निर्धारण, औद्योगिक विवादों में फैसला जैसे काम अलग-अलग ट्राइब्यूनलों द्वारा किये जाते हैं।

नागरिकों की प्रशासन से शिकायतों की जाँच करने वाली प्रणाली के अलावा एक ऐसी व्यवस्था की भी जरूरत महसूस की गई जो सरकारी कर्मचारियों की नौकरी से जुड़े मामलों को निपटाए। इस उद्देश्य से प्रशासनिक ट्राइब्यूनल कानून, 1985 पास किया गया। इसमें सरकारी कर्मचारियों को तेजी से और सस्ते में न्याय दिलाने के लिए केन्द्रीय प्रशासनिक ट्राइब्यूनल गठित करने का प्रावधान है। केन्द्रीय प्रशासनिक ट्राइब्यूनल अखिल भारतीय सेवा के कर्मचारियों के ही नौकरी संबंधी मामले देखता है जबकि संयुक्त और राज्य प्रशासनिक ट्राइब्यूनल राज्य सरकारों के कर्मचारियों के नौकरी संबंधी मामले देखते हैं।

आर्थिक प्रशासन में कुछ ही क्षेत्रों में ट्राइब्यूनल बनाए गए हैं। प्रशासनिक ट्राइब्यूनलों के बारे में ए० आर० सी० अध्ययन दल ने सिफारिश की है कि प्रशासनिक ट्राइब्यूनलों की प्रणाली को व्यापक बनाकर इसमें अनेक नये क्षेत्रों को भी शामिल किया जाना चाहिए क्योंकि प्रशासनिक ढाँचे के बाहर किसी एजेंसी द्वारा प्रशासनिक निर्णयों की जाँच करने से ही नागरिकों को वास्तव में न्याय मिल सकता है।

भारत में पिछले कुछ ही दिनों से नागरिकों और प्रशासन के विवाद निपटाने का नया तरीका शुरू किया गया है। लोगों की प्रशासन के खिलाफ सामान्य शिकायतों के निपटान के लिए लोक अदालतें शुरू की गई हैं। इनकी कार्य-प्रक्रिया सरल और सस्ती तो है ही, इनसे पेंशन, सुविधाओं, टेलीफोन, मुवावज़े के दावों आदि का जल्दी निपटान भी हो जाता है। अगर लोक अदालत का फैसला नागरिक या प्रशासन को स्वीकार्य न हो तो कोई भी पक्ष सामान्य अदालतों में जा सकता है।

उपभोक्ता झगड़े निवारण संगठन
(Consumer Disputes Redressal Agencies)

भारत एक विकासशील देश है। इसकी उपभोक्ता की वस्तुओं व सेवा सम्बन्धी एक मुख्य समस्या है। उपभोक्ता में अपने अधिकारों के प्रति अज्ञानता है। इसी कारण 1986 में उपभोक्ता सुरक्षा अधिनियम का निर्माण किया गया। इस अधिनियम के अधीन उपभोक्ताओं के झगड़ों का निवारण करने के लिए त्रि-स्तरीय व्यवस्था का व्यवधान किया गया है। यह त्रि-स्तरीय संगठन इस प्रकार है-

1. **जिला स्तरीय फोरम** **(District Level Forum)**
2. **राज्य स्तरीय आयोग** **(State Level Commission)**
3. **राष्ट्रीय स्तरीय आयोग** **(Nation Level Commission)**

जिला स्तरीय फोरम
(District Level Forum)

जिला फोरम के नाम से जाने वाली उपभोक्ता सुरक्षा संस्था प्रत्येक जिले में राज्य सरकार के आदेश द्वारा स्थापित की जाएगी। यदि राज्य सरकार चाहे तो एक जिले में एक से अधिक फोरमों की स्थापना कर सकती है।

जिला फोरम की रचना (Composition of the District Forum)

जिला फोरम के सदस्यों की संख्या तीन होती है, जिनमें एक अध्यक्ष व अन्य दो सदस्य होते हैं। जिला फोरम का अध्यक्ष एक ऐसा व्यक्ति होता है जो जिला न्यायाधीश (District Judge) के पद पर कार्य कर रहा हो या फिर जिला न्यायाधीश बनने की योग्यता रखता हो या जिला न्यायाधीश रह चुका हो। जिला फोरम के दो अन्य सदस्य वे व्यक्ति होंगे जिन्होंने शिक्षा, व्यापार, उद्योग, कानून, लेखा आदि में विशेष ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त किया हो। इन दो सदस्यों में एक स्त्री का होना जरूरी है।

जिला फोरम के सदस्यों की नियुक्ति (Appointment of members of the District Forum)

जिला फोरम के सदस्यों की नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा चयन समिति (Selection Committee) की सिफारिशों के आधार पर की जाएगी। इस चयन समिति में राज्य आयोग का अध्यक्ष, राज्य के कानून विभाग का सचिव व राज्य में उपयोगी मामलों से सम्बन्धित विभाग का सचिव होता है। जिला फोरम के सदस्यों की नियुक्ति 5 वर्षों के लिए की जाती है। यदि कोई सदस्य 5 वर्षों की अवधि से पहले 65 वर्ष की आयु प्राप्त कर लेता है तो उसे सेवा निव त (Retire) कर दिया जाता है और उसके स्थान पर नए सदस्य की नियुक्ति कर दी जाती है। इसका कोई भी सदस्य दूसरी बार नियुक्त नहीं किया जा सकता। जिला फोरम के सदस्यों के वेतन व सेवा शर्तों (Service Condition) को राज्य सरकार द्वारा निश्चित किया जाता है।

जिला फोरम का अधिकार क्षेत्र (Jurisdiction of District Forum)

जिला फोरम का अधिकार क्षेत्र केवल एक जिले विशेष तक ही सीमित होता है। इसमें कोई भी शिकायत झगड़ा होने के दो वर्ष के भीतर ही की जा सकती है। शिकायत उसी जिला फोरम में दर्ज कराई जाएगी जहां झगड़ा हुआ हो। जिला फोरम को 5 लाख रुपए या इससे अधिक राशि के मुआवजे के प्रश्न को सुनने का अधिकार है। जिला फोरम के सामने की जाने वाली शिकायतें इस प्रकार हैं-

1. वस्तुओं में किसी प्रकार की कमी पाए जाने पर।
2. उपभोक्ता को दी जाने वाली सेवाओं में कमी होने पर।
3. व्यापारी या विक्रेता द्वारा व्यापार के गलत तरीके अपनाए जाने पर।
4. ऐसे माल का विक्रय किए जाने पर जो जीवन सुरक्षा के लिए खतरनाक हो।
5. यदि उपभोक्ता को व्यापारी के कारण नुकसान पहुंचा हो।
6. व्यापारी या दुकानदार द्वारा निश्चित मूल्य से अधिक पैसे लेने की स्थिति में।

शिकायत करने का ढंग (Manner in which complaint shall be made)

जिला फोरम में तीन तरह के व्यक्ति शिकायत कर सकते हैं-

1. उपभोक्ता (Consumer) द्वारा जिसे वस्तुएं बेची गई हों।
2. मान्यता प्राप्त उपभोक्ता संस्था द्वारा (Recognised Consumer Association)
3. केन्द्रीय और राज्य सरकार द्वारा (Central and State Government)
4. उपभोक्ताओं के हित को ध्यान में रखकर एक या अधिक उपभोक्ताओं द्वारा (One or more consumers, where there are numerous consumers having the same interest)

जिला फोरम एक असैनिक न्यायालय की तरह कार्य करती है। जिला फोरम झगड़े से सम्बन्धित सभी कागज़ों (Papers related to conflict) को पेश करने के लिए कह सकती है। प्रत्येक पक्ष को अपना पक्ष रखने का अवसर दिया जाता है। सम्बन्धित पक्ष को कम-से-कम 30 दिन व अधिक-से-अधिक 45 दिन का समय दिया जाता है जिसमें वह अपना पक्ष प्रस्तुत कर सकते हैं।

जिला फोरम के निर्णय (Decision by the District Forum)

साधारणतः एक वर्ष के अन्दर शिकायत प्रस्तुत की जा सकती है लेकिन इस अवधि के बाद भी जिला फोरम शिकायत को स्वीकार कर सकती है। जिला फोरम शिकायत के आधार पर कार्रवाई करती है। तत्पश्चात् निम्नलिखित आदेश दे सकती है -

1. वस्तुओं के नुक्स को दूर किया जाए।
2. वस्तुओं को बदला जाए।
3. वस्तु की कीमत वापिस की जाए।
4. उपभोक्ता को मुआवज़ा दिया जाए। मुआवज़े की रकम जिला फोरम द्वारा निश्चित की जाएगी।
5. सेवा (Service) में कमियों को दूर किया जाए।
6. खतरनाक माल की बिक्री न की जाए।
7. गलत व्यापार के तरीके बन्द किए जाए।
8. उपभोक्ता को उसके द्वारा किया गया खर्च वापस लौटाया जाए।

राज्य स्तरीय आयोग

(State Level Commission)

प्रत्येक राज्य में उपभोक्ताओं की शिकायतों को सुनने के लिए एक आयोग की स्थापना की गई है जिसे राज्य आयोग (State Commission) कहा जाता है। राज आयोग के सदस्यों की संख्या तीन निश्चित की गई है। इसमें एक अध्यक्ष व दो अन्य सदस्य होते हैं। राज्य आयोग का अध्यक्ष उच्च न्याय का न्यायाधीश, या पहले न्यायाधीश रह चुका हो, होता है। राज्य आयोग के अध्यक्ष की नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा उच्च न्यायालय (High Court) के मुख्य न्यायाधीश की सलाह पर की जाती है। राज्य आयोग के अन्य दो सदस्यों को व्यापार, अर्थशास्त्र, वाणिज्य, उद्योग या प्रशासन के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त व अनुभवी होना आवश्यक है। इन दो सदस्यों में से एक महिला सदस्य होती है।

नियुक्ति व अवधि (Appointment and Term)

राज्य आयोग के सदस्यों का चयन एक चयन समिति (Selection Committee) द्वारा किया जाता है। चयन समिति का संगठन इस प्रकार है-

1. राज्य आयोग का अध्यक्ष (President of the State Commission)
2. राज्य के कानून विभाग का सचिव (Secretary of Law Department of the State)
3. राज्य के उपभोक्ता मामलों से सम्बन्धित विभाग का सचिव (Secretary in charge of Department dealing with Consumer affairs of the State)।

राज्य आयोग के प्रत्येक सदस्य की नियुक्ति की अवधि 5 वर्ष होती है अर्थात् सदस्य का चयन 5 वर्ष के लिए किया जाता है। यदि कोई सदस्य अवधि पूरी होने से पहले 67 वर्ष की आयु प्राप्त कर लेता है तो उसे राज्य आयोग की सेवा से मुक्त (Retire) कर दिया जाता है। किसी भी व्यक्ति को दो बार सदस्य नियुक्त (Not eligible for re-oppointment) नहीं किया जा सकता। राज्य आयोग के सदस्यों के वेतन व भत्ते राज्य सरकार द्वारा निश्चित किए जाते हैं।

अधिकार क्षेत्र (Jurisdiction)

उपभोक्ता सुरक्षा अधिनियम, 1986 के अनुसार राज्य आयोग के अधिकार क्षेत्र को दो भागों में बांटा गया है-

1. **प्रारम्भिक अधिकार क्षेत्र (Original Jurisdiction):** 5 लाख से 20 लाख तक के मूल्य की वस्तुओं या सेवाओं से सम्बन्धित मामले सीधे राज्य आयोग में ले जाए जा सकते हैं। इसी तरह 5 लाख से 20 लाख रुपए तक के मुआवज़े के मामले भी राज्य आयोग में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। राज्य आयोग को किसी भी जिला फोरम के रिकार्ड को अपने पास मंगवाने का अधिकार है, यदि उसने अपने अधिकारों का गलत प्रयोग किया है।
2. **अपीलीय अधिकार क्षेत्र (Appellate Jurisdiction):** उपभोक्ताओं को जिला फोरम के निर्णयों के विरुद्ध राज्य आयोग में अपील करने का अधिकार प्राप्त है, यदि वे जिला फोरम के निर्णयों से असन्तुष्ट हैं। अपीलीय क्षेत्र में धन की कोई सीमा निश्चित नहीं की गई है।

3. **राज्य आयोग से सम्बन्धित प्रक्रिया (Procedure applicable to State Commission):** राज्य आयोग एक असैनिक न्यायालय की तरह कार्य करता है। यह किसी भी शिकायतकर्त्ता व जिसके विरुद्ध शिकायत की गई है, को अपने सामने प्रस्तुत होने व शिकायत सम्बन्धी दस्तावेज़ प्रस्तुत करने के लिए कह सकता है। राज्य आयोग के आदेशों की अवहेलना होने पर एक महीने से तीन महीने तक की कैद की सजा दी जा सकती है।

राष्ट्रीय स्तरीय आयोग

(National Level Commission)

राष्ट्रीय स्तर के आयोग को राष्ट्रीय उपभोक्ता विवाद निवारण आयोग भी कहा जाता है। इसके सदस्यों की संख्या उपभोक्ता अधिनियम 1986 द्वारा 5 निश्चित की गई है। आयोग का एक अध्यक्ष व 4 अन्य सदस्य होते हैं। आयोग का अध्यक्ष उस व्यक्ति को नियुक्त किया जाता है जो सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश हो या रह चुका हो। अन्य चार सदस्यों के लिए विभिन्न क्षेत्रों-आर्थिक क्षेत्र, कानूनी क्षेत्र, लेखा व उद्योग क्षेत्र या फिर प्रशासनिक मामलों में ख्याति प्राप्त या अनुभवी होना आवश्यक है। चार सदस्यों में से एक महिला सदस्य का होना अनिवार्य है।

नियुक्ति व कार्यकाल (Appointment and Tenure)

आयोग के सदस्यों की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा चयन समिति (Selection Committee) की सिफारिश पर की जाएगी। चयन समिति का गठन इस प्रकार होता है-

1. आयोग का अध्यक्ष जो सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश होता है उसका नामांकन सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश द्वारा किया जाता है। यह न्यायाधीश चयन समिति का अध्यक्ष भी होता है। (A person who is a judge of the Supreme Court to be nominated by the Chief Justice of India.)
2. भारत सरकार में कानूनी मामलों के विभाग का सचिव (Secretary in the Department of Legal Affairs in the government of India.)
3. भारत सरकार में उपभोक्ता सम्बन्धी मामलों के विभाग का सचिव (Secretary of the department dealing with consumer affairs in the government of India.)

राष्ट्रीय आयोग के सदस्यों की नियुक्ति की अवधि 5 वर्ष होती है अर्थात् सदस्य का चयन 5 वर्ष के लिए किया जाता है। यदि पांच वर्ष से पहले किसी सदस्य की आयु 70 वर्ष की हो जाती है तो उसे सेवा निव त्त (Retire) कर दिया जाता है। किसी भी सदस्य को दूसरी बार नियुक्त नहीं किया जा सकता।

राष्ट्रीय आयोग का स्थान (Seat of National Commission)

राष्ट्रीय आयोग का स्थान (Seat) दिल्ली में होता है। राष्ट्रीय आयोग की बैठकें अध्यक्ष द्वारा आवश्यकता पड़ने पर बुलाई जाती हैं।

वेतन तथा भत्ते (Salaries and Allowances)

राष्ट्रीय आयोग के अध्यक्ष (President) को सर्वोच्च न्यायाधीश (Sitting Judge of Supreme Court) के समान वेतन व भत्ते दिए जाएंगे। दूसरे सदस्यों को 6000 रुपये मासिक पारिश्रमिक (Honorarium) दिया जाएगा, यदि वे पूरे समय के लिए काम करते हैं (If sitting on whole time basis)। यदि सदस्य कम समय के लिए हैं तो उसे 300 रुपये प्रतिदिन के हिसाब से पारिश्रमिक दिया जाएगा ("If sitting on part time basis a consolidated honorarium of three hundred rupees per day for sitting")। वेतन व भत्ते संचित निधि में से दिए जाते हैं।

राष्ट्रीय आयोग का अधिकार क्षेत्र (Jurisdiction of the National Commission)

राष्ट्रीय आयोग को प्रारम्भिक व अपीलीय अधिकार प्राप्त हैं। 20 लाख रुपये तक के माल व मुआवज़े से सम्बन्धित मामले राष्ट्रीय आयोग के पास आते हैं। विभिन्न राज्यों के राज्य आयोगों के निर्णयों के विरुद्ध अपीलें राष्ट्रीय आयोग के पास आती हैं यदि राष्ट्रीय आयोग चाहे तो किसी राज्य आयोग से किसी मामले को उसके पास भेजने के लिए कह सकता है।

राष्ट्रीय आयोग के निर्णय (Decision of the National Commission): राष्ट्रीय आयोग के निर्णय बहुमत द्वारा लिए जाते हैं। यह आयोग एक असैनिक न्यायालय की तरह कार्य करता है। राष्ट्रीय आयोग के निर्णय की अवहेलना की स्थिति में एक महीने से लेकर 3 वर्ष तक की कैद की सज़ा दी जा सकती है। राष्ट्रीय आयोग के निर्णयों के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) में अपील की जा सकती है।

निष्कर्ष (Conclosion)

उपरोक्त चर्चा के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारत में उपभोक्ताओं के हितों की सुरक्षा के लिए विभिन्न व्यवस्थाएं की गई हैं परन्तु इसके बावजूद भी जनता में जाग ति नहीं आई है। उपभोक्ताओं के हितों की वास्तविक सुरक्षा तब ही हो पाएगी जब उन्हें इस क्षेत्र में शिक्षित किया जाएगा।

औम्बड्समेन-लोकपाल और लोकायुक्त
(The Ombudsman-Lokpal and Lokayukt)

जनता की शिकायतों को दूर करने के लिए विभिन्न संस्थाओं ने अनेक अध्ययन किए हैं। वास्तव में अनेक ऐसी प्रक्रियाएं प्रचलित हैं जिनके द्वारा जनसाधारण अपनी शिकायतों को दूर करा सकता है। यदा कदा एक व्यक्ति (नागरिक) अपनी शिकायत के कारणों को समाचार-पत्रों में प्रकाशित करा सकता है। वह अपनी शिकायत के बारे में राज्य विधानमण्डल में या संसद में अपने प्रतिनिधि को लिख सकता है। वह प्रशासन के समक्ष स्वयं प्रस्तुत हो सकता है और यदि वह भाग्यशाली हो तो सम्बन्धित मन्त्री से भी मिल सकता है, परन्तु इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि ये सुविधाएं अत्यन्त सीमित और अपर्याप्त हैं। प्रशासनिक न्याय के विरुद्ध शिकायत करने की वर्तमान प्रक्रियाओं की अपर्याप्तता के कारण ही स्कैण्डेनिवियाई देशों में 'ओम्बड्समेन' नामक एक लोकप्रिय संस्थान बनाया गया था।

'ओम्बड्समेन' का अर्थ है सार्वजनिक डयूटी पर तैनात एक सालिसिटर। सबसे पहले स्वीडन ने इसे वर्ष 1809 में इसके वर्तमान रूप में अपनाया और इसके बाद फिनलैण्ड, डेनमार्क और नार्वे ने इसे अपनाया। स्वीडन में इसे संसद द्वारा नियुक्त किया जाता है जो संसद की ओर से सामान्य नागरिकों की शिकायतों की जांच करता है और वर्ष के दौरान संसद के समक्ष अपने कार्य की रिपोर्ट प्रस्तुत करता है। न्यूजीलैण्ड जो एक संसदीय प्रणाली वाला देश है और जहां सामान्य कानून है, ने इसे वर्ष 1962 में और ब्रिटेन ने इसे वर्ष 1966 में अपनाया। ऐतिहासिक द ष्टि से इनमें से प्रत्येक देश ने जो तन्त्र अपनाया है उसका एक ही उद्देश्य है, अर्थात् कर्मचारियों और प्रशासन के कार्यकलापों और उनके द्वारा शक्ति के दुरुपयोग पर नियन्त्रण किया जाए क्योंकि ऐसा महसूस किया गया था कि इस प्रयोजन के लिए वर्तमान तन्त्र और प्रक्रियाएं अपर्याप्त हैं। यदि जनसेवाओं के विरुद्ध नागरिकों से शिकायतें प्राप्त होती हैं और जांच के बाद यह पाया जाता है कि उनका कोई आधार नहीं है तो अवश्य ही लोगों में विश्वास की भावना पैदा होगी।

ब्रिटेन में व्हेयट्ट की रिपोर्ट प्रकाशित होने के बाद से भारत में 'ओम्बड्समेन' की नियुक्ति सम्बन्धी विचार का समर्थन किया जा रहा है। अगस्त 1962 में नई दिल्ली में त तीय अखिल भारतीय विधि सम्मेलन द्वारा आयोजित 'ओम्बड्समेन' सम्बन्धी विचारगोही और अक्टूबर 1963 में मद्रास प्रोविंसियल बार एसोसिएशन द्वारा 'ओम्बड्समेन' की स्थापना की सिफारिश की गयी थी और त तीय अखिल भारतीय विधि मन्त्री सम्मेलन में इस पर चर्चा हुई थी। 15 जुलाई, 1963 को मुख्य न्यायाधिपति पी० बी० गजेन्द्र गडकर ने भारतीय लोक प्रशासन संस्थान के दीक्षान्त भाषण में 'ओम्बड्समेन' की सिफारिश की थी। 'राजस्थान प्रशासनिक सुधार समिति' (1963) ने अपनी रिपोर्ट में मन्त्रियों सहित उच्च अधिकारियों के विरुद्ध शिकायतों की जांच के लिए राज्यों द्वारा 'ओम्बड्समेन' या एक आयुक्त की नियक्ति की सिफारिश की थी। अन्य देशों में विद्यमान ओम्बड्समेन संस्थानों और भारतीय स्थिति की पुनरीक्षा करने के बाद प्रशासनिक सुधार आयोग (A.R.C.) ने सिफारिश की है कि "हमारे देश की विशिष्ट परिस्थितियों में लोगों की शिकायतों को दूर करने के लिए दो विशेष संस्थान होने चाहिए। एक प्राधिकरण केन्द्र और राज्यों में मन्त्रियों अथवा शासन के सचिवों द्वारा की गयी प्रशासनिक कार्यवाहियों के विरुद्ध शिकायतों की जांच के लिए होना चाहिए। ये सभी प्राधिकरण कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका से स्वतन्त्र होने चाहिए।"

प्रशासनिक सुधार आयोग की सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिए भारत में ओम्बड्समेन संस्था की नियुक्ति के लिए पहला ठोस कदम 9 मई, 1968 को लोकसभा में लोकपाल विधेयक की पुनः स्थापना के साथ उठाया गया था। यह

विधेयक संयुक्त समिति को भेजा गया और उसे बाद में लोकसभा द्वारा पारित किया गया था, किन्तु जब यह विधेयक राज्य सभा में अनिर्णीत पड़ा हुआ था तभी लोकसभा का विघटन हो गया जिसके परिणामस्वरूप विधेयक व्यपगत हो गया। इसी तरह का एक नया विधेयक लोकसभा में 11 अगस्त, 1971 को पुनःस्थापित किया गया। यह विधेयक भी पांचवीं लोकसभा का विघटन होने पर व्यपगत हो गया। नई सरकार ने, जो मार्च 1977 में सत्ता में आयी, लोकसभा में 28 जुलाई, 1977 को लोकपाल विधेयक पुनःस्थापित किया। विधेयक में उच्च राजनीतिक स्तरों पर भ्रष्टाचार की समस्या से निपटने के लिए लोकपाल की संस्था को एक प्रभावी तन्त्र के रूप में स्थापित करने की व्यवस्था थी। 1977 के विधेयक पर संसद के दोनों सदनों की संयुक्त समिति द्वारा विचार किया गया था। विधेयक में कतिपय संशोधनों के साथ संयुक्त समिति का प्रतिवेदन 20-1-1978 को लोकसभा में प्रस्तुत किया गया था। तथापि, संसद द्वारा विधेयक पर विचार करने तथा उसे स्वीकृत करने से पहले ही छठी लोकसभा का विघटन हो गया और विधेयक व्यपगत हो गया। सातवीं लोकसभा द्वारा इस विषय से सम्बन्धित किसी विधेयक पर विचार नहीं किया गया। आठवीं लोकसभा में 26 अगस्त 1985 को लोकपाल विधेयक पुनःस्थापित किया गया। लाकपाल विधेयक 1985 के स्थान पर एक नया व्यापक विधेयक लाने की मंशा से 1988 में इसे वापिस ले लिया गया। राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने दिसम्बर 1989 में लोकपाल नियुक्त करने के इरादे से लोकसभा में एक विधेयक पेश किया जो अधिनियम का रूप ग्रहण नहीं कर सका। देवगौड़ा सरकार ने 13 दिसम्बर 1996 को तथा वाजपेयी सरकार ने 3 अगस्त 1998 को लोकपाल विधेयक लोकसभा में प्रस्तुत किए।

लोकपाल विधेयक, 1996: मुख्य विशेषताएं
(Lokpal Bill, 1996: Salient Features)

देवगौड़ा सरकार ने 13 सितम्बर, 1996 को लोकसभा में बहुप्रतीक्षित लोकपाल विधेयक पेश किया। इस विधेयक के प्रमुख प्रावधान इस प्रकार हैं:

1. **लोकपाल संस्था का गठन:** यह बहुसदस्यीय संस्था होगी जिसमें अध्यक्ष के अलावा दो सदस्य भी होंगे।
2. **लोकपाल संस्था की नियुक्ति:** इसकी नियुक्ति राष्ट्रपति एक समिति की सलाह से करेंगे जिसके अध्यक्ष प्रधानमन्त्री होंगे। समिति के अन्य सदस्यों में लोकसभा अध्यक्ष, राज्य सभा का उपसभापति, लोकसभा एवं राज्यसभा में विपक्ष के नेता, ग ह मन्त्रालय के भार साधक मन्त्री तथा सार्वजनिक शिकायत एवं कार्मिक मन्त्रालय के भार साधक मन्त्री होंगे।
3. **लोकपाल संस्था के अध्यक्ष तथा सदस्य:** तीन सदस्यीय लोकपाल संस्था का अध्यक्ष सर्वोच्च न्यायालय का पूर्व अथवा वर्तमान मुख्य न्यायाधीश होगा तथा अन्य दो सदस्य ऐसे व्यक्ति होंगे जो सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश रह चुके हैं या उस पद की योग्यता रखते हों।

   लोकपाल का अध्यक्ष अथवा सदस्य बनने से पहले किसी भी व्यक्ति को अपनी संसद या विधानमण्ड सदस्यता से इस्तीफा देना होगा, लाभ मिलने वाले अन्य सभी पद त्यागने होंगे, राजनीतिक दलों की सदस्यता छोड़नी होगी, किसी भी व्यापार अथवा उद्यम का प्रबन्ध कार्य छोड़ना होगा तथा अन्य किसी भी प्रकार की व्यावसायिक गतिविधि बन्द करनी होगी।
4. **सेवा शर्तें:** लोकपाल के अध्यक्ष और सदस्यों की सेवा शर्तें, वेतन भत्ते और पेंशन सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के बराबर होंगे। लोकपाल का सदस्य बनने से किसी भी व्यक्ति की पिछली नौकरी के पेंशन ग्रेच्युटी अथवा किसी अन्य सुविधा में कोई कटौती नहीं होगी।

   यह सुनिश्चित करने की द ष्टि से कि लोकपाल स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने में और अपने कृत्यों का निर्वहन बिना भय और पक्षपात के करने में समर्थ हो सके, यह विधेयक उपबन्ध करता है कि लोकपाल का अध्यक्ष सदस्य अपने पद से राष्ट्रपति द्वारा साबित कदाचार या असमर्थता के आधार पर भारत के मुख्य न्यायाधीश या इस प्रयोजन के लिए भारत के मुख्य न्यायाधीश द्वारा नाम निर्देशित किए गए उच्चतम न्यायालय के किसी अन्य न्यायाधीश द्वारा की गई जांच के पश्चात् किए गए ओदश द्वारा ही हटाया जाएगा अन्यथा नहीं।
5. **लोकपाल संस्था का क्षेत्राधिकार:** विधेयक के अनुसार, लोकपाल यह अभिकथन करने वाले परिवादों की जांच करेगा कि विधेयक में परिभाषित, लोक सेवक ने भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1988 के अधीन दण्डनीय कोई अपराध किया है और 'लोक सेवक' पद के अन्तर्गत प्रधानमन्त्री, मन्त्री, राज्य मन्त्री, उप-मन्त्री और संसद के सदस्य हैं।

लोकपाल के स्वतः जांचाधिकार दायरे में राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, लोकसभा अध्यक्ष, सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य और अन्य न्यायाधीश, नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक, मुख्य एवं अन्य निर्वाचन आयुक्त और लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्य शामिल नहीं होंगे।

6. **जांच प्रक्रियाः** लोकपाल को जांच के लिए केन्द्र अथवा राज्य सरकार की किसी भी जांच एजेन्सी अथवा किसी अधिकारी की सहायता लेने का अधिकार होगा। इस दौरान एजेन्सी अथवा अधिकारी केवल लोकपाल के निदेशानुसार काम करेंगे और लोकपाल को ही रिपोर्ट करेंगे। जिस आरोप की जांच लोकपाल कर रहा हो उसकी जांच आयोग अधिनियम के अन्तर्गत समानोत्तर जांच नहीं की जा सकेगी।

   लोकपाल को की गई शिकायत झूठी और गलत सिद्ध होने की स्थिति में लोकपाल को शिकायत करने वाले को न्यूनतम एक वर्ष और अधिकतम तीन वर्ष के कारावास का दण्ड देने का अधिकार दिया गया है। इसके अलावा गलत शिकायत करने वाले पर 50 हजार रुपये जुर्माने का भी प्रावधान किया गया है। दूसरी तरफ यह प्रावधान भी है कि किसी शिकायकर्त्ता के सभी अथवा कुछ आरोप पूरी तरह अथवा आंशिक रूप से सिद्ध हो जाते हैं और यह पाया जाता है कि इस प्रक्रिया में शिकायतकर्त्ता का कुछ खर्च हुआ है तथा लोकपाल समझता है कि उसे मुआवजा अथवा इनाम दिया जाना चाहिए तो वह केन्द्रीय सरकार से शिकायतकर्त्ता को समुचित राशि दिलवा सकेगा।

संक्षेप में, यह विधेयक पूर्व में निर्मित लोकपाल विधेयकों की तुलना में अधिक व्यापक और तर्कसंगत है। प्रधानमन्त्री को भी विधेयक के दायरे में लिया गया है। विधेयक नागरिकों को न्यायालय की प्रक्रियाओं के माध्यम से अपना उपचार पाने से बचाने के लिए है जो महंगा या विलम्बकारी साबित हो सकता है। यह प्रशासनिक सुधार आयोग की सिफारिशों के उद्देश्य और प्रयोजन को कार्यान्वित करने के लिए है।

लोकपाल विधेयक, 1998: मुख्य विशेषताएं
(Lokpal Bill, 1998: Salient Features)

3 अगस्त, 1998 को प्रधानमन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी ने बहुचर्चित लोकपाल विधेयक लोकसभा में प्रस्तुत किया। विधेयक के प्रमुख प्रावधान निम्नांकित हैं:

विधेयक के पारित होने पर नियुक्त किए गए लोकपाल को सेवारत एवं पूर्व प्रधानमन्त्रियों व मन्त्रियों तथा संसद के दोनों सदनों के सदस्यों व पूर्व सदस्यों के विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोपों की जांच का अधिकार होगा। प्रधानमन्त्री को भी लोकपाल की जांच के दायरे में लाया गया है। किन्तु राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, लोकसभा अध्यक्ष, नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक, मुख्य निर्वाचन आयुक्त व अन्य निर्वाचन आयुक्तों, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों तथा संघ लोक सेवा आयोग के सदस्यों के विरुद्ध जांच का अधिकार इसे नहीं होगा।

विधेयक के अनुसार प्रस्तावित लोकपाल त्रिसदस्यीय होगा जिसमें अध्यक्ष के अतिरिक्त दो अन्य सदस्य होंगे। सर्वोच्च न्यायालय के सेवारत या पूर्व मुख्य न्यायाधीश या उसके किसी न्यायाधीश को ही लोकपाल का अध्यक्ष बनाया जा सकेगा जबकि इसके सदस्य के रूप में सर्वोच्च न्यायालय के सेवारत या पूर्व न्यायाधीश को नियुक्त किया जा सकेगा। इनका कार्यकाल विधेयक में तीन वर्ष का प्रस्तावित किया गया है तथा यह 70 वर्ष की आयु तक ही इस पद पर रहेंगे।

विधेयक के अनुसार लोकपाल की नियुक्ति सात सदस्यीय चयन समिति की संस्तुति के आधार पर राष्ट्रपति द्वारा की जाएगी। उपराष्ट्रपति इस चयन समिति के सदस्य होंगे। इस समिति के सदस्यों में प्रधानमन्त्री, ग हमन्त्री, लोकसभाध्यक्ष, संसद के उस सदन के नेता जिसके प्रधानमन्त्री सदस्य न हों तथा लोक सभा एवं राज्य सभा में विपक्ष के नेता शामिल होंगे।

एक बार लोकपाल संस्था का अध्यक्ष या सदस्य रहने वाले व्यक्ति की न तो उस लोकपाल में पुनःनियुक्ति होगी और न ही उसे केन्द्र या किसी राज्य सरकार में लाभ के किसी पद पर नियुक्त किया जा सकेगा।

दुर्व्यवहार या अक्षमता सिद्ध होने की स्थिति में लोकपाल के अध्यक्ष या किसी सदस्य को राष्ट्रपति द्वारा ही उसके पद से हटाया जा सकेगा।

लोकपाल के बाद अध्यक्ष का वेतन व अन्य सेवा शर्तें सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के समान तथा इसके सदस्यों के वेतन व सेवा शर्तें सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के समान होंगे।

विधेयक में किए गए एक प्रावधान के तहत किसी भी अपराध के 10 वर्ष के भीतर की गई शिकायतों पर ही विचार करने का अधिकार लोकपाल का होगा।

लोकपाल विधेयक में यह भी प्रावधान किया गया है कि प्रत्येक सांसद को सदन की सदस्यता की शपथ लेने के 90 दिन के भीतर लोकपाल के समक्ष अपनी व अपने परिवार के सदस्यों की सम्पत्ति का ब्यौरा पेश करना होगा। इसके बाद उसे प्रत्येक वित्तीय वर्ष की पहली तिमाही में ऐसा करना होगा। झूठी तथा मनगढन्त शिकायतों को हतोत्साहित करने के लिए भी विधेयक में प्रावधान किया गया है। झूठी शिकायत का दोषी पाए जाने पर एक से तीन वर्ष की सजा तथा 50 हजार रुपये के जुर्माने का प्रावधान किया गया है।

इसके बाद लोकपाल विधेयक 2001 में प्रस्तुत किया गया। अभी 15 अगस्त 2003 को प्रधानमन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी ने जोर देकर कहा कि लोकपाल विधेयक जल्द ही पास किया जाएगा जिसके तहत प्रधानमन्त्री का पद भी होगा।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि राजनीतिक खींचतान के कारण लोकपाल विधेयक अभी तक पास नहीं हो पाया है, लेकिन भारतीय रिजर्व बैंक ने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण व सराहनीय कदम उठाया है। रिजर्व बैंक ने 4 जून, 1995 को ग्राहक तथा बैंक अधिकारियों के बीच मधुर सम्बन्ध बनाने तथा ग्राहकों की बैंक सम्बन्धी शिकायतों के निवारण हेतु एक "बैंकिंग लोकपाल" की स्थापना की है।

राज्य स्तर पर अम्बुड्समेन (लोकायुक्त)
(Ombudsman-Lokayukta at the State Level)

किसी न किसी कारणवश लोकपाल का संस्थान केन्द्रीय स्तर पर अभी तक स्थापित नहीं हो पाया, किन्तु राज्यों में स्थिति उत्साहजनक है। उड़ीसा ऐसा पहला राज्य था जिसने लोकायुक्त ऐक्ट को लागू किया। महाराष्ट्र ने सर्वप्रथम लोकायुक्त नियुक्त किया। राजस्थान ने 1973 में ऐसा विधान लागू किया। बिहार में लोकायुक्त संस्थान की स्थापना एक अध्यादेश जारी करके 1973 में की गई जिसको कुछ समय उपरान्त विधि का रूप दे दिया था। उत्तर प्रदेश ने 1975 में लोकायुक्त और उपलोकायुक्त ऐक्ट पास किया। कर्नाटक ने फरवरी, 1983 में एक अध्यादेश लागू किया और 1985 में इसकों कानून का रूप दिया। आन्ध्र प्रदेश विधान सभा ने 1982 में लोकायुक्त और उपलोकायुक्त विधेयक पास किया। मध्य प्रदेश लोकायुक्त तथा उप-लोकायुक्त विधेयक को 1981 में पास किया गया और हिमाचल प्रदेश में ऐसा कानून 1983 में लागू किया गया। केरल में पब्लिक प्रीवैन्शन आफ करेप्शन ऐक्ट 1983 (Public Prevention of Corruption Act 1983) से लागू है और नागालैण्ड में भ्रष्टाचार को रोकने के लिए विजिलैन्स आयोग (Vigilance Commission) कार्य कर रहा है। गुजरात भी शीघ्र ही ऐसा संस्थान स्थापित करने का यत्न कर रहा है। अतः भारत में अब तक आधे राज्य लोकायुक्त संस्थान की स्थापना कर चुके हैं।

दिल्ली का लोकायुक्त ऐक्ट 1996 में पास किया गया, यह अन्य राज्यों की तुलना में अधिक प्रगतिशील है क्योंकि यह ऐक्ट लोकायुक्त को ना केवल उन शिकायतों की जाँच-पड़ताल करने का अधिकार देता है जो उसको प्राप्त हुई हैं, अपितु उन अधिकारियों को दण्ड देने की सत्ता भी प्रदान करता है जो ऐक्ट के अधीन भ्रष्टाचार के दोषी पाये गये हैं। दिल्ली में एक लोकायुक्त तथा एक उप-लोकायुक्त होगा। किसी भी नागरिक को यदि किसी लोक-अधिकारी (नौकरशाह), सरकारी कर्मचारी, विधायक, नगर पार्षद या मंत्रिमण्डल के मंत्री या दिल्ली के मुख्यमंत्री के विरुद्ध कोई शिकायत है जो वह उसे सीधे लोकायुक्त को भेज सकता है। उसे उच्च न्यायालय के समान शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। अतः वह उन आरोपों की जाँच-पड़ताल कर सकता है जो उसके सम्मुख लाये गये हैं और जो व्यक्ति भ्रष्ट आचार के दोषी पाये गए हैं उनको दण्ड दे सकता है। उसके निर्णय के विरुद्ध अपील केवल सर्वोच्च न्यायालय को दी जा सकती है।

हरियाणा में लोकायुक्त अधिनियम के तहत 1997 में पहली बार लोकायुक्त की नियुक्ति की गई। सामान्यतः सभी राज्यों के "लोकायुक्त एवं उपलोकायुक्त अधिनियमों" में निम्न प्रावधान किए गए हैं:

1. लोकायुक्त एवं उपलोकायुक्त की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा मंख्यमंत्री एवं सदन में विपक्षी दल के नेता के साथ परामर्श से की जाएगी।
2. लोकायुक्त एवं उपलोकायुक्त का कार्यकाल पाँच वर्ष होगा।

3. लोकायुक्त राज्य सरकार के मन्त्रियों एवं सचिवों के विरूद्ध तथा उपलोकायुक्त सचिव स्तर से नीचे के अधिकारियों के विरूद्ध आयी हुई शिकायतों एवं अभियोगों की जांच करेगा।
4. लोकायुक्त एवं उपलोकायुक्त के वेतन, भत्ते, सेवा शर्तें तथा पद सुविधायें क्रमशः उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों के समान होंगी।
5. इनकी कार्य प्रणाली पूर्णतः गोपनीय होगी।
6. इन्हें अपने पद से केवल महाभियोग-प्रक्रिया द्वारा ही अपदस्थ किया जा सकेगा।

कुल मिलाकर लोकायुक्त पदों की उपयोगिता को निम्न आधारों पर स्पष्ट किया जा सकता हैः

1. ये जनता की शिकायतों के निराकरण के लिए सुगमता और स्वतन्त्रतापूर्वक सहज उपलब्ध हो सकते हैं।
2. यह न्याय प्राप्त करने का सुगम, मितव्ययीय और शीघ्रगामी साधन है।
3. यह प्रशासनिक अकुशलता तथा भ्रष्टाचार के निवारण हेतु सुधारात्मक तथा अवरोधात्मक दोनों प्रकार के प्रयास करता है।
4. यह एक स्वतन्त्र और निष्पक्ष संस्था है, जो कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका तीनों से स्वतन्त्र होकर कार्य करती है।
5. इनमें मध्यस्थों की आवश्यकता नहीं होती है।
6. इनके द्वारा सभी विषयों पर न्यायपूर्ण और निष्पक्ष विचार किया जाता है।
7. ये पद न्यायोचित हितों की अतिरिक्त गारन्टी हैं।
8. ये उत्तरदायित्व और सन्तुलित निर्णय के साथ कार्य करते हैं क्योंकि यह संसद के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते हैं। इनके द्वारा शक्ति के दुरुपयोग किए जाने की दशा में संसद द्वारा उचित कार्यवाही की जाती है।

भारतीय अनुभव का मूल्यांकन
(Evaluation of the Indian Experience)

भारत के जिन राज्यों में अम्बुड्समेन संस्थान की स्थापना कुशासन को रोकने के लिए की गई थी वहाँ आशानुकूल सफलता प्राप्त नहीं हुई। उसके कई कारण हैं-

प्रथम, भ्रष्टाचार और कुशासन से लड़ने के लिए दो प्रथक् संस्थान, जैसा कि कई अन्य देशों में स्थापित किए गए हैं, भारत में स्थापित नहीं किए गए-एक कुशासन के लिए और दूसरा भ्रष्टाचार के लिए। यहाँ इन दोनों कार्यों को एक ही संस्थान करता है। जैसा कि प्रो० डोनाल्ड सी० रोवत (Prof. Donald C. Rowat) का कहना है-

"भारत की योजना में मुख्य दोष यह रहा है कि यहाँ अम्बुड्समेन संस्थान को भ्रष्टाचार के साथ लड़ने वाली मशीनरी के साथ जोड़ दिया गया है और परिणाम यह हुआ कि पीड़न सम्बन्धी शिकायतों पर ठीक उसी प्रकार कार्यवाही की गई है, जैसी कि दुर्व्यवहार या भ्रष्टाचार की शिकायतों पर। इसके दो दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम हुए हैं। मंत्रियों व उच्च अधिकारियों में अपने विरुद्ध या अपने साथी अधिकारियों के विरुद्ध शिकायतों के भय का अर्थ यह हुआ है कि उन्होंने इस योजना को बड़ा कमजोर समर्थन दिया है जो इसकी प्रभावी ढंग से कार्य करने में तोड़-फोड़ या अन्तर्ध्वंस की रेखा तक पहुँच गया है। दूसरा परिणाम यह हुआ है कि जिन भयावह औपचारिक कार्यविधियों को आरोपों की जाँच-पड़ताल के लिए बनाया गया है, वहीं समान रूप से पीड़न की शिकायतों पर लागू की जाती हैं। इसका उग्र उदाहरण यह है कि शिकायत करने वाले को झूठा बयान दे बैठने की स्थिति में दण्डित किये जाने की धमकी दी गई है। दूसरे देशों में अम्बुड्समैन को प्रायः क्षुद्र या छोटे व्यक्ति का मित्र-सहायक समझा जाता है जो वर्तमान राज्य की नौकरशाही के रथ की अंधी शक्ति से उसकी रक्षा करता है।"

द्वितीय, चूँकि लोकायुक्त संस्थान भ्रष्टाचार के मामले पर भी कार्यवाही करता है, इसके कारण इसने राजनीतिज्ञों के कुछ वर्गों से शत्रुता मोल ली है, क्योंकि अधिकतर भ्रष्टाचार का प्रारम्भ इसी स्तर पर होता है। राजनीतिज्ञ इसको न केवल अपनी प्रतिष्ठा के लिये खतरा मानते हैं, अपितु उनको यह भी डर है कि यह संस्थान कार्यवाही सत्ता का एक विरोधी केन्द्र बन गया है। यह

डर निराधार है, फिर भी प्रचलित है और इससे इस संस्थान के कार्य करने पर प्रभाव पड़ा है। बिहार के मुख्यमंत्री का यह कथन उल्लेखनीय है। उसने कहा "व्यक्तिगत तौर पर मैं यह अनुभव करता हूँ कि लोकायुक्त संस्थान की स्थापना करके और इसको यह शक्तियाँ देकर कि वह सदन के सदस्यों व मंत्रियों के व्यवहार की जाँच-पड़ताल कर सके, इस संप्रभु सदन ने अपनी संप्रभुता को खो दिया है।"

त तीय, लोकायुक्त के अधिकार क्षेत्र की भी समस्या उत्पन्न हुई है। कई राज्यों ने भूतपूर्व मंत्रियों और भूतपूर्व लोक-अधिकारियों को लोकायुक्त के अधिकार-क्षेत्र से बाहर रखा है। अतः कई बार ऐसा होता है कि लोक अधिकारी अपने पद की अवधि के अन्तिम समय में अपराध करते हैं क्योंकि वे यह जानते हैं कि पद छोड़ जाने के उपरान्त लोकायुक्त उनके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं कर सकता। शिमला में लोकायुक्त और उपलोकायुक्तों का जो सम्मेलन हुआ था, उसमें भी इस आवश्यकता का अनुभव किया गया कि भूतपूर्व लोक-अधिकारियों को लोकायुक्त के अधिकार-क्षेत्र में लाया जाना चाहिये।

चतुर्थ, लोकायुक्तों द्वारा किये जा रहे कार्य से पता चलता है कि उनके द्वारा प्राप्त शिकायतों का तुरन्त निपटारा नहीं किया जाता। उनके पास रुकी हुई शिकायतों की संख्या बढ़ती जा रही है। शिकायतों का निपटारा करने में बहुत समय लग जाता है जिससे इस संस्थान को स्थापित करने का मूल उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। (शिकायत करने वाले को तुरन्त और सस्ता न्याय दिलवाना) यदि लोकायुक्त भी तुरन्त न्याय नहीं दिलवा सकता तो इसकी मुख्य विशेषता ही समाप्त हो जायेगी।

पंचम, कई राज्यों में लोकायुक्त के आधीन जाँच-पड़ताल करने वाला अपना स्वतंत्र कोई संगठन नहीं होता जो शिकायतों की छानबीन कर सके। जाँच-पड़ताल का अधिकतर कार्य सरकारी अभिकरण या संस्था को ही करना पड़ता है। इससे जनता में और शिकायत करने वालों में यह विश्वास नहीं जगाया जा सकता कि उनके साथ न्याय होगा। अतः इस बात की आवश्यकता है कि कर्नाटक की भाँति अन्य राज्यों में भी लोकायुक्त के आधीन जाँच-पड़ताल करने वाले स्वतंत्र संगठन को स्थापित किया जाए।

अन्त में यह कहना होगा कि भले ही इस संस्थान की कुछ कमजोरियाँ हों, फिर भी इस संस्थान का होना न होने की अपेक्षा अच्छा है। इस संस्थान की केवल उपस्थिति मात्र ही लोक-अधिकारियों में संयम से कार्य करने के लिए डर उत्पन्न करेगी। जैसे-जैसे समय बीतेगा यह संस्थान सुधारों और समायोजन के द्वारा विकसित होगा। आवश्यकता इस बात की है कि राजनीतिज्ञों और प्रशासकों को इसकी वांछनीयता में विश्वास होना चाहिए और इसको सहयोग देने के लिये सही व्यवहार हो। इस संदर्भ में प्रो० रावत की चेतावनी यहाँ उल्लेखनीय होगी। उनका कहना है कि इस व्यवस्था को प्रतिरोपित करते समय यह ध्यान में रखना चाहिए-"अम्बुड्समेन रामबाण या सर्वरोगहारी औषधि नहीं हो सकता। कई लोग अम्बुड्समेन को एक प्रकार का जादू का शब्द समझते हैं जो सभी प्रशासनिक रोगों का उपचार कर देगा। किन्तु राज्य और व्यक्ति के बीच सम्बन्धों की पुरातन समस्या बहुत अधिक जटिल है जो किसी एक सरल योजना द्वारा नहीं सुलझाई जा सकती। प्रशासनिक कार्य पर हमें विभिन्न प्रकार के नियंत्रणों की आवश्यकता है और अम्बुड्समेन योजना के साथ-साथ सुधारों की जरूरत है जो हमारी नियंत्रण व्यवस्था में रिक्त स्थानों की पूर्ति कर सके, अन्यथा यह योजना असफल हो सकती है क्योंकि हम इससे बहुत कुछ करवाने का प्रयत्न कर रहे हैं।"

अध्याय-33
पंचायती राज और विकास चुनौतियां
(Panchayati Raj and Challenges of Development)

भारत गांवों का देश है। गांवों की उन्नति और प्रगति पर ही भारत की उन्नति और प्रगति निर्भर करती है। गांधीजी ने ठीक ही कहा था कि "यदि गांव नष्ट होते हैं तो भारत नष्ट हो जाएगा।" भारत के संविधान-निर्माता भी इस तथ्य से भली-भांति परिचित थे अतः हमारी स्वाधीनता को साकार करने और उसे स्थायी बनाने के लिए ग्रामीण शासन-व्यवस्था की ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया। हमारे संविधान में यह निर्देश दिया गया है कि "राज्य ग्राम पंचायतों के निर्माण के लिए कदम उठाएगा और उन्हें इतनी शक्ति और अधिकार प्रदान करेगा जिससे कि वे (ग्राम पंचायतें) स्वशासन की इकाई के रूप में कार्य कर सकें।" वस्तुतः हमारा जनतन्त्र इस बुनियादी धारणा पर आधारित है कि शासन के प्रत्येक स्तर पर जनता अधिक-से-अधिक शासन कार्यों में हाथ बंटाए और अपने पर, राज करने की जिम्मेदारी स्वयं झेले। भारत में जनतंत्र का भविष्य इस बात पर निर्भर करता है कि ग्रामीण जनों का शासन से कितना अधिक प्रत्यक्ष और सजीव सम्पर्क स्थापित हो जाता है? दूसरे शब्दों में, ग्रामीण भारत के लिए पंचायती राज ही एकमात्र उपयुक्त योजना है। पंचायतें ही हमारे राष्ट्रीय जीवन की रीढ़ हैं। दिल्ली की संसद में कितने ही बड़े आदमी बैठें, लेकिन असल में 'पंचायतें' ही भारत की चाल बनाएंगी।

भारत में पंचायती राज की भूमिका
(Role of Panchayati Raj in India)

भारत में ग्राम पंचायतों का इतिहास बहुत पुराना है। प्राचीन काल में आपसी झगड़ों का फैसला पंचायतें ही करती थीं। परन्तु अंग्रेजी राज के जमाने में पंचायतें धीरे-धीरे समाप्त हो गयीं और सब काम प्रान्तीय सरकारें करने लगीं। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद राज्यों की सरकारों ने पंचायतों की स्थापना की और विशेष ध्यान दिया। प्रो० रजनी कोठारी के अनुसार, "राष्ट्रीय नेत त्व का एक दूरदर्शितापूर्ण कार्य था पंचायती राज की स्थापना। इसमें भारतीय राज व्यवस्था का विकेन्द्रीकरण हो रहा है और देश में एक-सी स्थानीय संस्था के निर्माण से उसकी एकता भी बढ़ रही है।" इसकी शुरूआत का श्रेय श्री जवाहर लाल नेहरू को है। पं० नेहरू का कहना था कि "गांवों के लोगों को अधिकार सौंपना चाहिए। उनको काम करने दो चाहे वे हज़ारों गलतियां करें। इससे घबराने की जरूरत नहीं। पंचायतों को अधिकार दो।"

नेहरू को लोकतान्त्रिक तरीकों में अटूट विश्वास था। सन् 1952 में उन्हीं की पहल पर सामुदायिक विकास कार्यक्रम आरम्भ हुआ। इसमें काफी संख्या में सरकारी कर्मचारी रखे गए और लम्बे-लम्बे दावे किए गए। यह समझा गया कि इस कार्यक्रम में जनता की ओर से सक्रिय रुचि से भाग लिया जाएगा। सामुदायिक विकास कार्यक्रम का आरम्भ इसलिए किया गया था ताकि आर्थिक नियोजन एवं सामाजिक पुनरुद्धार की राष्ट्रीय योजनाओं के प्रति देशों की ग्रामीण जनता में सक्रिय रुचि पैदा की जा सके। परन्तु सामुदायिक विकास के इस सरकार द्वारा प्रेरित एवं प्रायोजित कार्यक्रम ने ग्रामीण जनता को नियोजन की परिधि में लाकर खड़ा कर दिया, परन्तु ग्रामीण स्तर पर योजना के क्रियान्वयन में उसे 'इच्छुक पक्ष' नहीं बनाया जा सका। यह कार्यक्रम सरकारी तन्त्र और ग्रामीण जनता के बीच की दूरी कम करने के मुख्य उद्देश्य में विफल रहा। इस विफलता का मुख्य कारण यह था कि इसे सरकारी महकमे की तरह चलाया गया और गांवों के विकास के बजाय सामुदायिक विकास की सरकारी मशीनरी के विस्तार पर ही ज्यादा जोर दिया गया। सरकारी मशीनरी के द्वारा गांवों के लोगों की मनोव त्ति को बदलने की आशा की गयी; परिणाम यह हुआ कि गांवों के उत्पादन के लिए खुद प्रयत्न करने के बजाए ग्रामीण जनता सरकार का मुंह ताकने लगी। एक अमेरिकी लेखक **रेनहाई बैंडिक्स** लिखते हैं, "सामुदायिक विकास की सबसे बड़ी कमजोरी उसका

सरकारी स्वरूप और नेताओं की लफ्फाजी थी। एक तरफ इस कार्यक्रम के सूत्रधार जनता से आगे आने की आशा करते थे, दूसरी ओर उनका विश्वास था कि सरकारी कार्यवाही से ही नतीजा निकल सकता है। कार्यक्रम जनता को चलाना था, लेकिन वे बनाए ऊपर से जाते थे।"

इन बुराइयों को दूर करने का उपाय यह था कि वास्तविक सत्ता सम्पन्न लोकतन्त्रीय स्थानीय संस्थाओं को शुरू करके स्थानीय राजनीति के विष को काबू में किया जाए। बहुत-से लोगों का विचार था कि पंचायत राज इसका इलाज हो सकता है जो इसके साथ ही प्रशासकीय तनाव को भी समाप्त कर देगा। पंचायत राज की बुराइयों के लिए रामबाण जैसे गुणों से सम्पन्न साधन मानने का कुछ सम्बन्ध गांधीजी की यादों और जयप्रकाश नारायण द्वारा उन्हें पुनर्जीवित करने से है। जयप्रकाश नारायण ने पंचायती राज को देशी और प्राचीन 'सामुदायिक लोकतन्त्र' के समान बताया और साथ ही इसे पश्चिम के 'जनता का हाथ बंटाने का अवसर देने वाले लोकतन्त्र' (Participating Democracy) से भी अधिक आधुनिक कहा।

वस्तुतः ग्रामीण विकास की अनिवार्य आवश्यकताओं ने ही वर्तमान रूप में पंचायती राज संस्थाओं की स ष्टि की थी। सामुदायिक विकास कार्यक्रम के समय ऐसा अनुभव किया गया कि लोगों की सहभागिता के बिना ग्रामीण समुदाय का पुनर्निर्माण सम्भव नहीं है और वह सहभागिता केवल पंचायती राज संस्थाओं के ही माध्यम से प्राप्त की जा सकती है।

बलवन्तराय मेहता समिति प्रतिवेदन
(Balwantrai Mehta Committee Report)

सामुदायिक विकास कार्यक्रम पर काफी खर्च हो चुकने और इसकी सफलता के लम्बे-चौड़े दावों के बाद इसकी जांच के लिए एक अध्ययन दल 1957 में नियुक्त किया गया। इस अध्ययन दल के अध्यक्ष श्री बलवन्तराय मेहता थे। अध्ययन दल को सौंपे गए कार्यों में, एक कार्य जिसका कि दल को अध्ययन करना था, यह था कि 'कार्य सम्पादन में अधिक तीव्रता लाने के उद्देश्य से कार्यक्रम का संगठनात्मक ढांचा तथा कार्य करने के तरीके कहां तक उपयुक्त थे।' इस दल ने सरकार को बताया कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम की बुनियादी त्रुटि यह है कि जनता का इसमें सहयोग नहीं मिला। अध्ययन दल ने सुझाव दिया कि एक कार्यक्रम को, जिसका कि लोगों के दिन-प्रतिदिन के जीवन से सम्बन्ध है, केवल उन लोगों के द्वारा ही कार्यान्वित किया जा सकता है। इस अध्ययन दल की रिपोर्ट में यह कहा गया कि जब तक स्थानीय नेताओं को जिम्मेदारी और अधिकार नहीं सौंपे जाते संविधान के निदेशक सिद्धान्तों का राजनीतिक और विकास सम्बन्धी लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता। 'मेहता अध्ययन दल' ने 1957 के अन्त में अपनी रिपोर्ट में यह सिफारिश की कि लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण और सामुदायिक विकास कार्यक्रम को सफल बनाने हेतु पंचायती राज संस्थाओं की तुरन्त शुरूआत की जानी चाहिए। इस अध्ययन दल ने इसे 'लोकतन्त्रीय विकेन्द्रीकरण' का नाम दिया।

इस प्रकार लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण और विकास कार्यक्रमों में जनता का सहयोग लेने के ध्येय से पंचायती राज की शुरूआत की गयी। इसके स्वरूप में विभिन्न राज्यों में कुछ अन्तर है, मगर कतिपय विशेषताएं एक-सी हैं। एक तो पंचायती राज की तीन सीढ़ियां थीं-ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायत, खण्ड स्तर पर पंचायत समिति और जिला स्तर पर जिला परिषद्। अर्थात् गांव से लेकर जिला स्तर तक स्थानीय सरकार में त्रि-स्तरीय संरचना लागू की जानी चाहिए तथा इन तीनों स्तरों में परस्पर सहयोगी सम्बन्ध पाए जाने चाहिए। दूसरा, पंचायती राज प्रणाली में स्थानीय लोगों को काम करने की आजादी थी और देख-रेख ऊपर से होती थी। अर्थात् इन स्तरों/संगठनों को सही मायने में सत्ता का हस्तान्तरण किया जाना चाहिए। तीसरा, सामुदायिक कार्यक्रम की भांति यह शासकीय ढांचे का अंग नहीं था। पंचायती राज की संस्थाएं निर्वाचित होती थीं और इसके कर्मचारी निर्वाचित जनप्रतिनिधियों के अधीन काम करते थे। चतुर्थ, साधन जुटाने और जनसहयोग संगठित करने का भी इन संस्थाओं को पर्याप्त अधिकार था। पंचम, सभी विकास सम्बन्धी कार्यक्रम व योजना का क्रियान्वयन इन स्तरों/संगठनों के द्वारा किया जाना चाहिए। **षष्ट,** इन स्तरों/संगठनों द्वारा अपने दायित्वों के निर्वाह हेतु उचित वित्तीय साधन सुलभ होने चाहिए। **सप्तम,** इस व्यवस्था को इस रूप में लागू किया जाना चाहिए कि भविष्य में उत्तरदायित्वों व सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया जा सके।

पंचायती राज के पीछे जो विचारधारा निहित थी, वह यह है कि गांवों के लोग अपने शासन का उत्तरदायित्व स्वयं संभालें। यही एक महान आदर्श है जिसे प्राप्त किया जाना था। यह आवश्यक है कि गांवों में रहने वाले लोग कृषि, सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा, सिंचाई, पशुपालन, आदि से सम्बन्धित विकास क्रियाओं में सक्रिय रूप से भाग लें। ग्रामीण लोग न केवल कार्यक्रमों के

क्रियान्वयन में ही भाग लें, अपितु उन्हें यह अधिकार भी होना चाहिए कि वे अपनी आवश्यकताओं और अनिवार्यताओं के विषय में स्वयं ही निर्णय की शक्ति भी प्रदान करें। लोग अपने चुने हुए प्रतिनिधियों के माध्यम से स्थानीय नीतियों का निर्धारण करें और जनता की वास्तविक आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए उनके अनुसार ही अपने कार्यक्रमों को लागू करें। इस प्रकार, देश की जड़ों तक लोकतन्त्र को प्रवेश कराया गया। इसके अन्तर्गत जनता के नीचे से नीचे स्तर पर स्थित लोग भी देश के प्रशासन से सम्बद्ध हो जाते। पंचायती राज की संस्थाओं के माध्यम से स्थानीय लोग न केवल नीति का ही निर्धारण करते, अपितु उसके क्रियान्वयन तथा प्रशासन का नियन्त्रण एवं मार्गदर्शन भी करते।

पंचायती राजः उतार-चढ़ाव
(Panchayati Raj: Ups and Down)

भारतीय संघ के अधिकांश राज्यों ने पंचायती राज संस्थाओं के गठन के लिए अधिनियम पारित किए। राजस्थान सबसे पहला राज्य था जिसने अपने यहां पंचायती राज की स्थापना की। इस योजना का उद्घाटन 2 अक्टूबर, 1959 को प्रधानमन्त्री नेहरू द्वारा नागौर में किया गया। 1959 में ही आन्ध्र प्रदेश भी पंचायती राज व्यवस्था को अपने प्रान्त में लागू कर राजस्थान के साथ पहले नम्बर पर आ गया। पंचायती राज संस्थाओं की संरचना विभिन्न राज्यों में अलग-अलग रही। देश के 14 राज्यों/संघ शासित क्षेत्रों में त्रिस्तरीय प्रणाली थी जबकि 4 राज्यों/संघ शासित क्षेत्रों में द्विस्तरीय प्रणाली और 9 राज्यों/संघ शासित क्षेत्रों में एक स्तरीय प्रणाली थी।

प्रारम्भ से ही यह माना गया कि पंचायती राज संस्थाएं ठीक प्रकार से कार्य नहीं कर रही हैं। भले ही 1959 से 1964 तक के इनके कार्यकाल को उत्थान काल (Phase of Ascendency) कहा जाए। तथापि 1965 से 1969 की कार्यावधि को ठहराव काल (Phase of Stagnation) एवं 1969 से 1983 की कार्यावधि को ह्रास काल (Phase of Decline) कहा जाता है। लम्बे समय तक विभिन्न राज्यों में पंचायती राज संस्थाओं के चुनाव तक नहीं करवाए गए और ये संस्थाएं निष्क्रिय हो गयीं। वैसे 1977 में अशोक मेहता समिति रिपोर्ट में इन संस्थाओं को नया रूप देने हेतु सिफारिशें की गईं किन्तु उन्हें क्रियान्वित नहीं किया जा सका। वस्तुतः 1983 के बाद पंचायती राज संस्थाओं के जीवनकाल में पुनरोदय (Phase of Revival) प्रारम्भ होता है। इस दिशा में 1985 के कर्नाटक जिला परिषद्, तालुका पंचायत समिति, मण्डल पंचायत एवं न्याय पंचायत अधिनियम की महती भूमिका रही है। 1985 में डॉ० जी० वी० के० राव की अध्यक्षता में नियुक्त समिति ने नीति नियोजन और कार्यक्रम क्रियान्वयन के लिए जिले को आधार बनाने और पंचायती राज संस्थाओं में नियमित चुनाव कराने की सिफारिश की। 1987 में पंचायती राज संस्थाओं की समीक्षा और उनमें सुधार के उपायों हेतु सुझाव देने के लिए डॉ० लक्ष्मीमल सिंघवी की अध्यक्षता में नियुक्त समिति ने ग्राम पंचायतों को आत्मनिर्भर बनाने के लिए उन्हें अधिक आर्थिक संसाधन प्रदान करने की सिफारिश की थी। मई 1989 में राजीव गांधी सरकार द्वारा वर्तमान पंचायती राज प्रणाली की अपर्याप्तताओं को दूर करने के लिए 64वां संविधान संशोधन विधेयक लोक सभा में विचारार्थ प्रस्तुत किया गया, जो पारित नहीं हो सका।

पंचायती राज का अशोक मेहता मॉडल
(Ashok Mehta Model of Panchayati Raj)

जनता पार्टी के सत्ता में आने के बाद 12 दिसम्बर, 1977 को मन्त्रिमण्डल सचिवालय ने पंचायती राज संस्थाओं की कार्यप्रणाली का अध्ययन करने एवं प्रचलित ढांचे में आवश्यक परिवर्तन सुझाने हेतु एक उच्चस्तरीय समिति नियुक्त की। श्री अशोक मेहता इस समिति के अध्यक्ष थे। इस समिति ने अपने प्रतिवेदन में पंचायती राज संस्थाओं का एक नया प्रतिमान (मॉडल) सुझाया है। समिति की सिफारिशों के पीछे मूल भावना यह है कि सत्ता का विकेन्द्रीकरण कर उसे संस्थागत रूप प्रदान किया जाए। समिति द्वारा सुझाए गए पंचायती राज प्रतिमान (मॉडल) की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं: **प्रथम,** जिला परिषद् को मज़बूत बनाया जाए तथा ग्राम पंचायत की जगह मण्डल पंचायत की स्थापना की जाए। अर्थात् पंचायती राज संस्थाओं के संगठन के दो स्तर (Two Tier)—जिला परिषद् तथा मण्डल-पंचायत हों। **द्वितीय,** जिले को विकेन्द्रीकरण की धुरी माना जाए तथा जिला परिषद् को समस्त विकास कार्यों का केन्द्रबिन्दु बनाया जाए। जिला परिषद् ही जिले का आर्थिक नियोजन कार्य करेंगी, समस्त विकास कार्यों में सामंजस्य स्थापित करेंगी और नीचे के स्तर का मार्ग निदेशन करेंगी। **तृतीय,** जिला परिषद् के बाद मण्डल पंचायतों को विकास कार्यक्रमों का आधारभूत संगठन बनाया जाना चाहिए। मण्डल पंचायतों का गठन कई गांवों से मिलकर

होगा। ये मण्डल पंचायतें 15,000 से 20,000 की जनसंख्या पर गठित की जाएंगी। मण्डल पंचायतों को कार्यक्रम क्रियान्वयन की द ष्टि से धरातलीय संगठन (Base-level organization) के रूप में विकसित किया जाए। 'धीरे-धीरे' पंचायत समितियां समाप्त हो जाएंगी और उनका स्थान मण्डल पंचायतें ले लेंगी। **चतुर्थ,** पंचायती राज संस्थाएं समिति प्रणाली के आधार पर अपने कार्यों का सम्पादन करें। **पंचम,** जिलाधीश सहित जिला स्तर के सभी अधिकारी अन्ततः जिला परिषद् के मातहत रखे जाएं। **षष्ठ,** इन संस्थाओं के निर्वाचनों में राजनीतिक दलों को खुले तौर से अपने चुनाव चिन्हों के आधार पर भाग लेने की स्वीकृति दी जाए। **सप्तम,** न्याय पंचायतों को विकास पंचायतों के साथ नहीं मिलाया जाना चाहिए। यदि न्याय पंचायत की अध्यक्षता योग्य न्यायाधीश करें और निर्वाचित न्याय पंचायत को उनके साथ सम्बद्ध कर दिया जाए तो अधिक अच्छा होगा।

अशोक मेहता समिति की सिफारिशें महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु ग्राम पंचायतों को समाप्त कर उनके स्थान पर मण्डल पंचायतों का गठन कहां तक उचित कहा जा सकता है? ग्राम पंचायत की समाप्ति तो पंचायती राज की कल्पना की मूल इकाई की ही समाप्ति होगी। समिति के एक सदस्य **सिद्धराज ढड्ढा** ने इसी ओर संकेत करते हुए लिखा है, "मुझे जिला परिषद् और मण्डल पंचायतों से आपत्ति नहीं है किन्तु समिति ने ग्राम सभा की कोई चर्चा नहीं की है, जबकि पंचायती राज संस्थाओं का धरातल तो ग्राम सभा को ही बनाया जाना चाहिए था।"

पंचायती राज का नया प्रतिमानः 73वां संविधान संशोधन
(New Model of Panchayati Raj: 73rd Constitutional Amendment)

संविधान के 73वें संविधान द्वारा पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक मान्यता प्रदान की गई है। संविधान में नया अध्याय 9 जोड़ा गया है। अध्याय 9 द्वारा संविधान में 16 अनुच्छेद और एक अनुसूची-ग्यारहवीं अनुसूची जोड़ी गयी है। 24 अप्रैल, 1993 से 73वां संविधान संशोधन अधिनियम, 1993 लागू किया गया है। इसकी प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं:

1. **ग्रामसभाः** ग्राम सभा गांव के स्तर पर ऐसी शक्तियों का प्रयोग करेगी और ऐसे कार्यों को करेगी जो राज्य विधानमण्डल विधि बनाकर उपलब्ध करें।

2. **पंचायतों का गठनः** अनुच्छेद 243 ख त्रिस्तरीय पंचायती राज का प्रावधान करता है। प्रत्येक राज्य में ग्राम स्तर, मध्यवर्ती स्तर और जिला स्तर पर पंचायती राज संस्थाओं का गठन किया जाएगा। किन्तु उस राज्य में जिसकी जनसंख्या 20 लाख से अधिक नहीं है वहां मध्यवर्ती स्तर पर पंचायतों का गठन करना आवश्यक नहीं होगा।

3. **पंचायतों की संरचनाः** राज्य विधानमण्डलों को विधि द्वारा पंचायतों की संरचना के लिए उपबन्ध करने की शक्ति प्रदान की गई है। परन्तु किसी भी स्तर पर पंचायत के प्रादेशिक क्षेत्र की जनसंख्या और ऐसी पंचायत में निर्वाचन द्वारा भरे जाने वाले स्थानों की संख्या के बीच अनुपात समस्त राज्य में यथासम्भव एक ही होगा।

   पंचायतों के सभी स्थान पंचायत राज्य क्षेत्र के प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने गए व्यक्तियों से भरे जाएंगे। इस प्रयोजन के लिए प्रत्येक पंचायत क्षेत्र को ऐसी रीति से निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित किया जाएगा कि प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र की जनसंख्या और उसको आबंटित स्थानों की संख्या के बीच अनुपात समस्त पंचायत क्षेत्र में यथासाध्य एक ही हो।

   किन्तु राज्य विधानमण्डल विधि बनाकर ऐसी रीति से और ऐसी शर्तों के अधीन रहते हुए:

   (i) ग्राम स्तर पर पंचायतों के अध्यक्षों का मध्यवर्ती स्तर पर पंचायतों में या जिस राज्य में मध्यवर्ती स्तर पर पंचायतें नहीं हैं, जिला स्तर पर पंचायतों में,

   (ii) मध्यवर्ती स्तर पर पंचायतों के अध्यक्षों का जिला स्तर पर पंचायतों में,

   (iii) लोक सभा के या विधानसभा के ऐसे सदस्यों जो ऐसे निर्वाचन क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनका ग्राम स्तर पर कोई पंचायत क्षेत्र पूर्णतः या भागतः समाविष्ट है, ऐसी पंचायत में,

   (iv) राज्य सभा और राज्य विधान परिषद् के सदस्यों को जिनका नाम मध्य स्तर या जिला स्तर के पंचायत क्षेत्र में मतदाता के रूप में दर्ज है, जिला स्तर पंचायतों में प्रतिनिधित्व के लिए उपबन्ध कर सकता है।

ग्राम स्तर पर पंचायत का अध्यक्ष ऐसी रीति से चुना जाएगा जो राज्य विधानमण्डल विधि द्वारा विहित करें। मध्यवर्ती और जिला स्तर पर पंचायत के अध्यक्ष का निर्वाचन उसके सदस्यों द्वारा अपने में से किया जाएगा।

पंचायतों में आरक्षण: प्रत्येक पंचायत में क्षेत्र की जनसंख्या के अनुपात में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए स्थान आरक्षित रहेंगे। ऐसे स्थानों को प्रत्येक पंचायत में चक्रानुक्रम (Rotation) से आबंटित किया जाएगा। आरक्षित स्थानों में से 1/3 स्थान अनुसूचित जातियों और जनजातियों की स्त्रियों के लिए आरक्षित रहेंगे।

प्रत्येक पंचायत में प्रत्यक्ष निर्वाचन से भरे गए स्थानों की कुल संख्या के 1/3 स्थान (जिनके अन्तर्गत अनुसूचित जातियों और जनजातियों की स्त्रियों के लिए आरक्षित स्थानों की संख्या सम्मिलित है) महिलाओं के लिए आरक्षित रहेंगे और चक्रानुक्रम से पंचायत के विभित्र निर्वाचन क्षेत्रों को आबंटित किए जाएंगे।

4. **पंचायतों का कार्यकाल:** पंचायती राज संस्थाओं का कार्यकाल 5 वर्ष होगा। किसी पंचायत के गठन के लिए निर्वाचन 5 वर्ष की अवधि के पूर्व और विघटन की तिथि से 6 माह की अवधि के अवसान से पूर्व कर लिया जाएगा।

5. **वित आयोग:** राज्य का राज्यपाल 73वें संशोधन के प्रारम्भ से एक वर्ष के भीतर और उसके बाद प्रत्येक 5 वर्ष के अवसान पर पंचायतों की वित्तीय स्थिति का पुनर्निरीक्षण करने के लिए एक वित्त आयोग का गठन करेगा। वित्त आयोग निम्नलिखित विषय में राज्यपाल को अपनी सिफारिश करेगा:

   (i) ऐसे करों, शुल्कों, पथ करों और फीसों को दर्शाना जो पंचायतों को प्रदान की जा सकें;

   (ii) राज्य की संचित निधि में से पंचायतों के लिए सहायता अनुदान;

   (iii) पंचायतों की वित्तीय स्थिति के सुधार के लिए उपाय बताना।

6. **पंचायतों के निर्वाचन:** पंचायतों के निर्वाचन कराने के लिए राज्य निर्वाचन आयुक्त की नियुक्ति का प्रावधान है। राज्य निर्वाचन आयुक्त को केवल उसी रीति और उसी आधार पर उसके पद से हटाया जा सकता है जैसे कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को। पंचायतों के लिए निर्वाचक नामावली तैयार करने का और पंचायतों के सभी निर्वाचनों के संचालन का अधीक्षण, निदेशन और नियन्त्रण निर्वाचन आयोग में निहित होगा।

7. **पंचायतों के कार्य:** 11वीं अनुसूची में 29 विषय हैं जिन पर पंयायतें विधि बनाकर उन कार्यों को कर सकेंगी। ये हैं-

   (i) कृषि जिसके अन्तर्गत कृषि विस्तार भी है।

   (ii) भूमि विकास, भूमि सुधार कार्यान्वयन, चकबन्दी और भूमि संरक्षण।

   (iii) लघु सिंचाई, जल प्रबन्ध और जल आच्छादन विकास।

   (iv) पशु पालन, दुग्ध उद्योग और मुर्गी पालन।

   (v) मत्स्य उद्योग।

   (vi) सामाजिक वनोद्योग और फार्म वनोद्योग।

   (vii) लघु उत्पादन।

   (viii) लघु उद्योग, जिसके अन्तर्गत खाद्य प्रसंस्करण उद्योग भी है।

   (ix) खादी, ग्राम और कुटीर उद्योग।

   (x) ग्रामीण आवास।

   (xi) पेय जल।

   (xii) ईंधन और चारा।

   (xiii) सड़कें, पुलियां, पुल, नौघाट, जलमार्ग तथा संचार के अन्य साधन।

   (xiv) ग्रामीण विद्युतीकरण जिसके अन्तर्गत विद्युत् का वितरण भी है।

   (xv) गैर-पारम्परिक ऊर्जा स्त्रोत।

(xvi) गरीबी उपशमन कार्यक्रम।

(xvii) शिक्षा, जिसके अन्तर्गत प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालय भी हैं।

(xviii) तकनीकी प्रशिक्षण और व्यावसायिक शिक्षा।

(xix) प्रौढ़ और अनौपचारिक शिक्षा।

(xx) पुस्तकालय।

(xxi) सांस्कृतिक क्रियाकलाप।

(xxii) बाजार और मेले।

(xxiii) स्वास्थ्य और स्वच्छता, जिसके अन्तर्गत अस्पताल, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र और औषधालय भी हैं।

(xxiv) परिवार कल्याण।

(xxv) स्त्री और बाल विकास।

(xxvi) समाज कल्याण, जिसके अन्तर्गत विकलांगों और मानसिक रूप से अविकसित व्यक्तियों का कल्याण भी हैं।

(xxvii) जनता के कमजोर वर्गों का और विशेष रूप से अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों का कल्याण।

(xxviii) लोक वितरण प्रणाली।

(xxix) सामुदायिक आस्तियों का अनुरक्षण।

मूल्यांकनः पंचायती राज संस्थाओं के अब भारतीय संविधान का हिस्सा बन जाने से अब कोई भी पंचायतों को दिए गए अधिकारों, दायित्वों और वित्तीय साधनों को उनसे छीन नहीं सकेगा। 73वां संविधान संशोधन न केवल पंचायती राज संस्थाओं में संरचनात्मक एकरूपता लाने का प्रयास है बल्कि यह सुनिश्चित भी करता है कि इन संस्थानों में समाज के कमजोर वर्गों की हिस्सेदारी रहे। इसमें प्रत्येक पंचायत में पंचायत क्षेत्र में कुल जनसंख्या में अनुसूचित जाति/जनजाति की जनसंख्या के अनुपात में अनिवार्य आरक्षण की भी व्यवस्था की गई है। अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षित की गई इन सीटों में से एक-तिहाई सीटें इन जातियों की महिलाओं के लिए आरक्षित होंगी। राज्यों के लिए यह आवश्यक है कि वे कुल सीटों की एक-तिहाई सीटें महिलाओं के लिए आरक्षित करने की व्यवस्था करें। इसमें एक ऐसा भी प्रावधान रखा गया है जिसके अन्तर्गत राज्य विधानमण्डल, यदि उचित समझें तो पिछड़ी जातियों के नागरिकों के लिए आरक्षण का प्रावधान रख सकते हैं।

अब तक पंचायती राज संस्थानों की विफलता का कारण उनके चुनाव समय पर न कराना और उन्हें बार-बार भंग या स्थगित किया जाना रहा है। वर्तमान अधिनियम में इस समस्या पर समुचित ध्यान दिया गया है और उम्मीद है कि पंचायती राज संस्थान निचले स्तर पर लोकतन्त्र के कारगर उपकरण साबित होंगे क्योंकि उनके निर्वाचनों की निश्चित अवधि पर समयबद्ध व्यवस्था की गई है। इन संस्थाओं को अब छह महीने से अधिक समय के लिए भंग या स्थगित नहीं किया जा सकता।

73वें संशोधन अधिनियम का नकारात्मक बिन्दु यह है कि इसमें राजनीतिक दलों की भूमिका को स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं किया गया है। इसी प्रकार पंचायती राज संस्थाओं और स्थानीय नौकरशाही के बीच सम्बन्धसूत्रता के बारे में भी अधिनियम चुप्पी साधे हुए है। लेखक की मान्यता है कि 73वां संविधान संशोधन अधिनियम बन जाने के बावजूद पंचायती राज संस्थाओं की सफलता राज्य सरकारों की इच्छा पर निर्भर करती है।

पंचायती राज की उपलब्धियां एवं समस्याएं
(Achievements and Problems)

हमारे देश में पंचायती राज की शुरूआत को एक ऐतिहासिक घटना कहा गया। पंचायती राज संस्थाओं से अधिक प्रशंसा बहुत ही कम संस्थाओं को प्राप्त हुई है। **पं० नेहरू** ने स्वयं कहा था कि "मैं पंचायती राज के प्रति पूर्णतः आशान्वित हूं। मैं महसूस करता हूं कि भारत के सन्दर्भ में यह बहुत-कुछ मौलिक एवं क्रान्तिकारी है।" **प्रो० रजनी कोठारी** के अनुसार, "इन संस्थाओं

ने नए स्थानीय नेताओं को जन्म दिया है जो आगे चलकर राज्य और केन्द्रीय सभाओं के निर्वाचित प्रतिनिधियों से अधिक शक्तिशाली हो सकते हैं। कांग्रेस और इन दलों के राजनीतिज्ञ इन संस्थाओं को समझने लगे हैं। अब वे राज्य विधानमण्डल के बजाए पंचायत समिति और जिला परिषदों को तरजीह देने लगे हैं।" वस्तुतः इन संस्थाओं ने देश के राजनीतिकरण, आधुनिकीकरण और समाजीकरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। हमारी राजनीतिक व्यवस्था में जन-सहभागिता में व द्धि करके गांवों में जागरूकता उत्पन्न कर दी है।

हाल ही में राजस्थान में पंचायती राज के 27 वर्षों की उपलब्धियों का एक सर्वेक्षण के माध्यम से अध्ययन प्रतिवेदन प्रकाशित हुआ है जिसमें कहा गया है कि:

1. पंचायती राज व्यवस्था से गांवों में राजनीतिक व प्रशासनिक संस्थाओं के बारे में समझ का विकास हुआ है जिसके कारण ग्रामवासी इन संस्थाओं में सक्रिय सहभागिता के लिए आकर्षित हुए हैं।
2. लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की इस प्रक्रिया में समाजीकरण के दौर से गुजरते व्यक्तियों के बीच जनतान्त्रिक मूल्यों के विकास से अधिकारों के प्रति चेतना बढ़ी है। मताधिकार चेतना इसी सामान्य चेतना स्तर का विशिष्ट स्वरूप है।
3. पंचायती राज व्यवस्था ने 27 वर्ष के कार्यकाल में न केवल ग्रामवासियों के मानसिक विकास में योगदान दिया है बल्कि गांवों के भौतिक विकास में भी कारगर भूमिका निभायी है जिससे गांवों में यातायात, सिंचाई, पेयजल सुविधाओं का विस्तार हुआ है और सामान्य ग्रामवासी के जीवन-स्तर में आंशिक सुधार भी आया है।
4. शिक्षण संस्थाओं की शुरूआत ने साक्षरता का प्रतिशत ही नहीं बढ़ाया है बल्कि गांव के व्यक्तियों के विचारों व मूल्यों में परिवर्तन के लिए भी कार्य किया है।
5. पंचायती राज व्यवस्था के लागू होने के बाद गांव में सामाजिक बुराइयों के समापन के लिए भी एक वातावरण तैयार हुआ है जिसके अन्तर्गत म त्यु-भोज, दहेज-प्रथा, छुआछूत, बाल-विवाह तथा महिला अत्याचार जैसी सामाजिक समस्याओं के समाधान की दिशा में कार्य किया है।

राजनैतिक भूमिका
(Political Role)

भारत में पंचायती राज संस्थाओं का राजनीतिक द ष्टि से महत्व बढ़ता जा रहा है। राजनीतिक दल पंचायतों के चुनावों में सक्रिय भूमिका अदा करने लगे हैं। पंचायतों को राष्ट्रीय और राज्य स्तर की राजनीति का आधार माना जाने लगा है। राजनीतिक दल और उनके नेता यह महसूस करने लगे हैं कि लोकसभा और विधानसभा निर्वाचनों में सफलता प्राप्त करने के लिए पंचायतों, पंचायत समितियों और जिला परिषदों पर कब्जा किया जाना अपरिहार्य है। सरपंचों, प्रधानों और जिला प्रमुखों के रूप में ग्रामीण नेत त्व विकसित हो रहा है। आने वाले वर्षों में भारतीय राजनीति की कुंजी उसी दल के हाथों में होगी जिसे ग्रामीण नेत त्व विकसित करने में सफलता मिलेगी। केरल और पश्चिमी बंगाल में मार्क्सवादी-साम्यवादी दल ने पंचायती संस्थाओं पर कब्जा करके राज्य राजनीति में अपनी गहरी जड़ें जमा ली हैं। आज वस्तुतः विधायक और संसद सदस्यों की अपेक्षा नीचे के स्तर पर 'सरपंच', 'प्रधान' और 'जिला प्रमुख' अधिक प्रभावक भूमिका अदा कर रहे हैं।

राजीव गांधी ने पंचायती राज के महत्व को समझा था और इसलिए 'जनता की शक्ति' (Power to the people) का नारा देते हुए 64वां संविधान संशोधन विधेयक प्रस्तुत किया। बाद में राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने और नरसिंह राव सरकार ने भी पंचायती राज के पुनर्गठन की योजना प्रस्तुत की।

पंचायती राज के माध्यम से भारत में स्थानीय शासन की एक नयी और सजीव प्रणाली की नींव पड़ चुकी है। इसके रोचक राजनीतिक परिणामों पर आगे विचार किया जाएगा:

प्रथम, जिला प्रशासन और सामुदायिक विकास दोनों विभागों के कर्मचारियों को पहली बार पर्याप्त शक्तिसम्पन्न और राजनीतिक समर्थन द्वारा प्रतिरक्षित जनप्रिय संस्थाओं के एक सुसंगठित जाल (network) का सामना करना पड़ रहा है।

द्वितीय, पंचायती राज प्रणाली का तात्कालिक प्रभाव यह था कि ग्रामीण क्षेत्रों में अन्य पार्टियों की तुलना में कांग्रेस की ताकत पहले से भी ज्यादा हो गयी। कांग्रेस का संगठन अन्य पार्टियों के संगठनों से बड़ा था और इन विभिन्न नयी संस्थाओं के साथ

तालमेल बैठाने में सक्षम था। ग्रामीण समाज के प्रभावशाली वर्गों का इसे पहले से ही समर्थन मिल रहा था और सबसे बड़ी बात यह थी कि सत्तारूढ़ पार्टी के रूप में यह (कांग्रेस) लोगों को बहुत कुछ दे सकती थी। कांग्रेस सरकार और स्थानीय संस्थाओं के बीच अधिकाधिक तादात्म्य का अर्थ अनिवार्यतः यह नहीं था कि 'कांग्रेस के उम्मीदवार' चुनाव में विजयी होंगे, बल्कि यह था कि चुनावों में विजयी होने वाले उम्मीदवार-यदि वे पहले से ही कांग्रेसी उम्मीदवार नहीं थे-तो कांग्रेस में शामिल हो जाएंगे। कांग्रेस के प्रभाव से अब यह रास्ता विरोधी पार्टियों के लिए अपेक्षाकृत अधिक कारगर तरीके से खुल गया। राजनीतिक अस्थिरता वाले राज्यों में इसका यह भी प्रभाव पड़ा कि गांवों के नेताओं के साथ जोड़-तोड़ बैठाने का काम पहले की अपेक्षा अधिक जटिल हो गया।

त तीय, कांग्रेस के आन्तरिक जीवन पर भी पंचायती राज का असर पड़ा। एक ओर इन नयी संस्थाओं ने पार्टी के उत्साही कार्यकर्त्ताओं के लिए सरकारी सत्ता का एक रास्ता खोल दिया। यदि उन्हें समाज कल्याण कार्यकर्त्ता बने रहकर ही सन्तोष न हो, तो वे दल संगठन में खासतौर से मिला कांग्रेस कमेटी के स्तर पर सत्ता संघर्ष की होड़ में शामिल हो सकते थे। इन नयी संस्थाओं के खुल जाने से पार्टी के कुछ असन्तुष्ट कार्यकर्त्ताओं की जगहें मिल गयीं और उनके लिए पार्टी में ऊपर जाने के लिए ट्रेनिंग तथा प्रशिक्षण की सुविधाएं उपलब्ध हो गयीं। सबसे बड़ी बात शायद यह थी कि कांग्रेस संगठन में नवयुवकों को आकृष्ट करने की समस्या को हल करने में इनसे थोड़ी मदद मिली। सरकार की इन नए स्तरों की संस्थाओं ने ग्रामीण क्षेत्रों में राजनीतिक प्रतिभा और आकांक्षाओं वाले नए लोगों को ढूंढ़ निकाला। दूसरी ओर, निचले स्तर से कांग्रेस की घुसपैठ से नयी समस्याएं सामने आयीं और नए किस्म के दबाव पैदा हुए। गांव व ब्लाक स्तर पर जो गुटबन्दी थी, वह पार्टी में ऊपर के स्तरों तक पहुंचने लगी।

चतुर्थ, पंचायती राज का दीर्घकालीन प्रभाव यह हुआ कि ग्रामीण राजनीति में गतिशीलता और होड़ बढ़ गयी। हालांकि आरम्भ में कांग्रेस को इसका लाभ मिला, किन्तु फिर भी कांग्रेस गांव की सत्ता के उस ढांचे को निर्बल बनने तथा टूटने से रोक नहीं पायी, जो अभी तक पूरी तरह से गठा हुआ था। यह आशा करना बहुत बड़ी बात थी कि गांवों के सभी सरपंच जिनमें बहुत-से पहली बार कांग्रेस की ओर से चुने गए थे, जिन पदों पर चुने गए थे उनके प्रचुर अधिकारों का आचारशील ढंग से न्यायोचित और समुचित दूरदर्शिता के साथ इस्तेमाल करेंगे। दूसरी ओर, राजस्तरीय कांग्रेस के नेताओं के लिए ऐसे लोगों को अनुशासन के अंकुश में रख पाना कोई आसान काम नहीं था, जिनकी पार्टी को ज्यादा जरूरत थी और जिनके लिए पार्टी को जरूरत अपेक्षाकृत कम थी। इस तरह से जितने लोग कांग्रेस के मित्र बने, उतने ही कांग्रेस के दुश्मन भी बन गए और इस प्रक्रिया का 1967 में पार्टी में होने वाली गड़बड़ी में काफी हाथ था।

पंचम, पंचायती संस्थाओं के माध्यम से सम्पर्क सूत्र की राजनीति (Linkage Politics) का विकास हुआ। गांव, जिलों व राज्यों के मुख्यालयों से जुड़ने लगे। गांवों की राजनीति पर जिले एवं राज्य स्तर की राजनीति का प्रभाव पड़ने लगा। राज्यस्तरीय लेता ऐसी जोड़-तोड़ करने लगे कि उनके गुट एवं पार्टी के व्यक्ति पंचायतों में आएं ताकि उनका समर्थन आधार मजबूत हो सके। पंचायती संस्थाएं एवं नेत त्व गांवों को राजनीति से जोड़ने की महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

षष्ठ, पंचायती राज संस्थाओं से पिछड़ी हुई जातियों में नयी चेतना का विकास हुआ है और पारम्परिक उच्च जातियों की स्थिति में ह्रास हुआ है। 73वें संविधान संशोधन द्वारा अनुसूचित जातियों/जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों के लिए उनकी जनसंख्या के अनुपात में पंचायती राज संस्थाओं में सीटों के आरक्षण का प्रावधान किया गया है। इसी प्रकार एक-तिहाई सीटें महिलाओं के लिए आरक्षित कर दी गई हैं। इसी अनुपात में सरपंच, प्रधान और जिला प्रमुख के पद भी आरक्षित कर दिये गये हैं। इन उपबंधों से समाज के दुर्बल वर्गों की महत्वाकांक्षाओं में अपार व द्धि हुई है।

सप्तम, पंचायतों के चुनाव उसी प्रकार लड़े जाते हैं जिस प्रकार लोकसभा और विधानसभा के चुनाव लड़े जाते हैं। इससे ग्रामीण जीवन में गुटबन्दी की भावनाएं विकसित हुई और गांव राजनीति के अखाड़े बनते जा रहे हैं।

डॉ० पी० सी० माथुर ने अपने एक विद्वत्तापूर्ण शोध लेख में राजस्थान में पंचायती राज की राजनीति के परिणामों को इस प्रकार बताया है-

1. परम्परावादी पंचायतों का अवसान हुआ है (Eclipse of traditional Panchayats);
2. ग्रामीण गुटों का राजनीतिकरण हुआ है (Politicization of village factionalism);

3. **राज्य और जिला स्तरीय राजनीतिक शक्तियों एवं राजनीतिज्ञों की ग्रामीण अंचलों में घुसपैठ हुई है** (Percolation of state and district political forces and actors);
4. **नव-परम्परावादी झुकावों और समीकरणों का अभ्युदय हुआ है** (Emergence of neotraditional political motivations and calculations);
5. **प्रभावक जातियों का प्रभाव बढ़ा है** (Increase in the political weightage or numerically dominant castes);
6. **ग्रामीण नेत त्व एवं जिला व राज्यस्तरीय राजनीतिक नेत त्व में मताचरण सम्बन्धी लिंक स्थापित हुआ है** (Establishment of vote-nexus between local level political leadership and political leaders at the state and district level);
7. **राज्य एवं जिलास्तरीय राजनीति का ग्रामीणीकरण हुआ है** (Ruralization of political leaders in state and district politics);
8. **राज्य एवं जिलास्तरीय राजनीतिज्ञों को सन्तुलित करने के लिए स्थानीय राजनीतिज्ञों का अभ्युदय** (Emergence of local counter weights to district and state level political bosses);
9. **स्थानीय एवं ग्रामीण समाजों में भौतिकवादी झुकावों का अभ्युदय** (Emergence of material benefits orientation at local levels of Indian Society)

पंचायती राज की समस्याएं
(Problems of Panchayati Raj)

फिर भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि पिछले 38 वर्षों का अनुभव विशेष उत्साहवर्द्धक नहीं रहा। ये संस्थाएं ग्रामीण जनता में नयी आशा और विश्वास पैदा करने में असफल रही हैं। वस्तुतः जब तक ग्रामीणों में चेतना नहीं आती तब तक ये संस्थाएं सफल नहीं हो सकतीं। किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि पंचायती राज व्यवस्था असफल हो गयी है। कुछ राज्यों में तथा कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में इन संस्थाओं ने सराहनीय कार्य किया है। यह कार्य मुख्यतः नागरिक सुविधाओं के ही सम्बन्ध में हुआ है। पंचायती राज संस्थाओं के समक्ष कुछ नयी समस्याएं उत्पन्न हो गयी हैं; कुछ पहले ही थीं, जिनका निराकरण करना आवश्यक है, ये समस्याएं हैं:

1. **सत्ता के विकेन्द्रीकरण की समस्याः** लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की असफलता की पहली शर्त सत्ता का स्थानीय संस्थाओं को हस्तान्तरण करना है। पंचायती राज संस्थाओं को स्वायत्त शासन की शक्तिशाली इकाइयां बनाना था। यह तभी संभव है जब प्रेरणा नीचे के स्तरों से शुरू हो और उच्च स्तर केवल मार्ग निदेशन करे। राज्य सरकारें इन संस्थाओं को अपने आदेशों का पालन करने वाला एजेण्ट मात्र न समझें, इसके लिए नौकरशाही की मनोव त्ति में परिवर्तन की आवश्यकता है।
2. **अशिक्षा एवं निर्धनता की समस्याः** अशिक्षा और निर्धनता ग्रामीणों की विकट समस्या है। इसके कारण ग्रामीण नेत त्व का विकास नहीं हो पा रहा है और वे अपने संकीर्ण दायरों से ऊपर नहीं उठ पाते हैं। किन्तु वर्तमान में शिक्षा की दिशा में शासन द्वारा किए गए कार्यों से हमारे उत्साह में व द्धि हो रही है।
3. **दलगत राजनीतिः** पंचायती राज की सफलता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा दलगत राजनीति है। पंचायतें राजनीति का अखाड़ा बनती जा रही हैं। पंचायतों में छोटी-छोटी बातों को लेकर झगड़े हुआ करते हैं, दलबन्दी होती है और बहुत-सा समय लड़ने-झगड़ने में निकल जाता है। यदि हमारे राजनीतिक दल पंचायतों के चुनावों में हस्तक्षेप करना बन्द कर दें तो पंचायतों को गन्दी राजनीति के दलदल से निकाला जा सकता है।
4. **धन की समस्याः** धन की समस्या पंचायती राज संस्थाओं के सामने शुरू से ही रही है। इन संस्थाओं को स्वतन्त्र आर्थिक स्त्रोत या तो दिए ही नहीं गए या फिर जो भी दिए गए वे अर्थशून्य हैं। परिणामतः शासकीय अनुदानों पर ही जीवित रहना पड़ा है। अतः आय के पर्याप्त एवं स्वतन्त्र स्त्रोत पंचायती संस्थाओं को दिए जाने चाहिए ताकि उनकी आर्थिक स्थिति सुद ढ़ बन सके।

इनके अतिरिक्त और भी कई समस्याएं हैं, राजनीतिक जागरूकता की कमी, विकास-कार्यों की उपेक्षा, शासकीय अधिकारियों एवं निर्वाचित प्रतिनिधियों में सहयोग का अभाव, आदि। इसके अतिरिक्त सभी राज्यों में राज्य के विधानमण्डल और संसद

सदस्यों की पंचायती राज संस्थाओं से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। विधानमण्डल तथा संसद के सदस्यों की स्थिति इतनी उच्च होती है कि वे पंचायती राज संस्थाओं पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेते हैं और इस प्रकार अन्य सदस्यों के अभिक्रम को कुचल देते हैं तथा पंचायती राज संस्थाओं के कल्याणकारी विकास में बाधा डालते हैं। विधानमण्डल तथा संसद के सदस्यों के पास विधायी तथा राजनीतिक काम बहुत अधिक रहता है। इसलिए उनके पास इतना समय नहीं होता कि वे अपने विधायी कार्यों के अतिरिक्त पंचायती राज संस्थाओं की ओर पर्याप्त ध्यान दे सकें। अतः उच्चस्तरीय राजनीतिज्ञों का ग्रामीण स्थानीय शासन से सक्रिय रूप में सम्बन्ध होना पंचायती राज संस्थाओं के हित में नहीं है। इन सभी समस्याओं का परिणाम यह हुआ कि पंचायती राज अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सका।

पंचायती राज की सफलता के लिए सुझाव

भारत के लिए गांव आर्थिक सम द्धि का प्रतीक है। देश तभी फलेगा-फूलेगा जब उसकी आत्मा के रूप में गांव की प्रगति हो। गांवों का सर्वांगीण विकास पंचायतों की सफलता के द्वारा ही सम्भव है। पंचायतों की सफलता के लिए निम्नांकित सुझाव दिए जा सकते हैं:

प्रथम, पंचायती राज संस्थाओं में व्याप्त गुटबन्दी को समाप्त करना होगा;

द्वितीय, पंचायतों के चुनावों में मतदान को अनिवार्य करना होगा और जो मतदाता चुनाव में भाग न ले उस पर कुछ दण्ड लगाया जाए, जो पचास रुपयों से अधिक न हो;

त तीय, पंचायतों की वित्तीय हालत सुधारनी होगी;

चतुर्थ, अधिकारियों को पंचायतों के मित्र, दार्शनिक और पथ-प्रदर्शक के रूप में कार्य करना चाहिए।

पंचम, पंचायतों के निर्वाचित प्रतिनिधियों को प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए और अन्त में, पंचायतों पर विश्वास करना होगा, वे गलतियां करेंगी और हमारा द ष्टिकोण उनके प्रति उदार ही अपेक्षित है।

पंचायती राज संस्थाओं के प्रति राज्य सरकारों तथा जिला अधिकारियों का उदासीन होना इनके लिए घातक सिद्ध होगा। राज्य सरकारों, उनके तकनीकी अभिकरणों तथा जिला अधिकारियों को पंचायती राज संस्थाओं का मार्ग निदेशन करना तथा उन्हें प्रोत्साहित करना है। जिला अधिकारियों को इन विकेन्द्रीकृत लोकतन्त्रीय संस्थाओं के मित्र, दार्शनिक तथा 'पथ-प्रदर्शक' बनना है। उन्हें जनता को अधिकतम पहल करने का मौका देने वाले शिक्षकों का कार्य करना है। अधिकारीगण विकेन्द्रीकृत लोकतन्त्र की गतिविधियों में सक्रिय हिस्सेदारों के रूप में सम्मुख आने चाहिए। इसके साथ ही उन्हें अहंकार व वर्ग उच्चता की खोखली धारणाओं को त्यागना होगा। नौकरशाही की पुरानी उच्चता वाली मनोव त्ति से काम नहीं चलेगा। अगर 'खण्ड-विकास अधिकारी' 'बड़े साहब' वाला रुख अपनाने का प्रयास करेगा तो पंचायती राज आन्दोलन को भीषण कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

पंचायती राज के फलस्वरूप एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह सामने आया है कि ग्रामीणों के मस्तिष्क से अधिकारियों का भय जाता रहा है। अंग्रेजी शासन के युग में ग्रामीण जन नौकरशाही की शक्ति से आतंकित थे। अब ग्रामीण जन खण्ड विकास अधिकारी के पास जाकर विश्वास के साथ उससे अपनी समस्याओं पर बातचीत कर सकते हैं।

अध्याय-34
उदारीकरण का लोक प्रशासन पर प्रभाव
(Impact of Liberalization on Public Administration)

विश्वकरण की अवधारणा व जन्म मुख्यतया पश्चिमी देशों में हुआ है जिसमें विश्वीकरण को लोकप्रिय बनाने का Credit भी इन्हें दिया जाता है। इस अवधारणा में पूरे विश्व को एक परिवार के समान मानने की कोशिश की गई है। उदारवाद आर्थिक क्षेत्र में मुक्त व्यापार एवं लाइसेंस की समाप्ति चाहता है, सामाजिक जीवन में खुलापन या मनमानेपन की छूट देता है तथा नैतिकता-अनैतिकता सम्बन्धी मान्यताओं को खास महत्त्व नहीं देता। राजनीतिक क्षेत्र में सत्ता को अपने पक्ष में करना चाहता है और निजीकरण का राजनीतिक स्तर पर बढ़ावा दिलाता है। वास्तव में उदारीकरण का मुख्य उद्देश्य तो मानवीय जीवन के सभी पक्ष को प्रभावित करना है। इन सबके होते हुए इसके आलोचकों ने साम्राज्यवाद का एक नया माध्यम बताया है। Fubu Yamaha, Paul Kennedy, Samual P. Huntington ये तीनों विद्वान् Globalisation के समर्थक माने जाते हैं। इन्होंने इसके समर्थन में कई पुस्तकें लिखी जैसे- Fubu Yamaha – The End of Globalisation, Samual P. Huntington – The Clash of Civilizations विश्वकरण की मख्य दो धारणाएँ हैं-

(i) Liberalisation

(ii) Privatization.

(i) उदारीकरण (Liberalisation) का अर्थ

लोकप्रशासन पर उदारीकरण के प्रभाव को स्पष्ट करने के लिए जरूरी है कि पहले उदारीकरण क्या है, को जानने, उदारीकरण एक गतिशील एवं परिवर्तनशील अवधारणा है जो सभी क्षेत्रों में खुलापन की वकालत करता है। उदारवाद आर्थिक क्षेत्र में मुक्त व्यापार एवं लाइसेंस की समाप्ति चाहता है, सामाजिक जीवन में खुलापन या मनमानेपन की छूट देता है तथा नैतिकता-अनैतिकता सम्बन्धी मान्यताओं को खास महत्त्व नहीं देता, राजनीतिक क्षेत्र में सत्ता को अपने पक्ष में करना चाहता है और निजीकरण को राजनीतिक स्तर पर बढ़ावा दिलाता है, सांस्कृतिक क्षेत्र में मादकता एवं अश्लीलता का समावेश करता है, स्पष्ट है कि उदारीकरण का मुख्य उद्देश्य तो मानवीय जीवन के सभी पक्ष को प्रभावित करना है, लेकिन मुख्य रूप से आर्थिक व्यवस्था पर एकाधिकार करना है, पूंजीवादी पताका फहराना है अमीरों के राज को स्थायी बनाना है, गरीबों की आवाज को सदा के लिए दबा देना है पैसे के लिए हर कर्म-कुकर्म करने को तैयार रहता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उदारीकरण समाजवादी सिद्धान्त की विरोधी अवधारणाएँ हैं जिसका स्वरूप वर्गीय है और इसका सम्बन्ध पूँजीपति वर्ग से है उदारवाद पूँजीपति वर्ग के अनैतिक, सिद्धान्तविहीन, अमानवीय एवं अवसरवादी विचारधारा एवं हथियार है।

उदारीकरण के लक्षण
(Characteristics of Liberalisation)

1. **विश्व में आर्थिक समरूपता:** यह model पश्चिमी विचारधारा को प्रस्तुत करता है और यह Pro-rich देशों से सम्बन्धित माना जाता है। इसे Trichle down model भी कहते हैं। इस model के तहत ये सोचा गया है कि सारे विश्व में आर्थिक सुधार समरूपता से किया जाए।
2. **तकनीकी प्रगति से सम्बन्धित:** यह model तकनीकी प्रगति का वर्णन किया गया है जिससे विकास होता है।
3. **विकास का रास्ता पूंजीवादी:** इसमें पूंजीवादियों के साथ-साथ श्रमिकों का भी विकास होता है।

4. इस model के तहत आर्थिक सुधार में आवश्यक सेवाओं का प्रावधान नहीं किया गया।

D. Bureaucracy Inspector Raj को खत्म करना। औद्योगिक प्रगति को बढ़ावा देना।

उदारवाद के नकारात्मक प्रभाव

1. ये उपनिवेशवाद का एक नया तरीका माना जाता है जैसे अमेरिका का इराक पर आक्रमण भारत के साथ आतंकवाद के साथ पाकिस्तान को आतंकवादी घोषित नहीं किया गया।

   अप्रैल 2002 इजराइल का फिलिस्ताइन पर आक्रमण और अमेरिका का चुप रहना।
2. ये पूंजीवादियों के हित में है जिसमें गरीब आदमी के लिए ज्यादा प्रयत्न शामिल नहीं किए गए। भारत एक विकासशील देश है जिसमें आधी से अधिक जनसंख्या गरीबी रेखा से नीचे है।
3. 1991 से 2000 तक 10 करोड़ लोग और गरीबी रेखा से नीचे आ गए हैं।
4. कर्मचारियों पर निजीकरण की प्रक्रिया को दुष्प्रभाव पड़ा है क्योंकि उनकी छंटनी की जा रही है।

(ii) Privatization

उन सेवाओं का निजीकरण किया गया है जिसमें सरकार को अर्थात् जिनकी नित्पादन संतोषजनक न हो। दूसरे शब्दों में सरकार प्रशासकीय क्रियाओं से प्रत्यक्ष रूप से शामिल न होकर बल्कि नियमपूर्वक काम करे।

जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है उदारीकरण की प्रक्रिया नरसिंहा राव की सरकार में उसके वित्त मंत्री मनमोहन सिंह जी के द्वारा 1991 में शुरू की गई थी। क्योंकि भारत के पास इसे अपनाने के सिवाय कोई चारा नहीं था जिसे TINA factor का नाम दिया गया।

कारण

1989 में भूतपूर्व USSR के विघटन के पश्चात साम्यवादी विचारधारा का महत्त्व कम हो गया और संसार दो ध्रुवों से एक ध्रुव में परिवर्तित हो गया। विकासशील देशों के लिए इसके लिए इसके अलावा और कोई चारा भी नहीं था कि इसे अपनाया न जाए जिसमें भारत भी शामिल था।

जहाँ तक Privatisation का सवाल है वह कुछ इस प्रकार ही केवल उन्हीं उपक्रमों या उद्योगों का निजीकरण किया जाएगा जो बीमार है तथा प्रतिफल नहीं देते।

उन्हीं उपक्रमों तथा सेवाओं का निजीकरण किया जाएगा जिनसे सरकार सन्तोषजनक नहीं है। इसमें सामाजिक क्षेत्र को ध्यानमें रखा जाएगा।

इसमें 'श्रम कल्याण' को नहीं नकारा जाएगा। एन. डी. ए. की सरकार आने के पश्चात सारे मापदण्ड बदल दिए गए और ये कहा गया कि जो निजीकरण की प्रक्रिया है वह बीमार उपक्रमों में शुरू नहीं की जाएगी। किन्तु जो सरकारी उपक्रम अच्छे थे अर्थात् जिनकी Performance अच्छी थी। अर्थात् सन्तोषजनक थी। कईयों का निजीकरण किया गया जैसे BALCO तथा मारूति उद्योग सभी मजदूर संगठन तथा सभी विरोधी दलों ने इसका विरोध किया।

जहां तक उदारीकरण का प्रभाव लोक-प्रशासन पर पड़ा है उसका वर्णन इस प्रकार है-

1. तकनीकी विकास
2. विश्व व्यापार संगठन
3. बाजार अर्थव्यवस्था का प्रावधान
4. बीमार उपक्रमों से छुटकारा
5. गैर-सरकारी संगठन को बढ़ावा
6. Decontrol

7. प्रशासन का प्रजातन्त्रीकरण
8. विनियमन
9. नौकरशाही से छुटकारा

श्रम सुधारों पर विपरित प्रभाव भविष्य निधि, पेंशन, राहत राशि आदि को कम कर दिया।

2002 में एक श्रम विधेयक लाया गया है जिस भी कारखाने में 1000 से ज्यादा मजदूर काम कर रहे हैं किसी भी मजदूर को उद्योपति सरकार के अनुमति के बिना निकाल सकता है।

जैसे मारूति उद्योग जहां कर्मचारियों ने शान्तिपूर्ण Strike कर दी थी। जो श्रम संघ अधिनियम, 1926 के तहत अधिकार है। लेकिन सर्वोच्च न्यायलय ने भी मारूति उद्योग के पक्ष में फैसला दिया और कहा कि केवल उन्हीं कर्मचारियों को वापिस लिया जा सकता है जो good conduct का प्रमाण दे।

गरीबी का विश्वीकरण
Globalisation of Poverty

इसमें बहुराष्ट्रीय कम्पनियां, W.T.O, I.M.F आदि Pro-rich के हक में हें। भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिला है। क्योंकि जितनी भी सरकारी लाभ प्राप्त कम्पनियां है सबका निजीकरण होता जा रहा है।

लोक प्रशासन पर उदारवाद के प्रभाव को (भारतीय संदर्भ) निम्नलिखित बिन्दुओं पर स्पष्ट किया जा सकता है-

1. **लोक प्रशासन के क्षेत्र में संकुचनः** उदारीकरण की नीति अपनाने के कारण लोक प्रशासन के कार्यक्षेत्र पूर्व की अपेक्षा संकुचित हो गया है। अब प्रशासन का स्वरूप लोक कल्याणकारी न होकर निषेधात्मक हो गया, आज लोक प्रशासन सार्वजनिक उपयोग के कार्यों से अपना हाथ हटाते हुए सिर्फ कानून व व्यवस्था पर अपना ध्यान केन्द्रित करने लगा है, अब यह माना जाने लगा है कि प्रशासन का कार्य सार्वजनिक निर्माण और लोक सेवा न होकर सिर्फ कानून व्यवस्था को बनाए रखना है, इस प्रकार कल तक जो कार्य अधिकांश लोक प्रशासन द्वारा किया जाता था, वे आज निजी कम्पनियों को सौंपा जा रहा है और आज लोक प्रशासन के कार्यक्षेत्र में उन विषयों की संख्या घट रही है जिन पर कि लोक प्रशासन का एकाधिकार था।
2. **लोक प्रशासन के प्रति आकर्षण में ह्रासः** उदारीकरण के फलस्वरूप लोक प्रशासन की प्रतिष्ठा पर भी प्रभाव पड़ा है। आज लोक प्रशासन के प्रति प्रतिभाशाली युवकों का आकर्षण घट रहा है तथा उदारीकरण के फलस्वरूप आने वाली निजी कम्पनियों के प्रति उनका झुकाव बढ़ रहा है, वह दिन दूर नहीं, जब लोक प्रशासन को योग्य एवं प्रतिभाशाली युवक एवं युवतियाँ मिलना बंद हो जाएंगी।
3. **लोक प्रशासन को चुनौतीपूर्ण प्रतिस्पर्धाः** उदारीकरण की नीति अपनाने के पश्चात् आज उन क्षेत्रों में भी निजी कम्पनियाँ प्रवेश कर रही हैं जिन पर कल तक सरकार का एकाधिकार था और उनका संचालन लोक प्रशासकों द्वारा किया जाता था, लेकिन आज स्थिति काफी बदल चुकी है, अब इन क्षेत्रों में निजी कम्पनियों का प्रवेश प्राप्त होता जा रहा है, लोक प्रशासन को अपनी उपादेयता बनाए रखने में कड़ी प्रतिस्पर्द्धा करनी पड़ रही है। अभी तक का अनुभव यह रहा है लोक प्रशासन निजी कम्पनियों के समक्ष अधिक देर तक प्रतिस्पर्द्धा नहीं कर पा रहे हैं और अंततः सरकार को उन्हें भी निजी प्रशासन के हाथों सौंपना पड़ रहा है।
4. **लोक प्रशासन की भर्ती एवं प्रशिक्षण में परिवर्तनः** उदारीकरण के फलस्वरूप प्रतिस्पर्द्धा माहौल में अपनी उपादेयता बरकरार रखने के लिए लोक प्रशासन में आने वालों की भर्ती प्रणाली एवं उनके प्रशिक्षण प्रणाली में आज परिवर्तन अपरिहार्य हो गया है।
5. **लोक प्रशासन को प्रतिष्ठा में कमीः** उदारीकरण के पूर्व लोक प्रशासकों को समाज में काफी प्रतिष्ठा, सम्मान की द ष्टि से देखा जाता था, लेकिन उदारीकरण के पश्चात् उनकी यह प्रतिष्ठा व सम्मान में कमी आई है, इस कमी के अनेक कारण हैं, जिनमें अपर्याप्त वेतन एवं सुविधाएँ राजनीतिक हस्तक्षेप, सामाजिक एवं कानूनी उत्तरदायित्व आदि प्रमुख हैं। आज स्थिति यह हो गई है कि लोक प्रशासन से जुड़े लोग स्वैच्छिक सेवा निव त्ति लेकर निजी क्षेत्रों में पलायन कर रहे हैं।

6. **भ्रष्टाचार को बढ़ावा:** ऐसे तो लोक प्रशासन में भ्रष्टाचार की एतिहासिक भूमिका है और यह स्वतंत्र भारत में दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया है लेकिन विगत कुछ दिनों में उदारीकरण में लोक प्रशासन भ्रष्टाचार की गति को बहुत तीव्र बना दिया है। उदारीकरण के दौर में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों में काम करने वाले एक एम. बी. ए. (M.B.A) या एम. सी. ए. (M.C.A) को आई. ए. एस. (I.A.S.) की तुलना में बहुत ज्यादा वेतन मिलता है और उनके जीवन में भौतिकता का अति महत्व होता है जिससे लोक प्रशासन से जुड़े लोग भी प्रभावित हुए वगैर नहीं रहते। एक आई. ए. एस अपने पड़ोसी एम. बी. ए. के विलासितापूर्ण जीवन स्तर को देखते हुए ज्यादा-से-ज्यादा पैसा कमाना चाहता है, चाहे उन्हें कितनी भी कानूनी मर्यादाओं का उल्लंघन करना पड़े, स्पष्ट है कि उदारीकरण में लोक प्रशासन में भ्रष्टाचार को बढ़ावा दिया है।

अब तक के विवरण से स्पष्ट है कि लोक प्रशासन पर उदारवार की बहुत ज्यादा प्रभाव पड़ा है।